

अद्वैतग्रन्थरत्नमञ्जूषा–३१ रत्न —

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचिता

उपदेशसाहस्री

श्रीदक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री स्वामी महेशानन्दगिरि जी महाराज

के निर्देशानुसार

पण्डितप्रवर डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

द्वारा

'हृदयस्पर्शिनी' प्राकृत टीका

से समलंकृत

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी

❖

प्राप्तिस्थान
महेश अनुसन्धान संस्थान
श्री दक्षिणामूर्ति मठ
डी. ४९/९. मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०

❖

भगवत्पादाब्द-१२२२
विक्रम संवत्-२०६७
ईसवी सन्-२०१०

❖

द्वितीय आवृत्ति
मूल्य : दो सौ पचास रूपये मात्र

❖

मुद्रक
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी ईमली, वाराणसी
फोन नं. : 0542-2201104, 3257329
ई-मेल : shrijeeprint@gmail.com
shrijeeprint@sify.com

प्रतिपाद्यविषयानुक्रम-बोधिनी

पद्यभागः

१. उपोद्घातप्रकरणम् (पृ० १-१५)

२. प्रतिषेधप्रकरणम् (पृ० १६-१८)

३. ईश्वरात्मप्रकरणम् (पृ० १९-२०)

४. तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरणम् (पृ० २१-२३)

५. बुद्ध्यपराधप्रकरणम् (पृ० २४-२६)

६. विशेषापोहप्रकरणम् (पृ० २९-२९)

७. बुद्ध्यारूढप्रकरणम् (पृ० ३०-३२)

८. मतिविलापनप्रकरणम् (पृ० ३३-३५)

९. सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरणम् (पृ० ३६-४०)

१०. वृत्तिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरणम् (पृ० ४१-४८)

११. ईक्षितृत्वप्रकरणम् (पृ० ४९-५५)

१२. प्रकाशप्रकरणम् (पृ० ५६-६४)

१३. अचक्षुष्ट्वप्रकरणम् (पृ० ६५-७३)

१४. स्वप्नस्मृतिप्रकरणम् (पृ० ७४-९४)

१५. नान्वयव्यतिरेकप्रकरणम् (पृ० ९५-११६)

१६. पार्थिवप्रकरणम् (पृ० ११९-१४७)

१७. सम्यङ्मतिप्रकरणम् (पृ० १४८-१८२)

१८. तत्त्वमसिप्रकरणम् (पृ० १८३-२५९)

१९. तृष्णाज्वरनाशकप्रकरणम् (पृ० २६०-२७२)

गद्यभागः

१. शिष्यानुशासनप्रकरणम् (पृ० २७३-२९८)

वाक्य संख्या

२. कूटस्थाऽद्वयात्मबोधप्रकरणम् (पृ० २९९-३२४)

३. परिसंख्यानप्रकरणम् (पृ० ३२५-३२८)

आशीर्वचन

भारतीय धर्मगगन के सर्वोज्ज्वल ग्रह कृष्ण, बुद्ध व शङ्कर हैं, इस बात को सारा संसार स्वीकारता है। वर्तमान हिन्दू धर्म के संस्थापक होने के नाते हिन्दू धर्म के तो शङ्कर ही सर्वस्व हैं*। गत बारह सौ वर्षों में उनके द्वारा प्रदत्त संकेतों को ही विस्तृत कर अनेक सम्प्रदाय निर्मित हुए हैं। उनके भाष्यग्रन्थ जटिल व दार्शनिक युक्तियों से भरपूर होने से सामान्य व्यक्ति न केवल उन्हें पढ़ने पर घबड़ा उठता है वरन् उनके भावों को समझना भी उसके लिये असम्भव हो उठता है। कई बार तो पूर्वपक्ष की युक्तियों से प्रभावित हो उसे ही ठीक मान बैठता है। आचार्य शङ्कर की शैली है कि विरोधी की बातों को विस्तार से रख कर उनकी आधारशिला को अपनी एक या दो युक्तियों से ऐसा ध्वस्त कर देना कि उसकी सारी अट्टालिका भूमिगत हो जावे। अतः उन्होंने अनुग्रह करके मध्यमाधिकारियों के लिये ऐसे प्रकरण-ग्रन्थों की रचना की, जिनमें इतना काठिन्य न हो एवं सिद्धान्त-पक्ष को पूर्ण रूप से उपस्थित कर दिया जाय। जो पूर्व में ही भिन्न दर्शनों से प्रभावित न हुआ हो उसकी ज्ञाननिष्ठार्थ इतना ही पर्याप्त है। ऐसे ग्रन्थों में कई तो इतने छोटे हैं कि बिना टीका के उनका अर्थ ही तिरोहित रहता है। इसके दो उदाहरण श्री दक्षिणामूर्ति स्तोत्र व दशश्लोकी हैं। सुरेश्वराचार्य के वार्तिक के बिना प्रथम एवं मधुसूदन व ब्रह्मानन्द सरस्वती के बिना द्वितीय का अर्थ कभी भी उजागर न हो सकता था। परन्तु वर्तमान ग्रंथ 'उपदेशसाहस्री' स्वयं अपने में स्पष्ट है। इसको सुरेश्वराचार्य ने अपनी नैष्कर्म्यसिद्धि में तथा वार्तिकामृत में उद्धृत किया है। आचार्य के सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझाने वाले ग्रन्थों में यह श्रेष्ठ है। श्रीमत्परमहंस स्वामी आनन्दगिरि जी की भव्य टीका के साथ इसे पूर्व में प्रकाशित किया गया है। रामतीर्थ टीका भी निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है। इन्हीं के आधार पर श्री गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर जी ने इसकी विस्तृत टीका लिखकर इसे हिन्दी मात्र ज़ानने वालों के लिये सुलभ कर दिया है। विद्वान् लेखक ने अनेक अन्य ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रकाशित किये हैं, जो उनकी दार्शनिक परिपक्वता के द्योतक हैं। हमें आशा है कि वे वेदान्त के अन्य ग्रन्थों के अनुवाद भी समय-समय पर उपस्थित करते रहेंगे। इनके अनुवादों की विशेषता यही है कि स्पष्टतया आवश्यक पदार्थों को वहीं उपस्थित कर जो दर्शनों से अपरिचित हैं, उनके लिये भी ग्रन्थों को सुगम कर देते हैं।

वेदान्त-धर्म का प्रधान विषय ईश्वर है। वस्तुतः संसार के सभी धर्मों का प्रतिपादन अन्ततोगत्वा ईश्वर ही है। जो संसार का मूल कारण हो व संसार का अन्तिम उद्देश्य हो, वही ईश्वर है। अतः माध्यमिकों का शून्य व विज्ञानवादियों का विज्ञान भी ईश्वर ही है। मीमांसकों का कर्ता भी ईश्वर ही है। सांख्यशास्त्र का पुरुष भी ईश्वर ही है। योगियों ने तो उसे विशेष पुरुष कहा भी है। ईश्वर के विशेष रूप के विषय में अनेक मतभेद हैं। इसका कारण ईश्वर के अनुभवकाल में संस्कारों की झिल्ली का बने रहना है। अनुभूत्यनन्तर पुनः अन्तःकरण के माध्यम से ही उसे प्रकट करने को बाध्य होना पड़ता है अतः अन्तःकरण की कारणता भी प्रविष्ट हो जाती है। वाणी में प्रकट करने पर तत्तद्भाषाओं की सीमाएँ भी प्रविष्ट हो जाती हैं। अनेक अनुभवियों का स्वतः न लिखना एवं उनके उपदेश को सुनकर जैसा समझा वैसा लिखने का प्रयत्न उनके शिष्यों द्वारा होना भी एक कारण है। अतः शिष्यों की समझ व प्रकाशन-सामर्थ्य की सीमाएं भी आ ही जाती हैं। इन सब सीमाओं के पार जाने पर निर्विशेष प्रत्यगात्मा ही बचता है। औपनिषद् पुरुष भी इसे ही कहा

* "In the history of Hinduism, the establishment of Shankara's Advaita System of Philosophy is a great landmark. The ancient period ends with the establishment of Shankara's System, the final triumph of Hinduism over Buddhism and Jainism in the nineth century".

— Kenneth W. Morgan's *The Religion of the Hindus*, p. 27.

जा सकता है। एक बार इसको समझ लेने पर सभी ईश्वर-विषयक मान्यताएँ संगत हो जाती हैं और सभी साम्प्रदायिक व धार्मिक विरोधों का अन्त हो जाता है। आचार्य शङ्कर ने इसी को आधार बनाकर तत्कालीन सभी सम्प्रदायों को एक हिन्दू-धर्म में अन्तर्भूत किया। आज भी उनकी दृष्टि से देखकर सभी विश्वधर्मों को सनातन धर्म में अन्तर्भूत करने की आवश्यकता है। अन्य धर्मावलम्बी प्रायः एक साम्प्रदायिक मान्यता को सभी पर लागू करने को धर्म-परिवर्तन मानकर लोगों को अपने झण्डे के नीचे लाने में विश्वास करते हैं। वेदान्ती उन्हें अपने धर्म में रहते हुए, अपनी सनातन कुल-मर्यादाओं को मानते हुए, सभी मान्यताओं को व्यावहारिक दृष्टि से एक-जैसी मान कर उन्हें पारमार्थिक दृष्टि से निर्विशेष प्रत्यगात्मा से अभिन्न स्वीकारने को ही वास्तविक धर्म-परिवर्तन एवं सनातन धर्म के झण्डे के नीचे आना मानता है। युग की पुकार है कि इस दृष्टि का प्रचार कर कम-से-कम प्रारम्भ में भारत के सभी धार्मिक समूहों में शान्ति व सौहार्द की स्थापना की जा सके एवं चूंकि भारत में विश्व के सभी धर्म पुष्कलरूपेण मौजूद हैं अतः इस प्रयोग के सफल होने पर विश्व भर में इसी सौहार्द की स्थापना की जा सके। सभी धर्म किसी माध्यम से ही ईश्वर की प्राप्ति मानते हैं। वेदान्त स्वयं जीव के वास्तविक स्वरूप प्रत्यगात्मा को ही माध्यम मानता है। चूंकि दूसरे माध्यम भी अन्ततोगत्वा प्रत्यगात्मा रूप से ही माध्यम सिद्ध होते हैं, अतः उनसे अविरोध ही आचार्य शङ्कर को मान्य है। उपदेशसाहस्री में प्रत्यगात्मा के माध्यम का जितना स्पष्ट व सटीक विवेचन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। अतः इसका आज के युग में विशेष महत्त्व है।

ब्रह्मसूत्र को सर्वज्ञ शङ्कर 'शारीरक मीमांसा' कहते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म का विचार शरीर में स्थित चेतना से प्रारम्भ होता है एवं सर्वशरीररूप में सर्व में स्थित ब्रह्म रूप की प्राप्ति में समाप्त होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसार में किसी भी दर्शन या धर्म में मनुष्य उतना मूल्यवान नहीं है जितना अधिक मूल्य उसे शाङ्कर वेदान्त में प्राप्त है। सर्वज्ञ शङ्कर मानते हैं कि अविचार से जो जीव है, विचार से वही ब्रह्म है। 'अशनायादिनिर्मुक्तः सिद्धो मोक्षस्त्वमेव सः' (उ० सा० तत्त्वमसि० २०६)। विचार से पूर्व जीव के कष्टों को स्वीकार करते हुए भी उसकी वास्तविकता को आचार्य ने अस्वीकारा है। आचार्य के समस्त दृष्टिकोण को समझने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का जो चित्र वे खींचते हैं, उसमें उसका परम-प्रयोजन या अन्त अत्यन्त सुरक्षित है। उसकी पूर्णता (integrity) व असामान्य अभिव्यक्तियों का विस्तार अनुपम है। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण का जो निराशा का माहौल है, उसको मानो आचार्य शङ्कर चुनौती देते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य की जो शारीरिक सीमाएँ उसे अनगिनत कमजोरियों व दुःखों का घर बना रही हैं, वे केवल क्षणिक हैं। मनुष्य का मूल्य उन कमजोरियों से नहीं लगाना है वरन् हमें तो उसको उसके ब्रह्मरूप से आँकना है, जो उसकी अन्तिम अपितु सहज पूर्णता है। यही उसका निश्चित् रूप है। वर्तमान जीवनक्रम व उसके भिन्न रूप तभी मूल्यवान् लगते हैं जब उन्हें उन्नति के सोपान के रूप में व विकासशील रूप में समझा जाता है। इसी से इसे दिशा-निर्देश भी प्राप्त होता है। यह सत्य है कि आपाततः मनुष्य-जीवन एक पहेली है। पहेली को समझे बिना मनुष्य क्रिया व निष्क्रियता के बीच डोलता रहता है। संशय में पड़ा रहता है कि वह पशु है या देव। विवेक व कामनाओं के बीच अपने को झुंझलाता हुआ पाता है। इस असीम विश्व की विस्तृति उसकी समझ के परे लगती है। वह अपने को अति तुच्छ रूप में देखता है। उसे आत्मज्ञान व्यर्थ-सा लगता है। परन्तु इतने पर भी वह पाता है कि वह ऐसा यन्त्र है जिसमें विश्व के पदार्थों की ज्ञानरूप आहुति डालते हैं। ये पदार्थ अर्थशून्य हैं, अनर्ह हैं। परन्तु मनुष्य में आकर इन्हें प्रयोजनवत्ता की नवीन गुणवत्ता प्राप्त हो जाती है। ये अर्ह हो जाते हैं। यह जो मानव की आध्यात्मिक शक्ति है कि विश्व को समझ कर विश्वातीत का दर्शन कर सके, यही उसकी वास्तविकता है क्योंकि वह स्वयं ही विश्वातीत तत्त्व है। निरन्तर परिवर्द्धमान, विकासशील और सप्रयोजन जिज्ञासा ही इसे 'प्रज्ञानं ब्रह्म' का साक्षात्कार कराती है। 'अज्ञानं कल्पनामूलं संसारस्य नियामकम्। छित्त्वाऽऽत्मानं परं ब्रह्म विद्यान्मुक्तं सदाऽभयम्' (उ० सा० पार्थिव० १७)।

विश्वधर्म को उपनिषद् की सबसे बड़ी देन है जीव, जगत् व ईश्वर की अधिष्ठानदृष्ट्या एकरूपता। यह बात दूसरी है कि जगत् का स्वरूप से बाध होता है व जीव तथा ईश्वर की उपाधिमात्र का। 'आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा। गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामाभासासत्त्वमेव च (उ० सा० तत्त्वमसि० ४३)। यह आभास बनना या अनुप्रवेश क्या है? सदाशिव का स्थूल-सूक्ष्म देहों के साथ अभिन्नतया प्रतीत होना ही प्रवेश है। असंभव होने से यह

आविद्यक ही हो सकता है। देह आपस में भिन्न हैं, पर उन सभी में वह तो एक जैसा ही प्रविष्ट है। 'विविच्यास्मात्स्वमात्मानं विद्याच्छुद्धं परं पदं। द्रष्टारं सर्वभूतस्य समं सर्वभयातिगम् (उ० सा० नान्यदन्यत्० ३६)। तात्पर्य है कि हार्दाकाश में निरुपाधिक साक्षात्कार होने के निमित्त से ही अनुप्रवेश कहा गया है। जीव स्थूल-सूक्ष्म उपाधि में वर्तमान परब्रह्म ही है एवं वही व्यावहारिक अनुभूतियों का प्रमाता है। 'तस्मात्पर एवैकः सर्वेषां भूतानां अन्तरात्मा जीवभावेन अवस्थितः'। तत्त्वमीमांसा करने पर महेश्वर ही उपाधि द्वारा मनुष्य कहा जाता है। इससे अधिक श्रेष्ठता मनुष्य की क्या बतायी जा सकती है ? यह सत्य है कि उपाधि अविद्या का ही कार्य है। अविद्या ही शिव, विश्व और जीव का भेद उपस्थापित करती है। मानव के स्थूल-सूक्ष्म शरीर रूपी उपाधि की भौतिकता वेदान्तमान्य है। मन भी भौतिक है एवं दृश्य के अन्तःपाती है, द्रष्टा के अन्तःपाती नहीं। उपाधियों की आविद्यकता महत्वपूर्ण है। आत्मज्ञान उनका बाधक इसीलिए है कि वे आविद्यक हैं। परन्तु वे व्यावहारिक सत्य हैं एवं वही प्रति जीव के विशेष भाव का हेतु हैं। श्रोडिङ्गर अपने 'किम्जीवनम्' नामक ग्रन्थ में बताते हैं कि जैसे हम कई मटके या मकान देखते हैं, वैसे हमें कभी भी कई चेतन नहीं दीखते। 'मैं' चेतन ही एकमात्र प्रतीत होता है। वे आगे कहते हैं कि आकाश व काल ही बहुत्व निर्माण करने वाले हैं। अतः दिक्कालातीत होने से चैतन्य कभी बहुत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिये 'ज्ञातेवाहमविज्ञेयः शुद्धो मुक्तः सदेत्यपि। विवेकी प्रत्ययो बुद्धेर्दृश्यत्वान्नाशवान्यतः (उ० सा० प्रकाश० १४)। जीव में ईश्वर का अन्तर्यामित्व अभेद से है, दो चैतन्य भिन्न होकर नहीं। अतः वेदादि सच्छास्त्रों में जहाँ इस प्रकार के वचन हैं, वे भेदप्रतिपादनार्थ नहीं हैं। भेदसिद्धि के लिए उनका प्रयोग करने पर चैतन्य के बहुत्व का अनुभव तथा युक्तिविरोध प्राप्त होकर वेदार्थ ही सन्दिग्ध या अविश्वस्त हो जायगा। अतः द्वैतवादियों के 'द्वा सुपर्णा' या अन्तर्यामी ब्राह्मण के द्वारा जीव व ईश्वर के भेद का प्रतिपादन सर्वथा असंगत है। अयौक्तिक, अननुभूत अथच अविचारित भेद का अनुवाद श्रुति करे यह तो सम्भव है, पर उसका प्रतिपादन करे यह सम्भव नहीं।

परमतत्त्व के तीन प्रकार के वर्णन उपनिषद् में प्राप्त होते हैं। निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञेयार्थ निरूपण एवं सविशेष ब्रह्म का ध्यान करने के लिए प्रतिपादन श्रुतियों में तात्पर्य से किया गया है। कर्म व कर्मफल का कर्ता व भोक्ता रूप जिज्ञासु को अनुभवसिद्ध होने से उसका अनुवाद किया है एवं उसका तात्पर्य जीव के वास्तविक स्वरूप का विवेक करके उसकी ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिपादन करना है। ब्रह्म की चेतनता श्रुति बताती है परन्तु चेतनता क्या चीज है, यह तो जीव को अपने स्वरूप में ही अनुभूत है। अतः ब्रह्म जीव से अभिन्नरूप न हो तो सदा ही परोक्ष रहेगा, ब्रह्मसाक्षात्कार असम्भव हो जायगा। वेदादि शास्त्र मुमुक्षु के लिए रद्दी की टोकरी में फेंकने लायक हो जावेंगे। अतः जीव ही, जो चेतन का एकमात्र अपरोक्ष रूप है, ब्रह्मापरोक्षता का स्थल हो सकता है। जीव की उपाधियों से ही वह जीव है अन्यथा ब्रह्म ही है। ईश्वरश्चेदनात्मा स्यान्नासावस्मीति धारयेत्।.........अज्ञेयत्वेऽस्य किन्त्वस्यादात्मत्वे त्वन्यधीहनुतिः' (उ० सा० ईश्वर० १,२)। अतः चेतन में भेद केवल उपाधिनिष्ठ है। तीन प्रकार के वर्णनों से तीन प्रकार के भिन्न चेतनों का कथन न होकर एक चेतन के तीन प्रकार की उक्ति अविचारित प्राप्त भेद की निवृत्ति के लिये ही है।

कर्म व कर्मफल की व्यवस्था के बिना मानव के समग्र यत्न निरर्थक हो जावेंगे। यह शास्त्रीय उपासना रूप कर्म के लिए भी उतना ही सत्य है। अतः कर्मफलदाता ईश्वर ही ध्येय ब्रह्म होने से ध्यान का विषय भी है व ध्यान का फल देनेवाला भी। कर्म के द्वारा भी वही आराध्य है व वही फलदाता भी। इतना निश्चय होने पर वही ईश्वर लौकिक कर्मों के फलदाता रूप से भी स्वीकारा जाता है। इस प्रकार ईश्वर व जीव का सम्बन्ध स्वामी व सेवक भाववाला है। इसी भाव की भक्ति वेदान्तसम्मत है। ईश्वरत्व के भाव से रहित जिस भक्ति का प्रतिपादन किया जाता है, वह तो मूल को काटकर पत्ते को सींचने की तरह व्यर्थ है। पत्ते की चमक की तरह मन की एकाग्रता तो वहाँ भी उपलब्ध हो ही जायगी। 'ओमित्येवं सदात्मानं सर्वं शुद्धं प्रपद्यथ। सेतुं सर्वव्यवस्थानां अहोरात्रादि-वर्जितम्' (उ० सा० सम्यङ्मति० ७७)।

सच्चिदानन्द परब्रह्म ही सारी साधनाओं का लक्ष्य वेदान्त के अनुसार स्वीकृत है। यह सत्य है कि उसका किसी भी प्रकार से निरूपण अशक्य है, परन्तु यह भी सत्य है कि 'सत्यं ज्ञानं अनन्तम्', 'आनन्दं प्रपञ्चोपशमं शान्तम्', 'अद्वैतं शिवं' आदि के द्वारा स्वयं श्रुति ने उसका निरूपण भी किया है एवं उस निरूपण से साधक स्वकीय प्रज्ञा के द्वारा अन्वेषण करके कृतार्थ भी हुए हैं और हो रहे हैं। जितना यह सत्य है कि असंस्कृत पुरुष को इन सभी शब्दों में त्रुटि प्रतीत होती है, उतना ही सत्य यह भी है कि गुरु द्वारा संस्कार को प्राप्त शिष्य को इन्हीं के द्वारा पूर्णता की प्राप्ति होती है। अन्तिम गुरूक्ति 'तत्त्वमसि' इन्हीं पर आधारित है। सभी सप्रयोजन उद्बुद्ध कर्म शिवकेन्द्रित ही हों, सभी भावनाओं व स्नेहों का एकमात्र उद्देश्य शिव ही हो, सभी बौद्धिक गवेषणाओं का लक्ष्य शिव ही हो, यही वेदान्त सम्प्रदाय है। 'आत्मलाभात्परो नान्यो लाभः कश्चन विद्यते। यदर्था वेदवादाश्च स्मार्ताश्चापि तु याः क्रियाः' (उ० स० सम्यङ्मति० ४)। इसीलिए वेद मानवदेह को ब्रह्मपुर कहता है। ब्रह्म की उपलब्धि के लिए प्राप्त यह देह जब इस उद्देश्य से प्रवृत्त होता है तो ब्रह्म ही सर्वोच्च अर्हा व परमसत्य होने से मानव का समग्र जीवन दिव्य हो पड़ता है। इसमें जीवन के किसी भी पक्ष का निरास नहीं है। जीवन के सभी पक्षों को उच्च व अधिकतम क्रियाशील स्तर पर पूर्ण दीप्ति से कार्य करना जरूरी हो जाता है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं च रसादेः पञ्चकात्परम्। स्यामदृश्यादि-शास्त्रोक्तमहं ब्रह्मेति निर्भयः॥ यस्माद्भीताः प्रवर्तन्ते वाङ्मनः पावकादयः। तदात्मानन्दतत्त्वज्ञो न बिभेति कुतश्चन (उ० सा० सम्यङ्मति० ६२-६३)। दैवी सम्पत्ति उसमें स्वभावतः प्रतिष्ठित है अतः वह दिव्य है। दैवी सम्पत्ति उसके लिए साधनरूप नहीं है। आचार्य शङ्कर के पट्टशिष्य सुरेश्वर अपनी प्रसिद्ध कृति नैष्कर्म्यसिद्धि में कहते हैं—'अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः ज्ञानमुत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः (नैष्कर्म्यसिद्धि ४.६८)। साधक व सिद्ध में केवल यही भेद है कि सिद्ध में यह जीवन की दिव्यता या क्रियाशील दीप्ति अप्रयत्न से ही प्रकट होती है जब कि साधक में प्रयत्न से। 'उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः' (नैष्कर्म्यसिद्धि ४ ६९)। ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मन्त्र, जो अद्वैत के साधक के लिये है, स्पष्टतः ईश्वर से सारे परिदृश्यमान अर्थात् कार्य-कारणसंघात और उसकी क्रियास्थली को आच्छादन करने का आदेश देता है। धर्म व दर्शन दोनों का संश्लिष्ट लक्ष्य शिवज्ञान ही है। यहाँ और अभी वह ज्ञान सम्भव है, क्योंकि मानव के अन्तस्तल में वह कालातीत भाव से उपस्थित है। सर्वज्ञ शङ्कर ब्रह्म को ही लक्ष्य स्वीकारते हैं, जो सोपाधिक व निरुपाधिक रूप से उपनिषद् द्वारा प्रतिपाद्य है। यह ब्रह्म साधक की तात्त्विक वास्तविकता (metaphysical reality) है। यह शरीरी नहीं है पर शारीरभाव में शरीरी रूप से प्रतीत होता है। ह्वाइटहेड ने विज्ञान व साम्प्रत जगत् में धर्म का लक्षण करते हुए कहा है, 'विश्वातीत, विश्वसंचालक एवं विश्व का आधार ऐसा सत्य है, जिसका सत्यापन ज्ञान द्वारा करना है। इसका परोक्ष ज्ञान धर्म का प्रारम्भ है एवं अपरोक्ष ज्ञान लक्ष्य है। यह सुदूर सत्य भी है एवं अतिसन्निहित तत्त्व भी। यही सभी प्रवहित अनुभूतियों को सार्थक करता है पर स्वयं अज्ञात बना रहता है। यही अन्तिम सत्य भी है और अप्रकट भी है, जिसे पकड़ना या जानना असम्भव लगता है।' इसे ही शङ्कर 'ब्रह्म' कहते हैं, जो नित्यसिद्ध होने पर भी जिज्ञासु जीव को साध्य लगता है। इसीलिए साधना व ईश्वरदर्शन आवश्यक हो जाता है। 'नित्यमुक्तः सदेवास्मीत्येवं चेन्न भवेन्मतिः। किमर्थं श्रावयत्येवं मातृवच्छ्रुतिरादृता (उ० सा० तत्त्वमसि० ३)। ह्वाइटहेड व आचार्य शङ्कर की दृष्टि में एक बड़ा भारी भेद यह है कि ह्वाइटहेड की दृष्टि में अन्वेषण का उद्देश्य कभी पूरा नहीं होगा परन्तु शङ्कर की दृष्टि में अवश्य पूर्ण होगा क्योंकि वह हृदयाकाश में आत्मरूप से सदा मौजूद है। अतः धर्म चाहे अदृष्ट फल हो, परन्तु परमधर्मस्वरूप शिव तो दृष्टफल ही है।

इसकी प्राप्ति के लिये शङ्कर ने अधिकारमीमांसा को प्रधानता दी है। अधिकारवाद के द्वारा ही हमें पता चलता है कि अद्वैत के आचार्य की पकड़ विश्व की अनन्त उलझनों के विषय में कितनी गहरी है। धर्म-विचार वैसा सरल नहीं है, जैसा कई आधुनिक लोग समझते हैं। जीव व ब्रह्म की तात्त्विक एकता का अर्थ है कि प्रत्येक जीव ब्रह्मभाव का अनुभव करे मानवयोनि को छोड़ इस बन्धन का अनुभव एवं बन्धन को बन्धन समझने की योग्यता भी नहीं आती। मानवों में भी सभी लोग तड़पन के साथ बन्धनिवृत्ति की कामना नहीं करते। इसीलिये मनुष्यता व मुमुक्षुता की आवश्यकता होती

है। मानवों में भी कोई-कोई ही आध्यात्मिक जगत् में साहसिक बनकर साधनों का जुगाड़ पाते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता की इच्छा मानव के मन में अत्यन्त देर से आती है। इसके प्रति अप्रमाद एवं ब्रह्मज्ञान के साधनों से अतिरिक्त सभी का त्याग करने की तैयारी भी आवश्यक है। विश्व के अन्तःपाती ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, स्वर्ग, राज्य, धन, पुत्र आदि सभी पदार्थों की प्रातीतिक सुखदता का खोखलापन जानने के बाद ही चरित्र में वह प्रौढ़ता आती है, जो अद्वैतापरोक्षता के लिये उद्दाम वासना बनकर आत्मज्ञान के साधनों में एकाग्रता से प्रवृत्ति कराती है। सामान्यतः मानव अनुकूल की प्राप्ति के निमित्त प्रवृत्त होता है व प्रतिकूल से निवृत्त। पर शनैः शनैः समझ में आता है कि इससे तृष्णा सर्वथा शान्त नहीं होती। कर्ममात्र निश्चित लक्ष्य को पूरा करने में पर्याप्त नहीं हैं। इस स्थिति पर आकर वह शास्त्र के आदेश को समझ पाता है कि अपने अन्दर ही खोजा जाय। जबतक अपने तात्त्विक रूप का पता न लगे, सारे प्रयोजन अनिर्णीत ही रहेंगे। 'कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये ध्रुवे स्यातां, ततो रागो, द्वेषश्चैव ततः क्रियाः' (उ. सा. उपोद्० ३) एवं 'विविच्यास्मात्स्वमात्मानं विद्याच्छुद्धं परं पदं' (उ. सा. नान्यदन्यत्० ३६)। अन्दर अन्वेषण करने के लिये शान्त चित्त आवश्यक है क्योंकि चित्त का ही सहारा भीतर के ज्ञान के लिये है। इसलिये तो इसे अन्तःकरण कहा है। परन्तु इन्द्रियाँ चञ्चल होने पर बलपूर्वक वे चित्त को अशान्त कर देती हैं, अतः उनका संयमन भी आवश्यक है। इस अन्वेषण में गुरूपसत्ति अनिवार्य है क्योंकि यह अध्यात्मयात्रा अति दुरूह है एवं अनुभवसम्पन्न गुरू के बिना रास्ते में भटक कर अपने उद्देश्य पर न पहुँच कहीं अन्यत्र पहुँचा जा सकता है। अतः गुरू की आज्ञा का पालन व उनके अनुगत होने का अभ्यास आवश्यक है, अन्यथा ब्रह्मज्ञानी गुरू का उपदेश ही सम्भव नहीं होगा। स्वभावतः जितने गुणों से सम्पन्न शिष्य होगा उतना ही वह गुरू के उपदेश को जीवन में उतारने में सक्षम होगा। 'प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे' (उ. सा. पार्थिव० ७२)। परन्तु ये अधिकार प्राप्त कैसे हों ? यह तो स्पष्ट ही है कि बहुत कम मानव ही इन अधिकारों को प्राप्त करने के योग्य होते हैं। इसके लिये यम, नियम, शिवार्पण किये हुए यज्ञ, पूजन, तप, जप, देवोपासन आदि कर्तव्य हैं। 'यमैर्नित्यैश्च यज्ञैश्च तपोभिस्तस्य शोधनम् शारीरादि तपः कुर्यात्तद्विशुद्ध्यर्थमुत्तमम्' (उ. सा. साम्यङ्मति० २३)।

यम का वर्णन करके हुए सुरेश्वराचार्य मनकी प्रसन्नता, सन्तोष, मौन, इन्द्रियसंयम, दया, दक्षता, आस्तिकता, सरलता, स्वभाव की कोमलता, क्षमा, मनकी सफाई, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, ईश्वर-स्मरण, धृति आदि मनके धर्मों का सामूहिक वर्णन करते हैं जिनको न करने पर साधक पतित हो जाता है। स्नान, सफाई, यज्ञ, सत्य, जप, होम, तर्पण, तप, दान, कष्टसहन, ईश्वर-नमस्कार, प्रदक्षिणा, व्रत, उपवास आदि शरीर से होनेवाले धर्मसमूह नियम कहे जाते हैं। इस प्रकार दीर्घकाल तक आचरण करने पर मनमें वह योग्यता आती है जिसमें ब्रह्मज्ञान धारण किया जा सके। कहा जाता है कि शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही धारण किया जा सकता है, अन्यथा दूध विकृत हो जाता है। इसी प्रकार योग्य चित्त में ही ब्रह्मविद्या धारण की जा सकती है अन्यथा काम आदि विकारों से वह विकृत हो जाती है। 'सभयादभयं प्राप्तं तदर्थं यतते च यः स पुनः सभयं गन्तुं स्वतन्त्रश्चेन्न हीच्छति' (उ. सा. तत्त्व० २२८)। यहाँ स्वतंत्र का अर्थ भी समझने लायक है। आइन्स्टाइन कहते हैं कि निरपेक्ष स्वतन्त्रता अर्थहीन है। प्रत्येक व्यक्ति अपने बाह्य एवं आभ्यन्तर दबावों से ही जो करता है, सो करता है *। इसीको गीता मे स्वभाव कहा है, जिसके द्वारा परमेश्वर अन्तर्यामी कहा जाता है। अतः यदि कामनाओं आदि के संस्कारों से रहित नहीं हो गया है तो अस्वतन्त्र की तरह प्रवृत्त होकर अपने को बद्ध या परतन्त्र अनुभव करेगा। अतः ब्रह्मविद्या का उदय होने के लिये बाह्य व आभ्यन्तर परतंत्रता दूर होना आवश्यक है। यह ठीक है कि जीवन रहते प्रारब्धवशात् कुछ न कुछ स्वभाव तो बना ही रहेगा। परन्तु उतना आवश्यक मात्र बचा रहने पर परतंत्रता का अनुभव नहीं हो पायगा। कामनाओं की आज्ञा के अनुसार अदम्य प्रवृत्ति की इच्छा ही मानव की परतन्त्रता का व्यक्त रूप है। साधनाएँ इस इच्छा को इस रोग से मुक्त करने के लिये ही हैं। कामना से निर्मुक्त होने पर मानव का

---

* 'I do not at all believe in human freedom in the philosophical sense. Everybody acts not only under external compulsions, but also in accordance with inner necessity'.—Einstein in *Window on the world*. Published by Oxford University Press 1972.

व्यक्तित्व संश्लिष्ट हो जाता है। अधिकारसम्पन्नता पर जोर देकर नैतिक शिक्षण व जीवन में उसे उतारने पर आचार्य जोर देते हैं। 'नैतद्देयमशान्ताय रहस्यं ज्ञानमुत्तमं (उ. सा. सम्यङ्मति० ८६)। इस संश्लिष्ट व्यक्तित्व की प्राप्ति के बिना दिया ज्ञान भी निष्ठा नहीं बन पाता। ऐसे ही किसी साधक को लक्ष्य करके स्वामी विद्यारण्य जी कहते हैं कि तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके तुम ग्रामशूकर बनने की इच्छा मत करो। थोड़ा-सा प्रयास करने पर ही तुम देवताओं की तरह पूज्य हो सकोगे। विड्वराहादितुल्यत्वं माकांक्षीस्तत्त्वविद्भवान् सर्वधीदोषसन्त्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् (पंचदशी ७।५७)। यद्यपि यह सत्य है कि तत्त्वसाक्षात्कार होने पर देवता की तरह पूज्य होना भी साधक नहीं चाहेगा। उसे तो लगेगा कि प्रतिष्ठा भी शूकरी विष्ठा की तरह अनुपादेय है। पर जो जगत् में कामना से प्रवृत्त हो रहा है, उसकी कामना को उच्चतर नैतिकता की ओर ले जाकर उसे अधिकारसम्पन्न करने में ही तात्पर्य है। अनैतिकता का मूल व्यक्तिमूलक कामनाएँ ही है। वे भूख की तरह हैं व भूख को बृहदारण्यक उपनिषद् में मृत्यु ही कहा है। कामना मन को भविष्य की ओर न देखने देकर उसे संकीर्ण व क्षणिक वर्त्तमान पर केन्द्रित कर देती है। अतः जीव अपनी उच्चतर संभावनाओं को व्यक्त करने पर ध्यान नहीं दे पाता। अतः अन्यत्र उपनिषद् ऐसे मानव को कृपण कहती है। अपनी पूर्णात्मा को प्रकट किये बिना, उसका साक्षात्कार किये बिना, इस संसार से जाना ही कृपण बनकर जाना है। इसी को जीतने का तरीका नैतिक जीवन का निर्माण है। इच्छा के उत्पन्न होने पर उसे नियंत्रित कर उपयुक्त मार्ग में बहाकर उपयोगी बनाना साधना के प्रथम सोपान हैं। पर यह केवल किसी की आज्ञा से नहीं करना है वरन् अपनी शुद्ध वास्तविक आत्मा की अभिव्यक्ति के लिये करना है। इसके लिये अपनी वर्त्तमान प्रातीतिक आत्मा के साथ समझौता करना आवश्यक है, अन्यथा वह ऐसा विप्लव मचाएगी कि साधक निराश हो जायगा। अन्ततः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा के व्यक्त होने पर संघर्ष समाप्त हो जायगा क्योंकि प्रातीतिक आत्मा का बाध हो जायगा। परन्तु तब तक बुद्धि से समझी शुद्धरूपता की तरह इस कामनापुंज का प्रवाह आवश्यक होगा। वेदान्त के विद्वान् शर्मण्यदेशवासी डायसन का कहना है कि मानवता की एकता, उनके सह-अस्तित्व के लिये आवश्यक उनकी आवश्यकताओं और कामनाओं की तरफ आचार्य ने ध्यान नहीं दिया है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उन्होंने वेदान्त साधना का अभिन्न अंग कर्मयोग को माना है, जिसमें हिन्दू सामाजिक जीवन के रूप वर्णाश्रमधर्म में इन सबका समावेश हो जाता है। गीता भाष्य में यह और स्फुट हो जाता है। 'देहाद्यैरविशेषेण देहिनो ग्रहणं निजम्, प्राणिनां तदविद्योत्थं तावत्कर्मविधिर्भवेत्' (उ. सा. उपोद्० १६)। चूंकि धर्मशास्त्र में इसका विस्तृत वर्णन है, आचार्य ने इसका अलग से प्रतिपादन करना आवश्यक नहीं समझा। व्यक्ति की उन्नति और जिस समाज में वह रहता है, उसकी उन्नति व्यष्टि और समष्टि की उपाधि की एकता के द्वारा शङ्कर ने ऐसे दार्शनिक धरातल पर रख दी है जो अभेद्य है। किंच उनका जीवन, जो किसी भी वेदान्त अनुयायी के लिये अजस्र प्रेरणा का स्रोत है, स्पष्ट कर देता है कि वे समाज के प्रति कितने संवेदनशील थे। वर्णाश्रमव्यवस्था को स्वीकारने का अर्थ है व्यक्तिगत कामना को समाज की स्थिति के साथ समन्वित करना। सामाजिक अर्हाओं के साथ मिलकर चलने से ही उस दृष्टि को प्राप्त किया जा सकता है, जिससे निष्कामावस्था में समाज को अधिकतम उन्नति की प्रेरणा दी जा सके। लोकसंग्रह आचार्य शंकर के जीवन-दर्शन में विशिष्ट स्थान रखता है। वेदान्त का नैतिक दर्शन मानव की स्वतंत्रता को ऐसे मार्ग से स्फुट करने का प्रयत्न है जो उसकी कामनाओं को रुद्ध करके उसकी परतंत्रता को और अधिक न उलझा दे। विश्व में क्रिया अत्यन्त गहन है, जिस जंगल में से सीधा मार्ग निकालना जरूरी है। इसी मार्ग से कर्त्ता स्वतंत्रता के खुले वातावरण में प्रवेश करके शुद्ध पारमेश्वरी वायु को ग्रहण कर सकेगा।

पहला सोपान तो इस बात को समझना है कि सारे कर्म बन्धन का कारण नहीं है। फलप्राप्ति की इच्छा से किया कर्म ही बन्धन का कारण है। इच्छाप्रेरित कर्म क्यों बांधते हैं? वे कर्त्ता को फल देने के लिये उसे जन्म-मरण के चक्र में डालकर बांधते हैं। किंच उनसे उत्पन्न वासना पुनः कर्मेच्छा उत्पन्न कर इस चक्र को निरन्तर चलाती रहती है। कर्म का व्यापक कानून इसकी व्यवस्था करता है। 'यत्कामस्तत्क्रतुर्भूत्वा कृतं त्वज्ञः प्रपद्यते' (उ. सा. सम्यङ्० ४८)। निष्फलता की दृष्टि से काम करने वाले को ये बन्धन नहीं हो सकते। तब ईश्वर की प्रेरणा के अनुकूल ही कर्म करना आरम्भ हो जाता है जो अन्ततः नैष्कर्म्य पद की प्राप्ति करा देता है। ईश्वरेच्छा में जीव की इच्छा का विलीन हो

आना ही कर्म का उद्देश्य है। इसी को अन्यत्र संसिद्धि शब्द से कहा गया है। परन्तु कर्म मोक्ष का कारण नहीं ही हो सकता है। कर्म में कर्तृत्वाभिमान अवश्यंभावी है। 'मैं ईश्वर के नौकर की तरह करता हूँ' में प्रेरकता ईश्वर में होने पर भी कर्तृता तो मैं में रहेगी ही। 'विद्यायाः प्रतिकूलं हि कर्म स्यात्साभिमानतः·······अहं कर्ता ममेदं स्यादिति कर्म प्रवर्तते' (उ. सा. उपोद्० १२-१३।)

अगले सोपान में समझना पड़ता है कि ईश्वर मानव-कल्पना की उच्चतम कोटि है। ईश्वर के माया से प्राकट्य होने को समझना ईश्वर की कृपा से ही संभव है। इसी में जीव का शिव से प्रेम व शिवका जीव पर अनुग्रह छिपा हुआ है। अवतार का उद्देश्य धर्म व साधुओं का रक्षण ही है। इसके लिये असाधु अधर्मी आसुरी प्रकृतिवालों का नाश आवश्यक होने से वह भी अवतार-जीवन का आवश्यक अंश हो जाता है। धर्म में अप्रवृत्ति के दो कारण होते हैं। युगानुरूप जो कार्य असंभव हो जाते हैं उनमें असामर्थ्य के कारण दूसरे धर्मकार्यों के प्रति भी अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। धर्म के नियम एक अगाध जंगल हैं। उनमें से किसी भी देश, काल आदि परिस्थितियों का विचार करके किन धर्मसमूहों का पालन संभव है एवं किनको छोड़ना ही पड़ेगा इसका निर्णय साधारण व्यक्ति के बूते का नहीं है। भीष्म पितामह जैसे वसु भी युधिष्ठिर के समक्ष सभी धर्मों व मोक्षसाधनों का प्रतिपादन करके भी द्रौपदी वस्त्रापहरण के समय धर्माधर्म का निर्णय करने में अक्षम ही रहे। अतः अवतार का प्रयोजन धर्मव्यवस्था के द्वारा संभव धर्मों को उपदिष्ट व प्रचारित करना है। 'विमथ्य वेदो दधितः समुद्धृतं' (उ० सा० तृष्णा० २८)। इसी के फलस्वरूप लोगों में धर्मप्रवृत्ति सुलभ हो जाती। ज्ञान होने पर भी सर्वस्व बलिदान करके धर्मपालन भी सबके बूते का नहीं है। अधार्मिक लोग संगठित होकर धार्मिकों का उत्पीडन करते हैं। यह आज के समाज व राज्य में स्पष्ट है। जब तक इस प्रकार के संगठित अधर्मीयों का नाश न हो तब तक धार्मिक आचरण कठिन हो जाता है। अतः यह भी अवतार का कार्य हो जाता है। कई बार अधर्म का प्रचार धर्म के नाम से होता है। ऐसी परिस्थिति में जिन युक्तिजालों से अधर्म को धर्म कहा जा रहा है, उसका खण्डन भी संगठित अधर्मियों का नाश ही है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति के नाश से अधर्म का नाश संभव न होकर विचार का नाश ही अधर्मियों का नाश हो सकता है। 'अगुणग्रहोऽगुणं न याति मोहं ग्रहदोषमुक्तितः' (उ० सा० तृष्णा० २६)। इस प्रकार परमेश्वर की कृपा को इतिहास में प्रत्यक्ष देखकर परमेश्वर पर अपूर्व प्रेम उत्पन्न हो जाता है। यहाँ अवतार का अर्थ केवल पूर्णावतार नहीं समझना चाहिये। पूर्ण जीवन अर्थात् बचपन आदि सारी अवस्थाओं में जो अवतार प्रकट हो वह पूर्णावतार है, जैसे कृष्ण, शंकर आदि। भक्तानुग्रह के लिए थोड़े समय के लिये प्रकट होने वाले अंशावतार भी अवतार ही हैं। उनसे भी प्रभु का जीवों के प्रति प्रेम प्रकट होता है। गुरु भी ज्ञानोपदेश के समय ऐसा ही अवतार है। 'सर्वज्ञेभ्यो नमस्तेभ्यो गुरुभ्योऽज्ञानसंकुलम्' (उ० सा० सम्यङ्० ८९)।

प्रेम मानवहृदय की सौन्दर्य के प्रति उद्भूत भावना है। स्वरूपतः यह निष्काम सुख है। सौन्दर्य का मूल समन्वय है। शिव में सभी समन्वित होने से वही परम निरतिशय सौन्दर्य का आश्रय है। अतः पूर्ण प्रेम भी वहीं संभव है। प्रकृति का सौन्दर्य निखर कर आत्मा के अपूर्ण सन्तुष्टि का कारण होने से ही त्याज्य है। इससे होने वाला सुख भी निष्काम तो है पर इसका विषय पूर्ण समन्वित न होने से प्रेम की पूर्णता का बाधक बना रहता है। वस्तुतः शिव का सौन्दर्य ही अविद्या से परिच्छिन्न होकर प्राकृत पदार्थों में उल्लसित होता है। अतः शिवातिरिक्त सभी कुछ शिव पर अध्यस्त होकर ही सुन्दर होता है। सौन्दर्य के अन्वेषण को शिव की प्रकृति से हटाकर शिव में केन्द्रित करना ही शिवभक्ति है। बगीचे की सुन्दरता से बागवान की सुन्दरता देखना है। आराम अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' (बृ० ३.४.३.१४) ज्ञानेच्छा भी ईश्वर को ही विषय करे यह ज्ञानमार्ग है। इसी प्रकार भक्ति भी ईश्वर को ही विषय करने की इच्छा है। भक्ति व ज्ञान में भेद विषय को लेकर नहीं; साधन को लेकर है। एक में बुद्धि व दूसरे में मन साधन है। फल में भी दोनों में ईश्वरज्ञान की प्राप्ति होने पर भी एक में प्रमा होने से अज्ञाननिवृत्ति होती है, तो दूसरे में अप्रमा होने पर भी आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। ज्ञान में कोटियाँ संभव नहीं हैं तो भक्ति में अनन्त कोटियाँ संभव हैं। एक का फल मोक्ष है तो दूसरे का रसास्वादन। 'सदस्मीति प्रमाणोत्था धीः' (उ० सा० तत्त्वमसि० ७) 'ओमित्येवं स्वमात्मानं सर्वं शुद्धं प्रपद्यथ सेतुं सर्वव्यवस्थानामहोरात्रादिवर्जितम्' (उ० सा० सम्यङ्मति० ७७)। शिवानन्दलहरी में आचार्य शंकर ने

इस भक्ति के रहस्य का उद्घाटन करते हुए सौन्दर्य-निखार पर जोर दिया है। जगत् के प्रति वैराग्य व शिव के प्रति राग एक ही सिक्के के दो पीठ हैं। यह ईश्वर का प्रेम शनैः शनैः पकता है। प्रकृति का सौन्दर्य भी उसके विकास का सोपान बनाया जा सकता है, बशर्ते उसको उद्दीपक रखा जा सके, तर्पक नहीं। पर यह मार्ग कठिन है। जैसे फलाशा से रहित होकर कर्म करना कठिन है, वैसे ही माया को छोड़कर मायी का चिन्तन कठिन है। उपाधि के बिना उपहित का कथन जितना सरल है, अनुभूति उतनी ही क्लिष्ट है। सामान्यतः उपाधिगत सौन्दर्य चित्त को विक्षिप्त ही करता है एवं आध्यात्मिक साधना की प्रतिरोधता का कारण ही बनता है। आचार्य स्पष्ट करते हैं कि जो वासुदेव की तरह पीपल व अपने शरीर में समान रूप से चैतन्य सत्ता की उपस्थिति को अनुभव करता है वही उसे वस्तुतः जानता है। जबतक ध्याता व ध्येय का भेद रहेगा, ध्येयानुसार ही प्राप्ति होगी। यही प्रेम का रूप है। ज्ञान में यह सापेक्षता नहीं है। 'यन्मनास्तन्मयोऽन्यत्वे नात्मत्वाप्तौ क्रियाऽऽत्मनि' (उ० सा० नान्य० १४)।

मुमुक्षा की तीव्रता में ज्ञानयोग की सफलता छिपी है। यहाँ ज्ञान व प्राप्ति में (Knowing and Being) भेद नहीं है। सत्य, जो वेदान्त शास्त्र में ईश्वर का पर्याय है, वस्तुतः सारे विश्व की समन्वय भूमि है। ऐसा न हो तो वह 'एकमेवाद्वितीयं' हो ही नहीं सकता। इसका अज्ञान ही तो जगत् का जनक है। यह न किसी के किसी कर्म की अपेक्षा रखता है, न किसी के किसी भावना की अपेक्षा रखता है। कर्म की अपेक्षा वहीं संभव है, जहाँ विकृति संभव हो। अविकारी में कर्म की गति नहीं। जो सर्वरूप न हो, वहाँ किसी भावना से अतिशय का आधान न हो सकेगा। अध्यास अधिष्ठान में परिवर्तन नहीं लाता, यह सर्ववादिसम्मत है। अतः कर्म व भावना से निरपेक्ष ही सत्य का साक्षात्कार है। 'वस्त्वधीना भवेद्विद्या' (उ० सा० उपो० १३)। वस्तुतस्तु ज्ञान उत्पन्न होते ही भावना व कर्म के साधनों को ही समाप्त कर देता है जैसे मृगतृष्णा की अधिष्ठान बालू का ज्ञान मृगतृष्णा को ही समाप्त कर देता है। 'कारकाण्युपमृद्नाति विद्या बुद्धि इव ऊषरे'। (उ० सा० उपो० १४) ब्रह्म ही ब्रह्मज्ञान का निरूपक है, ज्ञाता नहीं, यह पारमार्थिक सत्य है। ज्ञाता को दैवी संपत्तियुक्त व ज्ञानसाधनों से सम्पन्न होना चाहिये। बस, यही अपेक्षित है। जैसे आँख का ठीक होना विष्णुमित्र के दर्शन में अपेक्षित है, पर विष्णुमित्र के ज्ञान का निरूपक तो विष्णुमित्रदेह ही है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान भी तो अन्तःकरण की वृत्ति ही है। यह भी तो मानसक्रियारूप हैं। परन्तु ऐसा इसीलिये लगता है कि क्रिया के रूप को नहीं समझा जा रहा है। जहाँ उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार या संस्कार रूपी फल हो, वहीं क्रिया मानी जा सकती है। 'उत्पाद्याप्यविकार्याणि संस्कार्यं च क्रियाफलम् नातोऽन्यत्कर्मणा कार्यं' (उ० सा० सम्य० ५०)। ज्ञान ऐसा कोई फल उत्पन्न नहीं करता। यद्यपि घड़ा इत्यादि जानने में घड़ा ज्ञात हो गया ऐसी उत्पत्ति प्रतीत भी हो जाती है, पर ब्रह्म ज्ञात हो गया, ऐसी प्रतीति भी नहीं होती। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी ही प्रतीति होती है। अतः ज्ञान ही सीधा अज्ञाननाशक होने से मोक्ष का एकमात्र साक्षात् कारण हो सकता है। अन्य साधन तो ज्ञानोत्पत्ति के साधनों को उपलब्ध कराकर गतार्थ हो जाते हैं। अध्यास की निवृत्ति लोक में भी जप, ध्यान, पूजा, यज्ञ, देवताराधन आदि किसी साधन से न होकर अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है। अध्यास ही सभी बन्धनों की प्रतीति का स्वरूप है। जो लोग कहते हैं कि ज्ञानमार्ग कठिन है, वे वस्तुतः ज्ञान को उपाय मानते ही नहीं। ज्ञान अज्ञान को हटाने के अतिरिक्त कुछ भी करने में असमर्थ है। अतः बन्धन अज्ञानप्रसूत होगा तो ही ज्ञानमार्ग मोक्ष के लिये संभव होगा। यदि कर्म से मोक्ष संभव हो भी जाय तो वह बन्धन अज्ञानप्रसूत नहीं रह जायगा। अतः वैकल्पिक मार्ग तो असंभव है। कर्म व भक्ति या उपासना तो क्रियारूप होने से विकल्प बन सकते हैं, पर ज्ञान क्रियारूप होने से विकल्प नहीं हो सकता। बन्धन को अज्ञानप्रसूत न मानने से मोक्ष आदि में जन्यता एवं तज्जन्य अनित्यता आदि को ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकेंगे। अतः ज्ञानमार्ग एकमात्र मोक्षोपाय होने से कठिनता का प्रश्न ही नहीं उठता। भोजन बनाना जितना भी कठिन हो, भूखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय होने से, भूखे व्यक्ति को मार्गान्तर से लक्ष्य प्राप्ति न होने से, कठिन वा सरल नहीं कहा जा सकता। कठिन और सरल सापेक्षिक शब्द हैं, अतः दो या अधिक संभव होने पर ही प्रयुक्त हो सकते हैं। सावधानी के लिये शास्त्रों में कहीं कठिनता का वर्णन किया है। उससे केवल सावधान रहने का ही निर्देश सच्छास्त्रों का इष्ट है। 'ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्ति' (क० भा०)

इस सावधानी के लिए ही गुरु की अत्यन्त आवश्यकता होती है। गुरु वही हो सकता है जो ब्रह्मसाक्षात्कारवान् हो एवं शिक्षा देने में समर्थ हो। उसमें शिष्य के हृदय में शूलवत् चुभने वाली शंकाओं को समझने की व उनका हृदयग्राही युक्तियों से निराकरण करने की सामर्थ्य आवश्यक है। जिस गुरु से अपनी शंका निवृत्त न हो वह अपना गुरु नहीं हो सकता। दुःखी के दुःखकी निवृत्ति करने की इच्छा व प्रवृत्ति गुरु में उपस्थित होनी चाहिये। जिसने स्वयं परम्परा से ज्ञान प्राप्त नहीं किया है उसका दूसरे को उपदेश करने का अधिकार नहीं है क्योंकि उसका ज्ञान कभी प्रामाणिक नहीं हो सकेगा। 'आचार्यश्चोहापोहग्रहण ...... दयानुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो ...... ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः' (उ० सा० शिष्या० ६)। शुकदेव ने साक्षात् वेदव्यास के पुत्र होने से उनसे आगम प्राप्त किया व गौडपाद ने घोर तपस्या व उपासना करके साक्षात् शुक से बद्रिकाश्रम में यह ज्ञान प्राप्त किया। गौडपाद के ही प्रशिष्य शंकर होने से उनकी लब्धागमता निःशंक है। शंकर से आज तक परमहंसों में यह परम्परा अविच्छिन्न चल ही रही है। अतः परमहंस ही अद्वैत वेदान्त के उपदेष्टा रहे हैं व आज भी हैं। स्वयं जो मार्ग पर चल चुका है व लक्ष्य का साक्षात्कार कर चुका है, वही दूसरे को भी ठीक मार्गदर्शन करा सकता है व लक्ष्य पर पहुँचा या नहीं इसे निश्चित बता सकता है। यह लोकसिद्ध भी है। आचार्य शंकर स्वयं इस सम्प्रदाय के प्रति अति विनम्र थे एवं अपने गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा अपार थी। 'यद्वाक्सूर्यांशुसन्तापप्रणष्टध्वान्तकल्मषः। प्रणम्य तान् गुरून् वक्ष्ये ब्रह्मविद्याविनिश्चयम् (उ० सा० सम्य० ३)। जिनकी वाणी रूप सूर्यकिरणों से अज्ञानान्धकार व उससे जनित शोकमोहादि समूल नष्ट हो गये, उनके सामने विनत रहते हुए ही मैं ब्रह्मज्ञान के परमार्थस्वरूप को निःसन्दिग्ध रूप से प्रतिपादित करूंगा—कहकर वे इसे स्पष्ट करते हैं। अद्वैत दर्शन में ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप ही है अतः वस्तुतः गुरुरूप से साक्षात् परब्रह्म ही जीव की मुक्ति करता है। ज्ञानमार्ग में ईश्वर व गुरु अभिन्न हैं व गुरु की सेवा ही ईश्वरसेवा है तथा गुरु में प्रेम ही ईश्वरप्रेम है। यही निवृत्ति मार्ग का हृदय है। गुरु में श्रद्धा व उसकी आज्ञा का बिना किसी विचार के पालन ही विधिनिषेधों का स्थान ले लेता है। फलोत्पादक कर्मों का सर्वथा त्याग करना आवश्यक है। गुरु का अनुग्रह ही ईश्वरानुग्रह है। आत्मा का अज्ञाननाश ही उपेय है। इसके सिवाय किसी भी अन्य उद्देश्यार्थ उपाय का अवलम्बन ही नहीं, उपाय की संभावना वाले साधनों का त्याग भी आवश्यक है। 'तच्चैतत्परमार्थदर्शनम्प्रतिपत्तुमिच्छता .... सर्वकर्मणां तत्साधनानाञ्च यज्ञोपवीतादीनां त्यागः कर्त्तव्यः' (उ० सा० शिष्या० ४४)। यद्यपि ज्ञान तो सभी को हो सकता है परन्तु ब्रह्मनिष्ठा या साक्षात्कार तो सर्वथा सर्वदा सर्वतः लगने पर ही संभव है। एल्डस हक्सली कहते हैं कि ईश्वर को ढूंढ कर पाना सब समय लगकर थकानेवाला काम है*। कई बार प्रश्न उठता है कि ऐसा निवृत्तिमार्गी क्या जीवन को नकार नहीं रहा है? वस्तुतः जीवन का अर्थ सभी के लिए एक ही नहीं है। जिसको जो सर्वाधिक अर्हा प्रतीत होती है उसके लिए अन्य सभी को छोड़ पूर्णरूपेण उसमें लग जाना ही तो जीवन को सकारना है। अतः सहजता व आनन्दपूर्वक ब्रह्मान्वेषण में लगना ही ब्रह्मान्वेषी का जीवन सकारना है। इससे भिन्न किसी कार्य में रत होना ही उसके लिए जीवन नकारना है। हम प्रायः अपने जीवन में द्वन्द्वों से इसीलिए परेशान रहते हैं कि हममें अपनी इष्ट देवता की प्राप्ति में सभी कुछ झोंकने का साहस नहीं हो पाता। हम कई इष्ट देवताओं को स्वीकार लेते हैं। यह बहुदेवतावाद ही हमारे लक्ष्यप्राप्ति में सर्वाधिक बाधक है। बिना एकदेवतावादी हुए कभी भी सफलता या सन्तोष और शान्ति सम्भव नहीं है। 'कर्मनाशभयाज्जन्तोरात्मज्ञानाग्रहस्तथा (उ० सा० बुद्ध० १)। अतः यह झूठा आरोप है कि वेदान्त जीवन को नकारता है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी मान्यतानुसार जो नहीं चलता, उसे जीवन को नकारनेवाला मानता है। चार्वाक ऋण से भी घी पीने को कहता है तो उसे देशभक्त कर्त्तव्यच्युत मानता है, और देशभक्त को चार्वाक मूर्खता से जीवन को नकारनेवाला बताता है, अतः ब्रह्म को साक्षात् जानने में प्रवृत्त अन्य सभी को मानव जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य का परित्याग करके जीवन को नकारनेवाला ही मानता है। योगवासिष्ठ को पढ़ने से ऐसे लोगों का अपनी मूर्खता से अपना व समाज का नाश करना स्पष्ट हो जाता है। करुणामूर्त्ति होने से आचार्य शंकर ऐसी कठोर भाषा का प्रयोग नहीं करते पर अपने प्रसन्न-गम्भीर शब्दों से साधक को सावधान तो करते ही हैं। इस

* 'The seeking of God is a tiresome, wholetime job !'—Aldous Huxley in *Perennial Philosophy*

जीवन को सकारने की प्रक्रिया में गुरु का विशेष स्थान है क्योंकि इह वा पारलौकिक फलेच्छा के त्याग से लौकिक व शास्त्रीय विधि-निषेध उसे प्रवृत्त नहीं कर सकते। दृष्ट फल के लिए गुरु ही उसे श्रवणादि सब साधनों को बताकर प्रवृत्त करेगा व प्रत्येक शिष्य के संस्कारानुसार उसके विशेष मार्ग का प्रतिपादन कर सकेगा। शिष्यों के अनन्त संस्कारों के भेद होने से यहाँ नियतता (Codification) सम्भव ही नहीं है। अतः गुरुशरण के बिना निवृत्तिमार्ग पेंदी से रहित लोटा हो जायगा। 'यो हि यस्माद् विरक्तः स्यात् नासौ तस्मै प्रवर्तते। लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते (उ० सा० तत्त्वमसि० २३०)। 'स गुरुस्तारयेद्युक्तं शिष्यं शिष्यगुणान्वितम् ब्रह्मविद्याप्लवेनाशु स्वान्तध्वान्तमहोदधिम्' (उ० सा० सम्यङ्मति० ५३)।

ब्रह्मज्ञान का वास्तविक फल तो सद्योमुक्ति ही है। 'सद्योमुक्तिकारणमात्मज्ञानम् (ब्र० सू० भा० १-१-६)। इस अनुभव का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कटे हाथ का दृष्टान्त है। काट कर फेंक दिये हाथ के साथ अपने को हाथवाला जैसे नहीं मानते वैसे ही विवेक की तलवार से सभी अनात्म विशेषणों को त्याग देने पर निर्विशेष ज्ञानी रह जाता है। 'छित्त्वा त्यक्तेन हस्तेन स्वयं नात्मा विशेष्यते.......अनात्मत्वेन तस्माज्ज्ञो मुक्तः सर्वविशेषणैः (उ० सा० विशेषापोह० १, २)। पर यह ज्ञान आत्मा का है, बुद्धि का नहीं। बुद्धि में ही विद्या व अविद्या हैं, यह साङ्ख्य की मान्यता है। पर अद्वैत ज्ञानी के स्वानुभव में बुद्धि भी स्वरूप से आत्मा से अभिन्न ही है। इसे बड़े सुन्दर रूप से आचार्य ने बुद्धि व आत्मा के संवाद के द्वारा निरूपित किया है। बुद्धि कहती है कि आपके किसी सम्बन्धी का ही शायद मेरे से उपकार हो जाय, तो आत्मा कहती है कि मैं एकाकी हूँ, अतः मेरा न कोई अंश, गुण या सम्बन्धी है और न मैं किसी का अङ्ग या सम्बन्धी हूँ और असङ्ग होने से मुझे तेरा कोई प्रयोजन नहीं। अतः अब तुम निवृत्त ही हो जाओ। पर तुम्हें भी घबराने की जरूरत नहीं है क्योंकि तुम स्वयं भी तो मेरे अज्ञान से ही कल्पित होने से मुझ में अध्यस्त हो। अतएव मैं ही तुम्हारी वास्तविकता या अधिष्ठाता हूँ। 'अहं ममैको न मदन्यदिष्यते तथा न कस्यापि अहमस्म्यसङ्गतः। असङ्गरूपोऽहमतो न मे त्वया कृतेन कार्यं तव चाद्वयत्वतः' (उ० सा० मतिविलापन० ४)। अतः भौतिक रूप से देह को छोड़ना आवश्यक नहीं है। उसकी प्रातिभासिकता से मुक्ति में विघ्न नहीं होता। इसकी दृढ़ता के लिये ही परिसंख्यानप्रकरण है। इसमें 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' न्याय से अपने शत्रु-मित्र या उदासीन का भाव नष्ट हो जाता है। शत्रु आदि इस संघात पर ही क्रिया या चिन्तन करते हैं और संघातरूप न होने से मैं उनकी शत्रुता का विषय नहीं। परम कारण तो अनात्मा की तुच्छता ही है। यह अद्वैत का विश्व को परम शान्ति का सन्देश है। इसको यदि बुद्धि में संस्कार रूप से किञ्चित् भी स्थान मिल जाय तो युद्ध, हिंसा, संघर्ष, प्रतियोगिता आदि को स्थान ही न रह जाय। स्थितप्रज्ञ, गुणातीत, भगवद्भक्त, तुरीयातीत, अतिवर्णाश्रमी आदि शब्दों से ऐसे ज्ञानी के शरीर का व्यवहार निरूपित किया गया है। इसका उद्देश्य ज्ञानी के लिये विधि करना नहीं है परन्तु साधकों को जीवन-प्रणाली बतलाना है। वेदान्त धर्म का यही प्राण है क्योंकि यह ऐसी वास्तविकता है, जो जीवन्मुक्त के बाह्याचरणों से उपलक्षित होती है और यज्ञादि अन्य धर्मों के पारलौकिक फल का स्थान ले लेती है। पर स्वर्गादि फल कभी अपरोक्ष नहीं होते, लेकिन ज्ञान की यह अवस्था ज्ञानियों में अपरोक्ष रूप से प्रकट है। वह मानो खिड़की है, जिससे ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है। अप्पर का स्पष्ट कथन है कि शिवभक्त व शिव में कोई भेद नहीं है। ईसा के विषय में भी यही कहा जाता है कि वहाँ आदमियत व देवभाव युगपत् मौजूद है। परन्तु ईसाई धर्म की मान्यता है कि केवल ईसा में ही यह सम्भव है, जब कि वेदान्त मानता है कि प्रत्येक मानव में यह सम्भव है। हिन्दू धर्म का इतिहास इस बात में प्रमाण है कि यह युगलभाव सभी कालों में किसी-किसी में व्यक्त होता ही रहता है। जैसे वर्तमान ईसाई मान्यताओं से ईसा का परीक्षण नहीं हो सकता वैसे ही उन ज्ञानियों के सम्प्रदायविशेषों से उनका परीक्षण नहीं हो सकता। परन्तु उसकी आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि हमें तो अपने युग के प्रत्यक्ष ज्ञानियों से ही मतलब होना चाहिये। विट्जेन्स्टाइन (Wittgenstein) अपने दर्शनान्वेषण (Philosophical Investigation) नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि भाषा एक ऐसा चित्र है जो हमको मोह में डालकर रखता है। इसे ही वेदान्त माया कहता है। नामरूपात्मक सृष्टि में नाम की प्रधानता को मानना ही पड़ता है। वेदान्त का एक पक्ष तो शब्दस्फोट या नाद को ही रूप का कारण स्वीकारता है। पर जब तक मोह रहता है तब तक हम मोहक की अवास्ताविकता को नहीं जान सकते। उसे किसी भी नाम से कहा

जाय, वह वास्तविक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतः उसे अज्ञान या माया या अविद्या नाम से कह दिया जाता है। वस्तुतः हम अपने को मोह में पड़ने देते हैं अतः हम ही मोहक हैं, पर लगता है कि कोई और हमें भेद में डाल रहा है। इस मोह को भंग करना ही जीवन का लक्ष्य है। विट्जेन्स्टाइन कहता है कि दर्शन हमारे बुद्धि के मोह को भंग करने का युद्ध मात्र है (**a battle against the bewitchment of our intelligence**)। जिनका यह मोह भंग हो गया है, वे ही अद्वैत सिद्धान्त के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि आत्मज्ञानी शोक-मोह से परे हो जाता है। 'श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह श्रोतुर्मोहापनुत्तये (उ० सा० तत्त्वमसि० ९९)। अद्वैत उस आत्मज्ञान को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य मानता है। कई आचार्य तो समग्र सृष्टि-प्रक्रिया को भी इसी उद्देश्य के लिये ही स्वीकारते हैं। शिव और जीव को अलग करने वाला सकारण प्रपञ्च ही है। प्रपञ्च की सकारण उपशान्ति (प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्) ही जीव के काल्पनिक भेद को निवृत्त कर उसे शिवस्थिति का बोध करा देती है और यह श्रवण के द्वारा ही सम्भव है।

इस प्रकार उपदेशसाहस्री किसी भी मोक्षमार्ग के पथिक के लिए दृढ़ सम्बल है। इस एक ही ग्रन्थ को भली प्रकार विचारपूर्वक समझ कर तदनुकूल साधना करने से साधक निश्चित् ही अपने लक्ष्य पर पहुँच जायगा। वर्त्तमानकाल में संस्कृत का पठन-पाठन विरल होता जा रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृत में दार्शनिक विषय को स्पष्ट करने की जो सामर्थ्य है, वह अभी हिन्दी में नहीं आ पायी है। परन्तु इतने मात्र से असंस्कृतज्ञ को वेदान्त के प्रवेश से वंचित रखना उपयुक्त न समझ कर गत दो सौ वर्षों से हिन्दी में उत्कृष्ट वेदान्त ग्रन्थों की रचना की परम्परा प्रारम्भ करने में संन्यासी अग्रगामी बने। 'महेश अनुसन्धान' इसी कड़ी में आगे बढ़ रहा है। हम उसके संचालक व प्रबन्धकों को आशीर्वाद देते हैं कि वे स्वयं भी पूर्ण निष्ठा प्राप्त कर सकें व इस प्रकार के ग्रन्थों को अनूदित करके जनसामान्य को इस भीषण काल में वेदान्त की ओर प्रवृत्त कर उन्हें शान्ति देने में समर्थ हो सकें। जनता से भी अनुरोध है कि जीवन में प्रतिदिन न्यूनतम २४ मिनट (१ घड़ी) अर्थात् १/६० या षष्ट्यंश वेदान्त-ग्रंथों के स्वाध्याय में लगावें। सर्वज्ञ शङ्कर की भाषा व युक्ति इतनी सरल व जीवन में व्यावहारिक है कि कल्याण हुए बिना रह ही नहीं सकता। उमामहेश्वर से प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ भारत के अशान्त वातावरण में सभी को शान्ति पहुँचा कर सफल हो।

शङ्कर मठ | भगवत्पादीयो
अर्बुदाचल | महेशानन्दगिरिः

प्राक्कथन

संसार में प्राणिमात्र को सुख और दुःख की अनुभूति हुआ करती है। शीतोष्णादि द्वंद्व व्यक्ति की सहनशक्ति अथवा केवल भावना के अनुरूप अनुकूल या प्रतिकूल संवेदन का रूप धारण करते हैं। अनुकूल संवेदन को सुख कहते हैं और प्रतिकूल संवेदन ही दुःख कहलाता है। लोक और वेद—दोनों में संसारियों के सुख-दुःख का यही स्वरूप प्रसिद्ध है। प्रत्येक विषय अन्तःकरण में अनुकूल या प्रतिकूल संवेदन प्रसारित करता है। इन संवेदनों का केवल प्रकाशक और साक्षी होता हुआ भी अविद्यावशात् आत्मा स्वयं को सुखी या दुःखी मान लेता है। मन्त्र, औषधि अथवा सुषुप्ति के संबंध से प्रसुप्त हुआ पुरुष विषय-संस्पर्श का एवं उनसे होनेवाले सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं करता क्योंकि सुखदुःखादि वृत्तियों को उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति और उन्हें आत्मसात् कर स्वयं को सुखी या दुःखी बनानेवाली अहंवृत्ति उस अवस्था में निष्क्रिय हो जाती है। परन्तु अविद्यावृत्ति से युक्त हुए प्राज्ञ का उस समय भी अभाव नहीं रहता। अतः सुषुप्ति में भी अहंवृत्तिनिरपेक्ष शान्तवृत्तिरूप आनन्दानुभूति सबको मान्य ही है।

आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है। समस्त चेष्टाओं की निवृत्ति ही उसके प्रकाशित होने का स्थान है। सुखरूप अनुकूल संवेदन में प्राप्त इस आनन्द के आभासमात्र के सम्पादन की प्रवृत्ति सभी पुरुषों में दिखायी देती है। परन्तु यह सुख की अनुभूति विषयसापेक्ष ही होती है। किसी भी सांसारिक वस्तु का संयोग आत्मा के लिये वस्तुतः सुखप्रद हो नहीं सकता क्योंकि आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द इतरनिरपेक्ष होता है। अतः यह आनन्द ही जिज्ञास्य है। ईश्वर अथवा ब्रह्म को ही सुखस्वरूप जानकर और स्वयं को उससे पृथक् समझकर उसके संयोग हेतु किया गया प्रयास ही आत्मशुद्धि में हेतु बनता है। आत्मा अपरिच्छिन्न, नित्य और अद्वय है। श्रुतियों ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व को जानना ही अध्यात्मज्ञान है। इस अद्वितीय आत्मा में कार्य-कारण, द्रष्टा-दृश्य, अधिष्ठान-अध्यस्त, व्याप्य-व्यापक आदि भेद कल्पित ही हैं। असत्, अचित् और असुख का बाध करने के अभिप्राय से ही इस आत्मतत्त्व की 'सच्चिदानन्द' संज्ञा प्रसिद्ध है। आत्मा में जन्म-मरण, काम-क्रोध, संयोग-वियोग आदि का सर्वथैव अभाव है। इस प्रकार सुदृढ़ बोध होने पर आत्मज्ञ पुरुष को किसी से किसी प्रकार का भय और कामक्रोधादि से क्षति नहीं हुआ करती। आत्मतत्त्वज्ञान की इस प्रक्रिया को विषद रूप से स्पष्ट कर अविद्याग्रस्त मनुष्यों का मार्गदर्शन करने हेतु भगवत्पूज्यपाद श्रीमच्छङ्कराचार्य ने इस उपदेशसाहस्त्री की रचना कर मानवमात्र को अनुग्रहीत किया है। जब तक मनुष्य अपने को ही विस्मृत किये रहता है, तब तक वह इस जन्म-मरणरूप संघर्षात्मक संसार में फँसा रहता है। परमकारुणिक शंकरावतार आचार्यचरणों ने मानव की इस दुर्दशा को देखकर उनके उद्धारार्थ मानो यह संजीवनी औषधि प्रदान की है, जिससे भाग्यशाली लोगों ने लाभ उठाया और भवरोग से मुक्त भी हुए हैं।

आज समय बहुत परिवर्तित हो रहा है। लोग शास्त्रों से तो दूर होते ही जा रहे हैं, यहाँ तक कि संस्कृत भाषा से भी परिचित नहीं रहे हैं। तथापि अपने उद्धार की इच्छा उन्हें भी रहती है और उनको भी तो शास्त्रसम्मत विद्या से वंचित नहीं रखना है। इस दृष्टि से आचार्यचरण के इस अद्भुत ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत व्याख्या के साथ प्रकाशित करने का 'महेश अनुसंधान संस्थान' का प्रयास स्तुत्य है। प्राचीन विद्या के प्रचार-प्रसार एवं इस

प्रकाशन के प्रेरक अनन्तश्रीसमलंकृत दक्षिणामूर्तिपीठाधिप श्रीमत्स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज एक सत्पुरुष होने के नाते स्वयं ही धन्य हैं। उनकी दिनचर्या एवं व्यक्तित्व को देखकर यह अनुभव हो जाता है कि उन्होंने अपने जीवन को आचार्यचरणों के उपदेशानुसार कृतार्थ कर लिया है। अतः उनके विषय में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही होगा, इसलिये सूर्य को अर्घ्य प्रदान करने के समान हम उनके चरणों में अपना प्रणामार्घ्य प्रदान करते हैं।

इस ग्रंथ के मुद्रण के समय इसे शीघ्रातिशीघ्र ग्रंथ का आकार प्रदान करने के लिये पुनः पुनः प्रूफ-संशोधन, अर्थानुसन्धानपूर्वक शुद्धाशुद्धि का निर्णय आदि परिश्रम का कार्य श्री स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी ने बड़े ही मनोयोग के साथ किया है। ऐसे यति को धन्यवाद ज्ञापन कैसे करें, वे तो प्रणाम और अभिनन्दन के ही पात्र हैं। तारा प्रिंटिंग वर्क्स के श्री पण्ड्या पिता-पुत्र के सहयोग से ही ग्रंथ का मुद्रणकार्य समयानुसार हो सका, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

भाषानुवाद एवं विस्तृत व्याख्या के साथ इस ग्रंथ का अध्ययन कर अधिकाधिक लोग लाभान्वित होते रहें, तभी सभी का परिश्रम सार्थक होगा।

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादैर्मथितः सरित्पतिर्वेदः।
तत उद्गता च सहसा साहस्री समुपदेशानाम्॥
सततं चिन्तनमस्याः संसृतिबन्धाद्विमोचकं नूनम्।
भवदुःखपीडितानां सत्यं सत्यं विजानीयात्॥

भवदीय

गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

श्लोकानुक्रमणी


Aham Brahmasmi

समष्टिरूपेण सर्वज्ञः मायाख्योपाधिना । व्यष्टिरूपेण विद्योपाधिना अन्तर्जीवरूपेण स एव सर्वं स्वोपाधितः सम्पूर्णं वेत्तीति सर्ववित् ॥ (मण्डूक, आनन्दगिरि टीका)।

श्रीशङ्करभगवत्-पादाचार्यविरचिता

उपदेशसाहस्री

उपोद्घातप्रकरणम्

चैतन्यं सर्वगं सर्वं सर्वभूतगुहाशयम् ।
यत्सर्वविषयातीतं तस्मै सर्वविदे नमः ॥ १ ॥

चैतन्यमिति—जो चैतन्य आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त और नित्य है[1], तथा जो समस्त प्रपञ्च का उपादान-कारण होने से सर्वस्वरूप है[2] और स्थावर जङ्गमादि सकल प्राणियों की बुद्धि में अन्तःसाक्षी होता हुआ निर्विकाररूप में स्थित रहता है[3], एवं अविद्या और उसके कार्यों से परे है[4], तथा त्रैकालिक जगत् को सूर्य के समान अपनी सत्तामात्र से प्रकाशित करता है, उस चितिस्वरूप[5] (ज्ञानस्वरूप) चैतन्य (ब्रह्म) के लिये (मेरा) प्रणाम है ॥ १ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'[6]—'जो सर्वज्ञ है और सर्ववित् है'—इस श्रुति, तथा 'सर्वं वेत्तीति सर्ववित्'—जो सब जानता है उसे 'सर्ववित्' कहा जाता है—इस व्युत्पत्ति के बलपर वह सर्वप्रसिद्ध सर्ववित् ब्रह्म है। उसके लिये वाणी, मन तथा शरीर से हम प्रणाम करते हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करना भारतीय शिष्टों की परम्परा है। मंगलाचरण करने से ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति होती है, तथा उसके प्रचार-प्रसारात्मक दृष्टफल की प्राप्ति के साथ ही अदृष्टफल (पुण्य) की भी प्राप्ति होती है। अतः अपनी भारतीय-परम्परा के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता भगवत् पूज्यपाद शंकर स्वामिचरण भी प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में प्रथम पद्य (श्लोक) के द्वारा अपने विशिष्ट इष्टदेवता (ब्रह्म) का स्मरण करते हुए नमस्कार (अभिवादन) के रूप में मंगल कर रहे हैं। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार जिज्ञासुजनों को, प्रस्तुत ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त कराने के लिये, इसी मंगलाचरण रूप पद्य के द्वारा अनुबन्धचतुष्टय की भी सूचना दे रहे हैं। भगवत्पूज्यपाद आचार्य शंकरस्वामिचरण के द्वारा विरचित—ब्रह्मसूत्रभाष्य के जो अनुबन्धचतुष्टय हैं, वे ही इस ग्रन्थ के भी हैं, क्योंकि उसी का यह 'प्रकरणग्रन्थ' है।

ब्रह्म में केवल तटस्थकारणता की शंका करनेवाले वैशेषिकों, नैयायिकों, पाशुपतों आदि को उत्तर देने के लिए उपर्युक्त पद्य में "चैतन्यम्" कहा गया है। चेतन ही चैतन्य है। 'चैतन्य' चेतन से भिन्न नहीं है। वह कूटस्थ ज्ञप्तिरूप है।

---

१. 'नित्यं विभुं सर्वगतम्'—[मुं० उ० १–१–६]।
२. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—[छां० उ० ३–१४–१], तथा 'इदं सर्वं यदयमात्मा'—[बृ० उ० २–४–६, ४–५–७], तथा 'आत्मैवेदं सर्वम्'—[छां० उ० ७–२५–२]।
३. 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'—[तै० उ० २–१], तथा 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयम्'—[छां० उ० ८–३–३]।
४. 'नेति नेति'—[बृ० उ० २–३–६], तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन'—[बृ० उ० ४–४–१९], तथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—[तै० उ० २–४]।
५. 'विज्ञानमानन्दम्ब्रह्म'—[बृ० उ० ३–९–२८], तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म'—[तै० उ० २–१]।
६. [मुं०—१–९]।

अतः ब्रह्म में केवल ताटस्थ्य कारणता (तटस्थता) की शंका करना उचित नहीं है। एवञ्च 'ब्रह्म' चेतन (चैतन्य) रूप है। किन्तु उस चेतनरूप ब्रह्म के परिमाण के सम्बन्ध में दिगम्बर जैन तथा स्वयूथ्य अर्थात् कतिपय वेदान्ती व्याख्यातागण और आधुनिक माध्व, रामानुज आदि लोग उसका मध्यमपरिमाण, अणुपरिमाण बताते हैं। उन सबके लिये उत्तर रूप में पद्य में—"सर्वगम्" पद है। अर्थात् ब्रह्म (चैतन्य) सर्व व्यापक है। अतः वह केवल तटस्थ नहीं, कार्यरूप में परिणत होने से उपादान कारण भी है। परिणाम विवर्तरूप है यह बात दूसरी है। अतः ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादान कारणता बताई गई।

सांख्यदर्शनकार का कथन है कि चेतन, सर्वगत (सर्वव्यापक) रहने पर भी अनेक है, एक नहीं है। उन्हें उत्तर देने के लिये पद्य में 'सर्वम्' कहा है, अर्थात् ब्रह्म (चैतन्य) सर्वात्मक होने से एक है, अनेक नहीं है।

कतिपय एकदेशीय वेदान्ती कहते हैं कि ब्रह्म सर्वात्मक रहने पर भी उसका और जीवात्मा का जल और तरंग या अग्नि और स्फुलिङ्ग की तरह अंशांशिभाव से अभेद है अर्थात् 'ब्रह्म' अंशी है और 'जीवात्मा' अंश है। उन्हें उत्तर देने के लिये पद्य में 'सर्वभूतगुहाशयम्' कहा है, अर्थात् समस्त प्राणियों की बुद्धियों (गुहाओं) में वह (ब्रह्म) साक्षी के रूप में स्थित रहता है। अतः उसमें न्यूनता की प्रतीति करानेवाला अंशांशिभाव जो प्रतीत होता है, वह वास्तविक नहीं है।

शंका—'ब्रह्म' यदि सर्वभूतगुहाशय और सर्वात्मक है, तो क्या उसे 'मनोवेद्य' और सप्रपञ्च समझा जाय?

समा०—सर्वभूतों में स्थित तथा सर्वरूप होने पर भी ब्रह्म, अविद्या तथा उसके कार्यरूप समस्त विषयों से परे व्यवस्थित है। अतः उसे मनोवेद्य कैसे कह सकते हैं, क्योंकि वह विषयों से परे होने के कारण स्वयं अर्थात् निर्विशेष रूप से अविषय है। एवं कार्य-कारण भाव से यह स्पष्ट न होने से उसे सप्रपञ्च भी कैसे कहा जायगा? अर्थात् वह ब्रह्म मनोवेद्य एवं सप्रपञ्च भी नहीं है।

प्रस्तुत पद्य में 'चैतन्यं', 'सर्वगं' और 'सर्वम्' ये तीनों विशेषण 'तत् त्वमसि' इस महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदार्थों के लिये साधारण (तुल्य) हैं। 'सर्वभूतगुहाशयम्' विशेषण के द्वारा 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ, जो बुद्धि आदि का साक्षी है, उसे बताया गया है। तथा 'सर्ववित्' विशेषण से सगुण, परमेश्वर को बताया गया है, जो 'तत्' पद का वाच्यार्थ है, लक्ष्यार्थ नहीं। 'सर्वविषयातीतम्' विशेषण से 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ निर्गुण ब्रह्म बताया गया है। यहाँ पर (यत्) सर्वभूतगुहाशयं, विषयातीतम्' इस प्रकार 'यत्'—'तत्' पदों का सामानाधिकरण्य अर्थात् दोनों के द्वारा निर्दिष्टों की एकता (एकाधिकरणवृत्तित्व) होने से 'तत्' और 'त्वम्' पदों के द्वारा लक्षित अर्थों की 'एकता' सूचित की गई है, अर्थात् सभी विशेषणों का एक ही पदार्थ में तात्पर्य है।

अतः प्रतिपाद्य जो 'तत्त्वम्पदार्थैक्य' है, वही इस ग्रन्थ का **'विषय'** है। उस विषय के साथ प्रस्तुत प्रकरण ग्रन्थ का **'विषय-विषयिभाव-सम्बन्ध'** ध्वनित होता है अर्थात् ग्रंथ जीव व ईश्वर की एकता बताता है। यह द्वितीय अनुबन्ध हुआ। 'चैतन्यं सर्वविषयातीतम्' पदों से चिदात्मा की सर्वानर्थ रूप विषयों से शून्यता को बताते हुए समस्त अनर्थों की निःशेष निवृत्ति के साथ ही **'निरतिशयानन्दाविर्भावरूप प्रयोजन'** की सूचना दी गई है, यह तृतीय अनुबन्ध हुआ। उस प्रयोजन की इच्छा रखनेवाला 'मुमुक्षु' प्रस्तुत प्रकरण ग्रन्थ के अध्ययन का **'अधिकारी'** है। इस प्रकार **विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी** इन चारों अनुबन्धों (अनुबन्धचतुष्टय) को उक्त मंगलाचरण के द्वारा ध्वनित किया गया है॥ १॥

समाप्य क्रियाः सर्वा दाराग्न्याधानपूर्विकाः।
ब्रह्मविद्यामथेदानीं वक्तुं वेदः प्रचक्रमे॥ २॥

समाप्येति—**पाणिग्रहण (विवाह), अग्नि का आधान जैसे विहित समस्त कर्मों के अनुष्ठान से सम्पन्न हुए व्यक्ति के लिए वेदभगवान् अब ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन का आरम्भ करते हैं॥ २॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में देवताप्रणामरूप मङ्गलाचरण के व्याज से वेदान्तप्रतिपाद्य देवतातत्त्व का निरूपण संक्षेप में किया गया। अब वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य भी उसी (देवतातत्त्व) में है, यह बताने के लिये कर्मकाण्ड प्रतिपादित अर्थ का अनुवाद

कर उसके साथ वेदान्त वाक्यों (ज्ञानकाण्ड) की संगति (सम्बन्ध) तथा उनकी (वेदान्त वाक्यों की) कर्मकाण्ड वाक्यों से अगतार्थता (भिन्नार्थप्रतिपादकता) और अनन्यशेषता (किसी दूसरे का अंगभूत न होना) को इस द्वितीय श्लोक के द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं।

अभिप्राय यह है कि विवेक-वैराग्य-शमादि साधनों से सम्पन्न मुमुक्षु व्यक्ति के लिये मोक्षप्राप्ति में उपायभूत ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने के उद्देश से वेद का ज्ञानकाण्ड प्रवृत्त हो रहा है। उपर्युक्त साधन-सम्पत्ति का लाभ, कर्मकाण्डोक्त कर्मों के अनुष्ठान से बुद्धि (अन्तःकरण) की शुद्धि का होना है।

नित्य-निरतिशय पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्ति की कामना से उसके उपाय का अन्वेषण सर्वत्र करने पर भी जब साधक को वह नहीं मिलता, तब वेद में उसे (उस उपाय को) बताते हैं। वह उपाय समग्र वेद का वास्तविक तात्पर्य आत्मा के प्रतिपादन में ही मिलता है।[१] आत्मतत्त्वज्ञान ही मोक्ष का उपाय है।[२] उस आत्मतत्त्वज्ञान का उपदेश, अशुद्ध (अपवित्र) अन्तःकरण वाले व्यक्ति को करना उचित नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्वज्ञान के ग्रहण करने का सामर्थ्य उसमें नहीं होता।[३] अतः ज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबन्धक उसके दुरितक्षय के लिये वेद के कर्मकाण्ड भाग में नित्य कर्मों को प्रथमतः बताया गया है। वह (कर्मकाण्ड भाग) संयोग (फल) रूप (द्रव्य-देवता) चोदना और समाख्या (नाम) के एकरूप होने के कारण सर्वशाखाप्रत्ययन्यायसे[४] इतिकर्तव्यतारूप अंगकलापपरिमाण, अधिकारी, विशेषोक्ति के द्वारा कर्म के अनुष्ठान की सबको शिक्षा देता है।[५] धर्मा (कर्मा) नुष्ठान से दुरित क्षय होता है। अतः परम्परया कर्मानुष्ठान का उपयोग परमपुरुषार्थ की प्राप्ति में होता है।[६] 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित पितृलोक आदि की प्राप्ति होना कर्म का मुख्य फल नहीं है, वह तो आनुषङ्गिक फल है। पितृलोकादि फल तो कालान्तर से क्षीण हो जाते हैं। अतः क्षय (क्षीणता) आदि दोष से दूषित होने के कारण वे हेय हैं। उन्हें मुख्य फल नहीं कह सकते। यदि उन्हें मुख्य फल मानने का आग्रह ही हो तो भी वे चित्तशुद्धि में प्रतिबन्धक नहीं हैं।[७] उसी प्रकार काम्यकर्मों का विधान पुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर उसे स्वाभाविक कुप्रवृत्ति की ओर से निवृत्त करने के लिये है। एवं च मोक्ष के उपायस्वरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये चित्तशुद्धि प्रथम अपेक्षित होती है। अतः चित्तशुद्धि के लिये प्रथमतः कर्म-विधान प्रवृत्त होता है, तब पश्चात् ज्ञानोपदेश किया जाता है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में अर्थ दृष्ट्या (फल की दृष्टि से) हेतु-हेतुमद्भाव होने से यह क्रम **(पौर्वापर्यसम्बन्ध) बताया गया है।** ज्ञानकाण्ड का विषय साक्षात् परमपुरुषार्थरूप फल है। जिसकी प्राप्ति कर्म से नहीं होती। इससे ज्ञानकाण्ड की अगतार्थता व अनन्यशेषता भी स्पष्ट हो जाती है॥ २॥

कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये।
ध्रुवे स्यातां ततो रागो द्वेषश्चैव ततः क्रियाः॥ ३॥

कर्माणीति—**देह से सम्बन्ध प्राप्ति में किये हुये कर्म कारण होते हैं, और देह के साथ सम्बन्ध होने पर निश्चय ही प्रिय तथा अप्रिय की अनुभूति होती है। उससे राग और द्वेष होते हैं, तब उनसे प्रवृत्त होकर पुनः क्रियाएँ (कर्म) होती हैं॥ ३॥**

---

१. 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'—[कठ० उ० २।१५], 'सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति..........स मानसीन आत्मा जनानाम्।'—[तै० आ० ३।११।१], 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।'—[भ० गी० १५।१५]।
२. 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'—[श्वे० उ० ३।८]।
३. 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।'—[कठ० उ० २।२४]।
४. [जै० सू०—२।४।९]।
५. 'धर्मेण पापमपनुदति'—[महाना० उ० ७९], 'न कर्म लिप्यते नरे'—[ई० उ० २।११], वहीं पर 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा०'।
६. [बृ० उ० १।५।१६]।
७. 'नित्येषु शुद्धिप्राधान्याद् भोगोऽप्यप्रतिबन्धकः।
भोगं भङ्गुरमीक्षन्ते बुद्धिशुद्धिस्तु रोचते॥' सं० वार्ति० ११३१—[सुरेश्वराचार्य]

हृदयस्पर्शिनी

कर्मकाण्ड प्रतिपादित नानाविधकर्मानुष्ठान से होनेवाली बुद्धिशुद्धि के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासु के प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के लिये वेदान्त की प्रवृत्ति है, यह पूर्वश्लोक के द्वारा बताया गया है। किन्तु मुमुक्षु को उसकी अपेक्षित मोक्षप्राप्ति यदि कर्म से ही हो जाय तो ब्रह्मविद्या की कोई आवश्यकता नहीं, तब तदङ्गत्वेन (मोक्षप्राप्ति के अंगरूप से) वेदान्त की प्रवृत्ति का होना कैसे उपपन्न होगा ? शंका करने वाले किसी कर्मजडव्यक्ति का अभिप्राय यह है कि लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि किये गये कर्म ही कर्ता को फल देते हैं। जैसे पिता के द्वारा उपदिष्ट कर्मों से इष्ट फल तथा उसके द्वारा निषिद्ध किये गये कर्मों से अनिष्ट फल, और ऐसे भी कर्म हैं जो न उपदिष्ट हैं और न निषिद्ध ही हैं, केवल दैववशात् हो जाते हैं, उनसे इष्टानिष्ट दोनों प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। वैसे ही वेद से विहित कर्मों का इष्टफल और वेद से निषिद्ध किये गये कर्मों का अनिष्ट फल तथा व्यामिश्र (विहित-प्रतिषिद्ध) कर्मों से व्यामिश्र (इष्टानिष्ट) फल होगा। इसी अभिप्राय का शास्त्रवचन भी है—"अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्"—[भ० गी० १८-१२]। एवं च कर्म से फल होना चाहिये। उस मोक्षरूप फल के लिये विद्या (ज्ञान) की आवश्यकता नहीं और न उनके लिये मुमुक्षु को ज्ञानकाण्ड के विचार करने की आवश्यकता है। किन्तु अक्षय्यफल के लिये चातुर्मास्यादि किसी कर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिये। इस आशंका का निरास इस तृतीय व चतुर्थ श्लोक के द्वारा किया गया है। कर्मानुष्ठान करनेवाले अज्ञ व्यक्ति को कर्म के द्वारा शरीरादि-परम्परया पुनः पुनः संसाररूप अनर्थ की प्राप्ति अवश्यंभावी रहने से कर्मों को मोक्षप्राप्ति का साधन (उपाय) नहीं कहा जा सकता। जाति, आयु और भोग—ये कर्म के फल हैं, इनका होना देहसंबंध के विना संभव नहीं। अतः यह कहना होगा कि कर्म तो देह से सम्बन्ध कराने के लिये ही होते हैं। देह सम्बन्ध होने पर प्रिय अप्रिय, सुख-दुःख आदि संसार का होना अनिवार्य है।[1] तदनन्तर उनके साधनों के प्रति वासनाएँ (राग-द्वेष) भी होंगीं। उस वासनात्मकनिमित्त से वाचिक, मानसिक, शारीरिक क्रियाएँ होंगीं ॥ ३ ॥

धर्माधर्मौ ततोऽज्ञस्य देहयोगस्तथा पुनः ।
एवं नित्यप्रवृत्तोऽयं संसारश्चक्रवद्भृशम् ॥ ४ ॥

धर्माधर्माविति—**उन कर्मों के अनुष्ठान से अज्ञानी व्यक्ति को धर्माधर्म की प्राप्ति होती है, उससे पुनः शरीर की प्राप्ति होती है, इस रीति से यह संसार, चक्र की तरह सतत चल रहा है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्यगात्मतत्त्व ब्रह्म को न जानने के कारण अलंकार के अधीन रहनेवाला अज्ञ व्यक्ति विहितप्रतिषिद्ध कर्मों को करता रहता है। उनसे धर्माऽधर्म की निष्पत्ति होती है, उनसे पुनः शरीर की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जन्म-मरण-कर्मकरण तत्फलभोगलक्षणसंसार, कुलाल के चक्र की तरह अनादिकाल से निरन्तर चल रहा है यह सभी देख रहे हैं। अतः कर्मों के ऐहिकफल अनित्य हुआ करते हैं यह अनुभव सभी को है। उसी तरह पारलौकिकफलसम्पादक कर्म भी, कर्म होने के नाते उनके फल भी नित्य कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् उनके फल भी अनित्य हैं। इसके समर्थन में वस्तुबलावलम्बी श्रुति कह रही है—'तद्यथेहकर्मजितो लोकःक्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितोलोकःक्षीयते'। अतः [2]अर्थवादश्रुति का अवलम्ब लेकर कर्मजडव्यक्ति का कर्मफल को नित्य समझ बैठना उचित नहीं है ॥ ४ ॥

अज्ञानं तस्य मूलं स्यादिति तद्धानमिष्यते ।
ब्रह्मविद्याऽत आरब्धा ततो निःश्रेयसं भवेत् ॥ ५ ॥

अज्ञानमिति—**अज्ञान ही उस संसार का मूल है, अतः उसका त्याग करना सभी को अभीष्ट है, इसलिए ब्रह्मविद्या का आरम्भ किया जा रहा है, उसीसे वास्तविक कल्याण हो सकता है ॥ ५ ॥**

---

१. 'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।'—[छां० उ० ८।१२।१]

२. 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम् ।'—[श० ब्रा० २।६।३।१]

हृदयस्पर्शिनी

जिस प्रकार कर्म संसार के कारण हैं उसी प्रकार वे मोक्ष के भी कारण हैं। अतः भोगों का त्याग करनेपर अर्थात् अपने किए हुए कर्म ही संसार की प्राप्ति कराने में निमित्त हैं, उन निमित्तभूत कर्मों के फलों का उपभोग कर चुकने पर उन निमित्तभूत कर्मों का विनाश हो ही जायगा और संसार की निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि 'निमित्ताभावे नैमित्तिकाभावः' यह नियम है। एवंच मोक्ष तो प्रयत्नलभ्य है, उसके लिए ब्रह्मविद्या की कौन आवश्यकता ? किन्तु इस प्रकार की आशंका करना उचित नहीं है। कारण यह है कि कर्म और तत्फलस्वरूप संसारवृक्ष का मूल कारण अज्ञान है। एवंच कर्म अज्ञानकृत है, अतः कर्म के रहते संसार का उपरम नहीं होगा, तब मोक्ष को प्रयत्नलभ्य कैसे कह सकते हैं ? अथवा उक्त शंका का समाधान इस प्रकार भी किया जा सकता है कि अज्ञानी की कर्म करने की प्रवृत्ति कभी न रुक सकने से संसार की समाप्ति (निवृत्ति) तो कभी हो ही नहीं सकती। अपने कृतकर्म के फलभोग के समय में भी कर्मप्रवृत्ति के अवश्य रहने से पुनः फलभोग की धारा निरन्तर चलती ही रहेगी। ऐसी स्थिति में कर्मनिवृत्ति से मोक्ष की सिद्धि अनायास कैसे हो सकती है ? अतः संसार की निवृत्ति (आत्यन्तिक उपरम) के लिए अज्ञान का त्याग करना आवश्यक है, किन्तु उसका (अज्ञान का) त्याग, ब्रह्मज्ञान हुए बिना हो ही नहीं सकता। एवञ्च ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मविद्या) से ही अज्ञान की निवृत्ति होने से संसार की निवृत्ति (निरतिशयानन्दाविर्भावरूप कैवल्य = मोक्ष) रूप वास्तविक कल्याण का होना सम्भव है॥ ५॥

विद्यैवाऽज्ञानहानाय न कर्माप्रतिकूलतः।
नाज्ञानस्याप्रहाणे हि रागद्वेषक्षयो भवेत्॥ ६॥

विद्यैवेति—ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति कराने में समर्थ है, कर्म नहीं, क्योंकि कर्म का अज्ञान से कोई विरोध नहीं है। और अज्ञान की निवृत्ति (विनाश) के बिना राग-द्वेष का क्षय (अभाव) नहीं हो सकेगा॥ ६॥

हृदयस्पर्शिनी

कतिपय कर्मठ (कर्म में ही नितान्त श्रद्धा रखनेवाले) लोग यह कहते पाये जाते हैं कि कर्मों की अपनी निजी विचित्र शक्ति होती है[1] उसके बल पर उन कर्मों के द्वारा ही अज्ञान की निवृत्ति भी कर दी जा सकती है, विद्या (ज्ञान) की क्या आवश्यकता ? किन्तु कर्मठों का यह कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है क्योंकि प्रकाश से अप्रकाश का नष्ट (निवृत्त) होना तो समझ में आता है। विद्या (ज्ञान) प्रकाशात्मक है। अतः वही संसार की मूलभूत अप्रकाशरूप अविद्या और उसके कार्य को नष्ट (निवृत्त) कर सकती है। क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है, किन्तु अज्ञान जैसे अप्रकाशात्मक है वैसे ही कर्म भी अप्रकाशरूप (अप्रकाशात्मक) है, अतः दोनों (अज्ञान और कर्म) में कोई विरोध ही नहीं है, जिससे वह (कर्म) अज्ञान को निवृत्त कर सके। मोक्ष प्राप्ति के लिए विद्या (ब्रह्मविद्या, तत्त्वज्ञान) की आवश्यकता न समझनेवाले लोगों ने अपने पक्ष के समर्थन में जो 'हिरण्यदाः' श्रुति उपस्थित की थी, उसका पर्यवसान (तात्पर्य) आपेक्षिक अमृतत्व में समझना चाहिए। अन्यथा अनुमान[2] तथा 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय[3]' इत्यादि श्रुति के साथ विरोध होगा। उसी तरह 'कर्मणैव हि'[4] स्मृति का तात्पर्य भी कर्म के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने में नहीं है। अन्यथा 'न कर्मणा न प्रजया' श्रुति के साथ विरोध होगा।

---

१. 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते'—[ऋ० सं० ८।६।३।२], 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'—[भ० गी० ३।२०]

२. 'रज्ज्वावरणाविद्यातमसी तत्कल्पितसर्पाद्याकारं च रज्जुतत्त्वज्ञान-प्रदीपौ निवर्तयतः, स्वभावविरोधात्। कर्म तु नाज्ञानतमोनिवर्तकं, तदविरोधित्वात्, अप्रकाशात्मकत्वाद्वा, नीहारस्तोमवत्।'

३. श्वे० उ० ३।८

४. भ० गी० ३।२

शंका—विद्या के बिना अज्ञान का क्षय (निवृत्ति) यदि नहीं होता है, तो अज्ञानक्षय के लिए ही विद्या को समझा जाय; प्रपञ्च की निवृत्ति उससे नहीं होगी, क्योंकि अज्ञान के कार्यभूत संसार (प्रपञ्च) की पारमार्थिकता (सत्यता) होने से विद्या के द्वारा उसका नाश होना संभव नहीं है। अतः उसके नाश (निवृत्ति) के लिये किसी अन्य हेतु (कारण) को सोचा जाय।

समा—अज्ञान की निवृत्ति (नाश) हुए बिना रागादि दोषों का क्षय (नाश) नहीं हो पायगा, क्योंकि 'अविवेक रहने पर रागादिदोष होते हैं, और अविवेक के न रहने पर रागादिदोष नहीं होते' इस अन्वय—व्यतिरेक के बलपर यह सिद्ध हो जाता है कि रागादिदोष अविवेकपूर्वक हैं, अर्थात् अविवेक ही रागादिदोषों के होने में कारण है। ये रागादि अज्ञानमय हैं, पारमार्थिक (वास्तविक) नहीं हैं। इस कारण इनकी निवृत्ति अज्ञान की निवृत्ति से ही हो सकती है। अतः उनकी निवृत्ति के लिये किसी अन्य हेतु (कारण) के सोचने की आवश्यकता नहीं है ॥ ६ ॥

रागद्वेषक्षयाभावे कर्म दोषोद्भवं ध्रुवम् ।
तस्मान्निःश्रेयसार्थाय विद्यैवात्र विधीयते ॥ ७ ॥

रागेति—राग-द्वेष का क्षय (अभाव) न होने पर उन दोषों के कारण पुनः कर्म की उत्पत्ति होना भी सुनिश्चित है। अतः श्रेय प्राप्ति (कल्याण की प्राप्ति) के लिये यहाँ ज्ञान का ही विधान किया जा रहा है ॥ ७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

कुछ लोगों के मन में यह शंका होती है कि रागादि दोषों की निवृत्ति यदि न हो तो क्या हानि है? इस शंका के समाधानार्थ श्री आचार्यचरण कहते हैं कि रागादि दोषों की निवृत्ति न होनेपर उन राग, द्वेष, मोहादि दोषों से कर्म की उत्पत्ति का होना सुनिश्चित है, क्योंकि कर्म की उत्पत्ति में रागादि दोष ही कारण (हेतु) होते हैं। तब कर्म के होने पर कर्माधीन इस संसार का होना भी निश्चित ही है, उसे कोई रोक नहीं सकता। एवञ्च कर्म से मोक्ष (मुक्ति) नहीं हो सकता। अतः मोक्षप्राप्त्यर्थ वेदान्त-सिद्धान्त को प्रकाशित किया जा रहा है कि 'निःश्रेयस (मोक्ष) के लिये एक मात्र विद्या (ज्ञान) ही समर्थ है[१]।' ॥ ७ ॥

ननु कर्म तथा नित्यं कर्तव्यं जीवने सति ।
विद्यायाः सहकारित्वं मोक्षं प्रति हि तद् व्रजेत् ॥ ८ ॥

'ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है, कर्म नहीं'—यह सुनकर ज्ञान-कर्म समुच्चयवादी कह रहा है—

नन्विति—ज्ञान के समान कर्म भी यावज्जीवन (सदा-सर्वदा) करते रहना चाहिये, क्योंकि (यद्यपि स्वतन्त्र रूप से कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं है, तथापि) वह (कर्म) मोक्षसाधन करने में ज्ञान सहायक (सहकारी) तो बन ही सकता है ॥ ८ ॥

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धि के प्रारम्भ में कहा गया है कि दुःख का एकमात्र कारण देह ही है, और देहप्राप्ति का कारण पूर्वोपचित (पूर्वसञ्चित) धर्माऽधर्म हैं, और धर्माऽधर्म के कारण विहित-प्रतिषिद्ध कर्म हैं, कर्म के कारण राग-द्वेष हैं, राग-द्वेष में कारण शोभन, अशोभन अध्यास है, अध्यास में कारण अविचारित सिद्ध द्वैत वस्तु है, और द्वैत में शुक्ति-रजतादि के तुल्य स्वतः सिद्ध अद्वितीय आत्मा का अज्ञान कारण है। निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण अनर्थप्राप्ति में हेतु (कारण) आत्मा का अज्ञान ही है। पारमार्थिक सुख आगमाऽपायी नहीं है। वह तो अपरतन्त्र स्वात्मस्वरूप है, उसका अज्ञान ही उसका आवरण है। उस सुख का यदि अत्यन्त उच्छेद (नाश) हो जाय तो अशेष (सम्पूर्ण) पुरुषार्थ की ही समाप्ति हो जायगी। सम्यग्ज्ञान (यथार्थ तत्त्वज्ञान के स्वरूप का लाभ) अज्ञान की निवृत्ति से ही हो सकता है। अतः अज्ञान की निवृत्ति करना अत्यन्त आवश्यक है। अशेष अनर्थ की प्राप्ति में हेतुभूत अज्ञान का निवृत्ति, प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से हो नहीं सकती, उसकी निवृत्ति तो वेदान्तागमप्रतिपादित वाक्यों से होने वाले सम्यग् ज्ञान से ही हो सकती है।

हृदयस्पर्शिनी

छठे श्लोक में यह कहा था कि संसार की उत्पत्ति में कारण अज्ञान है, अतः उसका निवर्तक ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति में कारण हो सकता है, कर्म नहीं। उस पर ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादी कहता है कि 'वेदान्तवाक्यों के द्वारा विद्या (ज्ञान) को ही मोक्ष का हेतु (कारण) बताया गया है', किन्तु यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि जब तक जीवन है, तब तक विद्या (ज्ञान) के समान यावज्जीवश्रुति से विहित नित्य कर्म करने के लिये कहा गया है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि मोक्षप्राप्ति में कर्म, स्वतन्त्ररूप से (साक्षात्) कारण नहीं है, इसलिये मोक्ष में कर्म का उपयोग न होने से नित्य कर्म करने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है। मोक्ष में कर्म को तभी कारण कह सकते हैं कि जब ज्ञान के साथ उसका समुच्चय कहा जाय। अतः ज्ञान-कर्मसमुच्चय को मोक्षप्राप्ति में कारण कहना चाहिये, केवल ज्ञान को नहीं। समुच्चयवादी अपने मत के समर्थन में प्रमाण उपस्थित करता है—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः"[1] ॥

यह स्मृति कहती है कि प्रकृति-परतन्त्र जीवित पुरुष को विद्या की तरह कर्म करना ही चाहिये। उसी तरह "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इस श्रुति ने भी नित्य कर्म अवश्य करते रहने के लिये कहा है। इन श्रुति-स्मृतियों के वाक्यों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मोक्ष के प्रति कारणभूत विद्या के सहकारी के रूप में (इतिकर्तव्यता के रूप में) कर्म भी कारण (सहकारी कारण) है। अतः मुमुक्षु को भी कर्म करते रहना चाहिये, क्योंकि "विद्ययाऽमृतमश्नुते" इसमें 'विद्यया' इस तृतीया विभक्ति के द्वारा 'ज्ञान' मोक्ष के प्रति करण (साधन) है, यह अवगत कराया गया है। 'कारण' को इतिकर्तव्यता की अपेक्षा (आवश्यकता) हुआ करती है। कर्म के अतिरिक्त कोई अन्य इतिकर्तव्य यहाँ नहीं है। इसलिये फलोपकारी प्रयाजादि अंगों का दर्शादि प्रधान कर्म के साथ समुच्चय जैसे स्वीकार किया जाता है, वैसे ही कर्म के साथ ज्ञान का भी समुच्चय स्वीकार करना चाहिये ॥ ८ ॥

यथा विद्या तथा कर्म चोदितत्वाविशेषतः।
प्रत्यवायस्मृतेश्चैव कार्यं कर्म मुमुक्षुभिः ॥ ९ ॥

यथेति—**शास्त्रों में कर्म और ज्ञान का विधान समान रूप से किया गया है। अतः ज्ञान के समान कर्म का अनुष्ठान भी करना ही चाहिये। कर्म का अनुष्ठान न करने पर स्मृति ने प्रत्यवाय भी बताया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि मुमुक्षुओं को अवश्य ही कर्म करते रहना चाहिये ॥ ९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" ॥

इस स्मृतिवाक्य को उपस्थित कर कहा जा सकता है कि मुमुक्षु को कर्म नहीं करना चाहिये। तथापि मोक्षफल के प्रति विद्या (ज्ञान) का सहकारी कर्म होने से उसका (कर्म का) अनुष्ठान करना ही होगा। निष्कर्ष यह है कि मुमुक्षु को विद्या (ज्ञान) प्राप्ति की तरह कर्मानुष्ठान भी आवश्यक है, क्योंकि "विद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" इस समुच्चयविधि के द्वारा अविशेषेण (समान रूप से) दोनों का विधान किया गया है।

किञ्च—"अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति" ॥

---

१. भ० गी० ३।५

यह स्मृति कर्मानुष्ठान के न करने पर प्रत्यवाय बता रही है। इसलिये कर्म करते ही रहना चाहिये। उपर्युक्त "तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः" स्मृतिवाक्य केवल ज्ञानप्रशंसा के लिये समझना चाहिये। अन्यथा उदाहृतश्रुति-स्मृतिवाक्यों के साथ विरोध उपस्थित होगा ॥ ९ ॥

ननु ध्रुवफला विद्या नान्यत्किञ्चिदपेक्षते।
नाग्निष्टोमो यथैवान्यद् ध्रुवकार्योऽप्यपेक्षते ॥ १० ॥

तथा ध्रुवफला विद्या कर्म नित्यमपेक्षते।
इत्येवं केचिदिच्छन्ति न कर्म प्रतिकूलतः ॥ ११ ॥

नन्विति, तथेति—ब्रह्मविद्या का फल तो निश्चित (ध्रुव) है, उसे अपने फल की प्राप्ति कराने में कर्मादि किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है। तथापि कुछ लोगों का कहना है कि ब्रह्मविद्या का फल जैसे निश्चित है, वैसे ही अग्निष्टोम-याग का फल भी निश्चित है, फिर भी उसे उद्गीथशास्त्रादि अन्य कर्मों की अपेक्षा रहती है। उसी प्रकार ब्रह्मविद्या का फल निश्चित रहने पर भी उसे नित्यकर्म की अपेक्षा रहती है। किन्तु यह समझना उचित नहीं है, क्योंकि 'कर्म' का ज्ञान के साथ विरोध है, अर्थात् दोनों परस्पर विरोधी हैं ॥ १०-११ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वपक्षी (ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादी) ने ज्ञानवादी सिद्धान्ती पर जो आक्षेप (विद्या अर्थात् ज्ञान को सहकारी कर्म की अपेक्षा रहती है) किया, उस पर सिद्धान्ती (ज्ञानवादी) उत्तर दे रहा है—कि विद्या (ज्ञान) का फल तो निश्चित है। अतः उसे अपनी फलप्राप्ति के लिये किसी अन्य कर्म आदि सहकारिकारण की अपेक्षा नहीं है। पूर्वपक्षी के सामने वह अनुमान प्रयोग करता है—'ब्रह्मविद्या सहकारिनिरपेक्षा, ध्रुवफलत्वात् घटादिज्ञानवत्'। तब पूर्वपक्षी (समुच्चयवादी) व्यभिचार प्रदर्शित करते हुए उसका परिहार करता है—उसका कहना है कि ज्ञानवादी के द्वारा उपस्थित किया अनुमान व्यभिचरित है। अग्निष्टोमयाग का फल ध्रुव (निश्चित) है, तथापि उसे उद्गीथशास्त्र एवं तद्गत देवतापरिज्ञान आदि सहकारी कर्म की अपेक्षा रहती है। उसी तरह विद्या (ज्ञान) का फल निश्चित रहने पर भी उसे कर्म की अपेक्षा रहती है। अतः ज्ञान-कर्मसमुच्चय पक्ष को ही स्वीकार करना चाहिये—ऐसा कुछ लोग चाहते हैं। इस पर सिद्धान्ती (ज्ञानवादी) कहता है कि पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है। विद्या अपना कार्य सम्पन्न करने में कर्म की अपेक्षा नहीं करती, क्योंकि कर्म उसके (विद्या के) प्रतिकूल (विरोधी) है। अपना प्रतिकूल कभी अपना सहायक नहीं होता। तिमिर (अन्धकार) कभी भी प्रकाश का सहायक नहीं होता है ॥ १०-११ ॥

विद्यायाः प्रतिकूलं हि कर्म स्यात्साभिमानतः।
निर्विकारात्मबुद्धिश्च विद्येतीह प्रकीर्तिता ॥ १२ ॥

अहं कर्त्ता ममेदं स्यादिति कर्म प्रवर्तते।
वस्त्वधीना भवेद्विद्या कर्त्रधीनो भवेद्विधिः ॥ १३ ॥

विद्याया इति, अहमिति—ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व आदि के उचित कर्म का अनुष्ठान अभिमान से किया जाता है, इसलिये वह (कर्म), 'ज्ञान' का विरोधी है। इस वेदान्तदर्शन में निर्विकार आत्मबुद्धि (कूटस्थ आत्माकार ज्ञान) को ही ज्ञान (विद्या) शब्द से कहा गया है। मैं कर्त्ता हूँ, यह मेरा कर्त्तव्य है—ऐसी बुद्धि होने पर ही कर्म प्रवृत्त होता है और विद्या (ज्ञान) वस्तु के अधीन रहती है, व 'कर्म', कर्ता के अधीन होता है ॥ १२-१३ ॥

① कथमिति अध्याहार्यः। ② अल्पबुद्धिमित्यर्थः।

हृदयस्पर्शिनी

ज्ञानवादी का कहना है कि कर्म, विद्या (ज्ञान) का विरोधी होता है। ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि के अभिमान से युक्त मनुष्य के द्वारा कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, और विद्या कूटस्थ आत्माकार होने से जाति के अभिमान से रहित मनुष्य में रहती है। अतः विद्या और कर्म में विरोध प्रसिद्ध है। श्लोक में आये हुए 'हि' शब्द से सूचित प्रसिद्धि का उपपादन 'निर्विकारात्मबुद्धिश्च विद्येतीह प्रकीर्तिता' कहकर किया गया है। 'मैं कर्ता, भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु कूटस्थ ब्रह्म ही हूँ' इस आत्माकार अन्तःकरणवृत्ति को विद्या कहते हैं। 'मैं ब्राह्मण हूँ, इस कर्म का कर्ता मैं हूँ, मेरे इस कर्म से यह फल होगा' इस अभिमान से कर्म का अनुष्ठान प्रारंभ होता है, यह प्रत्यक्ष है। अतः कर्म और ज्ञान दोनों में परस्पर-विरोध स्पष्ट है। एवंच ज्ञान में प्रवृत्ति अन्तर्मुख रहती है और कर्म में बहिर्मुख प्रवृत्ति रहने से दोनों में विरोध है। उसी तरह उन दोनों की उत्पत्ति के देखने से भी विरोध प्रतीत होता है। ज्ञान (विद्या) यथाप्रमाण, यथावस्तु हुआ करता है। अतः प्रमाण और वस्तु के अधीन विद्या (ज्ञान) रहती है। वहाँ पुरुषस्वातन्त्र्य नहीं है और विधि अर्थात् विधेयकर्म कर्त्ता के अधीन होता है, उसके करने, न करने अथवा अन्यथा करने में पुरुष स्वतन्त्र है। निष्कर्ष यह है कि कर्म करने में पुरुष स्वतन्त्र है और ज्ञानप्राप्ति में पुरुष परतन्त्र होता है। अर्थात् कर्म और ज्ञान पुरुषस्वातन्त्र्य तथा अस्वातन्त्र्यरूप विरुद्ध हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण कर्म और ज्ञान का समुच्चय नहीं हो सकता ॥ १२–१३॥

कारकाण्युपमृद्नाति विद्या ②बुद्धिमिवोषरे।
इति तत्सत्यमादाय कर्म कर्त्तुं ①व्यवस्यति ॥ १४ ॥

कारकाणीति—जैसे मरुस्थल का ज्ञान मरुभूमि में जलज्ञान की निवृत्ति कर देता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान (विद्या) कर्तृत्वादिकारक बुद्धि को निवृत्त कर देता है, अतः उसे सत्य मानकर आत्मज्ञानी पुरुष कर्म करने में क्यों प्रवृत्त होगा ? ॥ १४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

विद्या (ज्ञान) के होने पर कर्म का कोई आश्रय न रहने से कर्म का स्वरूप ही नहीं बन पाता अर्थात् कर्म की सत्ता ही नहीं रह पाती, उस स्थिति में वह (कर्म) ज्ञान का सहायक (सहकारी कारण) कैसे हो सकता है ? ऊषर (ऊसर) भूमि का यथार्थ ज्ञान होनेपर जैसे वहां जलभ्रम निवृत्त हो जाता है वैसे ही आत्मा में अविद्या के कारण होने वाली अध्यस्त कारक बुद्धि भी आत्मस्वभावावलम्बिनी विद्या (आत्मज्ञान) के होने पर निवृत्त हो ही जाती है। अतः उस कर्तृत्वादिकारक बुद्धि को सत्य समझकर कर्मानुष्ठान का विचार ज्ञानी पुरुष कैसे कर सकता है ? ॥ १४ ॥

विरुद्धत्वादतः शक्यं कर्म कर्त्तुं न विद्यया।
सहैव विदुषा तस्मात्कर्म हेयं मुमुक्षुणा ॥ १५ ॥

विरुद्धत्वादिति—उपर्युक्त रीति से कर्म और ज्ञान के परस्पर विरुद्ध होने के कारण विद्वान् के द्वारा (ज्ञानी पुरुष के द्वारा) विद्या (ज्ञान) के साथ कर्म का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि वह कर्म को त्याज्य ही समझे, अर्थात् उसके लिये कर्म त्याज्य ही है ॥ १५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

परस्परविरुद्धता के कारण कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय होना सम्भव नहीं है। श्लोक में आये हुए 'विरुद्धत्वात्' और 'अतः' पदों में सामानाधिकरण्य है। दोनों को परस्परविरुद्ध समझने वाले विद्वान् के लिये विद्या के साथ कर्म करना कभी शक्य नहीं है। अतः उसे कर्म का त्याग ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

देहाद्यंरविशेषेण देहिनोग्रहणं निजम् ।
प्राणिनां तदविद्योत्थं तावत्कर्मविधिर्भवेत् ।। १६ ।।

देहाद्यैरिति—देहधारि प्राणियों को अपने देहादि के साथ आत्मा का अभिन्न रूप से ज्ञान (ग्रहण) हो रहा है, वह अविद्या के कारण हो रहा है। अतः जब तक वह बना हुआ है, तब तक उसके लिये कर्म की भी विधि है। अर्थात् उसे कर्म करते रहना चाहिये ।। १६ ।।

हृदयस्पर्शिनी

कर्मवादी का आक्षेप है कि 'ज्ञात्वा कर्म समाचरेत्', तथा कर्मविधि को न मानने पर स्वर्गकामादि विधि के अनुपपन्न होने से और 'देहादि से भिन्न आत्मा है'—यह ज्ञान जिसे हो उसे ही कर्म करने का अधिकार होने से, सभी को कर्म करते ही रहना चाहिये। ज्ञान और कर्म में विरोध यदि समझा जाय तो कर्माधिकार के प्राप्त न हो सकने से अधिकारी के अभाव में कोई कर्मानुष्ठाता ही न रहने के कारण वेदका कर्मकाण्ड भाग ही अप्रमाण हो जायगा।

उक्त आक्षेप का समाधान यह है कि कर्मस्वरूप, कर्मभेद, उनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, क्रम, अधिकार आदि का विशेष ज्ञान रखनेवाले तथा देहातिरिक्त आत्मा है—यह समझने वाले अधिकारी की कर्मविशेष में अपेक्षा रहने पर भी परमात्मतत्त्वज्ञान की कर्म में कोई अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं है। तथा दोनों (ज्ञान, कर्म) के अधिकारी भी भिन्न-भिन्न होने से दोनों के समुच्चय की कोई बात ही नहीं है। कर्म के अधिकारी के लिये कर्मकाण्ड भाग रहेगा और ज्ञान के अधिकारी के लिये ज्ञानकाण्ड का भाग होगा। अतः कर्मकाण्ड भाग अप्रमाण नहीं है।

अथवा यदि औपनिषद ज्ञान, कर्म-कारकभेद का उपमर्दक (बाधक) होता, तो ज्ञानकाण्ड के द्वारा कर्मकाण्ड का विषय अपहृत कर लिया होता, और कर्मकाण्ड के लिये कोई विषय ही न रहता। तब उस स्थिति में विषय बाधित हो जाने से कर्मकाण्ड भाग अप्रमाण कहा जाता। किन्तु स्वाध्यायाध्ययन विधि के साथ विरोध होने से उस भाग को अप्रमाण कहना इष्ट नहीं है। किञ्च—कर्मकाण्ड पर अप्रामाण्यापत्ति देने वाले से हम यह पूछते हैं कि वह आपत्ति आत्मतत्त्वज्ञान से पूर्व होगी या उसके पश्चात् होगी ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं रहेगा, क्योंकि प्राणियों को अपनी आत्मा का ज्ञान जबतक देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण के रूप में या उनके धर्मों के रूप में अविवेक के कारण होता रहेगा, तद्विशिष्ट होने के कारण ही आत्माभिमानरूप स्वाभाविक—अर्थात् योषित् आदि में अग्निभाव की बुद्धि के समान विधि से न होनेवाले—रूप से प्राणियों को जो आत्मज्ञान होता है, वह अविद्या के कारण होता है, अर्थात् अनादि अज्ञान से होनेवाली भ्रान्ति के संस्कार से होता है, वह तो सर्वसाधारण है। अर्थात् जब तक मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, समस्त इन्द्रियों से सम्पन्न मैं हूँ, मैं सकाम बलवान् हूँ आदि आदि ज्ञान होता रहता है, तब तक यह कर्मविधि (कर्मकाण्ड भाग) प्रमाण ही है। प्रमिति (बोध) जनक को प्रमाण कहते हैं। और वेद अधिकारी के लिये ही प्रमितिजनक होता है, अनधिकारी के लिये नहीं। अतः कर्मप्रवृत्ति तक प्रमितिजनक कर्मकाण्डभाग (विधिकाण्ड) को अपने अधिकारी (अनुष्ठाता) का लाभ हो जाने से ब्रह्मात्मतत्त्वविद्या के उदय होने से पूर्व अप्रामाण्यापत्ति नहीं हो रही है। अतः अध्ययनविधि के साथ विरोध भी नहीं है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा का ज्ञान, देहादिव्यतिरिक्त के रूप में होने पर भी ब्रह्मज्ञान न होने से मूलाज्ञान की सत्ता तो रहती ही है। अतः उससे उत्पन्न होनेवाले अभिमान के कारण कर्मप्रवृत्ति चलती रहती है। एवञ्च आत्मज्ञान से पूर्व होनेवाली कर्मकाण्ड प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं है ।। १६ ।।

नेति नेतीति देहादीनपोह्यात्माऽवशेषितः ।
अविशेषात्मबोधार्थं तेनाविद्या निवर्तिता ।। १७ ।।

नेतीति—आत्मा निर्विशेष है, उसके बोध (ज्ञान) के लिये 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति के द्वारा देह, इन्द्रिय आदि का निषेध (बाध) कर शुद्ध आत्मा ही शेष रहता है, उस आत्मा के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है ।। १७ ।।

हृदयस्पर्शिनी

सोलहवे श्लोक में अप्रामाण्यापत्ति के दो विकल्प निर्दिष्ट किये गये थे। उनमें से प्रथम विकल्प (पक्ष) का तो खण्डन हो चुका। अब द्वितीय विकल्प का भी इष्टापत्ति कहकर खण्डन कर रहे हैं। 'सत्यस्य सत्यम्' इत्यादि श्रुति में 'नेति नेति' इस वीप्सार्थक श्रुति के द्वारा मिथ्यादृष्टि से (आत्माऽऽत्मीयभाव से) गृहीत देहादि अशेष पदार्थों का निषेध करते-करते प्रतिषेधावधिभूत आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। अर्थात् पराक् अर्थों का निषेध करते करते निषेधावधि के रूप में प्रत्यगर्थ ही बचा रहता है, जिससे प्रत्यक् तत्त्व का बोध हो जाता है। अर्थात् अविशेषात्मबोध के लिये एक अवधि तक निषेध किया गया है। 'अविशेषात्मबोध' का अर्थ है—निर्विशेषचित्सदानन्दस्वभावाविर्भाव। 'अविशेषश्चासौ आत्मा च, तस्य बोधः, तदर्थम् अविशेषात्मबोधार्थम्'।

इस प्रकार आत्मज्ञान होने पर कर्मानुष्ठान में अधिकार दिलाने वाला कारणभूत देहाभिमान (देह आदि में आत्माभिमान) जिस अविद्या के कारण होता है, उस अविद्या की निवृत्ति अपने परिकर सहित हो जाती है। अतः 'निमित्ताभावान्नैमित्तिकाभावः' इस न्याय के अनुसार आत्मज्ञानी के लिये कर्मविधि की प्रतिपत्ति नहीं है। उसकी दृष्टि में कर्मकाण्ड की फलवद्विज्ञानजनकता न होने से कर्मकाण्ड भाग का अप्रामाण्य क्रोधशून्य की दृष्टि में अभिचार विधिशास्त्र के तुल्य उचित ही है। निष्कर्ष यह है कि आत्मज्ञान के पश्चात् मूलाविद्या के न रहने के कारण, तदुत्पन्न अभिमान के न होने से कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति ही नहीं होगी, इसलिये उस दशा में कर्मकाण्डविधि के प्रवर्तक न हो पाने से उसका अप्रामाण्य तो इष्ट ही है ॥१७॥

निवृत्ता सा कथं भूयः प्रसूयेत प्रमाणतः।
असत्येवाविशेषेऽपि प्रत्यगात्मनि केवले ॥ १८ ॥

निवृत्तेति—**अविद्या की निवृत्ति प्रमाण के द्वारा कर देने पर वह पुनः कैसे उत्पन्न हो सकती है ? वह तो निर्विशेष विशुद्ध आत्मा में मिथ्या ही है ॥ १८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्यक् तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति एक बार होने पर भी पुनः कालान्तर में उत्पन्न होकर वह अपना कार्य क्यों नहीं करेगी ? एवञ्च कर्माधिकार में हेतुभूत अविद्या के संभव होने से कर्म-प्रवृत्ति बराबर चलती ही रहेगी। लोकव्यवहार में देखा जाता है कि शुक्ति के यथार्थरूप का ज्ञान होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी पुनः कुछ समय के पश्चात् रजतभ्रम होता ही है।

इस शंका का समाधान प्रस्तुत अठारहवें श्लोक के द्वारा किया जा रहा है। प्रमाणरूप अग्नि के द्वारा दग्ध हुई वह अविद्या पुनः अपने कार्य को कैसे उत्पन्न करेगी ? मृत और दग्ध हुई भार्या पुनः प्रसव नहीं करती। एक अविद्या के नष्ट होने पर भी अन्य (दूसरी) अविद्या उत्पन्न होगी कहें, तो विचार करना होगा कि वह उत्पत्ति बिना किसी निमित्त के होगी या किसी निमित्त से होगी ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अकारणकार्योत्पत्ति कहने पर अतिप्रसङ्ग होगा। द्वितीय पक्ष में क्या आत्मा उसकी उत्पत्ति में निमित्त होगा या अनात्मा ? प्रथम पक्ष में विचार करें तो अविशेष (केवल), सर्वान्तर्यामी परमार्थवस्तुभूत प्रत्यगात्मा में उस अविद्या का अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसी स्थिति में असहाय कूटस्थ आत्मा में कर्तृत्व का होना संभव नहीं है। अर्थात् वह अविद्यान्तर का उत्पादक नहीं हो सकता। अविद्यान्तर की सहायता से उसे अविद्योत्पत्ति में निमित्त कहें तो अन्योन्याश्रय होगा तथा अनवस्था भी प्रसक्त होगी। श्लोक में आये हुए 'अविशेषे और केवले' इन दो पदों में व्याख्यान-व्याख्येयभाव समझना चाहिये।

अथवा 'अविशेषे' कहने पर मूर्त्यादि कतिपय विशेषों के न रहने पर भी अन्य विशेषों की आशंका हो सकती है। इसलिये 'केवले' कहा गया है। यदि श्लोक में 'केवले' पद को ही रखते तो आत्मा के एकाकी रहने पर भी उसमें प्रयत्नादि-गुणसम्बन्धित्वविशेष के होने की आशंका हो सकती है। अतः उसके निराकरणार्थ 'अविशेषे' पद दिया गया है, यह समझना

① सत्यं, दमः, शमः, दानं, प्रजननं, मज्ञः, अग्न्याधानं, अग्निहोत्रं, इत्यादीनि।

चाहिये। 'अविशेषेऽपि' यहाँ 'अपि' के कहने से द्वितीयपक्ष का निरसन कहा जा रहा है—अनात्मा में भी वह असती (अविद्यमान) अविद्या है, अर्थात् उसका अस्तित्व (सत्ता) नहीं है। अतः अविद्या के कार्यरूप अनात्म पदार्थ भी अविद्योत्पत्ति के हेतु कैसे हो सकते हैं? शुक्ति-रजत का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह प्रस्तुत स्थल में संगत नहीं है, क्योंकि शुक्ति-रजत आदि में अविद्या के शक्तिविशेष रजतादिविक्षेपशक्तिरूप उपादानांश की ही ज्ञान के द्वारा निवृत्ति मानी गई है। उस जैसी अनन्त शक्तियों से विशिष्ट मूलाज्ञान (मूलाविद्या) तो वहाँ रहता ही है, उस कारण पुनः कालान्तर में शुक्ति-रजत भ्रम होने लगता है॥ १८॥

न चेद् भूयः प्रसूयेत कर्ता भोक्तेति धीः कथम्।
सदस्मीति च विज्ञाने तस्माद्विद्याऽसहायिका॥ १९॥

नचेदिति—जब अविद्या पुनः उत्पन्न ही नहीं हो पाती, तब 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, यह बुद्धि कैसे हो सकती है? अतः 'मैं सत् हूँ' इस ज्ञान के होने में विद्या (ज्ञान) को अन्य किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती॥ १९॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा या अनात्मा से अविद्या की उत्पत्ति न हो सकने के कारण अर्थात् निरन्तर 'ब्रह्मैव अहमस्मि' इत्याकारक विशिष्ट ज्ञान (अपरोक्षानुभव) के होते रहनेपर कर्माधिकारप्राप्ति में निमित्तभूत 'कर्ता, भोक्ता हूँ' यह ज्ञान उसे कैसे हो सकेगा? अर्थात् कभी हो ही नहीं सकता। श्लोक में 'च' कार का प्रयोग 'कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि पारमार्थिक (वास्तविक) नहीं है', बताने के लिये किया गया है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि (ज्ञान) यदि वास्तविक होती तो विद्या (ज्ञान) से उसकी निवृत्ति न हो पाती, तब तो कभी मोक्ष होगा ही नहीं। निष्कर्ष यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान होने पर कर्मप्रवृत्ति के लिये अवकाश ही नहीं रहता। अतः कहना होगा कि विद्वान् (ज्ञानी) को कर्म में अधिकार नहीं है। जबकि विद्या (ज्ञान) के उत्पन्न होने पर कर्म निरवकाश हो जाता है (कर्म का होना संभव नहीं रहता) तब बिना किसी की सहायता के केवल (अकेली) विद्या ही कैवल्य (मोक्ष) की हेतु कही जाती है॥ १९॥

महानारायण 21.2

अत्यरेचयदित्युक्तो न्यासः श्रुत्याऽत एव हि।
कर्मभ्यो मानसान्तेभ्य एतावदिति वाजिनाम्॥ २०॥

अमृतत्वं श्रुतं यस्मात् त्याज्यं कर्म मुमुक्षुभिः।
अग्निष्टोमवदित्युक्तं तत्रेदमभिधीयते॥ २१॥

अतीति, अमृतत्वमिति—अतएव भगवती श्रुति ने सत्य① से लेकर मानस तक सभी कर्मों की अपेक्षा संन्यास को उत्कृष्ट बताया है। 'एतावद्‌धरे खल्वमृतत्वम्' इस बृहदारण्यक श्रुति ने भी अमृतत्व को उत्कृष्ट बताया है।

अतः मुमुक्षुजनों को (ज्ञानी मुमुक्षुओं को) कर्म का त्याग ही करना चाहिये। अर्थात् कर्मानुष्ठान में आसक्ति रखकर समय का अपव्यय नहीं करना चाहिये। समुच्चयवादी ने अग्निष्टोम याग के समान ज्ञान को भी कर्म की अपेक्षा का प्रतिपादन जो किया था, उसके विषय में अब कहते हैं॥ २०-२१॥

हृदयस्पर्शिनी

विद्या (ज्ञान) की सहकारिनिरपेक्षता को पूर्व श्लोक के द्वारा युक्ति से बताया था। उसी को अब श्रौत (वैदिक) लिङ्ग के द्वारा बता रहे हैं। तैत्तिरीयोपनिषत् में 'सत्यं परं सत्यम्' उपक्रम कर सत्य, तप आदि मानसान्त कर्मों को श्रेयःसाधन बताकर 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि' के द्वारा उनका फल्गु (व्यर्थ) फल है, ऐसी निन्दा की गई है। तदनन्तर 'न्यास इति ब्रह्मा' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा बताये गये तत्त्वज्ञानान्तरङ्गभूत संन्यास की 'न्यास एवात्यरेचयत्' कहकर स्तुति की

गई है। अथवा संन्यास के उपायभूत ज्ञान की स्तुति की गई है। अतः निन्दित की अनुपादेयता (अग्राह्यता) और स्तुत की उपादेयता (ग्राह्यता) होने से तथा मोक्ष को कर्मसापेक्ष मानने पर संन्यासविधि की अनुपपत्ति होने से आत्मज्ञानरूप संन्यास ही मोक्ष का साधन है, यह स्पष्ट हो जाता है। श्लोक में आये हुए 'अतः' शब्द का अर्थ 'ज्ञान की कर्मनिरपेक्षता' है। इस कारण 'अत एव' का अर्थ होगा कि अपनी फलप्राप्ति में ज्ञान की कर्मनिरपेक्षता के कारण ही श्रुति ने ज्ञान (संन्यास) की स्तुति की है। उसी तरह एक अन्य श्रुतिलिङ्ग भी बता रहे हैं—वाजसनेयी शाखा के उपनिषद् में भी 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' यह उपक्रम कर अद्वय आत्मतत्त्व का दुन्दुभि आदि के दृष्टान्त द्वारा उपपादन किया है। तदनन्तर 'उक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वम्' वाक्य से ज्ञान में अमृतत्वसाधनता का अवधारण (निश्चय) करना ही उसकी (ज्ञान की) कर्मनिरपेक्षता में लिङ्ग बताया है। अन्यथा 'एतावत्' इस अवधारण वचन की उपपत्ति नहीं हो पायगी। 'अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन' इस वाक्य के द्वारा बताये गये वित्तसाध्य कर्म में अमृतत्व-साधन के न होने में लिङ्ग का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। 'विद्यां च अविद्यां च' वाक्य से विहित समुच्चय से विरोध भी नहीं है। क्योंकि यह वचन देवतोपासना में ज्ञान-कर्म के समुच्चय को बता रहा है। अन्यथा 'हिरण्मयेन पात्रेण' 'अग्ने नय सुपथा' इत्यादि वाक्यों से की गई मार्गयाचना आदि की उपपत्ति नहीं हो पायगी। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः',

"त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।
त्यजेतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्॥"

इत्यादि शास्त्रवाक्यों के द्वारा जब कि त्यागोपलक्षित आत्मज्ञान को ही मुक्ति का साधन बताया गया है, इसलिये साधन-चतुष्टयसम्पन्न तत्त्वजिज्ञासु मुमुक्षुओं को कर्म का त्याग कर देना चाहिये। जबकि विविदिषु को भी कर्म का अवसर नहीं है तब विद्वान् के लिये कर्म के अवसर की कथा का प्रसंग ही कहाँ है? अतः मोक्ष की अपेक्षा होने पर कर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठ ही होना चाहिये॥ २०॥

अब अग्निष्टोम का दृष्टान्त बताकर ज्ञान में कर्म की सापेक्षता को समुच्चयवादी ने बताया था उसका उत्तर अग्रिम श्लोक के द्वारा दिया जा रहा है॥ २०–२१॥

नैककारकसाध्यत्वात् फलान्यत्वाच्च कर्मणः।
विद्या तद्विपरीताऽतो दृष्टान्तो विषमो भवेत्॥ २२॥

नैकेति—**कोई भी कर्म एक कारक से साध्य नहीं है अर्थात् अनेक कारकों से हो पाता है तथा उस कर्म के फल भी भिन्न हैं, और उसके विपरीत ज्ञान का स्वभाव है। इसलिये अग्निष्टोम का दृष्टान्त देना उचित नहीं है॥ २२॥**

हृदयस्पर्शिनी

अग्निष्टोमादि कर्मों की निष्पत्ति अनेक कारकों से हो पाती है, अर्थात् तत्तत् कर्मों के द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, प्रयोग नियत रहते हैं; उनसे तत्तत्कर्मों का सम्पादन किया जाता है। उसी तरह विद्या और कर्म के फल में भी भेद है। छान्दोग्य-श्रुति कहती है कि विद्या द्वारा (अर्थज्ञान के साथ) जो कर्म किया जाता है, उससे वीर्यवत्तर फलविशेष की प्राप्ति होती है। इसलिये कर्म को सहकारी की अपेक्षा रहना उचित है। किन्तु विद्या के विषय में ऐसी बात नहीं है। अर्थात् कर्मस्वभाव के विपरीत स्वभाव, विद्या का है। ज्ञान तो वस्तुपरतन्त्र है अर्थात् यथावस्त्वधीन है और प्रमाणनिबन्धन है तथा निरतिशय मोक्ष ही उसका एकमात्र फल है। इसलिये उसे (विद्या को) किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं होती। एवञ्च कर्म और विद्या दोनों के स्वभाव में भेद होने से अग्निष्टोम का दृष्टान्त प्रस्तुत दार्ष्टान्तिक के अनुरूप नहीं है॥ २२॥

कृष्यादिवत् फलार्थत्वादन्यकर्मोपबृंहणम्।
अग्निष्टोमस्त्वपेक्षेत विद्यान्यत् किमपेक्षते॥ २३॥

① प्रद्नृ विशारणगत्स्वसादनेषु ।

कृष्यादिवदिति—अग्निष्टोम का फल सातिशय है, इसलिये उसे कृषि आदि के समान अन्यान्य कर्मों की सहायता की आवश्यकता होती है। किन्तु ज्ञान (विद्या) का फल सातिशय न होने से उसे किस अन्य वस्तु की अपेक्षा हो सकती है ? ॥ २३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वश्लोक में बताया गया था कि अग्निष्टोम का दृष्टान्त विषम (अननुरूप) है, उसी विषमता को इस श्लोक के द्वारा बताया जा रहा है—कृषि, वाणिज्य आदि में सामग्रीबाहुल्य और फलबाहुल्य के कारण उसे सहकारी की अपेक्षा हुआ करती है। तदनुसार अग्निष्टोम कर्म के विषय में भी कह सकते हैं—'अग्निष्टोमः सातिशयः साध्यफलार्थत्वात् कृष्यादिवत् ।' कृषि, वाणिज्य आदि में फल के उपचय (वृद्धि) के लिये साधनविशेष के उपचय (वृद्धि) की आवश्यकता का होना जैसे प्रसिद्ध है, वैसे ही अग्निष्टोम कर्म को भी अन्यकर्मोपबृंहण आवश्यक होता है। अर्थात् अपने अन्य सहकारी विधिविहित उद्गथादि-अंगसंश्रित उपासनादिरूप कर्मों के द्वारा फलाधिक्य के लिये वह अपना उपबृंहण चाहता है। किन्तु विद्या तो निरतिशय-फलवाली है, अतः उसे अन्य किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं होती। सहकारियों की न्यूनाधिकता पर फल की न्यूनाधिकता (फल के अतिशय में न्यूनाधिकता) निर्भर रहती है किन्तु जहाँ फल निरतिशय (सातिशय नहीं) है वहाँ किसलिये और क्यों कर सहकारी की अपेक्षा होगी ? अर्थात् नहीं ही होगी ॥ २३ ॥

प्रत्यवायस्तु तस्यैव यस्याहङ्कार इष्यते ।
अहङ्कारफलार्थित्वे विद्येते नात्मवेदिनः ॥ २४ ॥

प्रत्यवाय इति—प्रत्यवाय भी उसी को हो सकता है, जिसे अहंकार हो। आत्मज्ञानी को न अहंकार है और न फल की इच्छा ही है। आत्मज्ञानी में दोनों का अभाव रहता है ॥ २४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

समुच्चयवादी ने 'अकुर्वन् विहितं कर्म' इस प्रत्यवायस्मृति को उपस्थित किया था, वह स्वाभाविक अहंकारवाले अधिकारी के लिये है, वह यदि विधिविहित कर्म का अनुष्ठान न करे तो उसके लिये वह स्मृति प्रत्यवाय बता रही है। 'इस कर्म का मैं कर्ता हूँ, इस कर्म का अनुष्ठान कर उसके फल को मैं प्राप्त करूंगा' यही अहंकार का स्वरूप है। ऐसे अहंकारी अधिकारी के लिये उपर्युक्त स्मृति, प्रत्यवाय को बता रही है। आत्मतत्त्वज्ञाननिष्ठ पुरुष को न अहंकार है और न फल की इच्छा ही है, क्योंकि विषय रहने पर ही अहंकार होता है। उसकी दृष्टि में कोई विषय ही नहीं रहता। अतः अहंकाररूप निमित्त न होने से उसे प्रत्यवाय कैसे हो सकता है ? इसलिये ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों में समान अहंकार समझ कर नित्य-कर्म के अननुष्ठान (अकरण) से उसे भी प्रत्यवाय होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये ॥ २४ ॥

तस्मादज्ञानहानाय संसारविनिवृत्तये ।
ब्रह्मविद्याविधानाय प्रारब्धोपनिषत्त्वियम् ॥ २५ ॥

तस्मादिति—अतः अज्ञान की निवृत्ति के लिये तथा संसार का बाध और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये इस उपनिषद का प्रारंभ किया जा रहा है ॥ २५ ॥

US 1.6

हृदयस्पर्शिनी

काठकोपनिषद् में 'विद्यैवाज्ञानहानाय न कर्मप्रतिकूलतः' ऐसा उपक्रम कर कर्म स्वतन्त्ररूप से अथवा ज्ञान की सहायता से अर्थात् किसी भी प्रकार से मोक्षप्राप्ति कराने में साक्षात् कारण (हेतु) नहीं है यह उपपादन किया गया है। तदनन्तर 'ब्रह्मविद्यामथेदानीं वक्तुं वेदः प्रचक्रमे' के द्वारा ब्रह्मविद्या का प्रारंभ बताया गया है। श्लोक में 'तस्मात्' शब्द है, यहाँ 'तत्' शब्द का अर्थ कर्मनिरपेक्षता है। अर्थात् विद्या की कर्मनिरपेक्षता के कारण अनादि अज्ञान के निरास के लिये

अपेक्षित ब्रह्मविद्या के सम्पादनार्थ यह परा उपनिषत् अर्थात् वेदान्तभाग का प्रारंभ किया गया है। यहाँ पर 'उपनिषत्' शब्द का प्रयोग लक्षणा से वेदान्तग्रन्थों के लिये किया गया है। श्लोक में आया हुआ 'संसारविनिवृत्तये' पद 'अज्ञानहान' का विशेषण है। अर्थात् 'संसार की सम्यक् निवृत्ति जिससे होती है' यह विग्रह है। इस प्रकार इसे विशेषण कहने पर उसका नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग करना चाहिये था। अतः उसके अक्लीबत्व प्रयोग को आर्ष समझना चाहिये। एवं च ब्रह्मविद्या स्वतंत्ररूप से कार्यसहित अज्ञान की निवर्तक है, यह स्पष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

सदेरुपनिपूर्वस्य क्विपि चोपनिषद्भवेत् ।

मन्दीकरणभावाच्च गर्भादेः शातनात्तथा ॥ २६ ॥

सदेरिति—उप और नि उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'उपनिषद्' शब्द की निष्पत्ति होती है और गर्भ, जन्म, जरा, मरण को शिथिल करने तथा उनकी समाप्ति करने के कारण भी इसे उपनिषद् कहते हैं ॥ २६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'उपनिषद्' नाम के निर्वचन से भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्मात्मविद्या स्वतन्त्र रूप से मोक्ष की कारण है। 'षद्लृ' (सद्) विशरण-गत्यवसादनेषु—विशरण, गति, अवसादन अर्थ में 'षद्लृ' धातु है और सामीप्य अर्थ में 'उप' तथा निश्चय अर्थ में 'नि' उपसर्ग हैं। एवंच उप + नि + सद् धातु से कर्त्रर्थ में (कर्ता के अर्थ में) 'क्विप्' प्रत्यय के करने पर 'उपनिषद्' पद सिद्ध होता है। 'षद्लृ' धातु के तीनों अर्थ ब्रह्मविद्या में संभव होते हैं। अतः मुख्यवृत्ति से ब्रह्मविद्या को ही उपनिषद् कहते हैं और ब्रह्मविद्या के लिये ही ग्रन्थ के होने से उसे (ग्रन्थ को) भी उपनिषद् कहते हैं। उपर्युक्त धातु के तीनों अर्थों का ब्रह्मविद्या में उपयोग इस प्रकार होता है—(१) जो मन्दविद् हैं, उनके गर्भ, जन्म, जरा आदि को 'उपनिषादयति' अर्थात् शिथिल करती है वह ब्रह्मविद्या, इसलिये उसे 'उपनिषद्' कहा जाता है। (२) जिज्ञासुओं को उनके समीप एवं निश्चित रूप से ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है वह ब्रह्मविद्या, इसलिये उसे 'उपनिषद्' कहा जाता है। (३) ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार किये हुए तत्त्वविदों के सबीज गर्भादि का नाश कर देती है, वह ब्रह्मविद्या, इस कारण उसे उपनिषद् कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मविद्या में ही धात्वर्थ के संघटित हो पाने से उसी (विद्या) में उपनिषद्वाच्यता सिद्ध होती है। निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मविद्या को उपनिषत् नाम से प्रसिद्धि होने के कारण, मोक्ष की हेतुभूत उस ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक वेदान्तग्रन्थों को भी 'लाङ्गलं जीवनम्' की तरह 'उपनिषद्' शब्द से कहा जाता है ॥ २६ ॥

॥ इति उपोद्घातरूपं प्रथमं चैतन्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

① मूर्तामूर्तौ, कार्यकारणे (शरीर), व्याकृताव्याकृते, जडचेतने वा।

प्रतिषेधप्रकरणम्

प्रतिषेद्धुमशक्यत्वान्नेति नेतीति शेषितम्। ①
इदं नाहमिदं नाहमित्यद्धा प्रतिपद्यते ॥१॥

प्रतिषेद्धुमिति—'स एष नेति नेत्यात्मा गृह्यते'—यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार अनात्मरूप देह, इन्द्रिय आदि का निषेध करते करते, जिसका निषेध नहीं हो पाया अर्थात् निषेध के योग्य न होने के कारण जो शेष (बच) रहा, वही आत्मा है। 'यह मैं नहीं हूं, यह मैं नहीं हूं' इस रीति से प्रतिषेध करते करते ही उस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि हो जाती है॥ १ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रथम प्रकरण के द्वारा यह बताया गया था कि मोक्ष की साधनभूत ब्रह्मात्मविद्या (ब्रह्मात्मैक्यज्ञान) के अवगम के लिये वेदान्त का आरम्भ करना आवश्यक है। किन्तु एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि विद्योपदेश (ब्रह्मविद्या के उपदेश) के लिये वेदान्त का आरम्भ करना तब संगत हो सकता है कि जब विद्योदय (ज्ञानोदय) की संभावना हो। आत्मा का संसारित्व तो (मैं संसारी हूँ) सभी को प्रत्यक्ष (अनुभव) सिद्ध है। ऐसी स्थिति में संसारित्वग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाण के विरुद्ध वेदान्त के सैकड़ों वाक्य भी उपदेश करें तो भी ब्रह्मात्मैकत्वविद्या (ब्रह्मात्मैक्यज्ञान) का उदय होना कभी संभव नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह आगम (शब्द) भी तो प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण आत्मा के संसारित्व को बताता है तो आगम प्रमाण उसकी ब्रह्म के साथ एकता (ब्रह्मात्मैक्य) को बता रहा है। अतः दोनों बातें प्रमाणसिद्ध होने से दोनों को माना जा सकता है। किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण असंजातविरोधी है और आगम (शब्द) प्रमाण प्रत्यक्षोपजीवी है। अतः असंजातविरोधिन्याय से प्रत्यक्षप्रमाण को ही प्रबल कहा जायगा और आगम प्रमाण तदुपजीवी होने से दुर्बल रहेगा। एवंच दोनों प्रमाण होनेपर भी उनमें समानता नहीं है, अपितु प्रबल-दुर्बल भाव है। अतः दुर्बल आगम प्रमाण से ब्रह्मात्मविद्या का उदय कैसे संभव हो सकता है? जिसके लिये वेदान्त के आरम्भ करने की आवश्यकता होगी। तुष्यतुदुर्जनन्याय से दुर्बल आगम प्रमाण के द्वारा ब्रह्मात्मविद्या (ब्रह्मात्मैक्यज्ञान) का उदय (उत्पत्ति) होना मान लिया जाय और उससे प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध संसारित्व का प्रतिषेध यदि कहा जाय तो दुर्बल आगम प्रमाण से सिद्ध प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का भी बाध प्रबल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा क्यों न माना जाय?

इसी आशंका के समाधानार्थ इस द्वितीय प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है, जिसमें ब्रह्मात्मैक्यज्ञानोत्पादन द्वारा कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति करनेवाले वेदान्तवाक्यों का अर्थ संक्षेप में बताया जायगा। 'नेति नेति' ऐसी वीप्सा (द्विरुक्ति) करने से आरोपित सकल दृश्य-अदृश्य जड़ वस्तुओं का प्रतिषेध करते-करते एक अवधितक पहुँच जानेपर अन्त में शेष बचा हुआ जो तत्त्व है, वही आत्मतत्त्व है, उसका प्रतिषेध नहीं हो पाता। क्योंकि वहीं तक प्रतिषेध की अवधि है। अर्थात् प्रतिषेध करने वाला वही (आत्मा) है (प्रतिषेध की साक्ष देनेवाला वही है)। उसका प्रतिषेध करनेवाला कोई अन्य न होने से उसका प्रतिषेध करना अशक्य (असंभव) है। अन्त में वही एक (प्रतिषेध करनेवाला) शेष रह जाता है। अतः उसकी बिना किसी सन्देह के साक्षात् उपलब्धि हो जाती है। यह जो स्थूल शरीर (देह) है, वह मैं (आत्मा) नहीं हूँ, यह जो सूक्ष्मशरीर (मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रिय समुदाय) है, वह भी मैं (आत्मा) नहीं हूँ, और तदुपादानक जितना भी अचेतन वर्ग है, वह भी मैं (आत्मा) नहीं हूँ, बल्कि मैं तो इन सबका प्रकाशक अव्यभिचारी, स्वयंप्रकाश, कूटस्थ, अक्षर हूँ, जिसमें समस्त जगत् का आश्रय कहा जाने वाला अव्याकृत आकाश ओत-प्रोत है, वही मैं पर अक्षर (अहं ब्रह्माऽस्मि) हूँ। इस प्रकार से उस (आत्म तत्त्व) की असन्दिग्ध रूप से उपलब्धि हो जाती है। इस विवेचन से पूर्वोक्त शंका (विद्या तो उत्पन्न हो ही नहीं सकती) का पूर्णतया निराकरण हो जाता है। 'प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्' कहने से वह (आत्मा) बाध के योग्य नहीं है, यह बताया गया है। एवंच यह प्रत्यगात्मा, प्रतिषेध की अवधि तथा प्रतिषेध का साक्षी होने से उसमें प्रतिषेध की प्रसक्ति नहीं होती है॥२॥

अहं धीरिदमात्मोत्था वाचारम्भणगोचरा ।
निषिद्धात्मोद्भवत्वात्सा न पुनर्मानतां व्रजेत् ॥२॥

अहं धीरिति— **'अहं' यह ज्ञान (बुद्धि), 'इदमात्मा' अर्थात् अन्तःकरणादि अनात्मवस्तु से उत्पन्न होने के कारण वह वाणी से आरम्भ होनेवाले विकार के अन्तर्गत ही है। वह (अहम्) बुद्धि (ज्ञान) निषेध किये जाने वाले आत्मा (देहादि) से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण नहीं मानी जा सकती ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जिज्ञासु के मन में यह शंका हो सकती है कि 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान निर्दिष्ट रीति से उत्पन्न होने पर भी उसे कैसे प्रमाण कहा जा सकता है ? क्योंकि देह, इन्द्रिय आदि में अभिमान तो निरन्तर होता रहता है। किन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि देहादि में होनेवाले आत्माभिमान का निरन्तर बाध होता रहता है। और जिसका बाध होता है, उसे आभास कहते हैं, इसलिये दोनों (अभिमान-बुद्धि और ब्रह्मबुद्धि) की समानता नहीं है अपितु वेदान्त-वाक्योत्पन्न ज्ञान ही प्रबल है। देहादि अनात्मा में होनेवाली आत्मबुद्धि को 'अहंधी' कहते हैं। उसकी उत्पत्ति अहंकर्त्ता के बाधित स्वरूपवाले 'इदं' अंश से होती है। अर्थात् पूर्व-पूर्व अहंकार-वासना-वासित-अन्तःकरणरूप इदमात्मा से उत्पन्न होती है। अतः वह (अहं धी) अध्यासरूप है। किन्तु वेदान्तवाक्य से उत्पन्न 'अहं ब्रह्म' बुद्धि यथार्थ है, अर्थात् अध्यासरूप नहीं है। निष्कर्ष यह है कि दोनों बुद्धियाँ एक नहीं हैं। एवञ्च 'अहं धी' यह बुद्धि अयथार्थ है और 'अहं-ब्रह्म' यह बुद्धि यथार्थ है। अतः 'अहं धी' स्वरूपतः दुर्बल है। उसी प्रकार दोनों बुद्धियों के विषय भी भिन्न होने से वह (अहं धी) दुर्बल प्रतीत होती है। अहं बुद्धि का विषय अनृत, जड़, अनात्मरूप (वाचारंभण) है। उसकी (अहं-बुद्धि के विषय की) स्वतः सत्ता न रहने पर भी अपरोक्ष व्यवहार (प्रत्यक्ष व्यवहार) का विषय बनती है। इसी कारण 'नेति-नेति' शास्त्र से अहं बुद्धि के विषयस्वरूपों का निषेध (बाध) किया जाता है। ऐसे निषिद्ध (बाधित) स्वरूपों से उत्पन्न हुई इदमात्मबुद्धि (अहं धी), आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर कैसे प्रमाण हो सकेगी ? क्योंकि स्वप्नावस्था के ज्ञान की तरह वह इदमात्मबुद्धि (अहं बुद्धि) (१) अवस्तुरूप है, (२) अवस्तुजन्य है, (३) अवस्तुविषयक है। अतः वेदान्तवाक्योत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान ही प्रबल है। अहं बुद्धि (अहं धी) का स्वरूप भी निषिद्ध है और कारण भी निषिद्ध है, इसलिये ब्रह्मात्मज्ञान के हो जाने पर उस अहंबुद्धि में प्रामाण्यबुद्धि नहीं रहती ॥२॥

पूर्वबुद्धिमबाधित्वा नोत्तरा जायते मतिः ।
दृगिरेका स्वयं सिद्धः फलत्वात्स न बाध्यते ॥३॥

पूर्वबुद्धिमिति— **प्रथम उत्पन्न हुए ज्ञान (बुद्धि) का बाध किये बिना उत्तर (द्वितीय) ज्ञान (आत्मबुद्धि) उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु साक्षी चेतन, एक और स्वयंसिद्ध है। वह स्वयं फलरूप है, अतः उसका बाध नहीं होता ॥३॥**

हृदयस्पर्शिनी

'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इस ज्ञान के रहते 'मैं अकर्ता, अभोक्ता ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान कैसे हो सकता है ? कर्तृत्व, भोक्तृत्व ज्ञान प्रथमतः होता है, प्रथम होने के कारण उसे ही प्रबल मानना होगा; अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व ज्ञान पश्चात् होता है, पश्चात् होने से उसे दुर्बल कहना होगा, तब प्रबल से दुर्बल का ही बाध होगा तो 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बुद्धि कैसे होगी ?

किन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' इस नियम के अनुसार उत्तर-कालिक ब्रह्मात्मज्ञान से पूर्वकालिक कर्तृत्व-भोक्तृत्वज्ञान का बाध हो जायगा। जैसे शुक्ति के अज्ञान से उत्पन्न होने वाली रजतबुद्धि का बाध किये बिना शुक्तिबुद्धि नहीं हुआ करती। वैसे ही पूर्वकालिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि का बाध किये बिना उत्तरकालिक आत्मतत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि प्रसक्त का (प्राप्त का) निषेध करना ही 'बाध' का स्वरूप है। पूर्व के काल में उत्तरकालिक पदार्थ की प्रसक्ति (प्राप्ति) ही न होने के कारण पूर्व से उत्तर का बाध हो ही नहीं सकता। अर्थात् पूर्व से पर का बाध नहीं हो सकता, बल्कि प्रसक्त हुए पूर्व का ही पर (उत्तर) से बाध होना उचित है। एवंच उत्तरकालिक ब्रह्मात्मबुद्धि से पूर्वकालिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि का बाध

होना ही उचित है। तथापि विपरीत ही क्यों न माना जाय ?अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि के द्वारा ब्रह्मात्मबुद्धि का ही बाध होना क्यों न माना जाय ? इस आशंका का समाधान यह है कि ज्ञप्तिस्वरूप ब्रह्मात्मा को ही 'दृशि' कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मात्माकार अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिफलित होनेवाले अपरोक्ष स्फुरण को 'दृशि' कहते हैं। वह एक है अर्थात् किसी पर (द्वितीय) के न होने से उसे अद्वितीय कहते हैं। वह स्वयं सिद्ध है, अर्थात् किसी अन्य की अपेक्षा किये बिना भी उसकी सत्ता का स्फुरण होता है। इन निर्दिष्ट विशेषणों से स्पष्ट होता है कि वह (आत्मतत्त्व) बाध होने योग्य नहीं हैं, क्योंकि उसका कोई बाधक ही नहीं है। उसका ज्ञान भी परमार्थविषयक होने से बाध के योग्य नहीं है। उस ज्ञान का फल भी बाध होने योग्य नहीं है, अर्थात् अबाध्य है। ज्ञान से अभिव्यक्त होने वाले एवं बाधरहित ब्रह्मात्मतत्त्व को ही औपचारिक फल कहा गया है। अर्थात् नित्यसिद्ध ब्रह्मात्मतत्त्व में 'फल' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, क्योंकि विषयाकार वृत्ति के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। एवच वस्तु, उसका ज्ञान और उसके फल का बाध न हो सकने से उसके द्वारा कर्त्रादिबुद्धि का ही बाध होना उचित है। यदि कहें कि पूर्वकालिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि का उत्तरकालिक आत्मज्ञान के द्वारा बाध मानने पर उपजीव्य विरोध होगा, अतः कर्तृत्व बुद्धि को बाध्य कैसे कहा जाय ? किन्तु यह शंका अधिक देर टिक नहीं पाती, क्योंकि पूर्वकालिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि के व्यवहार में अंगरूप अंश का उत्तरकालिक आत्मज्ञान से बाध नहीं किया जाता, अतः उपजीव्य विरोध की शंका करना ठीक नहीं है। शब्द प्रमाण को पदार्थ का ज्ञान कराने में प्रमाणान्तर की अपेक्षा रहने पर भी, वाक्यार्थ का ज्ञान कराने में उसे अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। पदार्थ बोध में भी केवल व्यवहार की ही अपेक्षा रहती है। एवंच अत्यन्त अबाध्य अर्थ होने से औपनिषद आत्मज्ञान ही तत्त्वावेदक है ॥ ३ ॥

इदं वनमतिक्रम्य शोकमोहादिदूषितम् ।
वनाद् गान्धारको यद्वत्स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥४॥

इदमिति—**जिस प्रकार गान्धार देश निवासी कोई पुरुष वन को पार कर अपने देश पहुँच गया। उसी प्रकार शोकमोहादि दोषों से दूषित इस देहरूप वन को पार कर मुमुक्षु पुरुष अपने आत्मस्वरूप को पा लेता है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वेदान्तवाक्य से ब्रह्मात्मज्ञान की अनुत्पत्ति की आशंका का उन्मूलन कर, तथा वेदान्तवाक्यजन्य ब्रह्मात्मज्ञान की प्रबलता का उपपादन कर पूर्वप्रवृत्त प्रत्यक्ष आदि के द्वारा उसके बाधित होने की आशंका का उन्मूलन किया गया। अब एक श्रौत दृष्टान्त देकर पदार्थपरिशोधन द्वारा उस ब्रह्मात्मज्ञान की उत्पत्ति का निरूपण इस श्लोक के द्वारा किया जा रहा है। एक वन का रूपक देकर शरीर को बता रहे हैं। वन में जैसे व्याघ्र, तस्कर आदि होते हैं, उसी तरह इस शरीररूपी वन में व्याघ्र, तस्कर आदि के स्थानापन्न राग, द्वेष, मोह, शोक आदि बसे हुए हैं। इन राग, द्वेषादि से व्याप्त होने के कारण दूषित इस शरीररूपी वन को पार कर आचार्य से किञ्चिन्मात्र निर्देश पाकर अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा पदार्थशोधन करते हुए देह आदि को अनात्मा जानकर त्यागते हैं और सर्वत्र अनुस्यूत एवं अबाधित आत्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं। अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार औपनिषद पुरुष को जानते हैं। जैसे गान्धारदेश-निवासी किसी पुरुष को तस्करों ने उसकी आँखें बाँधकर किसी घोर जंगल में लाकर छोड़ दिया। वह पुरुष बन्धन से छुटकारा पाने के लिये चिल्लाने लगा, तो उसी जगह कोई दयालु महापुरुष आ पहुँचा, और उसने उसको बन्धन से मुक्त कर दिया। उस दयालु महापुरुष ने उसे अपने स्वदेश जाने का मार्ग बता दिया। तब वह बुद्धिमान् पुरुष गाँव-गाँव पूछता हुआ वन से अपने स्वदेश पहुँच जाता है। उसी तरह इस संसारी पुरुष की आँखों पर मिथ्या अज्ञान की पट्टी, इन अविद्या, राग आदि तस्करों ने बाँध दी है। अर्थात् इसकी विवेकदृष्टि को मिथ्या अज्ञानरूपी वस्त्र से ढँक दिया है। और उसको अपने स्वदेश से लाकर देहरूपी अरण्य में छोड़ दिया है। तब वह अपनी आँख पर बंधी पट्टी को दूर करने की इच्छा से आक्रोश कर रहा है, उसके उस आक्रोश को सुनकर कदाचित् कोई परमकारुणिक ब्रह्मवित् आचार्य वहां पहुँचकर उसकी आँख पर बंधी मिथ्या अज्ञानरूपी वस्त्र की पट्टी खोल देते हैं और उसे उसके स्वदेशरूप ब्रह्ममार्ग का निर्देश कर देते हैं, तब वह स्वयं अन्वयव्यतिरेक के सहारे ऊह करता हुआ अपने स्वरूप को पा लेता है और कृतकृत्य हो जाता है ॥४॥

॥ इति द्वितीयं प्रतिषेधप्रकरणं समाप्तम् ॥

ईश्वरात्मप्रकरणम्

ईश्वरश्चेदनात्मा स्यान्नासावस्मीति धारयेत् ।
आत्मा चेदीश्वरोऽस्मीति विद्या साऽन्यनिर्वर्तिका ।।१।।

ईश्वरश्चेदिति—**यदि ईश्वर अनात्मा होता, तो मुमुक्षु को वह ईश्वर (ब्रह्म) मैं हूँ, यह ज्ञान कभी न होता, और यदि उसे यह ज्ञान हो जाय कि 'मैं ईश्वर हूँ' तो यह ज्ञान अपने से भिन्न की निवृत्ति करता है ।। १ ।।**

हृदयस्पर्शिनी

इसके पूर्व प्रकरण में जो ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया उसमें प्रकाशमान जो ब्रह्म है, वह प्रत्यगात्मा (जीव) से भिन्न है अथवा अभिन्न ? यह सन्देह इसलिये हो रहा है कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा' श्रुति में भेद सुनाई पड़ रहा है, और 'अयमात्मा ब्रह्म' श्रुति में अभेद सुनाई पड़ रहा है । इस सन्देह का निराकरण प्रस्तुत प्रकरण में किया जा रहा है ।

सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द रूप परमात्मा (ईश्वर), जिसे जगत् का कारण माना जाता है, वह मेरुपर्वत आदि के समान अनात्मरूप है या आत्मरूप है ? यदि वह मेरु की तरह अनात्मरूप हो तो जैसे कोई भी मेरु में अहं-बुद्धि अर्थात् 'मेरु ही मैं हूँ' नहीं मानता, वैसे ही ईश्वर को अनात्मरूप मानने पर कोई भी मुमुक्षु अपने को 'मैं ईश्वर हूँ' नहीं समझेगा । तब 'तत्त्वमसि' (वही तू है) इस वचन से विरोध होगा । अर्थात् 'तत्त्वमसि' वाक्य संगत नहीं होगा, और 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' इस न्याय के साथ भी विरोध होगा । यदि 'ईश्वर एव आत्मा अहमस्मि नान्यः' ईश्वर ही मैं हूँ, कोई अन्य नहीं हूँ, ऐसा समझे तो न श्रुति के साथ और न न्याय के साथ ही विरोध होगा । यह अभिन्नाकार ब्रह्मात्मैक्यज्ञान अविद्या एवं तत्कार्यभूत समस्त संसार का निवर्तक होता है । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' जो ब्रह्म जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है, ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त होता है । इस श्रुति ने ब्रह्मज्ञान का फल ब्रह्मभाव होना ही बताया है । अन्य को किसी अन्य का भाव प्राप्त होना संभव नहीं है । अतः ऐक्यज्ञान ही फलवान् है, और उसीमें शास्त्र का तात्पर्य है, भेद में नहीं । भेदज्ञान का कोई फल नहीं है और भेदज्ञान की 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' वाक्य के द्वारा निन्दा की गई है । जहाँ कहीं भेद श्रवण हो, वहाँ उसका तात्पर्य अनादि अविद्या से कल्पित भेद के अनुवाद में ही समझना चाहिये, स्वार्थ में नहीं ।। १ ।।

आत्मनोऽन्यस्य चेद्धर्मा अस्थूलत्वादयो मताः ।
अज्ञेयत्वेऽस्य किं तैः स्यादात्मत्वे त्वन्यधीहृतिः ।।२।।

आत्मन इति—**यदि अस्थूलत्व अनणुत्व आदि धर्म आत्मभिन्न ईश्वर के हों तो उस आत्मभिन्न ईश्वर के अज्ञेय होने के कारण उन धर्मों के श्रवण से जिज्ञासु को कौन-सा लाभ होगा ? और यदि ईश्वर का आत्मा से अभिन्न रूप में (आत्म स्वरूप से) बोध होगा तो उसमें (ईश्वर में) अनात्म धर्मों (स्थूलत्व, कृशत्व आदि) की जो बुद्धि हो रही है वह निवृत्त हो जाती है ।। २ ।।**

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) और ब्रह्म (ईश्वर) के अभेद में ही वेद (श्रुति) का तात्पर्य है । क्योंकि अस्थूलादि श्रुतिवाक्यों के पर्यालोचन से दोनों (ईश्वर अर्थात् ब्रह्म और प्रत्यगात्मा अर्थात् जीव) एक ही (अभिन्न) प्रतीत होते हैं । श्रुतिप्रतिपादित अस्थूलत्वादि धर्मों को यदि प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) से भिन्न ईश्वर के कहें तो वह ईश्वर अनात्मभूत (आत्मभिन्न) होने से अज्ञेय कहा जायगा, तब श्रुतिप्रतिपादित उसके अस्थूलत्वादि धर्मों के श्रवण से मुमुक्षु को कौन-सा लाभ होना है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं । क्योंकि उस श्रवण से मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इत्यादि स्वगत (अपने में होने वाली) भ्रान्ति की निवृत्ति तो हो नहीं सकेगी । यदि ईश्वर (ब्रह्म) और जीवात्मा

(प्रत्यगात्मा) दोनों को एक ही (अभिन्न) समझते हैं अर्थात् 'अस्थूलत्वादि धर्मवाला ईश्वर मैं हूँ' यह समझते हैं, तब दोनों के एक ही रहने से स्वात्मा (जीवात्मा) में होनेवाली स्थूलत्व, कृशत्वादि की भ्रान्त बुद्धि जो मोह के कारण हो रही थी, उसका बाध श्रुत्युक्त धर्मों (अस्थूलत्वादि) के श्रवण से हो जाता है। आत्मा में स्थूलत्व, कृशत्व आदि की बुद्धि, मोहमूलक होने से मिथ्या है। अतः जीवात्मा को ईश्वर (ब्रह्म) समझना ही समुचित है। दोनों में भेद नहीं है ॥ २ ॥

मिथ्याध्यासनिषेधार्थं ततोऽस्थूलादि गृह्यताम् ।
परत्र चेन्निषेधार्थं शून्यतावर्णनं हि तत् ॥३॥

मिथ्येति—**आत्मा में स्थूलत्व, कृशत्वादि के भ्रम (मिथ्या अध्यास) की निवृत्ति के लिये ही 'अस्थूलमनणु' आदि वाक्य को मानना चाहिये। यदि उक्त श्रुतिवाक्य को आत्मभिन्न अनात्म वस्तु के निषेधार्थ माना जाय तो शून्यवाद (शून्यता वर्णन) ही हो जायगा। अनात्म पदार्थ जड़ होने से स्थूलत्वादि धर्मों से युक्त ही हुआ करते हैं। यदि उनका निषेध यहाँ कहा जाय तो ईशयितव्य वस्तु ही कोई नहीं होगी, और उसके न रहने पर ईश्वर का ईश्वरत्व ही नहीं रह सकेगा, तब शून्यवाद का प्रसंग प्राप्त होगा ॥३॥**

हृदयस्पर्शिनी

'कस्मिन्नु खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्च' इस प्रकार कार्य-कारणात्मक जगत् के विषय में प्रश्नोत्तर करते हुए 'अक्षर' का उपक्रम किया और 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' इस प्रकार जगदीश्वर के रूप से मध्य में परामर्श करते हुए 'अहं द्रष्टृ' इत्यादि के द्वारा उसके स्वभाव का कथन कर अन्त में 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' कहकर उपसंहार किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ब्राह्मणवाक्य का तात्पर्य ईश्वरपरक ही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रत्यगात्मा का अक्षरब्रह्म से अभेद का ही निश्चय किया गया है। जबकि ईश्वर और आत्मा के अभेद में ही शास्त्र का तात्पर्य है, तब उक्त अस्थूलादि वाक्य को प्रत्यगात्मा में अध्यस्त स्थूलत्वादि के प्रतिषेधपरक ही समझना चाहिये। एवंच अज्ञानमूलक मिथ्याध्यास की निवृत्ति के लिये अस्थूलत्वादि को प्रत्यगात्मा के विशेषण समझने चाहिये। अन्यथा अस्थूलादि वाक्य को आत्मभिन्न अनात्म पदार्थ (ईश्वर) के स्थूलत्वादि धर्मों के निषेध के लिये यदि कहें तो उसें शून्यता का ही वर्णन कहा जायगा। आत्मा से अन्य सभी कुछ जड़ है, उनमें स्थूलत्वादि धर्म रहते ही हैं, वे सभी जब निषेध्य कोटि में आ जायेंगे तब ईश्वर में ईश्वरत्व का भी सम्बन्ध नहीं रहेगा अर्थात् ईश्वर में परागरूपता (अनात्मता) मानने से घट की तरह अनीश्वरत्व का प्रसंग प्राप्त होगा, और उक्त वाक्य केवल निषेधपरक ही रहेगा। अतः अस्थूलत्वादि धर्मवाले में अनात्मत्व का सम्बन्ध न रहने से उसे ईश्वर ही कहना होगा, वह (ईश्वर) आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं, यही स्वीकार करना उचित है ॥३॥

बुभुत्सोर्यदि चान्यत्र प्रत्यगात्मन इष्यते ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति चानर्थकं वचः ॥४॥

बुभुत्सोरिति—**प्रत्यगात्मा से भिन्न देहादि अनात्मा में स्थूलत्वादि धर्मों का निषेध करना ही जिज्ञासु को यदि इष्ट हो तो 'अप्राणो ह्यमनाः' वह (आत्मा) प्राणहीन, मनोहीन है, इत्यादि वाक्य व्यर्थ हो जायगा। प्राणादि का अनात्म पदार्थ में अभाव रहने से यह वचन अप्राप्त का निषेधक कहलायेगा ॥४॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मतत्त्वजिज्ञासु व्यक्ति यदि जीवात्मा से भिन्न देह, इन्द्रिय, प्राण, मन के धर्मों का निषेधक यह वाक्य (अस्थूलमनणु) है, ऐसा समझे तो 'अप्राणः' इत्यादि वाक्य निर्विषय (व्यर्थ) होगा, क्योंकि अनात्मा में प्राण और मन का सम्बन्ध प्राप्त नहीं है। अतः अप्राप्त प्रतिषेध, दृष्टार्थ न हो पाने से निष्फल होगा। और अप्राणादि वाक्य अनर्थक होगा ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीय ईश्वरात्मप्रकरणं समाप्तम् ॥

① नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । ② द्रोपदी विधवा, एक नहीं कैसे? अज्ञान के तीन पति ।

तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरणम्

अहंप्रत्ययबीजं यदहंप्रत्ययवत्स्थितम् ।
नाहंप्रत्ययवद्दग्धं कथं कर्म प्ररोहति ॥१॥

अहमिति—**अहंकार का जो बीजरूप कर्म अहं-प्रत्यय से युक्त अन्तःकरण में स्थित है, वह 'मैं अहंकार नहीं हूँ' इस ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाने पर पुनः कैसे पैदा हो सकता है ? ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'अहं ब्रह्मास्मि' इस ब्रह्मात्मज्ञान (ईश्वर से अभिन्न आत्मा का ज्ञान) को मोक्ष का साधन बताया गया है, किन्तु वह कैसे संभव है ? क्योंकि अनेक जन्मों के अनेक सञ्चित कर्म रहते हैं, अतः उनका फल अवश्य ही प्राप्त होना है । ① एवञ्च उन सञ्चित कर्मों के प्रतिबन्धक रहते ब्रह्मात्मैक्यज्ञान, मोक्ष का साधन नहीं हो सकेगा । 'अहम्' इस प्रत्यय को 'अहंकार' (अनात्मा में आत्माभिमान) कहते हैं । उस अहंकार के कारण ही मनुष्य कर्म करता है, अर्थात् कर्म और अहंकार का कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है । तात्पर्य यह है कि अहम्प्रत्यय (अहंकार) ही कर्म का कारण (बीज) है । जिस साभास अन्तःकरण में 'अहम्' अर्थात् 'मैं' इस प्रकार की प्रतीति होती है, उस अन्तःकरण को 'अहम्प्रत्ययवत्' कहते हैं । अथवा 'अहम्' इस प्रकार की प्रतीति जिस अहंकार में होती है, वह साभास अहंप्रत्यय जिस कर्म का उपादान कारण (बीज) है, उस कर्म को 'अहम्प्रत्ययबीज' शब्द से कहा गया है । मूलाज्ञान (मूलाविद्या) के कार्यरूप अहम्प्रत्यय-विशिष्ट-अहंकार में 'कर्म' की स्थिति रहती है, इसलिये 'कर्म' को 'अहम्प्रत्ययवत्स्थित' शब्द से कहा गया है । क्योंकि कार्य का अपने उपादान में रहने का ही नियम है, अन्यत्र नहीं । एवं च अहंप्रत्ययवत् (अहंकारविशिष्ट) साभास अहंकार में अथवा अन्तःकरण में सञ्चित कर्म जब 'नाहं कर्ता भोक्ता किन्तु ब्रह्मैवाऽस्मि' 'मैं कर्ता, भोक्ता नहीं हूँ, मैं तो ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार वेदान्त वाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध हो जाता है (जला दिया जाता है), तब वह (संचित कर्म) पुनः फलोन्मुख नहीं होता । जैसे अग्नि; जलाने योग्य वस्तुओं को जलाता है, वैसे ही वेदान्त-वाक्योत्पन्न 'नाहं कर्ता ब्रह्मैवाहमस्मि' यह ज्ञान सञ्चित कर्मों को जला देता है, इसलिये वेदान्तवाक्योत्पन्न ज्ञान 'नाहं कर्ता, ब्रह्मैवाहमस्मि' को अग्नि शब्द से कहा गया है । जैसे दग्ध हुए (जले हुए) बीज से अंकुर पैदा नहीं हो पाता वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए सञ्चित कर्म से फलोत्पत्ति नहीं होती । वेदान्तवाक्य से आत्मतत्त्वज्ञान होनेपर मूलाज्ञान (मूलाविद्या) की निवृत्ति होना सुनिश्चित है, क्योंकि अज्ञान और ज्ञान दोनों परस्परविरुद्ध हैं । मूलाज्ञान की निवृत्ति होने से उसके कार्यभूत अन्तःकरण की भी निवृत्ति हो जाती है । जब अन्तःकरणरूप आश्रय ही नहीं रहा, तब 'कर्म' कहां स्थित रहेंगे ? निराश्रय तो रह नहीं सकते । अतः पूर्वोक्त शंका (सञ्चित कर्मरूप प्रतिबन्धक के रहते आत्मज्ञान विफल होगा) उचित नहीं है । निष्कर्ष यह हुआ कि वेदान्तवाक्योत्पन्न ब्रह्मात्मज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का एकमात्र उपाय (साधन) है ॥ १ ॥

दृष्टवच्चेत्प्ररोहः स्याज्ज्ञान्यकर्मा स इष्यते ।
तन्निरोधे कथं तत्स्यात्पृच्छामो वस्तदुच्यताम् ॥२॥ ②

दृष्टवदिति—**यदि यह कहा जाय कि दृष्टफलोत्पादक भिक्षाटनादि कर्मों के समान तत्त्वज्ञानी के संचित कर्म भी फल देंगे । किन्तु यह कहना इसलिये ठीक नहीं है कि ज्ञानी का भिक्षाटनादि व्यापार तो प्रारब्धकर्म के कारण हो रहा है । तथापि पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि तत्त्वज्ञानाग्नि से मूलाविद्यारूप अज्ञान की निवृत्ति जब हो जाती है, तब उसका (अज्ञान का) कार्यभूत प्रारब्ध कर्म भी कैसे रहेगा ? इसका समाधान कीजिये ॥२॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका करनेवाले का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी के भिक्षाटनादि कर्मों का फल उसे जैसे उपलब्ध होता है, वैसे ही विधिविहित अग्निहोत्रादि कर्मों का अदृष्ट फल भी उसे क्यों नहीं मिलेगा ? किन्तु यह शंका ठीक नहीं है,

क्योंकि ज्ञानी का भिक्षाटनादि व्यापार अन्यकर्मा है। उसके भिक्षाटनादि व्यापार में ज्ञानी का वह प्रारब्धकर्म कारण है, जिसका फल अन्यत्र प्रवृत्त है। इसलिये उसका भिक्षाटनादि व्यापार 'अन्यकर्मा' है। भिक्षाटनादि कर्म तो तत्त्वज्ञान के अविरुद्ध प्रारब्धफलकर्मनिबन्धन है। किन्तु विधिविहित कर्म, तत्त्वज्ञान के विरोधी होने के कारण उस प्रकार के नहीं हैं। तथापि एक शंका अभी अवशिष्ट है कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति अपने मूल अहंकार के सहित होती है; अतः आश्रयभूत अहंकार की निवृत्ति हो जाने से तदाश्रित संचित कर्म की भी निवृत्ति जब हो रही है तो प्रारब्धकर्म की भी निवृत्ति हो जानी चाहिये। जिस प्रारब्धकर्म के कारण ज्ञानी की भिक्षाटनादि कर्म में प्रवृत्ति होती है, उस प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से क्यों नहीं होती ? इस शंका का उत्तर दीजिये ॥ २ ॥

देहाद्यारम्भसामर्थ्याज्ज्ञानं सद्विषयं त्वयि ।
अभिभूय फलं कुर्यात्कर्मान्ते ज्ञानमुद्भवेत् ॥३॥

देहादीति—**प्रारब्धकर्म में देहोत्पादन (देहारंभ) सामर्थ्य है। अतः वह ज्ञानी के सद्वस्तु (ब्रह्म) विषयक ज्ञान को अभिभूत करके** अपना फल देता है। **उस प्रारब्ध कर्म को फलभोग के द्वारा समाप्ति होने पर ही प्रतिबन्ध-शून्य ज्ञान का आविर्भाव होता है ॥ ३ ॥**

पूर्वोक्त अवशिष्ट आशंका का उत्तर दे रहे हैं—ब्रह्मात्मविषयक (सद्विषयक) ज्ञान, वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण से उत्पन्न होने के कारण यद्यपि प्रबल है, तथापि उसे यह प्रारब्धकर्म, विदेहकैवल्यरूप फल नहीं देने देता, क्योंकि इस प्रारब्धकर्म में देहारंभ (देहोत्पादन) का सामर्थ्य प्रबलतर है। अतः यह प्रारब्धकर्म देहाभास, जगदाभासरूप अपना फल तुम जैसे ज्ञानी को भी अवश्य देगा। प्रारब्धकर्मजन्य फलभोग की समाप्ति होने पर ही प्रतिबन्धरहित ज्ञान उद्भूत होता है। और वह वर्तमानकार्यसंपादक अविद्यालेश (अविद्यासंस्कार) की भी निवृत्ति कर देता है तथा उस ज्ञानी को स्वाराज्य पर स्थापित कर देता है ॥ ३ ॥

आरब्धस्य फले ह्येते भोगो ज्ञानं च कर्मणः ।
अविरोधस्तयोर्युक्तो वैधर्म्यं चेतरस्य तु ॥४॥

आरब्धस्येति—**भोग और ज्ञान दोनों ही प्रारब्ध कर्म के फल हैं। अतः उनमें अविरोध अर्थात् विरोध न रहना ठीक ही है। किन्तु प्रारब्धातिरिक्त अन्य कर्मों का ज्ञान से विरोध है। अतः उन्हीं का ज्ञानाग्नि से दाह हो पाता है, प्रारब्धकर्म का नहीं। उन प्रारब्ध कर्मों का क्षय (नाश) फलभोग से ही होता है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पुनः शंका होती है कि आरब्ध कर्म हो या अनारब्ध कर्म हो, दोनों ही समानरूप से अज्ञानकार्य हैं। अज्ञान की निवृत्ति होने पर दोनों का ही आश्रय समान रूप से निवृत्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि प्रारब्धकर्मवशात् ज्ञानी को भी भोग भोगना पड़ता है और अनारब्ध कर्म तथा उसके फल की स्थिति ज्ञानी में नहीं होती, यह कैसे संभव हो सकता है ? इस शंका का समाधान इस श्लोक के द्वारा दिया जा रहा है—भोग और ज्ञान दोनों ही आरब्धकर्म के फल हैं। अतः दोनों (भोग और ज्ञान) में अविरोध रहना उचित ही है, किन्तु अनारब्ध-फलवाले संचित तथा क्रियमाण कर्मों का तो ज्ञान के साथ विरोध है ही, क्योंकि दोनों में वैपरीत्य है, वैधर्म्य है। ज्ञान को शरीरादि की अपेक्षा करनी ही पड़ती है, जो शरीरादि अपने कारणभूत अज्ञान से पैदा होते हैं। जिसने शरीर धारण न किया हो ऐसे अशरीरी में आगन्तुक (अकस्मात्) ज्ञान का होना संभव नहीं। ज्ञान का कारण और शरीर आदि का कारण एक नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य का कारण किसी अन्य की उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकता, सभी कार्यों के अपने अपने कारण नियत होते हैं। अतः कुछ कर्मविशेषों के द्वारा ज्ञानोत्पत्तियोग्य शरीरविशेषों में अपना फल देना आरंभ कर दिये जाने पर उस शरीरविशेष का आश्रय करके ज्ञान के हेतुभूत कर्म, 'ज्ञान' का आरंभ करते हैं यह स्वीकार करना होगा। देह के होने पर उससे भोग होना अवश्यंभावी है। अतः भोगप्रद कर्म के द्वारा उत्पन्न हुए शरीर (देह) का आश्रय कर अपने हेतुभूत प्रारब्धकर्म से आसादित (प्राप्त) ज्ञान, अज्ञाननिवृत्तिरूप अपने फल को उत्पन्न करता है, तथापि एकमात्र भोग के ही द्वारा नष्ट होने वाले देहारंभक प्रारब्धकर्म से आक्षिप्त जो अविद्या-

लेश (अविद्यासंस्कार) है, उसकी निवृत्ति नहीं कर पाता हैं, क्योंकि उसका (प्रारब्धकर्म से उत्पन्न ज्ञान का) उपजीव्य के साथ कोई विरोध नहीं है। एवंच आरब्धफलकर्म और ज्ञान दोनों में कोई विरोध नहीं है। किन्तु अनारब्धफलवाले कर्मों का (संचित-क्रियमाणकर्मों का) तथा उनके फलों का अकर्तृभूत आत्मतत्त्व के ज्ञानोदय (ज्ञानोत्पत्ति) के साथ विरोध है, अतः कर्तृस्वभाव (अहंकार या अन्तःकरण) की निवृत्ति होने पर आश्रय के न रहने से अनारब्धफलवाले कर्मों का न रह पाना संगत ही है। ज्ञान के साथ उन कर्मों का सहावस्थान हो ही नहीं सकता। प्रारब्धकर्म प्रवृत्त-फलवाला है और अनारब्धकर्म अप्रवृत्तफलवाला है, यही दोनों में भेद है ॥ ४ ॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।
ततः सर्वमिदं सिद्धं प्रयोगोऽस्माभिरीरितः ॥५॥

देहात्मेति—आत्मज्ञानी को भी यदि प्रारब्ध कर्म का भोग भोगना ही पड़ता है तो बहुत संभव है कि भोगते-भोगते उसे पुनः देहाभिमान हो जाय, और उससे ज्ञान प्रतिबद्ध होकर उसका मोक्ष न हो पाय। इस आशंका का समाधान इस प्रकार किया जा रहा है कि जिस प्रकार संसारी (अज्ञानी) पुरुषों को देहात्मबुद्धि हो रही है, उसी प्रकार जिसे आत्मा में ही देहात्मबुद्धि को निवृत्त करनेवाला 'ज्ञान' हो गया हो, वह पुरुष इच्छा न करने पर भी मुक्त हो जाता है। अतः प्रारब्ध से आत्मज्ञान का अविरोध आदि सब बातें सिद्ध हो चुकीं। तत्संबंधी युक्तियों को हम पहले बता चुके हैं ॥ ५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

देहारम्भक कर्मनिबन्धन भोग यदि ज्ञानी को होता है, तो कदाचित् देहात्माभिमान से उत्पन्न दुरित, 'ज्ञान' का प्रतिबन्धक भी हो सकता है, तब मोक्षप्राप्ति कैसे संभव हो सकेगी? इसका समाधान यह है कि जैसे अविवेकी लौकिक पुरुष को अपने देह में ही 'मनुष्योऽहम्' मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार निःसन्दिग्ध आत्मज्ञान होता है, वैसे देह से लेकर अहंकार तक के साक्षी आत्मा (मुख्यात्मा) में ही जिसको देहात्मज्ञान का बाधक 'अहमस्मि परं ब्रह्म' मैं ब्रह्म हूँ, यह निःसन्दिग्ध ज्ञान हो जाता है, उस पुरुष की इस ब्रह्मज्ञान के बलपर समस्त अनर्थराशि (मूलाज्ञान, उसका कार्य, उसके संस्कार आदि सभी कुछ) निवृत्त हो जाती है, उस स्थिति में मुक्ति की इच्छा न रहनेपर भी उस ज्ञानबल पर वह मुक्त ही है। एवंच आत्मतत्त्वज्ञान के आविर्भूत होनेपर पुनः देहाभिमान होने का कोई कारण ही नहीं है, अतः मोक्ष में कोई प्रतिबन्धक नहीं है। श्रुति-स्मृतियाँ भी इसका समर्थन करती हैं ॥ ५ ॥

॥ इति चतुर्थं तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरणं समाप्तम् ॥

① उतङ्को वा पाठभेदः।

बुद्ध्यपराधप्रकरणम्

मूत्राशङ्को यथोदङ्को नाग्रहीदमृतं यथा ।
कर्मनाशभयाज्जन्तोरात्मज्ञानाग्रहस्तथा ॥१॥

मूत्राशङ्केति—**जिस प्रकार उदङ्क ऋषि ने मूत्र की आशंका से अमृत को ग्रहण नहीं किया उसी प्रकार वर्णाश्रमविहित कर्म नष्ट हो जायगा, इस भय से संसारी जीव आत्मज्ञान को स्वीकार नहीं करता ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि पूर्वप्रकरणप्रदर्शित प्रकिया के अनुसार 'ब्रह्मात्मज्ञान' अमृतत्व (मोक्ष) का साधन है, तो सभी लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस आत्मज्ञान को स्वीकार क्यों नहीं करते ? सभी को स्वभावतः ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की इच्छा तो रहती है। इस आशंका का समाधान एक आख्यायिका के द्वारा कर रहे हैं—उदङ्क नाम के किसी ऋषि ने अपनी तपस्या के द्वारा भगवान् महाविष्णु को सन्तुष्ट कर लिया और उनसे देवताओं के लिये सुरक्षित अमृत को माँगा, तब भगवान् महाविष्णु ने 'इसे अमृत दे दो' ऐसा देवेन्द्र से कहा। तब इन्द्र महाविष्णु की आज्ञा के अनुसार अमृतकलश को वहाँ ले गये और चाण्डालवेष धारण कर लिया तथा अमृतकलश को अपने मूत्राशयस्थान में रख लिया और सोचा कि ऐसा करने से ऋषि को असूया होगी और वह अमृतपान नहीं करेगा। यह सब मनमें सोचकर इन्द्र ने उदङ्क ऋषि को अमृत देना आरंभ किया। तब उदङ्क को भी आशंका हुई कि कहीं यह चाण्डाल का मूत्र तो नहीं है ? इस प्रकार मूत्र की आशंका से उदङ्क ऋषि ने प्रत्यक्ष रूप में वास्तविक अमृत की उपलब्धि होनेपर भी अमृत के रूप में इस मूत्र को पीने से मेरी जाति भ्रष्ट होगी, मैं जिस अमृत को चाहता था, वह यह नहीं है, अतः मुझे नहीं लेना है, ऐसा सोचकर उसे जिस प्रकार स्वीकार नहीं किया उसी तरह लोगों को भी यह भय रहता है कि हमारा वर्णाश्रमविहित कर्म कहीं नष्ट न हो जाय इसलिए लोग भी यथार्थ आत्मज्ञान के प्रति इच्छुक नहीं रहते, उसकी ओर अनादर की दृष्टि से देखते हैं। एवञ्च पदार्थ (वस्तु) के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान न रहना तथा विपरीतज्ञान रहना ये दोनों श्रुत्युक्त आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त न करने में कारण हुआ करते हैं। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि वह पदार्थविवेकशील बनें ॥ १ ॥

बुद्धिस्थश्चलतीवात्मा ध्यायतीव च दृश्यते ।
नौ गतस्य यथा वृक्षास्तद्वत्संसारविभ्रमः ॥२॥

बुद्धिस्थ इति—**यह आत्मा बुद्धि में स्थित है, अतः चलता हुआ-सा, ध्यान करता हुआ-सा दिखाई देता है। जिस प्रकार नाँव में बैठकर जाते हुए व्यक्ति को तट पर स्थित वृक्ष चलते हुए-से दिखाई देते हैं, उसी प्रकार यह संसार का भ्रम हो रहा है ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रथम श्लोक में दिये गये दृष्टान्त के द्वारा यह बताया गया था कि देवेन्द्र के वेषान्तर और मूत्राशयस्थान (बस्तिस्थान) में अमृतकलश को छिपाकर रखने से जात्यन्तर के मूत्र का भ्रम उदङ्क को हुआ। इसी कारण उसने अमृत का ग्रहण नहीं किया। एवंच अमृत के ग्रहण न करने में देवेन्द्र का वेषान्तर करना और अमृत कलश को बस्तिस्थान में छिपाकर रखना ये दो ही कारण थे, इसीलिये उदङ्क को भ्रम हुआ। किन्तु ब्रह्मरूप आत्मा के सम्बन्ध में भ्रम होने का वैसा कोई कारण नहीं है, तब ब्रह्मात्मज्ञान में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? इस आशंका का समाधान इस प्रकार किया गया है कि पदार्थविवेक होने से पूर्व अनादि अविद्या के कारण अपनी आत्मा में लिङ्ग शरीर का ज्ञान अध्यस्त रहने से आत्मा को उसका अभिमान रहता है। अर्थात् अध्यस्त बुद्धिरूप लिङ्ग शरीर में अभिमानी होकर आत्मा स्थित है। वह (आत्मा) वस्तुतः अविक्रिय (विकार-रहित) है, अतः वह चलता फिरता नहीं है, वह

① यह गलत है, किन्तु होना चाहिये - होता है जिसमें। येन बाधाभ्युमते - येन ||

निष्क्रिय है, तथापि बुद्धि के चलने पर वही (आत्मा ही) चलता हुआ-सा प्रतीत होता है, उसी तरह उसके (बुद्धि के) निश्चल होनेपर (ध्यान करने पर) आत्मा ही निश्चल-सा (ध्यान करता हुआ-सा) भासित होता है। वस्तुतः वह (आत्मा) ध्यान नहीं करता, क्योंकि चलन-क्रिया ही जब उसमें नहीं है, तब तत्प्रतियोगिक नैश्चल्य (निश्चलता) का भी उसमें न रहना स्वाभाविक है। विकारशील बुद्धि के अविवेक के कारण आरंभ में ही 'संसारी अहमस्मि' मैं संसारी हूँ, इस प्रकार के विपरीतनिश्चयरूप दोषवशात् लोग, आत्मा की ब्रह्मरूपता श्रुति के द्वारा बताई जाने पर भी उसे नहीं ग्रहण कर पाते। अविवेक के कारण होने वाले विपरीत ज्ञान में नौका का दृष्टान्त दिया गया है। एवंच अविवेक से आत्मा में संसारित्वभ्रान्ति लोगों को हुआ करती है ॥ २ ॥

नौस्थस्य प्रातिलोम्येन नगानां गमनं यथा ।
आत्मनः संसृतिस्तद्वद्ध्यायतीवेति हि श्रुतिः ॥३॥

नौस्थस्येति— **जिस प्रकार नाँव में बैठे हुए व्यक्ति को तीरवर्ती वृक्षों का विपरीत दिशा में जाना प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा के संसरण की प्रतीति होती रहती है। इसी अभिप्राय को 'ध्यायतीव' इस श्रुति ने भी कहा है ॥३॥**

हृदयस्पर्शिनी

द्वितीय श्लोक की बात को ही पुनः दुहरा रहे हैं— जल में चलती नाँव में बैठे व्यक्ति को उपाधि का विवेक न होने से अपनी नाँव की गति की दिशा के ठीक विपरीत दिशा की ओर चलते हुए जलाशयतीरवर्ती पर्वत, वृक्ष आदि दिखाई देते हैं, उसी तरह असंसारी आत्मा की संसृति का अनुभव होता है। इसी अभिप्राय को "ध्यायतीव" श्रुति ने भी बताया है ॥ ३ ॥

चैतन्यप्रतिबिम्बेन व्याप्तो बोधो हि जायते ।
बुद्धेः शब्दादिभिर्भासस्तेन मोमुह्यते जगत् ॥४॥

चैतन्येति - **प्रत्येक विषय का ज्ञान चिदाभास के द्वारा विषय के व्याप्त होने पर ही होता है। इसलिये बुद्धि को शब्दादि रूप से आत्मा की ही प्रतीति हो रही है। इस आत्मा-अनात्मा के अविवेक से ही जगत् अत्यन्त मोहित हो रहा है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में दृष्टान्त का वर्णन अच्छी तरह किया गया। अब इस श्लोक में दार्ष्टान्त को अच्छी तरह बता रहे हैं—शुक्ति-रजत के समान बुद्धि-आत्मा में अध्यास की बात सुनकर मन में शंका उत्पन्न होती है कि शुक्ति में रजत का सादृश्य आदि संभव होने से 'अन्यत्र अन्यधर्माध्यास' का होना तो ठीक है, किन्तु विषय-विषयीरूप बुद्धि और आत्मा के अत्यन्त विलक्षण (एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न) होने से उनमें अन्योन्यधर्माध्यास का होना कैसे संभव हो सकता है? यदि कहें कि चिदाभास के द्वारा सादृश्य आदि का होना यहाँ भी संभव हो सकता है। किन्तु यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि चिदाभास और विषयाकार दोनों का बुद्धि में संक्रमण होने से कृश-स्थूल आदि विषयधर्मों का आत्मा में अध्यास कर और आनन्द आदि आत्मधर्मों का बुद्धि में अध्यास (आरोप) कर मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ इस प्रकार लोकव्यवहार चलता रहता है। बुद्धि (अन्तःकरण) में पड़े हुए चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ही 'चिदाभास' कहते हैं। उस चिदाभास से बुद्धि का बोध व्याप्त हुआ करता है, अर्थात् बुद्धि, विषयाकार (विषय के आकार की) हो जाती है। आत्मा को अपने आभास का विवेक न होने के कारण शब्दादि विषयों के द्वारा (बुद्धि की वृत्ति में व्याप्त विषयों के द्वारा) विषयभूत देहादि के रूप में अपना भास (स्फुरण) होता रहता है। श्लोक में 'शब्दादिभिः' यह इत्थंभाव अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। यदि "शब्दादिनिर्भासः" पाठ हो तो उसे "बोध" का विशेषण समझना चाहिए, और 'शब्दादिविषय का निर्भास है① जिसमें' ऐसा बहुव्रीहि करना चाहिए। देहादि विषय और चैतन्य का बुद्धिवृत्तिरूप एक ही स्थान में संश्लेष-सा हो जाता है, तब एक-दूसरे का विवेक (भेदज्ञान) न हो पाने से संसारी लोग अत्यन्त मोहित रहते हैं। जैसे नाव में बैठे हुए व्यक्ति को नाव के चलने का अनुभव नहीं होता अपितु अचल वृक्षों के चलने का उपाधि के सामर्थ्य से अनुभव होता है। उसी प्रकार बुद्धिस्थित आत्मा देहात्मभाव को प्राप्त हुआ-सा उसके

(बुद्धि के) व्यापार को पृथक् अनुभव नहीं करता। अपने (बुद्धि में पड़े हुए) आभास का विवेक न होने से अपने में (चिदात्मा में) ही विकार का आरोप कर लेता है और मिथ्या अनुभव करता रहता है। इसी अभिप्राय का समर्थन 'ध्यायतीव' इत्यादि श्रुति के द्वारा किया गया है। अतः उपाधि के कारण उसे अपने में संसारी होने का भ्रम होता है ॥ ४ ॥

चैतन्यभास्यताहमस्तादर्थ्यं च तदस्य यत् ।
इदमंशप्रहाणे न परः सोऽनुभवो भवेत् ॥५॥

चैतन्येति—**चिज्जडग्रन्थिरूप अहंकार की चैतन्यभास्यता (दृश्यता) और उसका आत्मार्थ (आत्मा का अंगभूत) होना, ये दोनों बातें अहंकार से ही संबन्धित हैं। इस इदमंश (अहंकार के दृश्यत्व) का विवेक हो जानेपर उपर्युक्त दोनों नहीं रह पाते, तब जो अनुभव होता है वही, पर-आत्मा है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अभी तक यह बताया गया था कि संसाराध्यास अविवेकाधीन है। किन्तु पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान (विवेकज्ञान) हुए पुरुष की वेदान्तवाक्य से 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार बुद्धिवृत्ति होती है, तब उसे मुक्ति का लाभ होता है। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि वह पदार्थविवेकशील बने। चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहंकार (अहम्) की जो चैतन्यभास्यता (दृश्यता) है, और चिदात्मा के लिए विषयोपस्थापक होने से उसका (अहंकार का) तदर्थ्य, है। ये दोनों (अहंकार की दृश्यता ओर चिदात्मा के प्रति अंग बनना) अहंकार से संबंधित हैं, उसमें 'इदम्' अंश का विवेक (प्रहाण) होने पर ये दोनों नहीं होंगे। अभिप्राय यह है कि अहंकार की चैतन्याकारता, जो मोह से प्राप्त हुई है और अहंकार में जो चेतनशेषत्व है, वह भी मोह से ही सिद्ध है, किन्तु यहाँ पर (अहम् में) 'इदम्' अंश का विवेक के द्वारा परित्याग करने पर उक्त दोनों बातें, जो मोह से हो रही थीं, वे नहीं हो पातीं। तब जो अनिदं अंश (इदम् अंश से भिन्न), जो अनुभव साक्षी के रूप में है, शेष रह जाता है (बचा रहता है) वही पर (परमात्मा) ही होगा। वही 'अहं ब्रह्म' वाक्य का अर्थ है। अथवा—जबकि इस अहंकार में चैतन्यभास्यता, (जड़ता) और तच्छेषत्व है, इस कारण यह अहंकार 'आत्मा' नहीं है। इस प्रकार वेद्यांश का त्याग करने से और अस्मदर्थता के अभिमान का त्याग करने से जो अनुभव होता है, वही पर-आत्मा है, यह निश्चय करना चाहिए। अथवा अहंकार के इदमंश को पृथक् करने से उस सर्वोत्कृष्ट 'पर' का अनुभव होता है। निष्कर्ष यह है कि अनिदंरूप अहंकार के इदमंश का मनन के द्वारा बाध होनेपर जो अवशिष्ट, अबाध्य अंश है, वही आत्मा है, यह अनुभव होगा। यदि कोई कहे कि 'अहम्' इस प्रतीति में 'इदम्' अंश का तो भास है ही नहीं, जिसके प्रहाण से सर्वोत्कृष्ट अनुभव होगा, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। सुषुप्तिकाल में केवल आत्मा का ही भान होता है। अहंकार का उस काल में अवभास नहीं होता, इसी कारण उसका अनात्मत्व निश्चित होता है। जाग्रत्काल में वह अहंकार अपने आप स्वयं आ जाता है, अतः उसमें चैतन्यभास्यता सिद्ध हो जाती है। इस कारण कहना होगा कि 'अहम्' इस प्रकार के अवभास में 'इदम्' अंश के न रहने पर भी चैतन्यभास्यत्वेन रूपेण इदमाकारता भासित होती है। दूसरा कारण यह भी है कि आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि व्यवहारनिर्वाहक के रूप में अहंकार, आत्मार्थ है अर्थात् आत्मा का शेष (अंग) है। इससे भी सिद्ध होता है कि 'अहम्' इस अवभास में अनात्मरूप 'इदमंश' है। एवंच उस इदमंश के प्रहाण से ब्रह्मात्मानुभव अवश्य हो सकता है। इस प्रकार पदार्थ का परिशोधन करनेपर वेदान्तवाक्योत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान होने से मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमम्बुद्धयपराधप्रकरणं समाप्तम् ॥

विशेषापोहप्रकरणम्

छित्त्वा त्यक्तेन हस्तेन स्वयं नात्मा विशेष्यते ।
तथा शिष्टेन सर्वेण येन येन विशेष्यते ॥१॥

छित्वेति—**काटकर डाल दिये हुए हाथ द्वारा स्वयं आत्मा ('मैं हाथवाला हूँ') इस प्रकार विशेषित नहीं होता, उसी प्रकार त्यक्तहस्तातिरिक्त सभी से अर्थात् छिन्न हाथ के अतिरिक्त शेष (बचे हुए) मनुष्यत्वादि जिन जिन विशेषणों से विशेषित किया जाता है, उनमें से किसी से भी वास्तव में वह विशिष्ट नहीं है ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वेदान्तवाक्य से 'अहं ब्रह्म' मैं ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान पदार्थविवेकवान् को होता है, यह पूर्व प्रकरण में बता चुके। वहीं पर 'अहम्' में स्थित 'इदमंश' के प्रहाण से साक्षितत्त्व (आत्मतत्त्व) के शोधन का सूक्ष्म उपाय भी बता चुके, किन्तु उस सूक्ष्म उपाय को अपनाने में जो असमर्थ हो, उसके लिये पदार्थशोधन के स्थूल उपाय को बताने के उद्देश्य से इस प्रकरण का आरंभ किया जा रहा है।

जो वस्तु अपने स्वरूप को अलग करके ज्ञात नहीं हो सकती, जैसे अग्नि की उष्णता; उष्णता तो अग्नि का स्वरूप ही है, वह अग्नि का विशेषण नहीं है, तथापि कहीं कहीं भेद की कल्पना कर विशेषणता का भी व्यवहार लोग किया करते हैं। सत् आत्मा में सत्ता, चैतन्य, आनन्द का कभी भी अभाव (विनाश) न होने से वे आत्मा के विशेषण नहीं हैं, अपितु वे आत्मा के स्वरूप हैं। और कृश, स्थूल, कृष्ण, गौर, मनुष्य, श्रोता, द्रष्टा, वक्ता, कामी, क्रोधी, ज्ञानी, कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी ऐसे ही अन्य भी आत्मा के विशेषण कहे जाते हैं, क्योंकि ये सत्ता आदि के समान आत्मा के स्वरूपभूत नहीं हैं। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की सत्ता रहने पर भी कृश, स्थूल आदिकों का अभाव रहता है। इन सबसे पृथक् रहने वाले में कूटस्थता का निश्चय करना चाहिये। जैसे हाथ कटने के बाद 'मैं हाथ वाला हूँ' ऐसा विशिष्ट प्रत्यय किसी को नहीं होता, वैसे ही 'मैं पैर वाला हूँ' ऐसा विशिष्ट प्रत्यय भी नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

तस्मात्त्यक्तेन हस्तेन तुल्यं सर्वं विशेषणम् ।
अनात्मत्वेन तस्माज्ज्ञो मुक्तः सर्वैर्विशेषणैः ॥२॥

तस्मादिति—**आत्मस्वरूप के अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ अनात्म होने के कारण, वे सभी विशेषण, काटकर फेंक दिये गये हाथ के समान ही हैं। अतः आत्मा, अखिल (समस्त) विशेषणों से रहित है ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

श्रोत्र आदि स्थूलदेहाश्रय होने से आत्मा के विशेषण नहीं हो सकते तो न हों, सुख-दुःखादि जो स्थूल-देहाश्रय नहीं हैं, उन्हें तो आत्मा के विशेषण समझा ही जा सकेगा। किन्तु विचार करने पर वे भी आत्मविशेषण नहीं बन पाते। स्थूल, सूक्ष्म दोनों देहों के धर्मों का आत्मा में व्यभिचार पाया जाता है, यह बात सभी के स्वानुभव-गम्य है। ऐसे व्यभिचारी धर्मों को आत्मविशेषण मानकर उनसे आत्मा को विशेषित नहीं समझना चाहिये। ये जितने भी अनात्मधर्म, अनात्मवस्तुएँ हैं, वे सब देह के ही विशेषण होते हैं, आत्मा के नहीं; वे सत्, चित्, आनन्द के समान आत्मा के स्वरूप भी नहीं हैं। इसीलिये ऐसा अनुमान प्रयोग भी करते हैं—'विमतानि विशेषणानि नात्म-स्वभावभूतानि विशेषणत्वात् छित्वा त्यक्तहस्तवत्।' इस कारण यह 'ज्ञ' अर्थात् विवेकज्ञानवान् समस्त विशेषणों से रहित चित्-सत्-आनन्दमात्रस्वरूप से ही अवशिष्ट रहता है ॥ २ ॥

विशेषणमिदं सर्वं साध्वलङ्करणं यथा ।
अविद्याध्यस्तमतः सर्वं ज्ञात आत्मन्यसद्भवेत ॥३॥

विशेषणमिति—**अविद्या से उत्पन्न हुए अध्यास के कारण होनेवाले ये समस्त विशेषण भी पुरुष के आभूषणों के समान ठीक ही हैं । किन्तु आत्मज्ञान होने पर ये सब असत् ही हैं, ऐसा निश्चय होता है ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त रीति से विशेषणों के अनात्मरूप रहने पर भी उनका आत्मा से वियोग नहीं है, क्योंकि आगम तथा अपाय के द्वारा उनका आत्मा से सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है । तथापि ये सब विशेषण अलंकार की तरह हैं । जैसे अलंकारों का अलंकार्य व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रहने पर भी, वे अलंकार्य व्यक्तिस्वरूप या उसके धर्म नहीं समझे जाते, केवल उनका औचित्य समझा जाता है । अन्यथा उनका निकालना-पहिनना (आगम-अपाय) नहीं बन सकेगा । यदि ऐसी बात है तो 'मनुष्योऽहम्' मैं मनुष्य हूँ, ऐसी मनुष्यत्व के साथ तादात्म्य प्रतीति क्योंकर होती है ? तो उत्तर होगा कि मोह से ही वैसी प्रतीति होती है । ये सभी विशेषण आत्मा में अविद्या के द्वारा अध्यस्त हैं । अतः आत्मा के ज्ञात होने पर जब अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तब असत् पदार्थों का बाध हो जाता है । अर्थात् किसी भी काल में वे विद्यमान नहीं हैं यह निश्चय हो जाता है ॥ ३ ॥

ज्ञातैवात्मा सदा ग्राह्यो ज्ञेयमुत्सृज्य केवलः ।
अहमित्यपि यद्ग्राह्यं व्यपेताङ्गसमं हि तत् ॥४॥

ज्ञातैवेति—**अतः ज्ञेय (दृश्य) का बाध करके आत्मा का केवल ज्ञातारूप से ही सर्वदा अनुभव करना चाहिये । 'अहम्' इस प्रकार ग्राह्य (ज्ञेय) रूपसे आत्मा का जो अनुभव हो रहा है, वह भी कटे हुए अंग के समान ही वस्तुतः अनात्मा ही है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में "ज्ञात आत्मन्यसद् भवेत्" कहा गया है । 'तब ज्ञाते आत्मनि' अर्थात् आत्मा के ज्ञात होनेपर कहने से आत्मा में 'ज्ञेयत्व' धर्म की प्रतीति होगी, और अन्य विशेषणों की तरह 'ज्ञेयत्व' में अनात्मत्व कहना होगा । अतः 'ज्ञायमानत्व धर्म' से वस्तु में अनात्मत्व समझना उचित नहीं है । अर्थात् ज्ञेय पदार्थों को अनात्मा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि 'आत्मा' भी ज्ञेय है ।

किन्तु इस शंका का समाधान इस प्रकार होगा कि 'ज्ञेय' (दृश्य) अंश का त्याग कर जो सर्वदा सबका ज्ञाता है, वही 'आत्मा, है । ग्राह्यांश (ज्ञेयांश) आत्मा नहीं है । इतना ही नहीं, वह 'केवल' है, अर्थात् 'ज्ञातृत्व' विशेषण से भी रहित है । 'ज्ञातृत्व' तो उसका उपलक्षक है । एवंच ज्ञातृत्व से उपलक्षित (सूचित), अलुप्तप्रकाशस्वभाव होने से सर्वानुस्यूत, चिन्मात्र जो वस्तु है, वही 'आत्मा' है, इस प्रकार का ज्ञान विवेकी पुरुष को होता है । 'अहम्' इस प्रकार अनुभूयमान होने से (अनुभव का विषय होने से) ज्ञाता को ही 'आत्मा' कैसे कहा जाय ? शंका करनेवाला यद्यपि 'इदम् अहम्' 'यह मैं, इस प्रकार 'ग्राह्य' को ही आत्मा समझता है, तथापि वह (इदमंश) तो कटे हुए हाथ की तरह ही है । क्योंकि सुषुप्ति, मूर्छा की अवस्था में आत्मा के रहनेपर भी उसकी 'अहम्'-मैं-के द्वारा प्रतीति नहीं होती । अतः 'आत्मा' के रहनेपर उसकी 'अहम्' से प्रतीति अवश्य होती ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है । वह तो आत्मा के द्वारा दृश्य है, इसलिये उसे आत्मा नहीं कह सकते । एवंच 'आत्मा' अहंप्रत्यय से भी ग्राह्य नहीं है ॥ ४ ॥

यावान् स्यादिदमंशो यः स स्वतोऽन्यो विशेषणम् ।
विशेषप्रक्षयो यत्र सिद्धो ज्ञश्चित्रगुर्यथा ॥५॥

यावानिति—**'अहम्' इस प्रत्यय में जितना 'इदम् अंश' (दृश्यत्व) है, वह आत्मा से पृथक् होने के कारण उसका विशेषण ही है । इस विशेषांश का भी जहाँ क्षय हो जाता है, वहाँ चित्रगु के समान आत्मा का निश्चय हो जाता है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जब कि 'आत्मा' अहं प्रत्यय से भी ग्राह्य नहीं, चक्षुरादि इन्द्रियों से भी ग्राह्य नहीं, तब उसके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ? इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा की सिद्धि स्वयमेव ही है, उसकी सिद्धि में अन्य की अपेक्षा नहीं होती। चिदचिदात्मक 'अहम्' प्रत्यय में जितना अचिदात्मक अहंकारादि इदमंश है, वह जिसका विशेषण हो, वही प्रत्यगात्मा है। एवंच अहंकारादि विशेषणों से अतिरिक्त, तथा समस्त विशेषणों की व्यावृत्ति (प्रक्षय) जहाँ हो जाती है; अर्थात् निर्विशेष और किसी अन्य की अपेक्षा किये बिना ही जिसका स्वरूप स्फुरित (लब्धसत्ताक) होता रहता है, वही प्रत्यगात्मा है। जैसे 'चित्रगु: देवदत्त:' में 'चित्रगु:' देवदत्त का विशेषण है। उस विशेषण से देवदत्त बिलकुल पृथक् है। उक्त विशेषण से सम्बन्ध होने के पूर्व ही उसका अस्तित्व सिद्ध है, अपनी सिद्धि (अस्तित्व) के लिये उसे विशेषण से सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं होती, उसी तरह 'आत्मा' भी अहंकारादि से सम्बन्ध होने के पूर्व से ही अपनी महिमा (प्रभाव) के द्वारा ही सिद्ध है। उसे अपने अस्तित्व के लिये अहंकार आदि की अपेक्षा नहीं होती। इसी अभिप्राय को अनुमान-प्रयोग के द्वारा भी कहा जा सकता है—'विमतं विशेषणं स्वविलक्षणविशेष्यनिष्ठं विशेषणत्वात् चित्रगुत्ववत्।' एवंच प्रत्यगात्मा का अस्तित्व स्वत: सिद्ध है ॥ ५ ॥

इदमंशोऽहमित्यत्र त्याज्यो नात्मेति पण्डितैः।
अहं ब्रह्मेति शिष्टांशो भूतपूर्वगतेर्भवेत् ॥६॥

इदमिति—**'अहम्' इस प्रतीति में केवल 'इदमंश' ही पण्डितों के लिये त्याज्य है। 'आत्मा' का त्याग अभीष्ट नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में पूर्व प्रसंग के (भूतपूर्वगति के) अनुसार अवशिष्ट अंश का ही ग्रहण किया गया है ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जब कि 'अहम्' भी अनात्मा है तब 'अहं ब्रह्म' यह तादात्म्यबोधक श्रुति कैसे उपपन्न हो सकेगी ? यह शंका, श्रुति के तात्पर्य को न समझने के कारण हो रही है। 'अहं ब्रह्म' यह श्रुति अध्यस्त अहंकार के मूल की निवृत्ति के लिये है, 'अहंकार' में आत्मत्वप्रतिपत्ति कराने के लिये नहीं है, अर्थात् अहम् (अहंकार) आत्मा है, यह बताने के लिये नहीं है। 'अहम्' कहने पर अहंकार का अवभास होता है, उसमें जो इदमंश है, वह दृश्य होने से 'आत्मा' नहीं है, इस बात को बुद्धिमान् लोग अच्छी तरह समझ लें, अर्थात् उस अहम् (अहंकार) में आत्माभिमान न करें। अहंकार के त्यागने पर अवशिष्ट अनिदंरूप अंश है, वही अहं शब्द से लक्षित ब्रह्म है, इस प्रकार वह जाना जाता है। यदि अहम् में आत्माभिमान नहीं करना है, तो 'अहम् ब्रह्म' श्रुति वैसा निर्देश क्यों कर रही है ? इसका उत्तर तो यह है कि 'अहं ब्रह्म' में जो अहंकार का उल्लेख है, वह भूतपूर्व गति के कारण है। अर्थात् 'भूता सञ्जाता पूर्वमविद्यावस्थायाम्' अविद्यावस्था में 'अहमात्मा' इस प्रकार जो गति (बुद्धि) हुई थी, यानी ब्रह्मज्ञान होने के पूर्व अविद्यादशा में 'अहमात्मा' अहंकार को ही आत्मा समझ रहे थे, इस दृढ़ परिचय के कारण ही अब वाक्यार्थज्ञान के समय भी अहम् का उल्लेख किया गया है। अहंकार से लक्षित जो वस्तु है, उसका साक्षी 'अहम्' मैं—इस प्रकार श्रुति उल्लेख कर रही है ॥ ६ ॥

॥ इति षष्ठं विशेषापोहप्रकरणं समाप्तम् ॥

बुद्ध्यारूढप्रकरणम्

बुद्ध्यारूढं सदा सर्वं दृश्यते यत्र तत्र वा।
मया तस्मात्परं ब्रह्म सर्वज्ञश्चास्मि सर्वगः ॥१॥

बुद्ध्यारूढमिति— **मुझे जहाँ-तहाँ, सर्वत्र, सर्वदा बुद्धिवृत्ति पर आरूढ़ हुई ही समस्त वस्तुओं की प्रतीति हुआ करती है, अतः मैं (समस्त दृश्य प्रपञ्च से विलक्षण) सब का साक्षी , सर्वगत ब्रह्म ही हूँ ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अन्वय-व्यतिरेक द्वारा पदार्थों का पर्यालोचन (शोधन) करने वाले को वाक्य से ही वाक्यार्थज्ञान होता है, इस नियम के अनुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार के वाक्यार्थज्ञान का होना निश्चित है, तथापि अपने अनुभव के बलपर उसे स्पष्ट करने के लिये इस प्रकरण का आरंभ किया जा रहा है।

सर्वत्र (जाग्रत् अवस्था में हो या स्वप्नावस्था में हो, इस लोक में हो या परलोक में हो) और सर्वदा, जो कुछ भी (चाहे वह अध्यात्म हो या अधिभूत हो या अधिदैव हो) प्रत्यक्ष होता है या शास्त्र के द्वारा जाना जाता है, वह सब बुद्धिगत विषय ही उपलब्ध होता रहता है। उन विषयों का प्राप्तिकर्त्ता मैं तो निर्विकार हूँ, साक्षी हूँ। निर्विशेष निर्विकार होने से मैं ही परब्रह्म हूँ। सर्व दृश्य विषयों से विलक्षण होने से 'पर' हूँ, और प्रपञ्चातीत होने से 'ब्रह्म' हूँ। सर्वार्थप्रकाशक (सर्वज्ञ) और अपरिच्छिन्न (सर्वग) हूँ ॥ १ ॥

यथात्मबुद्धिचाराणां साक्षी तद्वत् परेष्वपि।
नैवापोढुं न चाऽऽदातुं शक्यस्तस्मात्परो ह्यहम् ॥२॥

यथेति— **जिस प्रकार अपनी बुद्धि के स्थूल-सूक्ष्मादि देहरूप विषयों का मैं साक्षी हूँ, उसी प्रकार दूसरों के शरीरों में भी मैं उनका साक्षी हूँ। अतः सर्वगत होने के कारण मेरा ग्रहण या त्याग नहीं किया जा सकता, अतएव मैं समस्त प्रपञ्च से विलक्षण परमात्मा ही हूँ ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को सर्वज्ञ (सर्वार्थप्रकाशक) कहा गया है, किन्तु वह कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि अन्य पुरुष की बुद्धि में स्थित वस्तु (विषय) की उपलब्धि या स्मरण किसी अन्य पुरुष को होना कभी संभव नहीं, अतः एक आत्मा में सब की बुद्धियों की अध्यक्षता का कथन संगत नहीं है। कल्पना किये हुए (कल्पित) आत्मीय संघात में बुद्धि ओर उसकी वृत्तियों का जिस प्रकार मैं साक्षी हूँ, उसी प्रकार परकीयत्वेन कल्पित संघात में भी तत्तद् बुद्धि और उनकी वृत्तियों का-मैं ही साक्षी हूँ, क्योंकि भिन्न-भिन्न साक्षी के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अभिप्राय यह है कि आत्मा के साथ बुद्धि का संबंध सर्वव्यवहारप्रवर्तक होने के कारण है। ऐसी आत्मबुद्धि (आत्मसंबन्धिनी बुद्धि) का प्रचार (चार) जिनमें है, ऐसे उन अध्यात्म, अधिदैवरूप स्थूल, सूक्ष्म देहों (आत्मबुद्धिचारों) का साक्षी (स्फोरक) जैसे मैं हूँ, वैसे ही परकीय बुद्धिचारों का भी मैं ही साक्षी हूँ। यही अभिप्राय श्रुति से भी अवगत होता है कि एकमात्र चिदेकरस मुझ आत्मा में ही समस्त प्रमातृतद्बुद्धितत्प्रचारगोचर प्रपञ्च कल्पित किया गया है, इस कारण मुझे 'सर्वज्ञ' समझना ठीक ही है। इस प्रकार से जब कि मैं सर्वसाक्षी होने के कारण और सर्वाधिष्ठान होने के कारण सर्वज्ञ और सर्वगत हूँ, अतः उसका अपोह (निराकरण) करना उचित नहीं है, अर्थात् 'यह इसका द्रष्टा नहीं है, यहाँ वह नहीं है, ऐसा निराकरण करना किसी के द्वारा भी संभव नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान या क्रिया के द्वारा मुझे प्रकाशित करना या उत्पन्न करना भी संभव नहीं है। क्योंकि मैं ग्राह्य-ग्राहकादि प्रपञ्च से विलक्षण हूँ, अर्थात् हानोपादानादि समस्त सांसारिक व्यवहार के परे हूँ। इसलिये मैं पर (परमात्मा) ही हूँ, क्योंकि भेद की निन्दा शास्त्रा में की गई है ॥ २ ॥

विकारित्वमशुद्धत्वं भौतिकत्वं न चात्मनः ।
अशेषबुद्धिसाक्षित्वाद्, बुद्धिवच्चाल्पवेदना ॥३॥

विकारित्वमिति—**आत्मा में विकारित्व, अशुद्धत्व तथा भौतिकत्व नहीं है। तथा समस्त बुद्धियों का साक्षी होने से उसमें बुद्धि के समान अल्पज्ञता भी नहीं है ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

बुद्ध्यारूढ़ (बुद्धिगत) समस्त विषयों को यदि वह क्षेत्रज्ञ प्रकाशित करता है, तो उसे दर्शनक्रिया का कर्ता कहना होगा। कर्ता होने से उसमें विकारित्वादि दोषों का होना अपरिहार्य है, तब तो उसे 'अनात्मा' ही कहना होगा। किन्तु ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धि की तरह उसमें सावयवत्व न होने से उसे विकारी नहीं कह सकते, वह तो समस्त विकारों का साक्षी है। अतएव क्रियागुणयोगित्व (दर्शनक्रियाकर्तृत्व) उसमें न होने से उसकी अशुद्धता का भी निरसन हो जाता है। वह तो सकलगुणक्रियाविशिष्ट वस्तुओं का साक्षी है। उसी तरह रूपरहित होने से उसे भौतिक भी नहीं कह सकते। दूसरी बात यह भी है कि बुद्धि की तरह उस आत्मा में अल्पज्ञान (वेदना) भी नहीं है। जैसे बुद्धि को बुद्धि और उसके संसर्गादिविषयों का ही ज्ञान रहता है, वैसा आत्मा को उतना ही सीमित ज्ञान नहीं है। वह तो अशेष (समस्त) बुद्धियों का साक्षी है, इतना ही नहीं, उसके समस्त विकारों का भी वह साक्षी है। एवंच आत्मा में विकारित्व, सगुणत्व, भौतिकत्व और बुद्धि की तरह अल्पद्रष्टृत्व नहीं है। तात्पर्य यह है कि अशेष विकारों का साक्षी होने से विकारित्व नहीं, अशेष अशुद्धियों का साक्षी होने से अशुद्धत्व नहीं, उसी तरह सगुणत्व, सदोषत्व भी नहीं है। समस्त भौतिक पदार्थों का साक्षी होने से वह भौतिक भी नहीं है। सर्व बुद्धियों का साक्षी होने से बुद्धि की तरह अल्पज्ञ भी नहीं है ॥ ३ ॥

मणौ प्रकाश्यते यद्वद्रक्ताद्याकारताऽऽतपे ।
मयि संदृश्यते सर्वमातपेनेव तन्मया ॥४॥

मणाविति—**जिस प्रकार स्फटिक में लालिमा की प्रतीति सूर्य के प्रकाश में होती है, उसी तरह मेरी विद्यमानता में ही बुद्धिस्थ सम्पूर्ण विषय प्रकाशित होते रहते हैं ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यह क्षेत्रज्ञ आत्मा, बुद्धि की तरह अल्पज्ञ नहीं है, यह बताया। जबकि क्षेत्रज्ञ, बुद्धि के समस्त विषयों का ग्राहक है तब तो उसके लिये कोई कर्तव्य बचा ही नहीं। और उसे द्रष्टा मानने पर उसमें विकारित्व तो अर्थात् प्राप्त होता है। निष्कर्ष यह है कि यदि आत्मा को निर्विकार ही मानें तो वह सर्वार्थप्रकाशक कैसे कहा जा सकता है ? इस आशंका का समाधान एक दृष्टान्त के द्वारा करते हुए 'निर्विकार' ही सर्वार्थ प्रकाशक हो सकता है यह बता रहे हैं। जैसे स्फटिकमणि में जपापुष्परूप रक्ताकारता के न रहने पर भी, वह सूर्य के प्रकाश में ही अभिव्यक्त होती है, वैसे ही सूर्यस्थानापन्न मुझ क्षेत्रज्ञ के विद्यमान रहने पर ही स्फटिकमणि के स्थानापन्न बुद्धि में जपापुष्प-रक्तता आदि के स्थानापन्न सम्पूर्ण विषय दिखलाई पड़ता है। तस्मात् आतप के समान निष्प्रकम्प मेरे द्वारा ही सब कुछ प्रकाशित किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि सूर्यप्रकाश से लालिमा (रक्ताकारता) की प्रतीति की तरह बुद्धिस्थ सम्पूर्ण विषय क्षेत्रज्ञ के द्वारा ही प्रकाशित होने योग्य हैं। अतः क्षेत्रज्ञ का होना आवश्यक है। अतः बुद्धि की तरह वह विकारवान् नहीं है। उसके द्रष्टृत्व को सुनकर उसमें विकारित्व की शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्य के समान कुछ बिना किये ही अपने व्यापार के बिना ही केवल अपनी सन्निधिमात्र से ही उसमें सर्वविषयप्रकाशकत्व संगत हो जाता है। यदि कदाचित् द्रष्टृत्व के कारण उसके विकारी होने की आशंका से 'बुद्धि' को ही द्रष्ट्री कहें तो वह उचित न होगा। इस रीति से बुद्धि को द्रष्ट्री न मानने पर उसका (बुद्धि का) उपयोग (आवश्यकता) ही क्या है ? यह शंका होना स्वभाविक है, किन्तु उसका समाधान यह है कि 'चैतन्य' में विषयविशेष का आकार देने के लिये उसका (बुद्धिका) उपयोग होता है ॥ ४ ॥

---

१. स्वाल्प.—पाठान्तरम् ।

बुद्धौ दृश्यं भवेद्बुद्धौ सत्यां नास्ति विपर्यये।
द्रष्टा यस्मात्सदा द्रष्टा तस्माद्द्वैतं न विद्यते ॥ ५ ॥

बुद्धाविति—**बुद्धि के रहने पर ही बुद्धि में दृश्य की प्रतीति होती है। उसके न रहने पर नहीं होती, किन्तु साक्षी आत्मा तो सर्वदा ही साक्षी रहता है। इस कारण 'द्वैत' की सत्ता नहीं है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अब प्रत्यगात्मा की अद्वितीयता को बताते हुए उसकी शुद्धता को बता रहे हैं। जाग्रत् (जागरित) अवस्था में अविद्या के द्वारा कल्पित (अध्यस्त) उस बुद्धि में आरुढ़ हुआ दृश्य ही द्वैतरूप में भासित होता है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के न रहनेपर (अविद्या के द्वारा बुद्धि के अध्यस्त न रहनेपर) वह द्वैतरूप दृश्य नहीं रहता है। अर्थात् द्वैत की सत्ता नहीं रहती। इस व्यभिचार के कारण द्वैत की सत्ता वास्तविक नहीं है। किन्तु साक्षी सभी अवस्थाओं में सर्वदा द्रष्टा ही रहता है, दृश्य की तरह उसकी सत्ता कभी व्यभिचरित नहीं होती। एवंच प्रत्यगात्मा की सत्ता से प्रकाशमानत्व का कहीं व्यभिचार नहीं है। और प्रकाशमानता के साथ व्यभिचार होनेपर 'सत्ता' का होना कभी संभव नहीं हो सकता। तस्मात् सर्वदा प्रकाशमान न होने के कारण द्वैत की सत्ता वास्तविक नहीं है, किन्तु नित्य, शुद्ध, अद्वितीय प्रत्यगात्मा (प्रत्यक् चैतन्य) ही सर्वदा विद्यमान है ॥ ५ ॥

अविवेकात् पराभावं यथा बुद्धिरवैत्तथा।
विवेकात्तु परादन्यः स्वयं चापि न विद्यते ॥ ६ ॥

अविवेकादिति—**जिस प्रकार अविवेक के कारण बुद्धि को परात्मा के अभाव की प्रतीति होती थी, उसी प्रकार अब विवेक हो जाने पर उस परात्मा से भिन्न वह बुद्धि स्वयं भी नहीं रहती ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अविद्या से द्वैत की प्रतीति होती है और विद्या से द्वैत की प्रतीति नहीं होती, यह बता चुके; उसी तरह आत्मा के साथ उनका (विद्या, अविद्या का) संसर्ग न होने से प्रत्यगात्मा की शुद्धता में कोई हानि नहीं है। किन्तु वह विद्या और अविद्या साभास बुद्धि की ही हैं। द्वैत की वास्तविक सत्ता न होने से द्वैतसंसर्गकृत 'अशुद्धता' आत्मा में नहीं है, तथापि विद्या-अविद्या के सम्बन्ध होने से आत्मा में अशुद्धि हो सकती है। अविवेक उसे कहते हैं कि जहाँ भेद (विवेक) की प्रतीति (ज्ञान) नहीं हो पाती, जैसे अनात्मा (देह आदि) में आत्माभिमान (आत्मबुद्धि), अर्थात् विपर्ययज्ञान। इस अविवेक (मिथ्या ज्ञान) के कारण असंसारी तथा सर्वसाक्षी होने के कारण अनात्मवर्ग से भिन्न उस 'पर' आत्मा के अभाव (असत्त्व) को रजस्तमोगुण की अधिकता के कारण बुद्धि ने समझा था, वैसे ही विवेक के हो जाने पर (समस्त अनात्म पदार्थों का निरसन करते हुए आत्मस्वरूप का निर्धारण होनेपर) असंसारी परमात्मा से भिन्न कोई नहीं है। यह जीवात्मा भी उससे भिन्न नहीं है। विवेक के समय 'सत्त्व' का उद्रेक हो जाता है। अतएव श्रवणादि का अनुष्ठान करते हुए ब्रह्मात्मैकत्वविषयक वेदान्तवाक्योत्पन्न उस विवेकज्ञान से परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी उसे दिखाई नहीं देता। अपने कारण सहित वह साभास बुद्धि भी अपना अस्तित्व खो बैठती है, क्योंकि उस समय सभी कुछ प्रत्यग् ब्रह्मरूप हो जाता है। एवञ्च विद्या-अविद्यारूप सम्यग् ज्ञान और भ्रान्तिज्ञान भी बुद्धि के होने के कारण आत्मा में अशुद्धि का गन्ध भी नहीं है ॥ ६ ॥

॥ इति सप्तमं बुद्ध्यारुढप्रकरणं समाप्तम् ॥

मतिविलापनप्रकरणम्

[1]चितिस्वरूपे स्वत एव मे मते रसादियोगस्तव मोहकारितः ।

अतो न किञ्चित्तव चेष्टितेन मे फलं भवेत्सर्वविशेषहानतः ॥१॥

चितीति—**मेरे मत में आत्मा का स्वरूप 'ज्ञान' ही है। उसके साथ रस, रूप आदि विषयों का सम्बन्ध अथवा रागादिनिबन्धन भोक्तृत्वादिसम्बन्ध (हे बुद्धे) तेरे मोह के कारण है। आत्मा में समस्त विशेष धर्मों का अभाव होने से (हे बुद्धे !) तेरी चेष्टाओं का मुझपर कोई परिणाम नहीं हो सकता ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि विद्या (ज्ञान) एवं अविद्या (अज्ञान) को बुद्धिगत (बुद्धि के धर्म) माना जाय, तो सांख्यसिद्धान्त को मान लेने का प्रसंग आवेगा; क्योंकि सांख्यवादी विद्वान्, 'पुरुष' (जीवात्मा) के भोग और मोक्ष के लिये ज्ञान-अज्ञान को बुद्धिगत (बुद्धि के ही धर्म) ही मानते हैं। अतः उक्त सांख्यसिद्धान्त के खण्डनार्थ तथा आत्मा स्वतःसिद्ध ज्ञान-स्वरूप है, यह बताने के लिये 'आत्मा' और 'बुद्धि' के संवादरूप प्रकरण का आरंभ किया जा रहा है। पूर्व प्रकरण में ब्रह्मात्मज्ञान की सिद्धि स्वानुभव के द्वारा बताई थी, उसी को पुनः आत्म-बुद्धिसंवाद के द्वारा बताया जा रहा है, जिससे 'ब्रह्मात्मज्ञान' की दृढ़ता हो जाय ॥ १ ॥

विमुच्य मायामयकार्यतामिह प्रशान्तिमायाह्यसदीहितात् सदा ।

अहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तवत् तथाऽजमेकं द्वयवर्जितं यतः ॥२॥

विमुच्येति—**मैं (आत्मा) सदा ही 'विमुक्तवत्' अर्थात् विमुक्त के समान हूँ, तथा मैं 'एक' अर्थात् सजातीय-भेदरहित और 'अद्वितीय' अर्थात् विजातीयभेदरहित, और अजन्मा अर्थात् जन्मादि समस्त विकाररहित 'ब्रह्म' ही हूँ। अतः (हे बुद्धे !) अपनी समस्त मायामय चेष्टाओं का त्याग कर तू हमेशा के लिये मुझ में (आत्म स्वरूप में) शान्त हो जा, व्यर्थ प्रयास न कर ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

हे बुद्धे ! जब कि तुझ में किसी प्रकार की कोई विशेषता नहीं है, तब तुम्हारी किसी भी चेष्टा से मुझ निर्विशेष (अनाधेयातिशय) पर कोई फल (परिणाम) होना नहीं है। अतः तुम्हारा शांत हो जाना ही उचित है। हे बुद्धे ! तुम्हारी जो चेष्टाएँ हैं, वे सब मिथ्या चेष्टाएँ हैं, क्योंकि वे सब अविद्या के कारण (अविद्यामूलक) हो रहीं हैं। इसलिए उन मिथ्या चेष्टाओं का त्याग कर अपने निरर्थक प्रयास (असत् ईहित) से अब शांत हो जाओ और मुझ प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) में आकर विलीन हो जाओ। मूल में प्रयुक्त 'मायामयकार्यता' (मायामयचेष्टित) और 'असदीहित' शब्दों से 'अविद्यानिबन्धनत्व' (अविद्यामूलकत्व) सूचित किया गया है, अतः सांख्यसिद्धांत के प्राप्त होने का कोई प्रसंग नहीं है। बुद्धि (मन) का लय सत्य-ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में न बताकर प्रत्यागात्मा (जीवात्मा) में क्यों बताया ? यह जिज्ञासा जाग उठती है, उसके समाधानार्थ मूल में ही 'अहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तवत्' कहा गया है कि मैं तो सर्वदा (नित्य) 'ब्रह्म' ही हूँ। जब कि मैं (प्रत्यागात्मा-जीव) ब्रह्म हूँ तब सदैव (हमेशा) ही विमुक्तवत् अर्थात् मुक्त के समान हूँ, क्योंकि मुक्ति तो उसकी होगी, जिसको बन्ध हुआ हो। मुझे बन्ध न होने से मेरी मुक्ति कैसे ? मैं तो बन्ध और मुक्ति दोनों से रहित हूँ। उसी प्रकार मूल में 'अजं एकं द्वयवर्जितं' ये तीन विशेषण 'आत्मा' (अहम्) के दिये गये हैं। इन विशेषणों के उपयोग का विचार करें। 'अजम्' विशेषण तो जन्मादि समस्त विकारों का प्रतिषेध करने के लिए है। 'एकम्' से सदा एकरूपता अथवा सजातीयभेदशून्यता को सूचित किया है। 'द्वयवर्जितम्' से विजातीय-भेदराहित्य को बताया है। अतः मुझ प्रत्यगात्मा में एक होने, (समा जाने-विलीन होने) का तात्पर्य यही है कि 'ब्रह्म' में ही समाजाना। इस प्रकार मन का लय प्रत्यगात्मा में बताने से कोई किसी प्रकार का 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' (मुं० उ० ३।२।७) श्रुतिविरोध भी नहीं है।

---

१. चितिः स्वरूपं०—पाठान्तरम् ।

एक अन्य प्रकार से भी इस श्लोक को लगाया जा सकता है—

हे बुद्धे ! 'असदीहितात्' स्वतः स्वरूपशून्य होने के कारण देह, इन्द्रिय आदि असत् विषयों (असत् विषयों की सहायता) से अभिलषित (ईहित) दृष्ट अथवा अदृष्ट फल प्राप्त करना चाहती हो तो उससे भी शांत हो जाओ, अर्थात् जाग्रत् अवस्था में भी उसके लिए कोई व्यापार (प्रयत्न) न करो। दृष्टादृष्ट फलप्राप्ति के लिये प्रयत्न करना छोड़कर चुपचाप बैठी रहो। इतना ही नहीं, बल्कि तुम अपने स्वरूप (अविद्याजनित बुद्धिरूपकार्यता) का भी त्याग करो। और 'मायां अय'-अपनी कारण रूप 'माया' के प्रति जाओ अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाओ। अपने कारण (माया) में जब स्थित हो जाओगी तब पुनः तुम्हें उत्पन्न होने का भय नहीं रहेगा, क्योंकि तदनन्तर 'इह' मेरे स्वरूप में ही प्रविष्ट हो जाओ अर्थात् प्रतप्त लोहे पर पतित उदकबिन्दु की तरह अपनी कार्य-कारणरूपता का त्याग कर मेरे रूप में ग्रस्त हो जाओ। 'अपने मुख में समस्त ब्रह्माण्ड को एक कौर (ग्रास) बनाकर रखने वाली मैं (बुद्धि) जब तुम्हें चलायमान कर दूँगी, तब मैं तुम्हारे द्वारा ग्रस्त कैसे हो पाऊँगी ?' यह शंका भी मत करना, क्योंकि तुम कभी भी मुझे चलायमान नहीं कर सकती। मुझे चलायमान कर देने का तुम्हें केवल भ्रम है। क्योंकि मैं 'अयमात्मा ब्रह्म'— (बृ० उ० २।५।१९) श्रुति के अनुसार सदा ही परं ब्रह्म हूँ। 'विमुक्तवत्' यह ब्रह्म का विशेषण है। यहां स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है। तब अर्थ होगा कि 'मैं नित्य मुक्त ही हूँ' ॥ २ ॥

सदा च भूतेषु समोऽस्मि केवलो यथा च खं सर्वगमक्षरं शिवम्।
निरन्तरं निष्कलमक्रियं परं ततो न मेऽस्तीह[1] फलं तवेहितैः ॥३॥

सदेति—**नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप मैं यच्चयावत् समस्त भूतों में सदा ही समान भाव से स्थित रहता हूँ। तथा आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त, अविनाशी, कल्याणस्वरूप, निरन्तर, निष्कल, निष्क्रिय और परब्रह्मस्वरूप हूँ। अतः हे बुद्धे ! तेरी चेष्टाओं से मुझे कोई फल नहीं होना है ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अजत्वादिप्रतिपादक शास्त्र से यह बताया गया है कि परब्रह्म निर्विशेष (विशेषरहित) होने के कारण नित्य मुक्त (सदा विमुक्त) है, किन्तु प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) तो देहादिकों में अन्वित होने से उसमें विशेषता प्रतीत होती है, ब्रह्म की तरह उसमें निर्विशेषता नहीं है। अतः उस प्रत्यगात्मा में ब्रह्मरूपता का होना कैसे संभव हो सकता है ? निर्विशेष ब्रह्म की तरह यह सविशेष प्रत्यगात्मा नित्य मुक्त कैसे कहा जा सकता है ? अतः ब्रह्म और आत्मा की एकता का होना कभी संभव ही नहीं। किन्तु इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि मैं (प्रत्यगात्मा) तो 'केवल' हूँ, अर्थात् अविद्या और उसके कार्यरूप विशेषणों से रहित हूँ। समस्त भूतों में समभाव से (एक-सा) ही रहता हूँ, अर्थात् उपाधिपरामर्श (उपाधिनिर्देश) किये बिना मुझमें विशेषता का उल्लेख नहीं किया जाता। उपाधि के द्वारा ही मुझे सविशेष कहा जाता है, वास्तव में तो मैं निर्विशेष ही हूँ। अपनी निर्विशेषता में दृष्टान्त 'ख' (आकाश) का दे रहे हैं। आकाश का असंगत्व आदि तो प्रसिद्ध ही है, उसमें किसी को भी सन्देह नहीं है। 'सर्वगम्' आदि का निर्देश ब्रह्म और आकाश दोनों के लिये समान है। जब कि आकाश के समान मैं 'केवल' और समस्त भूतों में समभाव से हूँ, अतः आकाश के स्वभाव से उपमित हुआ और सर्वगम् आदि विशेषणों वाला परब्रह्म ही मैं हूँ। इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का उपपादन करने का परिणाम यह है कि बुद्धि की चेष्टाओं का मुझपर कोई प्रभाव नहीं है ॥ ३ ॥

अहं ममैको न मदन्यदिष्यते तथा न कस्याप्यहमस्म्यसङ्गतः।
असङ्गरूपोऽहमतो न मे त्वया कृतेन कार्यं तव चाद्वयत्वतः ॥४॥

अहमिति—**मैं एक हूँ, अपने से भिन्न कुछ भी मुझे इष्ट नहीं है, तथा असंग होने के कारण मैं किसी के भी अधीन नहीं हूँ, मैं असङ्गरूप हूँ, अतः हे बुद्धे ! तेरे किये हुए व्यापारों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है और तू भी तो अद्वय ब्रह्मरूप ही है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

बुद्धि कहने लगी कि हे आत्मन् ! तुम ब्रह्मरूप हो इसलिए मेरी चेष्टाओं का तुम्हें कोई उपयोग न होनेपर भी, तुम्हारे प्रति गुणभूत (अंगभूत) या प्रधानभूत बने हुए किसी तुम्हारे संबंधी को ही मेरी चेष्टा से कदाचित्

१. तवन्य०—पाठान्तरम्।

(कथञ्चित्) कोई उपयोग हो जाय ? इसप्रकार बुद्धि के कहनेपर प्रत्यगात्मा ने उत्तर दिया कि हे बुद्धे ! इस रीति से भी तुम्हारी चेष्टाओं का उपयोग होना संभव नहीं है। क्योंकि मैं एकाकी ही हूँ, वास्तव में मुझ चित्स्वरूप का कोई सजातीत, विजातीय, स्वगतभेद भी नहीं है। अतः न मेरा कोई गुणभूत (अंग) है और न ही कोई प्रधानभूत (अंशी) है, जिसका मैं अंग बनूँ, अर्थात् न मेरा कोई अंग है और न मैं किसी का अंग हूँ। क्योंकि मैं असंगरूप हूँ, इसलिये मुझे तेरी चेष्टाओं से कोई प्रयोजन नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि तुम स्वयं भी तो नहीं हो; जब स्वयं तुम ही नहीं, तब तुम्हारी चेष्टाएँ और उनका फल तो दूर ही रहा। तुम तो मेरे स्वरूप (ब्रह्मात्मैक्य) के अज्ञान से कल्पित हो। मेरा स्वरूप ही तो तुम्हारा अधिष्ठान है, उस अधिष्ठान से तुम अतिरिक्त नहीं हो। उपकार्योपकारक भाव (अंगांगिभाव) तो भेद होनेपर (दो वस्तुओं में) होता है, अभेद में (एक वस्तु में) नहीं। इसलिये व्यर्थ की कल्पनाएँ मत करो, शान्त हो जाओ। मुझ प्रत्यागात्मा में तुम्हारा शान्त होना ही उचित है ॥ ४ ॥

फले च हेतौ च जनो विषक्तवान् इति प्रचिन्त्याहमतो विमोक्षणे ।
जनस्य संवादमिमं प्रक्लृप्तवान् स्वरूपतत्त्वार्थविबोधकारणम् ॥५॥

फलेचेति--**सर्वसाधारण अज्ञानी लोग कार्य-कारण रूप (फल-हेतुरूप) संसार में विशेष (अधिक) आसक्त हैं, यह सोचकर उन्हें इस आसक्ति से छुड़ाने के लिये मैंने आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध कराने वाले 'आत्म-बुद्धि संवाद' प्रकरण की रचना की है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पाठकों के मन में यह जिज्ञासा हो सकती है कि भगवत्पूज्यपाद आचार्यचरण तो स्वयं कृतार्थ हैं, तब इस प्रकरणग्रन्थ के लिखने की उन्हें क्या आवश्यकता पड़ी ? उन्हें ख्याति (लोकैषणा) की अपेक्षा (इच्छा) तो थी नहीं। इस जिज्ञासा के समाधानार्थ ही कहा जा रहा है कि स्वानुभवसिद्ध अर्थ के आविष्कारक इस प्रकरणग्रन्थ की रचना में उनकी प्रवृत्ति होने का एकमात्र कारण 'दुखी लोगों को देखकर हृदय में उमड़नेवाली करुणा' ही है, ख्याति (लोकप्रसिद्धि) प्राप्त करना नहीं[1]। यह अज्ञानीवर्ग हेतुफलात्मक संसार में अत्यधिक आसक्त है, यह सोचकर उस अज्ञानीवर्ग को इस संसार (पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्) से मुक्त कराने के लिए 'मत्यात्मसंवाद' रूप ग्रन्थ का प्रणयन (रचना) श्री आचार्यचरण ने किया है। इस संवाद के द्वारा आत्मा के नित्यचैतन्यस्वरूप की ब्रह्मता का सुस्पष्ट बोध हो जाता है। पदार्थविवेक के द्वारा यह संवाद ही आत्मा के स्वरूप में ब्रह्मरूपता का ज्ञान कराने में कारण है। अर्थात् आत्मा और ब्रह्म दोनों का स्वरूप एक ही है। आत्मा और ब्रह्म भिन्न-भिन्न नहीं हैं ॥ ५ ॥

संवादमेतं यदि चिन्तयेन्नरो विमुच्यतेऽज्ञानमहाभयागमात् ।
विमुक्तकामश्च तथा जनः सदा चरत्यशोकः सम आत्मवित्सुखी ॥६॥

संवादमिति--**यदि मनुष्य इस संवाद का निरन्तर चिन्तन करता रहे तो वह अज्ञानरूप महान् भय की प्राप्ति से मुक्त हो सकता है, और तब समस्त कामनाओं से मुक्त हुआ वह मनुष्य सदा शोकरहित, समदर्शी, आत्मज्ञ और सुखी होकर अपने ब्रह्मस्वरूप में ही विचरता (रममाण) रहता है ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की ब्रह्मत्वाधिगति में हेतुभूत यह संवाद है। अतः साध्य-साधनपर्यावर्तलक्षण संसार से मुक्ति की इच्छा करने वाले को इस संवाद का चिन्तन बराबर करते रहना चाहिये, जिससे ब्रह्मात्मज्ञान की प्राप्ति होगी, तब वह जीवित रहता हुआ ही कृतकृत्य हो जायगा। संसाररूप महान् भय के हेतुभूत अज्ञान से छुटकारा पा सकेगा। जब अज्ञानरूप कारण की निवृत्ति हो जायगी तब कार्य की निवृत्ति होना अर्थात् ही सिद्ध है। तब वह बन्धप्रतिभास-रहित होकर जीवित रहता हुआ भी अपने ब्रह्मस्वरूप में विचरण करता हुआ (रममाण रहता हुआ) कृतकृत्य हो जाता है। अतः मुमुक्षु को इस संवाद का अनुसन्धान निरन्तर करते रहना चाहिए ॥ ६ ॥

॥ इति अष्टमम्मतिविलापनप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. नै. सि. १।६]

सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरणम्

सूक्ष्मताव्यापिते ज्ञेये गन्धादेरुत्तरोत्तरम् ।
प्रत्यगात्मावसानेषु पूर्वंपूर्वप्रहाणतः ॥१॥

सूक्ष्मतेति—**गन्धादि से लेकर पूर्व-पूर्व कार्य का त्याग करते हुए प्रत्यगात्मा तक उत्तरोत्तर कारणतत्त्व की सूक्ष्मता और व्यापकता समझनी चाहिये ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जिस ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा की मुक्ति, वेदान्तवाक्योत्पन्न ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति कराते हुए बताई गयी है, वह सर्वान्तर (सबके भीतर) होने से उसकी निरतिशय सूक्ष्मता और व्यापिता इसी ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण के तृतीय श्लोक में 'यथा च खम्' आदि के द्वारा सूचित की गई है, उसी का उपपादन करने के लिए इस प्रकरण का आरंभ किया जा रहा है। यहां 'गन्ध' का अर्थ पृथिवी है। गन्ध (पृथिवी) से लेकर प्रत्यगात्मा तक जितने पदार्थ हैं, उनमें से पूर्व-पूर्व का त्याग करने से उत्तर-उत्तर भाग में सूक्ष्मता और व्यापिता होती है। एवंच सर्वान्तरभाग में स्थित प्रत्यगात्मा में निरतिशय सूक्ष्मता सिद्ध होती है। कार्य में कारणस्वरूप के रहने पर भी वह कार्य के आकार से तिरोहित रहने से स्वरूपतः उसका भान नहीं होता इसलिए उसे सूक्ष्म कहते हैं। कार्य के परिमाण से न्यूनपरिमाण होने के कारण 'सूक्ष्म' नहीं कहा जाता। तथा समस्त स्वविकारों में जो अनुगत रहता है, उसी को उपादान कारण कहते हैं। एवंच कार्य की अपेक्षा कारण अधिकदेशवृत्ति होने से उसे व्यापक कहा जाता है। और कार्य न्यूनदेशवृत्ति होने से उसे व्याप्य कहते हैं। एवंच पृथिवी स्वकार्य की अपेक्षा सूक्ष्म और व्यापक है। जल पृथिवी की अपेक्षा सूक्ष्म और व्यापक है। तेज जल की अपेक्षा सूक्ष्म और व्यापक है। वायु तेज की अपेक्षा सूक्ष्म और व्यापक है। वायु आकाश से ग्रस्त है, यह प्रसिद्ध ही है। सत्ता और स्फूर्ति से व्याप्त हुए इन सब का अनुभव होता है, अतः सब का उपादान सच्चित् ही है। उसका उपादान कोई नहीं है। अतः उसी की निरपेक्षव्यापकता और निरतिशयसूक्ष्मता है। यह समस्त दृश्यराशि सच्चिन्मात्र से ग्रस्त रहने के कारण उससे पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है। इसलिए उसी की परमसूक्ष्मता और व्यापिता का निश्चय कर 'वह असङ्ग, कूटस्थ, अद्वय मैं हूँ' ऐसा चिन्तन सदा करते रहना चाहिए ॥ १ ॥

शारीरा पृथिवी तावद्यावद्बाह्या प्रमाणतः ।
[1]अम्ब्वादीनि च तत्त्वानि तावज्ज्ञेयानि कृत्स्नशः ॥२॥

शारीरेति—**बाह्य पृथिवी का जितना प्रमाण है, उतना ही प्रमाण शरीरसम्बन्धिनी पृथिवी का भी है, उसी प्रमाण में जलादि तत्त्वों को भी समझना चाहिये, अर्थात् वे भी बाह्य जलादि के अनुसार उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और व्यापक हैं ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपरिनिर्दिष्ट आत्मस्वरूप का ज्ञान ऊपर किये गये वर्णन के अनुसार होना कठिन है, क्योंकि अध्यात्म और अधिदैवत में भिन्न-भिन्न पृथिवी है। जितना परिमाण (प्रमाण) बाह्य पृथिवी का है, उतना ही शारीरा (अध्यात्म) पृथिवी का परिमाण समझना चाहिये। उसी तरह जल आदि चारों भूतों का भी उतना-उतना ही परिमाण जानना चाहिये, जितना शारीरा और बाह्या पृथिवी का हो। निष्कर्ष यह है कि अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव रूप में विभक्त हुए पृथिवी आदि सब एक ही अज्ञान से विजृम्भित (उत्पन्न) हैं। अतः सब का प्रविलापन एक ही प्रयत्न से हो सकता है। सबमें प्रत्यक्तत्त्व एक-सा अनुगत है, अतः सबका प्रत्यगात्मा में विलीन होना ही उनका अध्यात्मादिरूप है, उसी से वे सब व्याप्त हैं, उससे कोई पृथक् नहीं है, इस रीति से प्रत्यक्तत्त्व का अवधारण करने पर बाह्य, आध्या-

१. अम्बादी०—पाठान्तरम् ।

त्मिक आदि भेद के स्फुरण के लिए कोई अवसर ही नहीं रहता, केवल प्रत्यगात्म-ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। अतः पूर्व कही गई आत्मतत्त्वज्ञान की सिद्धि अवश्य ही होती है ॥ २ ॥

वाय्वादीनां यथोत्पत्तेः पूर्वं खं सर्वगं तथा ।
अहमेकः सदा [1]शुद्धश्चिन्मात्रः सर्वगोऽद्वयः ॥३॥

वाय्वादीनामिति—**जिस प्रकार वायु आदि की उत्पत्ति से पूर्व सर्वगत आकाश ही था, उसी प्रकार 'मैं' (आत्मा) एक, सर्वदा, शुद्ध, या सर्वस्वरूप, चिन्मात्र, सर्वत्र व्याप्त एवं अद्वितीय हूँ ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में अध्यात्म-अधिदैवत ज्ञान की प्रत्यगात्मावसानता बताई किन्तु वह कैसे संभव हो सकेगी ? क्योंकि पराचीन विकार (बाह्य पदार्थ) की अपेक्षा, प्रत्यक्त्व को रहती है। अर्थात् 'बाह्य और अन्तः' दोनों शब्द परस्पर-साकांक्ष हैं। अतः परागर्थ (बाह्य पदार्थ) के अभाव में (न रहने पर) आत्मा से प्रत्यक्त्व (भीतरीपना) और सर्वगतत्व का होना कैसे संभव होगा ? अर्थात् पराक् (बाह्य) पदार्थों की प्रत्यगात्मावसायिता कैसे कही जा रही है ? प्रत्यगादि शब्द लक्षणा के द्वारा अपूर्वादिलक्षण चिन्मात्रस्वरूप को ही बताते हैं। लक्षणा करते समय आरोपित पराक् अर्थ की अपेक्षा रहने पर भी चिन्मात्रस्वरूप को तो किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती, अतः सबका प्रत्यगात्मा में अवसान (पर्यवसान) होना जो बताया गया है, वह उचित ही है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने वायु के दृष्टान्त से समझाया है। एवंच अध्यात्मादि ज्ञान का प्रत्यगात्मा में अवसान होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ३ ॥

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये प्राणिनो मम पूः स्मृताः ।
कामक्रोधादयो दोषा जायेरन्मे कुतोऽन्यतः ॥४॥

ब्रह्माद्या इति—**ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक जितने भी प्राणी हैं, वे सब मेरे ही शरीर कहे गये हैं। ऐसी स्थिति में किसी अन्य के द्वारा मुझमें काम-क्रोधादि दोष कैसे उत्पन्न हो सकेंगे ? ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जिज्ञासा यह होती है कि जब आकाश की तरह एक ही आत्मा है तब उसे सर्वात्मा कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा के होने का सभी को अनुभव है, इसलिए 'आत्मा' को एक कहना उचित नहीं है। अपितु ब्रह्मादि भेद से 'आत्मा' को अनेक कहना ही उचित प्रतीत होता है। उसी तरह 'तुम (आत्मा) चिन्मात्र हो' यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि राग-द्वेषादि दोषों के संसर्ग की उपलब्धि होती है। इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि समस्त भुवनों के सम्पूर्ण प्राणी मुझ चिदात्मा के ही शरीर (पूः) हैं, यह निर्णय कर दिया गया है। उसी तरह काम-क्रोधादि दोष मेरे (आत्मा के) स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि व्यभिचार दिखाई देता है। परतः (किसी दूसरे से) मुझ आत्मा में वे प्राप्त होते हों, यह कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं ॥ ४ ॥

भूतदोषैः सदाऽस्पृष्टं सर्वभूतस्थमीश्वरम् ।
नीलं व्योम यथा बालो दुष्टं मां वीक्षते जनः ॥५॥

भूतदोषैरिति—**जो भूतों के दोषों से हमेशा अस्पृष्ट है, उस समस्त भूतों के अन्तर्यामी मुझ ईश्वर को लोग उसी प्रकार दोषयुक्त देखते हैं—जैसे बालक आकाश को नीलवर्ण से युक्त देखते हैं ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जबकि प्रत्यगात्मा में संसार के दोष प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तब उसकी निर्दोषता कैसे कही जा सकती है ? आकाश की कृष्णता का प्रत्यक्ष जैसे भ्रम है वैसे ही आत्मा में दोषदर्शन भी भ्रम है। समस्त भूतों में मैं स्थित हूँ,

---
१. सर्व०—पाठान्तरम् ।

तथापि उनके दोषों का मुझे स्पर्श तक नहीं है, क्योंकि मैं ईश्वर हूँ। मूल में (सर्वभूतस्थमीश्वरम्) 'ईश्वर' शब्द का विशेषण के रूप में प्रयोग किया है, इस विशेषण को हेत्वर्थक समझना चाहिए। अर्थात् यह (आत्मा) सबका ईशिता (कारण) है, एवंच कार्य के धर्मों से कारण हमेशा अस्पृष्ट रहता है ॥ ५ ॥

मच्चैतन्यावभास्यत्वात्सर्वप्राणिधियां सदा ।
पूर्मम प्राणिनः सर्वे सर्वज्ञस्य विपाप्मनः ॥६॥

मच्चैतन्येति—समस्त प्राणियों की बुद्धियाँ मेरे चैतन्य भाव (चित्स्वरूप) से ही प्रकाशित होती हैं। अतः सम्पूर्ण प्राणी मुझ पापरहित सर्वज्ञ के ही शरीर हैं ॥ ६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यह जो कहा गया था कि ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक समस्त प्राणी एक आत्मा के ही शरीर हैं; परन्तु आत्मा, जबकि समस्त दोषों से रहित है, तो उसे पुण्य-पापरहित कहना होगा, अर्थात् वह (आत्मा) तो सर्वावभासक (सर्वज्ञ) है, अतएव वह दृश्य-दोषसंसर्गरहित (विपाप्मा) भी है। उस स्थिति में सब प्राणियों को उस आत्मा का शरीर कैसे समझा जाय ?

उक्त शङ्का का समाधान श्रुति ने कर दिया है कि सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धियों का अन्तःसाक्षी होकर प्रकाशमान जो चैतन्य (ज्योति) है, वही सम्पूर्ण प्राणियों की 'आत्मा' है[1]। उस (आत्मा) का निरूपण अनेक बुद्धियों और उसमें स्थित आभासों के बिना हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा का स्वरूपतः भेद कहीं नहीं कहा गया है। जैसे जलपात्र और तद्गत आभास के बिना सूर्य का निरूपण नहीं किया जा सकता। इससे यह निश्चित होता है कि ये संपूर्ण भूत एक ही आत्मा के शरीर हैं। बृहदारण्यक श्रुति ने भी उक्त अभिप्राय का समर्थन किया है[2] ॥ ६ ॥

जनिमज्ज्ञानविज्ञेयं स्वप्नज्ञानवदिष्यते ।
नित्यं निर्विषयं ज्ञानं तस्माद्द्वैतं न विद्यते ॥७॥

जनिमदिति—जो वस्तु उत्पन्न होती है और ज्ञान का विषय बनती है, उसे स्वप्नज्ञान के तुल्य मिथ्या जानना चाहिये, क्योंकि वास्तविक (पारमार्थिक) ज्ञान तो नित्य और निर्विषय होता है। अतः द्वैत नहीं है ॥ ७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मचैतन्य से प्रकाशित होनेवाले प्राणी तथा उनकी बुद्धियों की सत्ता रहने के कारण 'आत्मा' का अद्वितीयत्व (अद्वैत) कैसे कह सकते है ? अर्थात् भास्य और भासक का भेद स्पष्ट प्रतीत होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। जो उत्पत्तिमान् और जो ज्ञान से जाना जाता है अर्थात् ज्ञान से विज्ञेय होता है, अर्थात् जो कार्य हो और जड़ हो, वह मिथ्या होता है, जैसे स्वप्नज्ञान। वैसे ही जाग्रत वस्तु भी कार्य है और दृश्य भी है, इसलिए वह मिथ्या है। क्योंकि द्वैत की वस्तुतः सत्ता नहीं है। जबकि द्वैत की वास्तविक सत्ता ही नहीं है, तब किसी ज्ञेय के न रहने से ज्ञान ही नित्य है और सदा निर्विषय है अर्थात् वह (ज्ञान) विषय से निरूप्य नहीं होता। अध्यारोपित द्वैत से पारमार्थिक अद्वैत का बाध नहीं होता है, जैसे आरोपित जल आदि से उसकी आधारभूत भूमि को सद्वितीय नहीं कहा जाता ॥ ७ ॥

ज्ञातुर्ज्ञातिर्हि नित्योक्ता सुषुप्ते त्वन्यशून्यतः ।
जाग्रज्ज्ञातिस्त्वविद्यातस्तद्ग्राह्यं चासदिष्यताम् ॥८॥

ज्ञातुरिति—ज्ञाता (द्रष्टा आत्मा) का ज्ञान (दृष्टि) तो नित्य बताया गया है। क्योंकि सुषुप्ति में द्रष्टा (ज्ञाता) से भिन्न दृश्य (ज्ञेय) का अभाव रहता है, किन्तु उस समय भी ज्ञाता (द्रष्टा) का अभाव नहीं होता। जाग्रत् अवस्था का विषयविशिष्ट ज्ञान तो अविद्या के कारण है। अतः उसके विषयभूत पदार्थों को असत् समझो ॥ ८ ॥

---

१. 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'—(बृ. उ. ४।३।७)

२. 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'—(बृ. उ. ३।७।१५)

हृदयस्पर्शिनी

स्वरूपज्ञान भी तो 'ज्ञान' ही है, अतः उसका 'ज्ञेय'सापेक्ष रहना स्वाभाविक है, तब उसे निर्विषय कैसे कहा है ? स्वरूपज्ञान की निर्विषयता और नित्यता को श्रुति ने बताया है। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में विविध करणों का उपरम होने पर भी (किसी अन्य ज्ञेय के न रहने पर भी) तत्साक्षिभूत चैतन्य (ज्ञाता आत्मा) के विद्यमान रहने से उसका (आत्मा का) स्वरूपभूत ज्ञान (ज्ञप्ति) तो रहता ही है, अतएव श्रुति ने भी उसे नित्य कहा है[1]। तथापि पुनः शंका हो सकती है कि सुषुप्ति में विषय के न होने से ज्ञान यद्यपि निर्विषय है और स्वरूपतः उसका नाश न होने के कारण वह नित्य भी है, तथापि सुषुप्ति के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में ज्ञाता का ज्ञान सविषय उपलब्ध होता है, अतः उसे अनित्य कहा जा सकता है। इस आशंका का समाधान ग्रन्थकार करते हैं कि जब भगवती श्रुति स्वयं कह रही है कि 'ज्ञान' निर्विषय और नित्य है, तब कहना होगा कि जाग्रत्कालीन विषय-दर्शनात्मक ज्ञान, अविद्या (भ्रान्ति) ही है, क्योंकि आत्मा, निर्विकार (विकार-रहित) है, अतः उसे ज्ञान का कर्ता नहीं कह सकते, और 'अन्तःकरण' जड़ होने से वह ज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता। अतः सविषय ज्ञान को अध्यस्त ही मानना होगा, और उसके द्वारा ग्राह्य जितना भी विषय है, उसे भी असत् (अपरमार्थ) ही मानना होगा। अर्थात् जागरित अवस्था में उत्पत्तिशील जो ज्ञान और ज्ञेय हैं (ज्ञान-ज्ञेय विभाग है), वे दोनों ही अविद्या के कार्य होने से मिथ्या ही हैं। जागरितादि अवस्थाओं में भी बुद्धि की जो विषयाकार वृत्तियाँ हुआ करती हैं, वे स्फुरण से अवगुण्ठित रहती हैं। समस्त वृत्तियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के साक्षी रूप में किसी एक नित्य स्फुरण को भी अवश्य मानना ही होगा। अतः कहना होगा कि जाग्रत् अवस्था में भी आत्मचैतन्य नित्य ही है। तथा विषयों का स्फुरण, वृत्तिसमकाल में ही होने से, प्रतीत होता है कि विषय का व्यभिचार (अभाव) रहने पर भी स्फुरण का अव्यभिचार रहता है, अर्थात् उसका व्यभिचार (अभाव) नहीं होता, इसीलिए वह (स्फुरण) विषय के द्वारा अनिरूप्य (निरूप्य नहीं) कहा जाता है। इस रीति से 'ज्ञान' की निर्विषयता स्पष्ट हो जाती है। तथा सुषुप्ति में भी करणों (इन्द्रियों) की उपरति की तरह विषय का भी "न तु तद् द्वितीयमस्ति" कहकर श्रुति ने निषेध किया है। अतः सुषुप्ति अवस्था में भी किसी भी विषय का ज्ञान न होने से केवल कूटस्थ ज्ञान ही एकमात्र सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

रूपवत्त्वाद्यसत्त्वान्न वृष्ट्यादेः कर्मता यथा।
एवं विज्ञानकर्मत्वं भूम्नो नास्तीति गम्यते ॥९॥

रूपवत्त्वादीति -- **भूमा (आत्मा) में रूप आदि नहीं हैं (आत्मा रूपवान् न होने से उसमें रूपवत्त्व नहीं है)। रूप के न होने से वह नेत्र आदि का कर्म (विषय) नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह (आत्मा) ज्ञान (विज्ञान) का भी कर्म नहीं हो सकता ॥ ९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि आत्मा में श्रवण-मनन आदि की विषयता को तो श्रुति स्वयं कह रही है[2]। तब दर्शन-श्रवण-मनन आदि क्रियाओं का कर्म होने से उसे दृश्य मानना होगा। ऐसी स्थिति में उसे रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत के समान 'असत्' कहना होगा। किन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि उसे दर्शनादि क्रियाओं का कर्म मानने पर[3] अन्य श्रुति से विरोध होगा। जो रूप आदि से हीन (रहित) होता है, वह दर्शन आदि का विषय नहीं हुआ करता। 'द्रष्टव्यः' इत्यादि में अर्हार्थक 'तव्य' प्रत्यय है, अतएव भगवती श्रुति ने आत्मा में दर्शनादि की अर्हता (योग्यता) को बताते हुए मनुष्य को उनकी अपनी अनात्मप्रवणता को त्यागने के लिए कहा है। द्रष्टव्यादि श्रुति का तात्पर्य आत्मा की

१. 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्।'—(बृ. उ. ४।३।२३)।

२. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—(बृ. उ. २।४।५)

३. 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्'—(क. उ. ३।१५), तथा 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा'—(मुं. उ. ३।१।८)

ज्ञानकर्मता (ज्ञान का कर्म आत्मा है) बताने में नहीं है। तथापि 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादि श्रुति के द्वारा आत्मा के लिए अन्य दर्शनादि का निषेध होने से 'द्रष्टव्यः' श्रुति, आत्मा को दर्शन आदि की अभ्यनुज्ञा दे रही है, यह प्रतीत होता है। अतः आत्मा में दृश्यता प्राप्त होने से अन्य दृश्य विषयों के समान उसका असत्त्व ही क्यों न माना जाय? किन्तु यह शंका ठीक नहीं है। 'यत्र नान्यत् पश्यति' इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य चक्षुरादि के द्वारा भ्रम से होनेवाले अन्यदर्शन आदि की निवृत्ति में है, आत्मा में दर्शनादि की कर्मता के बताने में नहीं है। एवंच 'द्रष्टव्यः' इस श्रुति से जिस प्रकार ज्ञानकर्मता नहीं बन पाई, उसी प्रकार, 'यत्र नान्यत् पश्यति' श्रुति[1] का पूर्व उपन्यस्त श्रुति के साथ विरोध होने के भय से तथा श्रुति का तात्पर्य आत्मदर्शन विधि में होने के कारण भूमा (ब्रह्म) में ज्ञान की कर्मता तो है ही नहीं, यह निश्चय किया गया है। एवंच अविषय, नित्य, भूमा, प्रत्यगात्मा सर्वान्तर सिद्ध हो जाता है॥ ९॥

॥ इति नवमं सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरणं समाप्तम्॥

[1] ...ोति नान्यद्विजानाति स भूमा'—(छा. उ. ७।२४।१)

दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरणम्

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ॐ* ॥१॥

दृशीति—**जो दृशिस्वरूप (चेतनस्वरूप); आकाश जैसा व्यापक है, इन्द्रियादि से परे है, नित्य प्रकाशमान है, अजन्मा है, एक है, अविनाशी है, असंग है, सर्वगत और अद्वितीय है—वही 'मैं' हूँ । अतः सदा मुक्त हूँ, ॐ ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व प्रकरण में आत्मा की निर्विषयज्ञानस्वभावता को युक्ति से सिद्ध किया था, अब इस प्रकरण में उसी को अनुभव के द्वारा प्रकट करते हुए अविषय प्रत्यगात्मा का ज्ञान (आत्मज्ञान) निर्विषय ही होता है, यह बताया जा रहा है। एक बार में ही विस्फुरित होनेवाला अर्थात् स्पष्टरूप से भासमान जो अक्षर ब्रह्म है, वही 'मैं' सदा से हूँ, अतः मैं विमुक्त हूँ। गुरु के द्वारा शिष्य को बताया हुआ जो आत्मस्वरूप है, उसे 'मुमुक्षु शिष्य ने अच्छी तरह समझ लिया है' यह ॐ कार के द्वारा सूचित किया है। एवंच 'ॐ' शब्द स्वीकृति का सूचक है। अथवा आत्मा का उक्त स्वरूप ॐ कार द्वारा मुमुक्षुओं की बुद्धि में अभिव्यक्त होता है—यह बताने के लिए ॐ का निर्देश किया है ॥ १ ॥

दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः ।
पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः †सम्पूर्णभूमा त्वज आत्मनि स्थितः ॥२॥

दृशिस्त्विति—**मैं तो ज्ञानस्वरूप (दृशिः) हूँ, अतएव शुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, वस्तुतः मेरा कोई विषय नहीं है। मैं आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, सभी ओर परिपूर्ण व्यापक रूप हूँ। मैं अजन्मा हूँ, और अपने स्वरूप में ही स्थित हूँ ॥ २॥**

हृदयस्पर्शिनी

'दृशि' (ज्ञानस्वरूप चेतन) को आकाश के समान अलेपक कहा गया था, किन्तु वह संगत नहीं प्रतीत हो रहा है, क्योंकि दृशि का दृश्य के साथ सम्बन्ध रहने से उसमें अशुद्धि और विक्रिया (विकार) होना निश्चित है। किन्तु इस आशंका का समाधान इस श्लोक के द्वारा किया जा रहा है कि 'दृशि' तो आत्मस्वरूप है, उसके नित्य शुद्धत्व आदि का निश्चय श्रुति ने ही कर दिया है। भगवती श्रुति ने क्या बताया है, उसे बताते हैं—मैं तो दृशि अर्थात् ज्ञानस्वरूप हूँ, अतः वस्तुतः (परमार्थतः) शुद्ध हूँ, क्योंकि अशुद्धि तो अज्ञान से होती है अर्थात् वह तो अज्ञाननिबन्धन है, और अज्ञान, आभासरूप है यह हमें[1] मन्त्रवर्ण से ज्ञात होता है। दूसरा कारण यह है कि वह (आत्मा) विक्रियात्मक (विकाररूप) प्राणादिकों से अन्य (अतिरिक्त) है, अर्थात् अविक्रियात्मक है। इसी अभिप्राय को श्रुति ने भी कहा है[2]। अतः इसकी (आत्मा की) शुद्धता में कोई किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। परमार्थतः (स्वभावतः) आत्मा के साथ विषय का भी सम्बन्ध (विषयसंसर्ग) नहीं है, इस कथन से यह ज्ञात होता है कि विकार के हेतुभूत विषयों के न होने से भी वह (आत्मा) अविक्रिय (विकाररहित) है। श्रुति[3] ने भी इसी अभिप्राय का समर्थन किया है। विषय के न होने से उस आत्मा की अद्वयरूपता को छान्दोग्य के भूमवाक्यांश में इस प्रकार कहा है[4]—आत्मा का स्वरूपावस्थान किसी के अधीन नहीं है अर्थात् स्वतंत्र है, ऐसा उपन्यास (आरंभ) करके उसी के उपपादनार्थ यह बताया कि पूर्वादि विभाग

---

* शिवगीता—१।७ से तुलना की जा सकती है।

† सुपूर्ण०—पाठः मुक्ति० उप० (२।७४)

१. 'शुद्धमपापविद्धम्'—(ई. उ. ८)

२. 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'—(मुं. उ. २।१।२), तथा 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'—(बृ. उ. ३।८।८)

३. 'न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन'—(छां उ. ७।२४।१)

४. 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि ।'—(छां. उ. ७।२५।२)

तथा अधरोत्तरादि भेद से जो भी उपलब्ध हो रहा है, वह सब 'भूमा' ही है। तब यह शंका हो सकती है कि देह से लेकर बुद्धि तक जो भी अहंकारास्पद है, वह 'भूमा' (ब्रह्म) से भिन्न है। किन्तु इस शंका का समाधान बीच में ही कर दिया कि अहंबुद्धिग्राह्य भी 'भूमा' ही है। इदम्-अनिदम् जो भी है, वह सब भूमा ही है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब भूमा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तब भेदक के न रहने से 'प्रत्यगात्मा' ही भूमा है, इस रीति से 'आत्मैवेदं सर्वम्'[1] यहाँ तक के अंशद्वारा छान्दोग्य में सम्पूर्ण को भूमा ही बताया गया है। मैं अपनी महिमा में (आत्मा में) ही स्थित रहता हूँ अर्थात् किसी अन्य के अधीन नहीं हूँ, अतः 'मैं' अज (आविर्भावरहित) हूँ ॥ २ ॥

अजोऽमरश्चैव तथाऽजरोऽमृतः स्वयंप्रभः सर्वगतोऽहमद्वयः ।
न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैकतृप्तश्च ततो विमुक्त ॐ ॥३॥

अज इति—**मैं जन्म रहित (अजन्मा), अमर, अजर, अमृत, स्वयम्प्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय हूँ। मैं किसी का कारण नहीं हूँ और किसी का कार्य भी नहीं हूँ, अपितु अत्यन्त निर्मल और सर्वदा एकमात्र निजानन्द से ही तृप्त हूँ, अतः मैं मुक्त हूँ, ॐ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को अज (जन्मरहित) बताया गया है, तथापि उसे जरा आदि अन्य विकार हो सकते हैं। इस आशंका के समाधानार्थ अनेक श्रुतियों के सहारे ग्रन्थकार ने उसे कूटस्थ, अद्वयस्वरूप बताया है। अत एव उसमें जन्म, जरा आदि कोई विकार नहीं हो पाते। उसकी अजता, अमरता, अजरता, अमृतता, स्वयम्प्रकाशता, सर्वगतता और अद्वयता इन सबके मूल में श्रुतियाँ हैं[2]। इन श्रुतियों के निर्मल, एकतृप्त और विमुक्त आदि अर्थ को ग्रन्थकार ने श्लोक के[3] उत्तरार्ध में ग्रथित कर दिया है। वह प्रत्यगात्मा सदा निर्मल है, सदा एकतृप्त है और सदा विमुक्त है। आचार्य के द्वारा जो मेरा स्वरूप बताया गया, वह ठीक वैसा ही है, ऐसी स्वीकृति 'ॐ' कहकर शिष्य दे रहा है ॥ ३ ॥

सुषुप्तजाग्रत्स्वपतश्च दर्शनं न मेऽस्ति किञ्चित्तु मतेर्हि मोहनम् ।
स्वतश्च तेषां परतोऽप्यसत्त्वतस्तुरीय एवास्मि सदादृगद्वयः ॥४॥

सुषुप्तेति—**सुषुप्ति, जाग्रत्, स्वप्न इन तीनों अवस्थाओं में रहते हुए भी मेरा अपना कोई व्यावहारिक दर्शन नहीं है, अर्थात् तीनों ही अवस्थाओं में मैं किसी दृश्य को प्रकाशित नहीं करता। 'मैं दृश्य को प्रकाशित कर रहा हूँ'—यह तो केवल मोहमात्र है, क्योंकि उन दृश्य पदार्थों की स्वतः या परतः किसी प्रकार की भी सत्ता नहीं है। अतः 'मैं' सदा ही साक्षीस्वरूप अद्वितीय तुरीय ही हूँ ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यह दृशिस्वरूप आत्मा सुषुप्ति, जाग्रत्, स्वप्न तीनों अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से जब कि प्रतीत होता रहता है, तब उसे विकाररहित कैसे कहा जा सकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि तीनों अवस्थाओं के

1. 'आत्मैवेदं सर्वम्'—(छां. उ. ७।२५।२)
2. 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'—(कठ. उ. २।१८), 'स वा एष महानज आत्मा'—(बृ. उ. ४।४।२२), 'अजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म'—(बृ. उ. ४।४।२५), 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'—(बृ. उ. ४।३।९), 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः'—(मुं. उ. १।१।६), 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्'—(मुं. उ. २।२।९), 'एको देवः'—(श्वे. उ. ६।११), 'एकमेवाऽद्वितीयम्'—(छां. उ. ६।२।१) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'—(बृ. उ. २।५।१९)
3. 'न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैकतृप्तश्च ततो विमुक्त ॐ ॥ ३ ॥
   निर्मलः—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'—(मुं० उ. ३।१।३)
   एकतृप्तः—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'—(तै. उ. २।९)
   अमृत—'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति'—(मुं. उ. २।२।७)
   विमुक्त—'विमुक्तश्च विमुच्यते'—(कठ. उ. ५।१)

साक्षी के रूप में रहने वाले मेरी (मुझ आत्मा की) अपनी-सी (आत्मीय-सी) या मेरे स्वरूप जैसी (आत्मीयमिव या स्वरूपभूतमिव) व्यावहारिक वस्तु कोई भी नहीं दिखाई देती। फिर भी व्यवहार में (जाग्रत् आदि अवस्था में) जो वस्तु मेरी आत्मीय-सी या मत्स्वरूप-सी प्रतीत होती रहती है, वह सब अविद्या (अविवेक या मोहन) से आरोपित (अध्यारोपित) है। क्योंकि जाग्रदादि अवस्थारूप या जाग्रदादि अवस्थाओं में दिखाई देनेवाली वस्तुओं की सत्ता न स्वतः है और न परतः ही है। अर्थात् उन वस्तुओं की सत्ता (सत्त्व) और उनका स्फुरण स्वयं हो नहीं सकता (अन्य-निरपेक्ष सत्त्व संभव नहीं), वह तो आगमापायी (उत्पाद-विनाशशील) है, अतः रज्जु-सर्प की तरह उसे (सत्ता-स्फुरण को) आरोपित ही समझना होगा। दृश्य वस्तुओं की सत्ता और स्फुरण को परतः भी नहीं कह सकते, क्योंकि इन जड़ (दृश्य) वस्तुओं से 'पर' एकमात्र 'चैतन्य' को ही कहना होगा। तब उस चैतन्य के रूप में इन वस्तुओं की सत्ता और स्फूर्ति तो हो नहीं सकती, क्योंकि दोनों के स्वभाव परस्परविरुद्ध हैं, अर्थात् 'चैतन्य' प्रत्यक् है और 'जड़ वस्तु' पराक् है। इस प्रकार विरुद्ध स्वभाव वालों का तादात्म्य (एकाकार) होना कभी संभव ही नहीं है। उनका तादात्म्य समझना केवल भ्रम ही है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में भासित होने वाले प्राज्ञ, तैजस और विश्व ये मत्स्वरूपभूत (मेरे स्वरूप) नहीं हैं। मेरा स्वरूप तो 'तुरीय' है, क्योंकि विश्वादि तीनों की अपेक्षा परे (अतिरिक्त) हूँ, इसीलिये मुझे 'तुरीय, (चतुर्थ) कहते हैं। विश्व आदि तो केवल अपनी-अपनी अवस्थाओं के द्रष्टा (दर्शक) हैं, और 'मैं' सभी अवस्थाओं का द्रष्टा हूँ, इसलिये उनसे अतिरिक्त हूँ। स्थूल-सूक्ष्म के क्रम से विचारने पर विश्व आदि के तीनों स्थानों को भी पार करके यह रहता है इसीलिये इसे 'तुरीय' शब्द से कहा गया है। वस्तुतः इसमें 'तुरीयत्व' नहीं है, अर्थात् इसके अतिरिक्त तीन हैं, उनके अनन्तर होने से यह चौथा (तुरीय) है, यह नहीं समझना चाहिये। क्योंकि इसे 'अद्वय' कहते हैं, अर्थात् यह 'आत्मा' सदा निर्विशेष ही है॥ ४॥

शरीरबुद्धीन्द्रियदुःख[1] सन्ततिर्न मे न चाहं मम निर्विकारतः।
असत्वहेतोश्च तथैव सन्ततेरसत्त्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत् ॥५॥

शरीरेति—**शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय और दुःखपरम्परा (दुःखसन्तति) का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मैं तत्स्वरूप हूँ, क्योंकि मैं विकाररहित (निर्विकार) हूँ। वह दुःखपरम्परा तो सोये हुए मनुष्य के स्वप्नजनित दृश्य के समान है। जैसे स्वप्नजनित दृश्य की कोई सत्ता नहीं, वैसे ही शरीरादि दुःखपरम्परा की भी कोई सत्ता नहीं है। अतः उसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है॥ ५॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में आत्मा की निर्विशेषता को 'अद्वय' शब्द से बताया गया था, किन्तु वह संगत नहीं हो पा रहा है, क्योंकि उससे शरीर आदि का सम्बन्ध सबके प्रत्यक्ष है। इस शंका का समाधान इस श्लोक के द्वारा कर रहे हैं। वास्तव में यह शरीरादि परंपरा (सन्तति) न मत्स्वरूप है और न मेरी ही है। अर्थात् ये सब न मुझ आत्मा के धर्म हैं और न ये मत्स्वरूप (आत्मस्वरूप) ही हैं। क्योंकि मैं तो निर्विकार (विकार रहित) हूँ। अविक्रिय (विकाररहित) वस्तु, आगमापायी (उत्पाद-विनाशशील) शरीरादि के रूप में परिणत या उससे सम्बद्ध नहीं हुआ करती, जिससे उन जड़ वस्तुओं में तत्स्वरूपता (आत्मस्वरूपता) या तद्धर्मता (आत्मधर्मता) हो सके। इन जड़ वस्तुओं की पारमार्थिक (वास्तविक) सत्ता न हो सकने में एक अन्य हेतु भी है—स्वप्नावस्था के दृश्य के समान यह शरीरादि परम्परा भी दृश्य है। अतः स्वप्नदृश्य जैसे मिथ्या, वैसे ही यह शरीर-परम्परा भी मिथ्या समझनी चाहिये॥ ५॥

इदं तु सत्यं मम नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न हि मेऽद्वयत्वतः।
न पुण्यपापे न च मोक्षबन्धने न चास्ति वर्णाश्रमताऽशरीरतः ॥६॥

इदमिति—**यह तो सत्य ही है कि अद्वितीय होने के कारण मुझमें विकार नहीं है, न विकार का कारण ही है, तथा शरीर-रहित होने के कारण मुझमें पुण्य-पाप, मोक्ष-बन्ध तथा वर्णाश्रमधर्म भी नहीं है॥ ६॥**

---

१. सन्ततेर्न०—पाठान्तरम्।

हृदयस्पर्शिनी

शरीरादि परम्परा दृश्य होने से यदि मिथ्या है, तो आत्मा की शुद्धता, अविक्रियता (निर्विशेषता) भी दृश्य होने के कारण मिथ्या क्यों नहीं है ? इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि मुझमें न विकार (विक्रिया) है और न विकारहेतु ही है, क्योंकि मुझे 'अद्वय' कहा गया है, अद्वय (द्वयाभाव) होने के कारण ही 'स्वतः या परतः मुझमें विकार नहीं है' यह कहना यथार्थ ही है। तात्पर्य यह है, कि शंका करने वाले ने आत्मा के शुद्धत्व, अविक्रियत्वादि को मिथ्या सिद्ध करने के लिये जो अनुमान[1] किया है, उसमें 'दृश्यत्व' हेतु ही 'असिद्धि' दोष से युक्त होने से (वह) असद्धेतु है। उस असद्धेतु से आत्मा के शुद्धत्व, अविक्रियत्वादि में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा के विक्रियाभावाद्युपलक्षित स्वरूप में ही अविक्रिय कहने का तात्पर्य है। अतः उसके शुद्धत्वादि में मिथ्यात्व की आशंका करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। यदि कहें कि उसमें विकार न होने पर भी विकार-हेतुभूत कर्म, उनके फल, उनका ध्वंस, और कर्मादि साधनों के रहने से उसकी अद्वयता कैसे हो सकती है ? इस का उत्तर यह है कि वह (आत्मा) अशरीरी (शरीररहित) होने से उसे पुण्य, पाप, मोक्ष, बन्ध, वर्ण-आश्रम के धर्म आदि कुछ नहीं हैं। अतः उसमें जैसे विकार नहीं है, वैसे ही विकार के हेतु कर्मादि भी नहीं हैं, इसलिये उसके शुद्धत्व, अद्वयत्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।। ६ ।।

अनादितो निर्गुणतो न कर्म मे फलं च तस्मात् परमोऽहमद्वयः ।
यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते तथा ह्यहं देहगतोऽपि सूक्ष्मतः ।।७।।

अनादित इति—**मैं अनादि और निर्गुण हूँ, इस कारण मेरा कोई कर्म या कर्मफल भी नहीं है, इसलिये मैं सर्वोत्कृष्ट और अद्वितीय हूँ। जैसे गगन (आकाश) सर्वव्यापक (सर्वगत विभु) होने पर भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण मैं, देह (शरीर) में व्याप्त होने पर भी उससे लिप्त नहीं हूँ ।। ७ ।।**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि आत्मा शरीरोपादान और तद्धर्मक होने से शरीरवान् (शरीरी) नहीं है तथापि उसका शरीर के साथ 'उपलभ्य-उपलम्भकभावरूप सम्बन्ध' तो है ही। तब उसे (आत्मा को) 'अशरीर' (शरीररहित) कैसे कह सकते हैं ? किन्तु यह शंका ठीक नहीं है, केवल सम्बन्ध को देखकर सशरीर मान लेने पर भी कर्म आदि से उसका सम्बन्ध कहना ठीक नहीं है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर पूर्व श्लोक में कहे गये पुण्य-पापादि सम्बन्धराहित्य को ही विस्तार से बता रहे हैं। जो कर्मसमवायी (कर्मसम्बन्धित) रहता है, वह सादि (आदिमान्) होता देखा गया है, जैसे रथ, शरीर आदि। इस व्याप्ति (नियम) का परमाणु और मन में यदि व्यभिचार कहें तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'मन' की उत्पत्ति श्रुत है। और परमाणु तो कतिपय लोगों के द्वारा कल्पित मात्र है, हम उन्हें नहीं मानते। तथा जो कर्मसमवायी (कर्मसम्बन्धित) होता है, वह सगुण रहता देखा गया है, जैसे रथ, शरीर आदि। अर्थात् 'यत्र यत्र क्रियावत्त्वं तत्र तत्र सगुणत्वं सादित्वं च' इस व्याप्ति के अनुसार 'क्रियावत्त्व' व्याप्य है और 'सगुणत्व, सादित्व' व्यापक है। एवं च प्रत्यगात्मा से व्यावृत्त होने वाला व्यापक सगुणत्व, सादित्व अपने व्याप्य क्रियावत्त्व को लेकर (व्याप्य क्रियावत्त्व के साथ) ही उस आत्मा से निवृत्त होता है। इस प्रकार आत्मा में क्रियावत्त्व के न होने से तत्साध्य पुण्य-पापादि का होना भी असंभव है। अतः आत्मा पुण्य-पाप से रहित है। इसीलिये श्लोक में कहा गया है कि मुझसे पुण्यादिरूप कर्म और तत्साध्य (उससे होनेवाले) सुखादि फल का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस कारण मैं संसारियों से विलक्षण, उत्तम (परम), अद्वय, निर्विशेष हूँ। क्रियावत्त्व न होने से तत्साध्य पुण्यादि का भी असंभव है, यही अविद्याकल्पित अन्य संसारियों से मेरी विलक्षणता है। मैं देह में उपलभ्यमान रहने पर भी सूक्ष्म (अमूर्त) हूँ,

१. आत्मनः शुद्धत्वाविक्रियत्वादिकं मिथ्या दृश्यत्वात् शरीरादिसन्ततिवत् ।'

२. 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ।।—(भ. गी. १३।३१-३२)

इस कारण मैं किसी से लिप्त नहीं हो पाता। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं कि "मैं परमात्मा अनादि तथा निर्गुण होने से 'अव्यय' हूँ। हे कौन्तेय! मैं शरीरस्थ होता हुआ भी न कुछ करता हूँ और न किसी से लिप्त होता हूँ। जैसे सर्वव्यापक आकाश सूक्ष्म होने से किसी से लिप्त नहीं हो पाता, उसी तरह यह आत्मा (परमात्मा) शरीर में सर्वत्र रहता हुआ भी किसी से लिप्त नहीं हो पाता॥" अर्थात् माया के द्वारा उपस्थित देहों में अनुप्रविष्ट रहने पर भी मैं उनके दोषों से दूषित नहीं हो पाता॥ ७॥

सदा च भूतेषु समोऽहमीश्वरः क्षराक्षराभ्यां परमो ह्यथोत्तमः।
परात्मतत्त्वं* च तथाऽद्वयोऽपि सन् विपर्ययेणाभि†मतस्त्वविद्यया॥८॥

सदेति—**मैं सम्पूर्ण भूतों में समान भाव से स्थित ईश्वर हूँ, मैं कार्य-कारण भाव से अलग (अतिरिक्त) हूँ। तथा उसका अधिष्ठान रहने से उनकी अपेक्षा मैं *उत्कृष्ट हूँ*, तथा मैं परमात्मतत्त्व और अद्वितीय होनेपर भी अविद्या के कारण विपरीत (अन्यथा) रूप से समझा जाता हूँ॥ ८॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मोपलब्धि के अधिष्ठानस्वरूप देहादिकों की विषमता सबके प्रत्यक्ष है, ऐसे विषम देहों में प्रविष्ट हुए आत्मा की उपलब्धि होती है। अतः उस उपलभ्यमान आत्मा में भी देहादिकृत वैषम्य का होना संभव है, ऐसी स्थिति में कैसे उसका परमात्मत्व और कैसी उसकी परिपूर्णता? किन्तु तारतम्य (वैषम्य) का यह प्रतिभास अविद्या का विलास मात्र है, वास्तविक नहीं है। देह में उसका अनुप्रवेश व्यवहार की दृष्टि में है, वस्तुतः नहीं है। 'आत्मा' को ईश्वर कहा गया है, इससे यह सूचित होता है कि वह उपाधि के परवश (परतन्त्र) नहीं है। अतः उसमें (आत्मा में) देहादिकृत वैषम्य नहीं है। आत्मा को 'ईश्वर' (नियामक) कहनेपर उसे ईशितव्य (नियम्य) की अपेक्षा अवश्य रहेगी, उसके बिना उसमें ईश्वरत्व (नियामकत्व) कैसे बन सकेगा? अर्थात् उसे अद्वय कहना ठीक नहीं, वह तो सद्वय है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो क्षर-अक्षर (कार्य-कारण) से परम (व्यतिरिक्त) है। इसी कारण उसे 'उत्तम' (उत्कृष्ट) कहते हैं। अतः उसकी अद्वयता सुरक्षित है। और उसका ईश्वरत्व भी उचित है। 'क्षर' का अर्थ कार्यवर्ग है क्योंकि 'क्षरति नश्यति इति क्षरः' यह 'क्षर' शब्द का निर्वचन है। और 'अक्षर' का अर्थ कारण है। अर्थात् माया से युक्त (शबलित) चिद्वस्तु, उन दोनों से यह आत्मा परम (व्यतिरिक्त) है, अर्थात् कार्यकारणादि की भेदकल्पना का यह अधिष्ठानस्वरूप है। इसीलिये इसे (आत्मा को) पुरुषोत्तम कहते हैं। अतः आत्मा का 'ईश्वरत्व' भी समुचित है। उसके ईश्वरत्व में और अद्वयता में किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। वह 'उत्तम' है, उसी कारण अन्य आत्माओं का स्वरूप (तत्त्व) भी यानी परमात्मतत्त्व भी वही है, अर्थात् 'मैं' ही सर्वात्मा हूँ, यह समझना चाहिये। इस प्रकार वह सर्वात्मा होनेपर भी उसके स्वरूप का विपरीत भान (विपरीतस्वरूपप्रतिभास) जो हो रहा है, वह विपर्यय (मिथ्याज्ञान) से अर्थात् तत्कारणीभूत अविद्या से अवच्छिन्न (युक्त) होने के कारण उसके वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं हो पाता। भगवदुक्ति से भी उपर्युक्त अभिप्राय का समर्थन हो जाता है—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है[1] कि 'इस लोक में क्षर और अक्षर नामके दो ही पुरुष हैं, उनमें समस्त भूत 'क्षर' हैं, और कूटस्थ 'अक्षर' है। इन दोनों से उपाधिरहित उत्तम पुरुष 'अन्य' ही है, जिसे परमात्मा कहते हैं, जो अव्यय (अविनाशी) ईश्वर है,

---

१. "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥" (१५।१६-१८)

* तत्त्वश्च०—पाठान्तरम्।

† भिवृत०—पाठान्तरम्।

वही तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका भरण (धारण) करता है। मैंने क्षर का (विनाशी मायामय संसार का) अतिक्रमण किया है और अक्षर से (संसारबीज अव्यक्त से) मैं उत्तम हूँ, इस कारण मैं लोक और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ ८ ॥

अविद्यया भावनया च कर्मभिर्विविक्त आत्माऽव्यवधिः सुनिर्मलः ।
दृगादि शक्ति प्रचितोऽहमद्वयः स्थितः स्वरूपे गगनं यथाऽचलम् ॥९॥

अविद्ययेति—अविद्या, भावना और कर्मों से असंग आत्मा का कोई व्यवधान नहीं है, इस कारण वह निर्मल है। अविद्या से अध्यस्त हुए अन्तःकरण की परिणामरूप दृगादि शक्तियों के संबंध से ही उसमें द्रष्टृत्वादि व्यवहार किया जाता है। वास्तव में तो मैं अद्वितीय हूँ, और आकाश के समान अचल (स्थिर) भाव से अपने स्वरूप में स्थित हूँ ॥ ९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि अविद्यामूलक मिथ्या ज्ञान से आत्मा आवृत है, तो उसका अविद्या से सम्बन्ध अवश्य रहेगा। किन्तु यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'आत्मा' तो चित्प्रकाश है, यह बात श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और तर्क से भी सिद्ध है। अविद्या जड़ (अप्रकाशात्मिका) है। अतः दोनों का स्वभाव अत्यन्त परस्परविरुद्ध है। इस कारण दोनों का सम्बन्ध परमार्थतः होना तो दुर्घट ही है। ऐसी स्थिति में अविद्या का आश्रय अनवच्छिन्न चैतन्य तो हो नहीं सकता। यदि यह न माना जाय तो अणुमात्र का भी प्रकाश नहीं हो सकेगा। किसी से अवच्छिन्न हुए चैतन्य के भाग-विशेष को अविद्या का आश्रय कहें तो अविद्या के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं है, जिसकी कल्पना की जाय, तथा प्रमाण रहित कोई कल्पना नहीं की जाती। अतः अविद्या के अतिरिक्त अन्य किसी का व्यवधान न होने से दिवान्ध व्यक्ति के द्वारा दिन में कल्पित अन्धकार के समान आत्मा में अविद्या की कल्पना की जाती है। अविद्या का अर्थ 'मूलाज्ञान' है, तथा भावना का अर्थ अविद्याकृत देहाभिमान और अभिमान पूर्वक किये जाने वाले पुण्य-पापलक्षण (रूप) ही कर्म हैं। इन अविद्या, भावना और कर्म के स्पर्श से रहित (विविक्त) यह आत्मा है, क्योंकि वह व्यवधानरहित (अव्यवधि, आच्छादकरहित) है, इसी कारण वह 'सुनिर्मल' (समस्त आशंकित दोषों से रहित) है। ऐसे आत्मा में द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा का व्यवहार कैसे किया जाता है ? यह व्यवहार तो अविद्या के द्वारा अध्यस्त अन्तःकरण-परिमाणरूप दृगादि शक्ति के सम्बन्ध से ही होता है। अर्थात् वास्तव में न वह द्रष्टा, है, न मन्ता है, न श्रोता है, न बोद्धा है, तथापि उसमें द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा होने-का-सा आभास होता है। क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होनेवाली दर्शन-श्रवणादिशक्तिरूप बुद्धिवृत्तियों से उपचित (प्रचित) हुए की तरह मैं रहता हूँ, अतः उनसे सम्बद्ध हुआ-सा प्रतीत होता हूँ, वस्तुतः वैसा नहीं हूँ ॥ ९ ॥

अहं परं ब्रह्म विनिश्चयात्मदृङ् न जायते भूय इति श्रुतेर्वचः ।
न चैव बीजेऽप्यसति* प्रजायते फलं न जन्मास्ति मतो ह्यमोहता ॥१०॥

अहमिति—'मैं परब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चयात्मक आत्मज्ञान जिसे हो जाता है, उसका पुनः जन्म नहीं होता, ऐसा श्रुतिवचन है। बीज के न रहने पर फल उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार चूंकि अज्ञान नहीं रहा, इसलिये जन्म भी नहीं होता ॥ १० ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार प्रत्यगात्मतत्त्व का परिज्ञान होने पर पुनरावृत्तिरहित कैवल्यफल की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुति वचन है[1]। इसी श्रुतिसिद्ध बात को युक्ति से भी बताते हैं कि 'बीज के न रहने पर फल भी नहीं होता'। इसी

१. 'स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते'—(कठ. उ. ३।८)
'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः'—(कठ. उ. ३।११)
'अथ सोऽभयं गतो भवति'—(तै. उ. २।७), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'—(बृ. उ. ३।२।९)

* जे त्वसति०—पाठान्तरम् ।

सामान्य नियम के अनुसार चूँकि ब्रह्मात्मज्ञान होने से मोहराहित्य (अमोहता अर्थात् मूलभूत मोह का अभाव) होता है, उस कारण मोहमूलक जन्मादिलक्षणविचित्र संसार भी नहीं होता। क्योंकि जन्मादिविकार मोहपदवाच्य अविद्यामूलक हैं। जब मूलभूत अविद्या ही नहीं रहेगी, तब तत्कार्यभूत जन्मादि विकार भी नहीं होगा ॥ १० ॥

ममेदमित्थं च तथेदमीदृशं तथाहमेवं न परो न चान्यथा।

विमूढतैवं न जनस्य कल्पना सदा समे ब्रह्मणि चाऽद्वये शिवे ॥११॥

ममेति—मेरा यह शरीर ऐसा (सुन्दर या असुन्दर) है, यह शरीर इस प्रकार का (स्थूल या सूक्ष्म) है, मैं ऐसा (स्थूल या सूक्ष्म) हूँ, तथा अन्य पुरुष ऐसा (हृष्ट-पुष्ट) नहीं है, ऐसी कल्पना करते रहना लोगों की मूर्खता ही है, क्योंकि सदा समानरूप से स्थित, अद्वितीय शिवस्वरूप ब्रह्म में इन कल्पनाओं के लिये स्थान नहीं है ॥ ११ ॥

हृदयस्पर्शिनी

ब्रह्मात्मज्ञान होने पर मोहनिवृत्ति होती है, और मोहनिवृत्ति होने पर मोहकार्यरूप संसार की निवृत्ति होती है, यह बता चुके। अब मोहकार्य के स्वरूप को बता रहे हैं। पहिले तो दोनों देहों (सूक्ष्म-स्थूल) का अहंकार, तदनन्तर बाह्य वस्तुओं (पदार्थों) की कल्पना, तदनन्तर शोभनादि का अध्यास, तदनन्तर यह मेरा, वह ऐसा (इस प्रकार का) है, उसी प्रकार यह मेरा नहीं, इत्यादि कल्पना, उसी तरह दूसरा भी इसी प्रकार का है, या इस प्रकार का नहीं है, अन्य प्रकार का है, या अन्य प्रकार का नहीं है, या यह मेरी या दूसरे की मूढ़ता है या सुज्ञता है—ये सब, अनादि-अज्ञान (अविद्या) से तिरोहित आत्मस्वरूप वाले मनुष्य को जन्मादि का सम्बन्ध होने पर जो कल्पनाएँ हुआ करती हैं, वे कल्पनाएँ सदा समान परमानन्दरूप शिव अद्वय ब्रह्म में कभी नहीं हुआ करतीं। एवंच यह विचित्र संसार अज्ञान का कार्य है ॥ ११ ॥

यदद्वयं ज्ञानमतीव निर्मलं महात्मनां तत्र न शोकमोहता।

तयोरभावे न हि जन्म* कर्म वा भवेदयं वेदविदां विनिश्चयः ॥१२॥

यदिति—अत्यन्त निर्मल अद्वितीय (अद्वय) ज्ञान के उत्पन्न होनेपर महात्माओं (महान् आत्माओं) को शोक-मोह नहीं हुआ करते, और शोक-मोह के न होनेपर कर्म या जन्म नहीं होते—यह वेदवेत्ताओं का निर्णय है ॥ १२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मतत्त्व का ज्ञान होनेपर अज्ञान की निवृत्ति होती है। उससे इस विचित्र संसार की निवृत्ति हो जाती है, इसीको और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। अद्वयात्माकार (अद्वय) तथा असंभावना-विपरीतभावनादिप्रतिबन्ध से शून्य (अतीव निर्मल) ज्ञान के उदित होनेपर ब्रह्मभूत महात्माओं को शोक-मोहता संसारित्व नहीं रहता[1]। उन शोक-मोह के अभाव में (न रहनेपर) तदुपलक्षित (उनके द्वारा सूचित) उन शोक-मोह के कारणभूत अज्ञान की निवृत्ति होने-पर 'बीजाभावे फलाभावः' नियम के अनुसार जन्म-मरण पुनः नहीं हो सकते, यह वेदार्थज्ञ विद्वानों का निश्चय है। यही अभिप्राय श्रुति से भी अवगत होता है[2] ॥ १२ ॥

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं तु पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।

तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥१३॥

सुषुप्तवदिति—आत्मा के अद्वितीयत्व का निश्चय हो जाने के कारण जो मनुष्य सुषुप्त (सोये हुए) पुरुष के समान जाग्रत् अवस्था में भी द्वैत का अनुभव नहीं करता तथा जो सब कुछ करते हुए भी निष्क्रिय रहता है, वही आत्मज्ञ है, अन्य कोई नहीं—यही वेदान्तशास्त्र का निर्णय (निश्चय) है ॥ १३ ॥

---

१. 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'—(ई. उ. ७),

२. 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' ॥ (मुं. उ. २।२।८)

* कर्म जन्म०—पाठान्तरम्।

हृदयस्पर्शिनी

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि शास्त्र के अनुसार आत्मविद् (आत्मज्ञ) की मुक्ति बताई गई। अब आत्मवित् के स्वरूप को बता रहे हैं—द्वैत का बाध हो जाने के कारण जाग्रत् अवस्था में अपने पूर्व संस्कार (वासना) वश द्वैत प्रपञ्च को देखता हुआ भी (उल्लेख करता हुआ भी) विशेष रूप से (आसक्ति से) उसे नहीं देखता, किन्तु सुषुप्त पुरुष की तरह विलीन प्रपञ्चवाले प्रत्यगात्मस्वरूप में ही उस द्वैत प्रपञ्च को देखता रहता है अर्थात् द्वैत की सत्ता ही न रह जाने के कारण सर्वत्र अपने को ही वह देखता है। एवञ्च यथापूर्व (आत्मज्ञान होने के पूर्व) स्नान, शौच, भिक्षाटन आदि कार्यों को करता हुआ भी अकर्तृभूत आत्मस्वरूप का आविर्भाव होने से वह निष्क्रिय है अर्थात् निर्विकार है। इस प्रकार जो आत्मवित् होगा उसीको विक्षेपदशा में भी यथार्थ आत्मज्ञान (अप्रच्युतात्मयाथात्म्य-दर्शन) होने के कारण ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ कहा गया है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भले ही शास्त्रार्थज्ञ विद्वान् ही क्यों न हो, किन्तु व्यवहारकाल में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि अभिमान उसमें भरा होने से आत्मज्ञ नहीं कहा जा सकता यही वेदान्तशास्त्र का निश्चय है ॥ १३ ॥

इतीदमुक्तं परमार्थदर्शनं मया हि वेदान्तविनिश्चितं परम्।
विमुच्यतेऽस्मिन् यदि निश्चितो भवेन्न लिप्यते व्योम[1] इवेह कर्मभिः ॥१४॥

इतीति—इस रीति से वेदान्तशास्त्रनिर्णीत उत्कृष्ट परमार्थदृष्टि का निरूपण मैंने किया। यदि इसमें किसी का विश्वास (निष्ठा) हो जाय तो वह अवश्य ही मुक्त हो सकता है। तब वह आकाश के समान इस संसार में पुनः कर्मों से लिप्त (बद्ध) नहीं होगा ॥ १४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

वेदान्त शास्त्र के विषय में शास्त्रनियम के अनुसार अपने अनुभव को बता चुके। अब बता रहे हैं कि इस अद्वैत वेदान्तदर्शन में परिनिष्ठित हुआ विद्वान् कृतकृत्य होता है। अतः परानुग्रहार्थ ही इस प्रकरण के निर्माण में मेरी प्रवृत्ति हुई है ॥ १४ ॥

॥ इति दशमं दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरणं समाप्तम् ॥

१. व्योमवदेव०—पाठान्तरम्।

ईक्षितृत्वप्रकरणम्

ईक्षितृत्वं स्वतःसिद्धं जन्तूनां च ततोऽन्यता ।
अज्ञानादित्यतोऽन्यत्वं सदसीति निवर्त्यते ॥१॥

ईक्षितृत्वमिति—**समस्त जीवों का ईक्षितृत्व (चित्स्वरूपत्व) स्वभाव से ही सिद्ध है, और उनकी भिन्नता अज्ञानजनित (उपाधि के कारण) है । अतः 'तू सत् (ब्रह्म) है' इस वाक्य से उनके भेद का निरसन किया गया है ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से मुक्ति होती है अर्थात् एकमात्र ब्रह्मात्मैक्यज्ञाननिष्ठ व्यक्ति मुक्त होता है, यह जो कहा गया है, वह संगत नहीं हो सकता । क्योंकि ब्रह्म और आत्मा परस्परविरुद्ध स्वभाव के हैं, अतः उन दोनों की एकता होना संभव ही नहीं । मुक्ति तो कर्म से या कर्मसहित ज्ञान से ही हो सकती है । उसी तरह वेदान्त वाक्यों से ही सुनिश्चित (यथार्थ-सम्यक्) ज्ञान हो सकता है—यह कथन भी सन्दिग्ध है, वह ज्ञान तो अनुमानादि प्रमाण से भी हो सकेगा—यदि कोई ऐसी आशंका करे तो उस आशंका के परिहारार्थ इस प्रकरण का आरंभ किया जा रहा है, और इसके द्वारा 'ज्ञानादेव मुक्तिः' ज्ञान से ही मुक्ति होती है, यह बताया जायगा, और वह ज्ञान, वेदान्त-महावाक्य से ही हो सकेगा, अनुमानादि प्रमाणों से नहीं—यह भी बताया जायेगा । 'त्वं सत् असि' तुम सच्छब्द-लक्षित ब्रह्म ही हो, संसारी नहीं हो—इस वाक्योपदेश से ही सच्छब्दार्थ ब्रह्म और जीव का भेद निवृत्त हो जाता है । तथापि संसारी अशुद्ध जीव में उससे नितान्त विपरीत ब्रह्मत्व की संभावना कैसे कर सकते हैं ? यह आशंका हो सकती है । उस आशंका का निवारण इस प्रकार कर सकते हैं कि समस्त प्राणियों का चिद्रूपत्व ही ईक्षितृत्व है, और वह स्वतः-सिद्ध (स्वाभाविक) है । चिद्रूपत्व की तरह कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि को भी स्वाभाविक नहीं माना जा सकता । अन्यथा स्वरूप में व्यभिचार होगा । क्योंकि कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि चिद्रूप से अन्य (भिन्न) है, जो अज्ञानजनित है । एवंच अन्यत्व (अन्यता) अज्ञाननिबन्धन (अज्ञानकारणक) है, वास्तविक (पारमार्थिक) नहीं है; कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि में अज्ञानकल्पितत्व तथा ब्रह्मविपरीतत्व है, और मोक्ष स्वतश्चिन्मात्रस्वभाव (स्वरूप) तथा अज्ञान-निवृत्तिलक्षण (स्वरूप) है । मोक्ष में केवल तत्त्वज्ञान मात्र की अपेक्षा रहती है, अर्थात् तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है । अतः 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिं की भी निवृत्ति हो जाती है । एवञ्च ज्ञान से ही अन्यत्वनिवृत्तिरूप मुक्ति होती है । उसके लिये अन्य साधन खोजने की आवश्यकता नहीं है ॥ १ ॥

एतावद्ध्यमृतत्वं न किंचिदन्यत्सहायकम् ।
ज्ञानस्येति ब्रुवच्छास्त्रं सलिङ्गं कर्म बाधते ॥२॥

एतावदिति—**यह आत्मज्ञान ही अमृतत्व (मोक्षप्राप्ति का साधन) है । इस आत्मज्ञान का कोई और सहायक नहीं है । इस प्रकार कहता हुआ शास्त्र[1] आश्रमोचित यज्ञोपवीतादि लिङ्गों के सहित कर्म का बाध करता है ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व कथन के अनुसार यद्यपि ज्ञान से मोक्ष होता है, तथापि वह ज्ञान, कर्मसापेक्ष होकर ही मोक्ष का साधन हो सकता है, कर्मनिरपेक्ष होकर नहीं—ऐसा कुछ लोगों का कहना है, किन्तु वह श्रुति तथा युक्ति के विरुद्ध होने के कारण उचित नहीं है । अतः कर्म को ज्ञान का सहायक मानकर उसे मोक्ष का साधन नहीं माना जा सकता । अद्वैत आत्मज्ञान के होनेपर कर्म के हेतुभूत जात्यादि के अभिमान के अभाव में कर्म की स्थिति ही कहाँ, जो मोक्षफल की प्राप्ति कराने में ज्ञान का सहायक बन सके ? एवंच ज्ञान-कर्मसमुच्चय मोक्षप्राप्ति में कारण नहीं है ॥ २ ॥

---

१. 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्'—(बृ. उ. ४।५।१५) अमृतत्व का साधन आत्मज्ञान ही है—इन शब्दों से निश्चयपूर्वक कहनेवाली श्रुति को शास्त्र कहते हैं ।

सर्वेषां मनसो वृत्तमविशेषेण पश्यतः ।
तस्य मे निर्विकारस्य विशेषः स्यात्कथंचन ॥३॥

सर्वेषामिति—**सबके अन्तःकरणों की वृत्तियों को सामान्यभाव से देखने वाले उस मुझ निर्विकार आत्मा का कोई विशेषभाव कैसे हो सकता है ? ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकरण के प्रथम श्लोक के द्वारा प्रतिपादित स्वाभाविक चिद्रूपत्व को बताते हुए ज्ञानी के लिये कर्म का होना संगत नहीं हो सकता, यह प्रस्तुत श्लोक के द्वारा बताया जा रहा है। क्योंकि समस्त प्राणियों की मनोवृत्तियों के साक्षी उस आत्मा को जाति आदि का कोई अभिमान नहीं होता है। श्लोक में आये 'विशेष' शब्द का अर्थ कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि तथा शास्त्रविहित कर्म के साधनभूत जात्याद्यभिमान है। 'कथञ्चन' का अर्थ आक्षेप है। अर्थात् किसी प्रकार भी मुझमें विकार नहीं हो सकता, क्योंकि अभिमानशून्य होकर केवल साक्षी बनकर मैं देखता रहता हूँ ॥ ३ ॥

मनोवृत्तं मनश्चैव स्वप्नवज्जाग्रतीक्षितुः ।
संप्रसादे द्वयासत्त्वाच्चिन्मात्रः सर्वगोऽव्ययः ॥४॥

मन इति--**स्वप्न के समान जाग्रत् अवस्था में भी मन और मन की वृत्तियों के साक्षी (ईक्षिता) आत्मा का कोई विशेषभाव कैसे हो सकता है ? किन्तु सुषुप्ति अवस्था में इन दोनों का अभाव होने से सर्वगत, अविनाशी आत्मा चेतनमात्र रह जाता है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यह आत्मा सबकी मनोवृत्तियों को समान भाव से (अविशेषेण) किस प्रकार देखता है, यह जिज्ञासा होनेपर दृष्टान्त के साथ उसका उपपादन करते हुए आत्मा की चिदेकरसता को बता रहे हैं। स्वप्नावस्था में बाह्य विषय (पदार्थ) न होने से आत्मा जैसे सवृत्तिक (वृत्तिसहित) मन को ही देखता रहता है, ठीक उसी तरह जाग्रत् अवस्था में भी मनोवृत्ति (मनःप्रचार—मनोवृत्त) और उस वृत्ति के आश्रयभूत मन को आत्मा देखता है, तब उसमें कौनसी विशेषता (विकार) उपलब्ध हो रही है ? अर्थात् कोई नहीं। क्योंकि स्वप्न में जैसे वृत्तिसहित मन के अतिरिक्त आत्मा को कुछ उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी उसे विषयाकारवृत्तिविशिष्ट मन के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है। यदि कहें कि इस प्रकार का मनोदर्शन ही उस (आत्मा) में स्वाभाविक विशेष (विकार) है, तो यह कथन भी ठीक न होगा, क्योंकि सुषुप्तिदशा में (सम्प्रसाद में) वृत्ति और मन दोनों ही नहीं रहते[1], अतः उनका दर्शन भी स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। एवंच आत्मा चिन्मात्र है, सर्वत्र व्याप्त है, अव्यय और अद्वितीय सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

स्वप्नः सत्यो यथाऽऽबोधाद्देहात्मत्वं तथैव च ।
प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वं जाग्रत्स्यादाऽऽत्मवेदनात् ॥५॥

स्वप्न इति—**जिस प्रकार जागने तक स्वप्न की सत्यता प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मज्ञान होने तक ही जाग्रत् अवस्था में देहात्मबुद्धि और प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रामाण्य समझा जाता है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—पूर्वप्रतिपादन यदि अकाट्य हो तो बाह्याभ्यन्तर द्वैत का अभाव स्वीकार करना ही होगा, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ विरोध होने से तथा लौकिक-वैदिक समस्त व्यवहारों का लोपप्रसंग प्राप्त होने से पूर्वप्रतिपादन उचित नहीं प्रतीत होता।

समा०—जैसे जागने तक स्वप्न सत्य अर्थात् लौकिक-वैदिक व्यवहार के योग्य प्रतीत होता है, उसी तरह जाग्रत् अवस्था में भी देहात्मबुद्धि और प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रामाण्य सम्पूर्ण व्यवहारों का अंग (साधन-उपाय) माना

१. 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ।'—(बृ. उ. ४।३।२३)

जाता है। परन्तु उसकी भी एक अवधि है, जो "आत्मवेदनात्" शब्द से बताई गई है, अर्थात् 'आ-आत्मवेदनात्' तक ही उसकी अवधि है। आत्मतत्त्वसाक्षात्कार के पूर्व तक ही समस्त व्यवहार की सत्ता है, आत्मतत्त्वसाक्षात्कार होनेपर सब व्यवहार समाप्त (अभाव) हो जाते हैं। अर्थात् जाग्रदवस्था में देहादि में मिथ्या आत्माभिमान रहता है, उस समय प्रत्यक्षादिकों को प्रमाण माना जाता है, इसलिये इस अविद्यावस्था में व्यवहार चलते रहते हैं, व्यवहारलोप का प्रसंग नहीं आता। एवंच यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मज्ञान के पूर्व तक ही लौकिक-वैदिक समस्त व्यवहार और उनके लिये प्रमाणों की आवश्यकता होती है, आत्मज्ञान होनेपर 'एक चिन्मात्र आत्मा' के सिवाय कुछ नहीं ॥५॥

व्योमवत्सर्वभूतस्थो भूतदोषैर्विवर्जितः ।
साक्षी चेताऽगुणः शुद्धो ब्रह्मैवास्मि* स केवलः ॥६॥

व्योमवदिति—**मैं आकाश के समान सम्पूर्ण प्राणिवर्गों में स्थित हूँ, तथापि उनके दोषों से रहित हूँ, सबका साक्षी[1], चिद्रूप, निर्गुण, शुद्ध और अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस श्लोक के द्वारा उसके अव्यवहार्य स्वरूप को बता रहे हैं—विद्यावस्था (आत्मज्ञान की अवस्था) में व्यवहार का अभाव तो अभीष्ट ही है। आत्मा 'चेता' है अर्थात् अपने प्रकाश के द्वारा (आत्मा स्वप्रकाश यानी प्रकाशरूप है) अज्ञान और उसके कार्यों का प्रकाशक (अवभासक) है, इस कारण उसे चेता (चिद्रूप) कहा जाता है। प्राणियों में स्थित रहनेपर भी उनके दोषों से वह संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि वह केवल साक्षी होकर स्थित रहता है। 'व्योमवत् सर्वभूतस्थः' आकाश के समान समस्त प्राणियों में स्थित है, यह कहने से उसका 'असंगत्व' ज्ञात होता है। आकाश सर्वत्र रहते हुए भी जैसे असंग, उसी तरह आत्मा भी असंग है। आत्मा को सर्वभूतस्थ कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण प्राणियों (भूतों) में 'अहम्' इत्याकारक वृत्ति की अभिव्यक्ति, उसके बिना रहे नहीं हो सकती[2]। अज्ञानरहित होने से उसे 'शुद्ध' कहते हैं। 'केवल' कहने से वह तीनों अवस्थाओं से रहित है। एवंच मैं ब्रह्म (पूर्ण) ही हूँ ॥ ६ ॥

नामरूपक्रियाभ्योऽन्यो नित्यमुक्तस्वरूपवान् ।
अहमात्मा परं ब्रह्म चिन्मात्रोऽहं सदाऽद्वयः ॥७॥

नामेति—**मैं नाम, रूप और क्रिया से अन्य (भिन्न) और नित्यमुक्तस्वरूप हूँ, तथा मैं आत्मा ही नित्य [सदा] अद्वितीय [अद्वय] चिन्मात्र परब्रह्म हूँ ॥ ७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस श्लोक के द्वारा आत्मा के 'केवलत्व' को बताया गया है। अर्थात् वाच्य-वाचक और तद्व्यापारात्मक प्रपञ्च से शून्य (रहित) आत्मा है ॥ ७ ॥

अहं ब्रह्मास्मि कर्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः ।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाः स्युर्न संशयः ॥८॥

अहमिति—**'मैं ब्रह्म हूँ तथा कर्ता भोक्ता भी हूँ' ऐसा जो लोग मानते हैं, वे ज्ञान और कर्म दोनों से ही भ्रष्ट [पतित] हैं, और वे नास्तिक ही हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ ८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादी के भेदाभेदमत के अनुसार यह शंका हो रही है कि आत्मा की अद्वयता (अद्वयत्व) कैसे संगत हो सकती है? क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' के समान 'अहं कर्ताऽस्मि' यह अनुभव भी प्रामाणिक रूप से होता है।

---

१. श्वे. उ. ६।११

२. 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च'—(बृ. उ. १।४।१०) इसका तात्पर्य सर्वात्मत्वाभिनय में है।

* स्मीति के०—पाठान्तरम्।

समा०—शास्त्र कभी विरुद्धार्थ का प्रतिपादन नहीं करता। शास्त्र के अर्थ को जो विरुद्ध समझते हैं, वे वस्तुतः कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड से बहिर्मुख ही हैं, इसलिए उन्हें नास्तिक ही समझना चाहिए। वे सभी पुरुषार्थों के अयोग्य हैं ॥ ८ ॥

धर्माधर्मफलैर्योग इष्टोऽदृष्टो यथाऽऽत्मनः ।
शास्त्राद्ब्रह्मत्वमप्यस्य मोक्षो ज्ञानात्तथेष्यताम् ॥९॥

धर्मेति—किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध न होनेपर भी मीमांसा शास्त्र के आधार पर ही आत्मा का धर्माधर्म-रूप फलों [पुण्य-पाप रूप फलों] से सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है, वैसे ही शास्त्र-प्रमाण [वेदान्त शास्त्र के आधार पर] से आत्मा का ब्रह्मत्व और ज्ञान से उसका मोक्ष भी स्वीकार करना चाहिये ॥ ९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

शंका—दूसरों को नास्तिक कह देने मात्र से अद्वैत का सिद्धांत स्थिर नहीं किया जा सकता। अद्वैत की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है, अतः 'ब्रह्मैवास्मि' यह ज्ञान नहीं हो सकता। अद्वैत को सिद्ध करने के लिए जो तादात्म्य-श्रुतियाँ उपस्थित की जाती हैं, वे सब अन्यपरक होने से उपपन्न हो जाती हैं।

समा०—शास्त्र के तत्त्वार्थ को जाननेवाले विद्वान् किन्हीं अन्यान्य प्रमाणों (प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों) से सिद्ध (प्रमित) न होते हुए भी जैसे केवल एकमात्र शास्त्रप्रमाण[1] के आधार पर ही आत्मा का सुख-दुःखादिरूप धर्माधर्मफलों के साथ सम्बन्ध मान लेते हैं, उसी तरह वे विद्वान् वेदान्तशास्त्र[2] के आधार पर आत्मा में ब्रह्मत्व (आत्मा को ब्रह्म) और उसका ज्ञान से ही मोक्ष स्वीकार कर लें। क्योंकि शास्त्रत्वेन दोनों समान रूप से प्रमाण हैं। एवंच भेद और कर्म दोनों निन्दित होने से उन दोनों में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। अतः शास्त्र का अनुसरण करनेवाले विद्वान् यथाशास्त्र ही अर्थ समझने का प्रयास करें। अतः 'तत्त्वमसि' वाक्य से आत्मा को ब्रह्म, अर्थात् आत्मा में ब्रह्मत्व के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति, उससे ब्रह्मरूप में ही उसकी स्थिति और मोक्ष (कैवल्य) समझना चाहिये ॥ ९ ॥

या माहारजनाद्यास्ता वासनाः स्वप्नदर्शिभिः ।
अनुभूयन्त एवेह ततोऽन्यः केवलो दृशिः ॥१०॥

या इति—हरिद्रा [हल्दी] से रंगे हुए वस्त्रादि के समान जाग्रत् दशा की वासनाएँ होती हैं, उन्हीं का स्वप्न देखने वाले पुरुष उनका अनुभव करते रहते हैं, वास्तव में उनकी सत्ता नहीं रहती। उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी शुद्ध साक्षीमात्र आत्मा उस विषयदर्शी जीव से सर्वदा भिन्न रहता है ॥ १० ॥

हृदयस्पर्शिनी

समुच्चयवादी कह सकता है कि हमारे शास्त्र ने आत्मा के साथ जो धर्माधर्म का सम्बन्ध माना है, वह किसी प्रमाणान्तर से विरुद्ध न होने के कारण उचित ही है, किन्तु आत्मा का अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व आदि उसके प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाले कर्तृत्व-भोक्तृत्व से विरुद्ध हैं, इस कारण वेदान्तियों का कहना ठीक नहीं है। अतः शास्त्र और अनुभव का समन्वय (अविरोध) करने के लिये हमें भेदाभेदवाद का स्वीकार कर लेना चाहिये। किन्तु उसका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में कर्तृत्व आदि का जो प्रतिभास होता है, वह वास्तविक न होकर केवल अध्यास मात्र है। अतः श्रुत्युक्त अद्वैत का प्रतिपक्षी कोई न होने से निर्विरोध अद्वैत सिद्ध हो जाता है। स्वप्नावस्था में लिङ्ग के आश्रित रहनेवाली[3] श्रुतिसिद्ध वासनाएँ ही स्वप्नदर्शियों के द्वारा देखी जाती हैं। महारजन (हरिद्रा) से रञ्जित वस्त्रादि को 'माहारजन' कहते हैं। स्वप्नावस्था में वात-पित्त-श्लेष्म से दूषित हुए रस से परिपूर्ण हुई नाड़ियों में अनुगत (प्रविष्ट) हुए जाग्रद्वासनावासित मन की अनेक वासनाएँ अदृष्टादि के द्वारा उद्बुद्ध (जागरित) होती हैं, उस कारण जाग्रत् अवस्था में दृष्ट अर्थ (पदार्थ) के आकार में परिणत हुआ वह

---

१. 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'—(बृ. उ. ३।२।१३)

२. 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'—(मुं. उ. ३।२।९), 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'—(श्वे. उ. ३।८,६।१५)

३. 'तस्यहैतस्य पुरुषस्य रूपं। यथा माहारजनं वासः' इत्यारभ्य 'यथाऽसकृद्विद्युत्तम्' इत्यन्तेन श्रुत्युक्ता वासनाः। (बृ. उ. २।३।६)

मन हरिद्रारञ्जित पटादि के रूप के समान भासित होने लगता है और स्वप्नद्रष्टा के द्वारा उसकी उपलब्धि द्रष्टा, दृश्य, दर्शन एवं तत्करणादि के रूप में नित्य हुआ करती है। अतः स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली माहारजन (पीतवस्त्र) आदि के समान लिङ्गात्मा (मन-बुद्धि) के सहित वासनाओं की अपेक्षया दृशिस्वरूप द्रष्टा आत्मा विलक्षण ही प्रतीत होता है। उसी तरह जाग्रत् अवस्था में कर्तृत्वादि भी दृश्य होने के कारण अनात्मधर्म ही हैं, यह निश्चित होता है। अतः कर्तृत्वादि धर्मवाले लिङ्ग (मन-बुद्धि) से दृशिस्वरूप केवल शुद्ध आत्मा कोई अन्य ही है ॥ १० ॥

कोशादिव विनिष्कृष्टः कार्यकारणवर्जितः ।
यथाऽसिर्दृश्यते स्वप्ने तद्वद्बोद्धा स्वयंप्रभः ॥११॥

कोशादिति—**जिस प्रकार कोश से निकाला खड्ग उस कोश से पृथक् [भिन्न] दिखलाई देता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में स्वयंप्रकाश बोद्धा भी कार्य-कारणाकार मन से पृथक् ही रहता है ॥ ११ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की स्वप्नावस्था में दृश्य की अपेक्षया विलक्षण (पृथक्) प्रतीति होती है। जैसे खड्ग (असि) कोश (म्यान) से अलग करने पर (निकालनेपर) अपने स्वरूप में दिखाई देता है, उसी तरह कार्य-कारणवर्जित अर्थात् कार्य-कारणाकार लिङ्गात्मक मन से पृथक् बोद्धा आत्मा स्वप्न में यथावत् दिखाई देता है। 'दृश्यते' दिखाई देता है—कहने से उसे (आत्मा को) दृश्य विषयों के समान मिथ्या नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह स्वयंप्रभ है। वह अपनी महिमा से ही प्रकाशित रहता है, विषय की तरह प्रकाशित किया नहीं जाता। अथवा[1] श्रुति के द्वारा निर्णीत होने से कार्य-कारणवर्जित आत्मा का स्वप्न में ज्ञान होता है। एवंच कोशनिष्कृष्ट असि की तरह आत्मा भी स्वप्नसंस्काराश्रय सूक्ष्म देह से विलक्षण दिखाई देता है। उपाधि से पृथक् अपने स्वरूप में ही उसका अवभास होता है, इसी अभिप्राय को प्रदर्शित करने में 'असि' का दृष्टान्त दिया गया है ॥ ११ ॥

आपेषात्प्रतिबुद्धस्य ज्ञस्य स्वाभाविकं पदम् ।
उक्तं नेत्यादिवाक्येन कल्पित स्यापनेतृणा ॥१२॥

आपेषादिति—**कल्पित प्रपञ्च का बाध करने वाले 'नेति नेति' आदि वाक्य ने हाथ दबाने से जगे हुए चेतन आत्मा का स्वाभाविक रूप बताया है ॥ १२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका— आत्मा को जो स्वयंप्रकाश कहा गया है, वह कैसे संभव हो सकता है, क्योंकि वह तो ब्रह्म से विलक्षण (भिन्न) है।

समा०— श्रुतिविरोध होने के कारण ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। आत्मा में कर्तृत्वादि की जो प्रतीति होती है, वह स्वप्नप्रतीति की तरह मिथ्या होने से आत्मा शुद्ध ही है अर्थात् ब्रह्म ही है, यह शास्त्र बता रहा है, अतः निर्विरोध यह जाना जा सकता है। एवंच भेदाऽभेद की कल्पना कर अपने मन को कलुषित करना उचित नहीं है। [2]श्रुति कहती है कि प्राण के अनेक नाम पुकारने पर भी वह आत्मा प्रबुद्ध नहीं हो पाया किन्तु हाथ से दबाते ही वह जाग उठा, इससे स्पष्ट होता है कि प्राण-इन्द्रियस्वरूप लिङ्गसमुदाय से विलक्षण (भिन्न) और स्थूल संघात (समुदाय) से भी विलक्षण (भिन्न) ही आत्मा है। अतएव अर्थात् समस्त जड़ पदार्थों से विलक्षण होने के कारण ही वह (आत्मा) ज्ञानस्वभाव (स्वरूप) है। पाणि (कर—हाथ) स्पर्श से प्रतिबद्ध हुए त्वंपदार्थ 'ज्ञ' का परब्रह्मरूप स्वाभाविक पद, कल्पित (अध्यस्त) मूर्त-अमूर्त-तद्वासनाश्रयरूप के निषेधक 'नेति' वाक्य से[3] कहा गया है। 'नेति नेति' ऐसी वीप्सा (द्विरुक्ति) के द्वारा यह बताया गया है कि समस्त कारण-कार्यात्मक उपाधि का प्रतिषेध कर 'अखण्ड ब्रह्म' में 'नेति' वाक्य का तात्पर्य है। एवंच श्रुतिविरोध होने से आत्मा को ब्रह्म से विलक्षण समझना ठीक नहीं है ॥ १२ ॥

---

१. 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'—(बृ. उ. ४।३।९)

२. 'तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ' इत्यारभ्य 'स होत्तस्थौ' 'बृहत्पाण्डरवासः सोम राजन्'······(बृ. उ. २।१।१५)

३. 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यारभ्य 'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्'—इत्यन्तेन वाक्येन ।—(बृ. उ. २।३।६)

महाराजादयो लोका मयि यद्वत्प्रकल्पिताः ।
स्वप्ने, तद्वद्द्वयं विद्याद्रूपं वासनया सह ॥१३॥

महाराजेति—**जिस प्रकार स्वप्नकाल में राजा-महाराजा आदि लोक मुझमें ही कल्पित होते हैं अर्थात् मैं राजा हूँ, महाराजा हूँ ऐसी कल्पना निद्रादोष के कारण मेरे ही चित्त में होती है, उसी प्रकार वासनाओं के सहित इस द्वैत दृश्य को भी मुझमें ही कल्पित जानो ॥ १३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

हाथ से दबाने पर[1] प्रतिबुद्ध हुआ 'ज्ञ' आत्मा, प्राण आदि से विलक्षण है। इस प्रकार कल्पित संसार के निषेधक वचन से कल्पित संसार, 'आत्मा' पर आरोपित है, यह बताया गया है। अर्थात् 'नेति नेति' इत्यादि शास्त्रवचन से निषिध्यमान संसार कल्पित है, यह श्रुति ने ही बता दिया है। स्वप्नावस्था में महाराजा आदि लोगों की कल्पना मुझ दृगात्मा में जैसे की जाती है, उसी तरह लिङ्ग शरीर के आश्रय से रहनेवाली वासना के साथ मूर्त और अमूर्त दो रूपों की मुझमें कल्पना की गई है[2]। श्रुति ने भी स्वप्नदृश्य (महाराजत्वादि की आभासता) का निर्देश कर उपसंहार में शरीर के भीतर ही महाराजा आदि के रूप में प्राणशब्दवाच्य लिङ्गरूप उपाधिका ग्रहण कर यह स्वप्नद्रष्टा, व्यवहार करता है—यह प्रदर्शित किया है। अर्थात् स्वप्न में महाराजा आदि निर्दिष्ट लोग भोग्यविशेष होते हुए भी स्वप्नद्रष्टा में कल्पित हैं। अतः स्वप्न में उपलब्ध हुई कोई भी वस्तु वास्तविक नहीं है। एवञ्च वासना के आश्रयभूत लिङ्ग-शरीर के सहित मूर्तामूर्तरूप स्थूल पदार्थ भी दृगात्मा में कल्पित ही हैं, क्योंकि दृगात्मा के द्वारा वह दृश्य हैं ॥ १३ ॥

देहलिङ्गात्मना कार्या वासनारूपिणा क्रियाः ।
नेति नेत्यात्मरूपत्वान्न मे कार्या क्रिया क्वचित् ॥१४॥

देहेति—**वासनाओं [संस्कारों] का संचय करनेवाले तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर का अभिमान रखनेवाले आत्मा को ही कर्मानुष्ठान कर्तव्य रहता है। यह स्थूल देह आत्मा नहीं है, यह सूक्ष्म देह आत्मा नहीं है इत्यादि वाक्यों द्वारा लक्षित 'मैं' तो आत्मस्वरूप हूँ। अतः मेरे लिये कभी कोई कर्म कर्तव्य नहीं है ॥ १४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

स्वाप्नप्रपञ्च के समान जाग्रत्प्रपञ्च भी प्रत्यगात्मा में कल्पित है यह सिद्ध (ज्ञात) हो जानेपर प्रत्यक्तत्त्व को जाननेवाले (आत्मज्ञानसम्पन्न) के लिये कर्म करने की संभावना ही नहीं रहती, क्योंकि कर्म (क्रिया) तो उसे करने होते हैं, जो स्थूल-सूक्ष्म देह का अभिमान करता हो, किन्तु जिसे अपने स्थूल-सूक्ष्म शरीर का कोई अभिमान न हो, उसके लिये कर्मानुष्ठान कैसे संभव हो सकता है ? यह स्थूल-सूक्ष्मदेहाभिमानी आत्मा वासनारूपी है अर्थात् संस्कारों (वासनाओं) का संचय करते रहने का इसका स्वभाव है। ये संस्कार कर्मप्रवृत्ति कराने में निमित्त (कारण-हेतु) होते हैं। अर्थात् कर्म से संस्कार, और संस्कार से पुनः कर्म, पुनः उससे संस्कार, पुनः उससे कर्म इस प्रकार अविच्छिन्न परम्परा चलती रहती है। किन्तु जब 'नेति नेति' श्रुति के द्वारा अपने स्वरूप (आत्मस्वरूप) का साक्षात्कार (ज्ञान) हो जाता है, तब दोनों देहों का अभिमान न रहने से स्वप्न में या जाग्रत् अवस्था में स्वाभाविक रूप से और विधि के बलपर ही कोई कर्म (क्रिया) उसके लिये कर्तव्य नहीं रह जाती है ॥ १४ ॥

न ततोऽमृतताऽऽशास्ति कर्मणोऽज्ञानहेतुतः ।
मोक्षस्य ज्ञानहेतुत्वान्न तदन्यदपेक्षते ॥१५॥

नेति—**कर्म की उत्पत्ति अज्ञान से है, इस कारण उससे अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती। मोक्ष का कारण तो एकमात्र ज्ञान ही है, इसलिये वह किसी अन्य कर्म आदि की अपेक्षा नहीं रखता ॥ १५ ॥**

---

१. "तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार" इत्यारभ्य "स होत्तस्थौ"—(बृ. उ. २।१)

२. "यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः" इत्युपक्रम्य "स यत्रैतत्स्वप्नया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति" इति इवशब्देन स्वप्नदृश्यस्य आभासतां मध्ये निर्दिश्य "एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते" इत्युपसंहारः। (बृ. उ. २।१।१८)

हृदयस्पर्शिनी

अज्ञानविलसित देहाभिमान से ही कर्म होता है, अतः कर्म अज्ञानमूलक है, इस कारण उससे (कर्म से) मोक्ष की आशा रखना व्यर्थ है। ज्ञान और अज्ञान का विवेक न होनेपर ही कर्म करने की ओर प्रवृत्ति होती है। अज्ञान और कर्म दोनों जड़ पदार्थ हैं, अतः उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। एवंच 'अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्ष' की निष्पत्ति में कर्म की सहायता की आशा करना व्यर्थ है। यदि मोक्ष को 'ब्रह्मात्मना अवस्थान' (ब्रह्मरूप होकर रहना) अर्थात् परमानन्दाविर्भाव रूप मानें तब भी उत्पाद्य, आप्य, विकार्य, संस्कार्य इन चतुर्विध क्रियाफलों से उक्त मोक्ष, विलक्षण होनेसे उसमें भी कर्म की कोई अपेक्षा नहीं है।

शंका—कर्म, स्वयं मोक्ष में कारण (हेतु) न होनेपर भी मोक्ष में हेतुभूत जो ज्ञान, उसके सहायक के रूप में कर्म को भी कारण क्यों न माना जाय ?

समा०—अज्ञान की निवृत्ति में ज्ञान ही एकमात्र पर्याप्त है, उसे कर्म आदि अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। अन्यत्र भी नहीं, क्योंकि अज्ञान के निवृत होनेपर ब्रह्मातमना अवस्थान अर्थात् परमानन्दाविर्भाव का होना तो स्वयं (स्वतः) सिद्ध है ॥ १५ ॥

अमृतं चाभय नार्तं नेतीत्यात्मा प्रियो मम ।
विपरीतमतोऽन्यद्यत् त्यजेत्तत्सक्रियं ततः ॥१६॥

अमृतमिति—'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से निषेधमुखेन प्रतिपादित आत्मा, अमृत और अभयरूप है। वह नाशवान् नहीं है तथा मेरा प्रिय है। उससे भिन्न जो अनात्मा है, वह इससे विपरीत स्वभाववाला है। अतः उस सक्रिय अनात्मा का त्याग ही करना चाहिये ॥ १६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

शंका—यदि अमृतत्व (मोक्ष) को कर्मसाध्य माना जाय तो स्वर्गादि फल की तरह तथा कृषि आदि के फल की तरह वह अनित्य और सभय कहलायेगा।

समा०—किन्तु अभयरूपत्व श्रुति[1] के साथ तथा मोक्ष से भिन्न यच्चयावत् पदार्थों में आर्तत्व कहकर मोक्ष में अनार्तत्व[2] बतानेवाली श्रुति के साथ विरोध उपस्थित होने के भय से वैसा नहीं मान सकते।

शंका—ब्रह्म यद्यपि अभय, अनार्त है, और कर्मसाध्य नहीं है तथापि भोक्ता जीवके के लिये अमृतत्व तो कर्म से ही साध्य होगा।

समा०—जो मेरा प्रिय है, जिसे हम भोक्ता समझ रहे हैं, अर्थात् जाया आदि जो प्रिय (प्रीत्यास्पद) ज्ञात हो रहे हैं, वह सब मेरा ही स्वरूप है[3]। उसे 'नेति' श्रुति ने अशेष-विशेषरहित बताया है। इसलिये वह सब मद्रूप ही है अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न (अतिरिक्त) नहीं है। अतः उसे भी अमृतत्व, कर्म से प्राप्य नहीं है। अतः उक्त आत्मस्वरूप से भिन्न, जिसे हम भेदबुद्धि से ग्रहण करते हैं (अपने से भिन्न समझते हैं), उस अनात्मभूत (विपरीत) दृश्य का क्रिया सहित त्याग करे अर्थात् उसका अभिमान न करे। क्योंकि हमने अज्ञानवशात् आत्मापर संसार को अध्यस्त कर लिया है। अतः ब्रह्मात्मा से भिन्न जो भी विरुद्धस्वरूप हो, और जो क्रियासहित हो, उस सब का अभिमान छोड़ दे, क्योंकि ब्रह्मात्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। 'क्रियासहित उस अनात्मभूत दृश्य का त्याग करे'—यह आत्मज्ञ के लिये विधान (विधि) नहीं किया गया है, क्योंकि वह आत्मज्ञ तो अविनियोज्य है, किन्तु उसके प्रति यह केवल अनुवादमात्र है। तथापि साधक के लिये विधि का उपयोग हो सकता है, अतः 'त्यजेत्' यह विधिप्रत्यय (नियोग) निर्देश, साधक को दृष्टि में रखकर किया गया है। तस्मात् ब्रह्मात्मा के अज्ञान के कारण होनेवाला यह संसार, केवल ब्रह्मात्मज्ञान से ही निवृत्त हो जाता है, यह ठीक ही कहा गया है ॥ १६ ॥

॥ इति एकादशमीक्षितृत्वप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. (तै. उ. २।७)
२. (बृ. उ. ३।४।२)
३. 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य'—(छां. उ. ६।३।२)

प्रकाशप्रकरणम्

प्रकाशस्थं यथा देहं सालोकमभिमन्यते ।
द्रष्ट्राभासं तथा चित्तं द्रष्टाऽहमितिमन्यते ॥१॥

प्रकाशस्थमिति—**जिस प्रकार प्रकाश में स्थित स्थूल देह को लोग प्रकाश से युक्त समझते हैं, उसी प्रकार साक्षी [द्रष्टा] आत्मा से प्रकाशित हुए चित्त को ही वे लोग साक्षी समझते हैं, अर्थात् 'चित्त' को ही 'मैं साक्षी हूँ' ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—इस भोक्ता आत्मा को यदि 'निर्विशेष' रूप में स्वीकार करते हैं तो उसका उसी रूप में (निर्विशेष) अनुभव क्यों नहीं होता ? अर्थात् यदि 'प्रिय' शब्द से कहा हुआ आत्मा ही ब्रह्म है, तो सब लोग जिस प्रकार आत्मा को अहंरूप से अनुभव करते हैं, उस प्रकार ब्रह्म को क्यों नहीं करते ?

समा०—ब्रह्म यद्यपि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि से शून्य (रहित) है, तथापि लोगों को विवेक न हो पाने से (अविवेक से) उसका वैसा अनुभव नहीं हो पाता। जिस प्रकार प्रकाश सामान्यरूप से सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु वह किसी स्थूल शरीर से युक्त होने पर तदाकार लगने लगता है, उसी प्रकार सर्वत्र समानरूप से व्याप्त निर्विशेष चैतन्य, अन्तःकरण में व्याप्त रहने से अन्तःकरणाकार (अन्तःकरणरूप) प्रतीत होने लगता है। और उस चिदाभासविशिष्ट अन्तःकरण को ही लोग 'आत्मा' कहने लगते हैं। एवंच 'अहं' रूप से जिस आत्मा का हम अनुभव करते हैं, वह अविवेक के कारण करते हैं। वास्तव में तो आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। शंका करनेवाले का अभिप्राय यह था कि यदि भोक्ता, जिसे 'प्रिय' शब्द से कहा जाता है, (वह) निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप ही है, तो सब लोग 'अहं अहं', इस प्रकार आत्मा का अनुभव तो करते हैं, 'ब्रह्म अहम्' ऐसा अनुभव क्यों नहीं करते ? उक्त शंका का समाधान यही है कि पदार्थतत्त्व-परिशोधनाभावरूप अपराध के कारण ही 'ब्रह्म अहम्' ऐसा अनुभव नहीं कर पाते। अर्थात् साभास अन्तःकरण को न पहिचानने के कारण (साभास अन्तःकरण का विवेक न होने के कारण) यथार्थ रूप से अपनी आत्मा को (आत्मा के यथार्थ रूप को) नहीं जान पाते। अतः इस प्रकरण में मुख्यतया (प्राधान्येन) 'तत्-त्वम्' पदार्थ का शोधन बताया जा रहा है। वास्तव में आत्मा अनवच्छिन्न, प्रकाशरूप है, तथापि अन्तःकरण के सम्पर्क से अन्तःकरणाकाराकारित हुआ भासने लागता है। इस कारण 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इस प्रकार अन्तःकरणस्वभावविशिष्ट (अन्तःकरणाकाराकारित) को ही 'आत्मा' समझते हैं, शुद्ध आत्मा को नहीं जान पाते ॥ १ ॥

यदेव दृश्यते लोके तेनाभिन्नत्वमात्मनः ।
प्रपद्यते ततो मूढस्तेनात्मानं न विन्दति ॥२॥

यदेवेति—**लोकव्यवहार में [प्राण से लेकर स्थूल देह तक] जो कुछ दिखाई देता है, उसी से आत्मा का तादात्म्य हो जाता है। अतः अज्ञानी व्यक्ति को आत्मा का यथार्थ रूप से ज्ञान नहीं हो पाता ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में यह बताया था कि आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने में साभास अन्तःकरण का अविवेक ही कारण है, और उसी के माध्यम से देह तक अविवेक चलता रहता है, जिससे आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं हो पाती। अर्थात् लोकव्यवहार में प्राण से लेकर स्थूलदेह तक जो अहंकारास्पद है, वह सब साभासचित्त से अविविक्तरूप में अनुभूत होता है। उस कारण प्राण से देह तक सबकी आत्मरूप में प्रतीति होती है। अर्थात् ये सब आत्मा से अभिन्न (आत्मा ही) प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि देह आदि और आत्मा इनका परस्पर एक दूसरे में अध्यास करते रहने की मूर्खता के कारण यह मूढ मनुष्य आत्मा को ब्रह्मरूप से नहीं जानता ॥ २ ॥

दशमस्य नवात्मत्वप्रतिपत्तिवदात्मनः ।
दृश्येषु तद्वदेवायं मूढो लोको न चान्यथा ॥३॥

दशमस्येति—**दशम आत्मा को नवम समझने के समान यह संसार बुद्धि आदि दृश्य वर्ग में मोहित हो रहा है। इसके विपरीत अनुभव नहीं करता ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

एक बार दस विद्यार्थियों ने नदी के पार पहुँचकर, यह जानने के लिए कि हममें से कोई बह तो नहीं गया, आपस में गिनना आरंभ किया। उनमें से जो भी गिनना आरंभ करता वह अपने को छोड़कर शेष नौ को गिन जाता, इस श्रुतिप्रसिद्धि के समान जिस प्रकार विद्यार्थी दशमरूप अपने को भूलकर अपने को नौ से भिन्न नहीं देख पाते थे, उसी प्रकार बुद्धि आदि दृश्यवर्ग में मोहित हुए लोग अपने को बुद्धि आदि से असंग अनुभव नहीं कर पाते। क्योंकि आचार्योपदेश से हीन होने के कारण दृश्य पदार्थों में आत्मतादात्म्य प्रतिपत्ति बनी रहती है, उस कारण अपनी आत्मा को अन्यथा ही समझते रहते हैं। अर्थात् बुद्ध्यादि दृश्यवर्ग का अपोह (त्याग) करके 'ब्रह्मास्मि' इसप्रकार उसकी यथार्थरूपता (स्वरूपयाथात्म्य) को नहीं जान पाते ॥ ३ ॥

त्वं कुरु त्वं तदेवेति प्रत्ययावैककालिकौ ।
एकनीडौ कथं स्यातां विरुद्धौ न्यायतो वद ॥४॥

त्वमिति—**'तू यज्ञ आदि का अनुष्ठान कर' और 'तू वही [ब्रह्म ही] है' इस प्रकार के दो विरुद्ध ज्ञान एक ही समय एक आश्रय में कैसे रह सकते हैं? यह युक्ति के द्वारा बतलाओ ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

एक ही चेतन का कर्ता-भोक्ता होना तथा कर्ता-भोक्ता न होना अर्थात् शुद्ध ब्रह्मरूप होना संभव नहीं। अत: यह कहना कि प्रत्यक्ष अनुभव और श्रुति के अविरोध के लिए प्रत्यगात्मा को ही कर्ता-भोक्ता तथा ब्रह्मरूप मान लिया जाय, अर्थात् प्रत्यगात्मा में ही कर्तृत्वादि धर्मवत्त्व और ब्रह्मरूपत्व रहे, अविवेक की कल्पना कर उसे मूढ़ कहने की क्या आवश्यकता? अथवा शास्त्रोपदेश या आचार्योपदेश से हीन होने के कारण बुद्ध्यादि दृश्य पदार्थों के विपरीत आत्मयाथात्म्य (आत्मा के यथार्थ रूप) को नहीं जान पाता, अत: पदार्थ (जड़-चेतन) का विवेक न होने से उसका मोक्ष होना संभव नहीं रहता, यह बताया गया था। तब यह आशंका होती है कि पदार्थ-विवेक (जड़-चेतन पदार्थ के भेदज्ञान) की क्या आवश्यकता? शास्त्र से आत्मा की ब्रह्मरूपता के ज्ञात होनेपर 'ब्रह्माहमस्मि' इस प्रकार प्रसंख्यान (ज्ञान) होने से ही आत्मा के याथात्म्य का आपरोक्ष्य (प्रत्यक्ष) हो जाने के कारण मोक्ष का होना संभव हो सकता है। अत: यह प्रसंख्यानविधि का अवसर है, पदार्थविवेक का नहीं—यह आशंका हो सकती है, किन्तु एक विषय (एक नीडि) में एककालिक दो विरुद्ध प्रत्यय कैसे हो सकते हैं? अत: श्रुति ने जो जीव के लिए अग्निहोत्रादि कर्मों की अवश्यकर्तव्यता का विधान किया है, वह उसके लोकप्रसिद्ध कर्तृत्व को स्वीकार करके केवल अज्ञानावस्था में ही है। ज्ञानवान् तथा जिज्ञासु के लिए तो उसके शुद्ध स्वरूप का ही निरूपण किया गया है। अत: वास्तव में आत्मा के कर्तृत्व आदि का बाध करना ही श्रुति को अभीष्ट है। अर्थात् एक ही आत्मा के लिये 'कुरु, और तदेव त्वम्'=करो और वही तुम हो, इस प्रकार कर्तृत्व और अकर्तृत्व प्रकारक और समसामयिक (एक-कालिक) विरुद्ध ज्ञान का कराना उसी प्रकार होगा, जैसे एक ही पदार्थ में शीत और उष्ण का ज्ञान कराना। अत: परस्पर विरुद्ध दो ज्ञानों में से किसी एक के द्वारा किसी एक का बाध अवश्य करना ही होगा, क्योंकि एक ही वस्तु में दो परस्पर विरुद्ध ज्ञानों को प्रमाण नहीं माना जा सकता ॥ ४ ॥

देहाभिमानिनो दुःखं नादेहस्य स्वभावतः ।
स्वापवत्तत्प्रहाणाय तत्त्वमित्युच्यते दृशेः ॥५॥

देहेति—**यदि कहें कि आत्मा का दुःखी होना या सुखी होना आदि का सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर श्रुतिप्रतिपादित निर्दुःखत्व (दुःखशून्यता) का ज्ञान ही बाधित होता है—ऐसा क्यों न कहा**

जाय ? किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं होगा, क्योंकि दुःख देहाभिमानी को ही होता है, देहाभिमानहीन आत्मा तो स्वभाव से ही निर्दुःख रहता है, जैसा सुषुप्ति में रहता है। अतः उस देहाभिमान की निवृत्ति के लिये भगवती श्रुति ने 'साक्षी आत्मा' को 'तदेव त्वम्' 'तू वही है' यह उपदेश दिया है ॥ ५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आशंका करनेवाले का अभिप्राय यह था कि आत्मा में दुःखित्वाभिमान तो प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है, अतः अनुभवात्मक प्रत्यक्षज्ञान से 'तदेव त्वमसि' वही तू है—इस शाब्दज्ञान (श्रुति से होनेवाले ज्ञान) का ही बाध होना चाहिए। यही बताने के लिए यह प्रसंख्यान-विधि हो सकता है। किन्तु समाधान देनेवाले का यह कहना है कि यदि दुःखित्व आदि धर्म आत्मा के स्वाभाविक होते, तो तत्त्वज्ञान का सैकड़ों बार अभ्यास करनेपर भी उससे उन स्वाभाविक धर्मों की निवृत्ति कदापि न होती, क्योंकि 'ज्ञान' ही अज्ञान का विरोधी है। एवंच दुःखित्वाभिमान के प्रत्यक्षज्ञान के स्थिरीकरणार्थ 'तदेव त्वमसि' को प्रसंख्यान-विधि कहना व्यर्थ है। अर्थात् जबकि अविद्याप्रयुक्त देहाद्यभिमाननिबन्धन दुःखित्व आदि धर्म हैं, तब अविद्यात्मक कारण (प्रयोजक) के निवृत्त होने से ही दुःखित्व आदि अभिमान की निवृत्ति हो ही जायेगी, और अविद्या की निवृत्ति एकमात्र ज्ञान के ही अधीन है। अतः कर्मविधि के लिये यहाँ अवकाश नहीं है, अर्थात् देहाभिमानशून्य के लिये कर्म का विधान नहीं है। दुःखित्व-सुखित्व आदि आत्मा का स्वाभाविक रूप नहीं है, उसका स्वाभाविक रूप तो 'अदेहत्व' है। अथवा श्लोक में कहे गये 'नाऽदेहस्य' पद के द्वारा 'देहाभिमानव्यतिरेकेण न दुःखमस्ति' कहा गया है। देहाभिमान के अभाव में दुःख नहीं है, इस अभिप्राय के समर्थन में सुषुप्ति का दृष्टान्त दिया गया है। अतः दृशिरूप आत्मा के देहाभिमान की समूल निवृत्ति के लिये ही भगवती श्रुति ने 'तत्त्वमसि' का उपदेश किया है। एवंच ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोधन किया जा रहा है; कर्म का नहीं ॥ ५ ॥

दृशेश्छाया यदारूढा मुखच्छायेव दर्शने ।
पश्यंस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते ॥६॥

दृशेरिति—**जिस प्रकार दर्पण आदि में मुख की छाया [प्रतिबिम्ब] पड़ती है, उसी प्रकार जिसमें साक्षी आत्मा का आभास [प्रतिबिम्ब] पड़ता है, उस 'अहम्प्रत्यय' [बुद्धि] को देखकर ही कतिपय योगी 'मुझे आत्मसाक्षात्कार हो गया है' ऐसा समझने लगते है ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'तत्त्वमसि' आदि वाक्योपदेश के अनन्तर आत्मा को देह से व्यतिरिक्त (पृथक्—भिन्न) जाननेवाले को भी 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार की प्रतीति (अनुभव) होती है, अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होनेपर भी उन्हें अपनी आत्मा के सुखी-दुःखी होने का अनुभव होता ही रहता है। अतः कहना होगा कि 'देहाभिमान दुःख आदि का कारण नहीं है'।

इस आशंका के समाधान में यह कहा गया है कि 'अहम्' यह प्रत्यय कल्पित आत्मविषयक है। चिदाभास-विशिष्ट अन्तःकरण (बुद्धि) को आत्मदर्शन के रूप में समझना, यह भ्रम है। वह शुद्ध आत्मदर्शन न होकर आत्म-दर्शनाभास है। मूल श्लोक में 'दर्शने' का अर्थ है 'दर्पणे' अर्थात् दर्पण में। क्योंकि 'दर्शयतीति दर्शनं दर्पणादि', उस दर्पण में मुख का आभास (छाया, प्रतिबिम्ब) जैसे आरूढ़ होता (पड़ता) है, उसी प्रकार दृशि रूप प्रत्यगात्मा की छाया (आभास) जिस प्रत्यय में संक्रान्त (आरूढ़) होती है, उस प्रत्यय[1] (साभास अन्तःकरण) को देखनेवाला अर्थात् 'अहम्' रूप में समझनेवाला योगी, अग्रहणात्मक अविद्या से सम्बद्ध होने के कारण 'मैंने आत्मदर्शन कर लिया' समझने लगता है। जैसे छोटे-बड़े मलिन दर्पण में अपने मुख को देखनेवाला मूर्ख मनुष्य अपने मुख को ही मलिन एवं छोटा-बड़ा समझता है, क्योंकि उसे दर्पण और मुख के स्वरूप का विवेक नहीं है। वैसे ही यह नवीन योगी उपाधि के दोषों से आस्कन्दित (युक्त) हुए के समान ही मानो अपनी आत्मा को समझकर 'मैं कर्ता हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार अपने को कर्ता, सुखी, दुःखी समझता है। क्योंकि उसे उपाधि के और अपने आत्मा के स्वरूप का विवेकज्ञान (पृथक्-पृथक् रूपेण ज्ञान) नहीं है। एवंच 'अहम्' यह ज्ञान (दर्शन) कल्पित आत्मविषयक है। यह ध्यान में रखकर ही यह कहा

---

१. प्रत्ययः—प्रत्याययतीति प्रत्ययः अहंकारः साभासमन्तःकरणम् ।

गया है कि 'दुःखित्व' अविवेक अभिमाननिबन्धन है। अतः 'तत्त्वमसि' महावाक्य से सम्यक् आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्ति में दुःखित्व आदि की अनुवृत्ति का होना संभव नहीं है। बल्कि प्रतिभास के ही बाधित होने की अनुवृत्ति होती रहती है ॥ ६ ॥

तं च मूढं च यच्चान्यं प्रत्ययं वेत्ति नो दृशेः ।
स एव योगिनां प्रेष्ठो* नेतरः स्यान्न संशयः ॥७॥

तं चेति—**जो व्यक्ति उस उपाधिभूत अहंकार, मोहात्मक अविवेक और अन्य उपाधिगत सुख-दुःखादि प्रत्ययों को साक्षी प्रत्यगात्मा में नहीं मानता, वही व्यक्ति आत्मज्ञानी योगियों को प्रियतम लगता है, अन्य नहीं, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—यदि साभास अहंकार को आत्मा समझनेवाला (आत्मरूप में देखनेवाला) सम्यग्दर्शी (परमार्थदर्शी) नहीं, तो सम्यग्दर्शी किसे कहा जाय ?

समा०—जो पुरुष उपाधिभूत अहंकार (प्रत्यय), और मोहात्मक अविवेक (मूढ) तथा अन्य उपाधिगत आभास या दुःख आदि को—'साक्ष्यमेव इदं सर्वम्'=यह सब कुछ दृश्य (साक्ष्य) है,—साक्ष्य (दृश्य) के रूप में मानता (जानता) है; दृशि (साक्षी) जो आत्मा है, उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है—इस प्रकार विवेक-बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति ही सम्यग्दर्शी (परमार्थदर्शी) है, अर्थात् योगियों[1] का प्रियतम (प्रेष्ठ) रहता है। साभास अहंकार को ही आत्मा समझनेवाला सम्यग्दर्शी नहीं है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए। भगवद्गीता[2] में भगवान् ने भी अपने श्रीमुख से 'संशय करते रहना ठीक नहीं है अर्थात् अनुचित है'—ऐसा कहा है ॥ ७ ॥

विज्ञातेर्यस्तु विज्ञाता स त्वमित्युच्यते यतः ।
स स्यादनुभवस्तस्य ततोऽन्योऽनुभवो मृषा ॥८॥

विज्ञातेरिति—**जो विज्ञाति का [समस्त विशिष्ट ज्ञानों का] विज्ञाता [प्रकाशक] है, वही 'त्वम्' पद से बताया गया है, अतः उस 'त्वम्' पद का यथार्थ अनुभव तो वही है और उससे भिन्न जो अनुभव है, वह मिथ्या है ॥ ८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—सभी लोगों के लिये आत्मा के रूप में भासित होनेवाला अहंकार भी देह की तरह अनात्मा होने के कारण यदि त्याज्य है तो उससे पृथक् अन्य कोई अर्थ 'त्वम्' पद से प्रतीत नहीं हो रहा है, ऐसी स्थिति में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तो कोई विषय ही नहीं रहेगा अर्थात् महावाक्य को निरालम्बन ही कहना होगा।

समा०—अहंकार आदि से विविक्त (भिन्न, पृथक्) अर्थ का प्रतिपादन श्रुति ने ही कर दिया है। अतः उक्त आशंका ठीक नहीं है। अर्थात् पूर्वप्रतिपादित 'त्वम्' पद के यथार्थ अर्थ का अवलम्बन कर 'तत्त्वमसि' वाक्य प्रवृत्त हुआ है, इसलिए उसके निरालम्बन होने की आशंका करना उचित नहीं है। क्योंकि श्रुति[3] में षष्ठ्यन्त शब्द से निर्दिष्ट बुद्धिवृत्तिरूप अनित्य ज्ञान (विज्ञान, विज्ञाति) को तुम, विज्ञाता (नित्य विज्ञप्ति=ज्ञान या विज्ञान के रूप में ज्ञाता) मत समझो। किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य के 'त्वम्' शब्द से उसको बताया जा रहा है, जो विज्ञति (विज्ञान या ज्ञान) का विषय नहीं है, अपितु उसका (विज्ञति, ज्ञान या विज्ञान का) विज्ञाता (ज्ञाता) है, सर्वसाक्षी है। उस सर्वविभासक (सर्वप्रकाशक) को ही 'त्वम्' शब्द से 'तत्त्वमसि' महावाक्य में बताया गया है। एवंच उस सर्वविभासक का अवलम्बन कर 'तत्त्वमसि' वाक्य की प्रवृत्ति होने से उसके निरालम्बनत्व की आशंका के लिये कोई अवकाश नहीं

१. योगिनाम्—युज्यतेऽनेनेति योगस्तत्त्वज्ञानं, तद् विद्यते येषां ते योगिनः तेषाम् ।
२. 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।'—(भ. गी. ४।४०)
३. 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ।'—(बृ. उ. ४।३।३०)
'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः ।'—(बृ. उ. ३।४।२)
* श्रेष्ठो—पाठान्तरम् ।

है। अर्थात् विज्ञप्तिरूप (नित्यज्ञानरूप) जो साक्षी है, 'वही तू है'—यह अर्थ 'तत्त्वमसि' वाक्य से बताया जा रहा है। तब उस ज्ञानी के लिए स्वरूपानुभव (ज्ञान) ही होता रहेगा। इस प्रकार से (श्रुत्युक्त प्रकार से) होनेवाला 'त्वम्' पदार्थ का अनुभव ही सम्यक् अनुभव है। उसके अतिरिक्त जो अनुभव है, वह बुद्धि और तत्स्थित आभासविशिष्ट होने से मिथ्या अभ्यास (मृषा) है। अर्थात् स्वरूपव्यतिरिक्त जो अनुभव है, वह साधनाधीन होने से उसे मिथ्या ही समझना चाहिये ॥ ८ ॥

दृशिरूपे सदा नित्ये दर्शनादर्शने मयि।
कथं स्यातां ततो नान्य इष्यतेऽनुभवस्ततः ॥९॥

दृशीति—**मैं सर्वदा नित्य साक्षीस्वरूप हूँ, मुझमें आगमापायी ज्ञान और अज्ञान कैसे रह सकते हैं ? इसलिये उस आत्मस्वरूप से भिन्न अन्य कोई किसी प्रकार का अनुभव अभीष्ट नहीं है ॥ ९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—'आत्मा' ज्ञान का विषय नहीं है, ऐसा यदि श्रुति कहती है तो उसका अनुभव कैसे हो सकेगा ? यदि कहें कि वह (आत्मा) स्वयं अनुभवरूप है, अतः उसके लिये अन्य अनुभव की अपेक्षा नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभाव्य और अनुभव दोनों में भेद हुआ करता है। अतएव घट-पटादि वस्तुएँ ज्ञान का विषय कही जाती हैं, वे वस्तुएँ और उनका अनुभवात्मक ज्ञान दोनों एक दूसरे से पृथक्-पृथक् होते हैं। उसी तरह आत्मा के सम्बन्ध में भी क्यों न कहा जाय ? अर्थात् आत्मा और उसका ज्ञान दोनों पृथक् हैं, अतः आत्मा को ज्ञान (अनुभव) का विषय ही कहना उचित होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा यदि ज्ञान का विषय नहीं (अविषय) है तो भगवती श्रुति उसके ज्ञान (साक्षात्कार) के लिये क्यों कह रही है ? और ज्ञान का अविषय होने से उसका अनुभव (साक्षात्कार) कैसे हो सकेगा ? यदि आत्मा अनुभवरूप होने से उसे अन्य अनुभव की अपेक्षा नहीं है ऐसा कहा जाय तो ठीक न होगा, क्योंकि सर्वत्र जड़ और चेतन की विशेषता के कारण अनुभाव्य और अनुभव में भेद देखा गया है, इसलिये आत्मा को अनुभवरूप नहीं कह सकते।

समा०—जिसकी स्व-सत्ता में प्रकाश का व्यभिचार रहता है उसे आगन्तुक ज्ञान की अपेक्षा रहती है, अतः उस वस्तु के दर्शन (प्रत्यक्ष अनुभव) या अदर्शन (अप्रत्यक्ष अर्थात् अननुभव) में एक अन्य ज्ञान के आगम और अपाय की अपेक्षा रहा करती है। यह कारण है कि किसी भी जड़ वस्तु के प्रकाशक ज्ञान के होने पर उस वस्तु की सत्ता का ज्ञान हो पाता है और प्रकाशक ज्ञान के न होने पर उस वस्तु की सत्ता का ज्ञान नहीं हो पाता। 'मैं' तो सदा ही दृशिरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप हूँ, अतः 'मैं' सत्य हूँ, नित्य हूँ, मुझे अपनी सत्ता के प्रकाशित होने में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है। एवंच मैं स्वरूपतः और ज्ञानतः नित्य हूँ। इसलिये मेरा दर्शन और अदर्शन जड़ वस्तु की तरह कैसे संभव हो सकता है ? दोनों बातें मुझमें कभी संभव नहीं हो सकतीं। तस्मात् मेरी सत्ता को बताने के लिये मेरे स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी अनुभव की अपेक्षा करना उचित नहीं है ॥ ९ ॥

यत्स्थस्तापो रवेर्देहे दृशेः स विषयो यथा।
सत्त्वस्थस्तद्वदेवेह दृशेः स विषयस्तथा ॥१०॥

यत्स्थ इति—**शरीर के जिस भाग [अंश] पर रवि [सूर्य] के ताप का संयोग [सम्बन्ध] होता है, वही भाग साक्षी का विषय होता है। उसी प्रकार व्यवहार दशा में अन्तःकरण में स्थित दुःख आदि आत्मा के विषय होते हैं ॥ १० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में बता चुके हैं कि घट-पट आदि का अनुभव जैसे घट-पटादि से पृथक् रूप में व्यक्त होता है, उसी तरह आत्मा का अनुभव भी उससे पृथक्रूप में व्यक्त हो, यह नहीं समझना चाहिये। क्योंकि आत्मा तो सदा स्फुरणरूप है अर्थात् वह सदा अनुभवरूप ही है। एवंच आत्मा नित्य दृग्रूप है। इसी अभिप्राय को पुनः शंका-समाधान के द्वारा दृढ़ करने के लिये और स्पष्ट कर रहे हैं—

शंका—हम संसारी मनुष्यों को दिन-रात सुख-दुःखादि से युक्त आत्मा का ही तो अनुभव होता रहता है। तब हम उसे (आत्मा को) नित्य दृशिरूप (अनुभवरूप) कैसे समझें ?

समा०—शरीर के जिस प्रदेश (भाग) पर रवि का ताप होता है, वही ताप (तापाश्रयप्रदेशविशिष्ट ताप) जैसे आत्मा (दृशि) का विषय होता है, उसी प्रकार व्यवहार में भी हमें बुद्धि में होने वाले (सत्त्वस्थ= अन्तःकरणस्थ) सुख-दुःखरूप ताप का ही (स्वाश्रयान्तःकरण सहित ताप का ही) भान होता है। अर्थात् बुद्धिविशिष्ट ताप ही दृशि (आत्मा) का विषय होता है। यानी 'ताप' दृक्रूप (दृशिरूप) आत्मा से सम्बद्ध (समवेत) नहीं है, वह तो अन्तःकरण (बुद्धि) से सम्बद्ध है। निष्कर्ष यह हुआ कि 'ताप' आत्मा का धर्म नहीं है, वह तो अन्तःकरण का धर्म है, यह अनुभव में आता है। अतः आत्मा नित्य है और चैतन्य (ज्ञान, अनुभव) रूप ही है।

अथवा—शरीर में होनेवाला रवि का ताप, देह के जिस प्रदेश में स्थित रहता है, उससे (उस ताप से) विशिष्ट वह सम्पूर्ण देह ही समझा जाता है और वह 'तप्तोऽहम्'= मैं सन्तप्त हूँ कहता रहता है। एवंच व्यवहार में वह ताप, लौकिक आत्मा (दृशि) का विषय है, यह समझा जाता है। उसी प्रकार विषयसम्पर्कजनित सुख-दुःखादि ताप, अन्तःकरण में (सत्त्व में) वस्तुतः स्थित है, इसलिये सुख-दुःखादितापविशिष्ट वह अन्तःकरण, उस साक्षी (दृशि) का विषय होता है। तथाच 'सुखी अहम्'= मैं सुखी हूँ इस अभिमान का अध्यास (भ्रम) अपने साक्षी (दृशि) आत्मा में मनुष्य को होता रहता है, क्योंकि अन्तःकरण को ही मनुष्य 'आत्मा' समझता है, अर्थात् आत्मा में सुखी-दुःखी होने का जो अभिमान है, वह अन्तःकरणाध्यासनिबन्धन है। किन्तु जो विवेकी पुरुष है, उसे कभी भी सुखी या दुःखी के रूप में आत्मा की प्रतीति नहीं हुआ करती। किन्तु लौकिक पुरुष देह के ताप का आत्मा में अध्यास करता है, इसलिये वह अपने आत्मा को ही तप्त समझा करता है ॥ १० ॥

प्रतिषिद्धेदमंशो ज्ञः खमिवैकरसोऽद्वयः।
नित्यमुक्तः सदा शुद्धः सोऽहं ब्रह्मास्मि केवलः ॥११॥

प्रतिषिद्ध इति—**जहां 'इदम्' अंश का बाध हो गया है और जो 'चेतन' स्वरूप है, आकाश के समान सदा एकरस है, अद्वितीय है, नित्यमुक्त है तथा सर्वदा शुद्धस्वरूप है, ऐसा जो एक मात्र ब्रह्म है, वही 'मैं' हूँ ॥ ११ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'इदम्' अंश का बाध हो जाने से सुख-दुःखादि से युक्त जो अन्तःकरण उसके साथ इस (आत्मा) का सम्बन्ध नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है। इसका स्वरूप, दृश्यमान जड़ जगत् से नितान्त पृथक् है ॥ ११ ॥

विज्ञातुर्नैव विज्ञाता परोऽन्यः संभवत्यतः।
विज्ञाताऽहं परो मुक्तः सर्वभूतेषु सर्वदा ॥१२॥

विज्ञातुरिति—**समस्त जगत् के विज्ञाता का अन्य कोई और विज्ञाता मानना संभव नहीं है। इस कारण सम्पूर्ण भूतों में सर्वदा विद्यमान 'मैं' ही मुक्तस्वरूप परम विज्ञाता हूँ ॥ १२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जब कि सर्वविज्ञातृरूप आत्मा के सिवाय अन्य दूसरा व्यापक विज्ञाता है ही नहीं, अतः समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् में व्याप्त होकर रहने वाला तथा उसके (ज्ञेय के) धर्म से रहित होने से सर्वदा मुक्त ऐसा परम विज्ञाता मैं ही हूँ। समस्त देहों में विज्ञाता का जो भेद स्फुरित होता है, वह अप्रामाणिक है। अतः उस विज्ञाता के अद्वयत्व तथा ब्रह्मत्व में शंका नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

यो वेदालुप्तदृष्टित्वमात्मनोऽकर्तृतां यथा।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ॥१३॥

य इति—**जो व्यक्ति अपनी ब्रह्मज्ञता के अभिमान का त्याग कर आत्मा के अलुप्त चैतन्य [दृष्टित्व] तथा अकर्तृत्व को समझता है, वही व्यक्ति आत्मज्ञानी है, अन्य नहीं ॥ १३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति के उपदेश के अनुसार समस्त शरीरों में अद्वय आत्मा का ज्ञान रखने पर भी 'ब्रह्मविदेव चाहम्' मैं ब्रह्मवित् हूँ, इस प्रकार अपने ब्रह्मवित् (ब्रह्मज्ञ) होने का अभिमान उसे रहता ही है, अतः उसमें सविशेषता है, ऐसा कहना ही पड़ेगा। इससे उसमें निर्विशेषता सिद्ध नहीं हो पायेगी।

समा०—जो व्यक्ति सम्पूर्ण अभिमान अर्थात् 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ'—इस अभिमान का भी त्याग कर श्रुति-प्रतिपादित निर्विशेष आत्मा का साक्षात्कार करता है अर्थात् अलुप्त चिन्मात्रता के कारण आत्मा के द्रष्टृत्व तथा अकर्तृत्व को जानता है, वही व्यक्ति आत्मज्ञानी (आत्मवित्, ब्रह्मवित्) कहलाने योग्य है। और जिसमें अभिमान का लेशमात्र भी हो वह ब्रह्मज्ञानी कहलाने योग्य नहीं है। क्योंकि अपने को ब्रह्मज्ञ समझने का जो अभिमान है, वह भी अज्ञानजनित ही है। 'ब्रह्म' वास्तव में ज्ञेय वस्तु नहीं है, तब उसके ज्ञान का अभिमान कैसे ? ॥ १३ ॥

ज्ञातैवाहमविज्ञेयः शुद्धो मुक्तः सदेत्यपि ।
विवेकी प्रत्ययो बुद्धेर्दृश्यत्वान्नाशवान्यतः ॥१४॥

ज्ञातैवेति—**'मैं' ज्ञाता ही हूँ, ज्ञेय नहीं हूँ तथा 'शुद्ध', 'मुक्त' और 'सत्' स्वरूप हूँ—यह जो बुद्धि का विवेकी प्रत्यय है, वह भी दृश्य होने के कारण विनाशी है। अतः ज्ञानी में आत्मज्ञता के अभिमान के लिये अवकाश ही नहीं है ॥१४॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—अशेष (सम्पूर्ण) विशेष का त्याग करने पर भी आत्मा में ब्रह्मात्मज्ञान के विद्यमान रहने से ब्रह्मवित्त्व के अभिमान का त्याग करना कैसे संभव हो सकता है ? अतः आत्मा को अत्यन्त निर्विशेष कैसे कह सकते हैं ?

समा०—'ज्ञातैवाहम्' मैं ज्ञाता ही हूँ, ज्ञेय नहीं हूँ—इस प्रकार का जो विवेकी प्रत्यय है (विवेकवान् प्रत्यय यानी विविक्त आत्मनिष्ठ प्रत्यय) है, वह अन्तःकरणवृत्तिरूप (बुद्धिबोधेद्ध) है, इसलिए वह दृश्य है, और दृश्य होने से वह साक्षिभास्य है, अतः नाशवान् होने से उस वृत्ति का भी नाश हो जाता है। इस कारण ब्रह्मवित् में अभिमान का लेश भी नहीं पाया जाता। जिस प्रकार मृत्तिका से मलिन हुए जल में प्रक्षिप्त कतकरेणु (निर्मली बीज) उस जल की सम्पूर्ण मलिनता को नीचे बैठाकर स्वयं भी बैठ जाता है, उसी प्रकार यह बोधवृत्ति भी अन्तःकरण की होने के कारण अज्ञानजनित ही है, अतः अज्ञान का नाश करने के पश्चात् वह (वृत्ति) स्वयं भी नष्ट हो जाती है। अर्थात् पर प्रत्यगात्मा में प्रक्षिप्त वह विवेकबुद्धिवृत्ति, प्रत्यगात्मगत सकल विशेषरूप मलों का उन्मूलन कर अन्त में स्वयं भी उन्मूलित हो जाती है, प्रत्यगात्मा को समस्त विशेषों से रहित अनाविल कर देती है। तात्पर्य यह है कि उक्त विवेक (प्रत्यय) साक्षी का विषय है, विनाशी है, परिणामशीला बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि यह प्रत्यगात्मा, निर्विशेष ब्रह्म ही है ॥ १४ ॥

अलुप्ता त्वात्मनो दृष्टिर्नोत्पाद्या कारकैर्यतः ।
दृश्यया चान्यथा दृष्ट्या जन्यतास्याः प्रकल्पिता ॥१५॥

अलुप्तेति—**आत्मा की चिन्मयी दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह कर्ता आदि कारकों द्वारा उत्पन्न नहीं की जाती। अन्यदृश्य बुद्धि-वृत्ति के द्वारा उस आत्मा की उत्पत्ति [जन्यता] की कल्पना हुआ करती है ॥ १५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—प्रकृत बुद्धिप्रत्यय के समान आत्मचैतन्यप्रतिभास भी विनाशी है—'आत्मचैतन्यप्रतिभासोऽपि नाशवान्, आत्मप्रकाशत्वात्, या (जन्यत्वात्), प्रकृतबुद्धिप्रत्ययवत्'। इस अनुमान से यह कह सकते हैं कि 'ज्ञान' (दृष्टि) को आत्मा का स्वरूप भले ही मान लिया गया हो तथापि वह नश्वर है, क्योंकि वह (ज्ञान) जन्य है, अतः उसमें जन्यत्व प्रतीति होने से उसे नश्वर ही समझना होगा।

समा०—उक्त अनुमान में हेतु के सोपाधिक होने से वह अनुमान ठीक नहीं है। वहां 'कारकाधीनात्मलाभत्व' उपाधि है। जो साध्य का 'व्यापक' होकर साधन का 'अव्यापक' रहे उसे 'उपाधि' कहते हैं। आत्मस्वरूप जो ज्ञान (दृष्टि) है, उसकी जन्यता तो एक अन्यबुद्धिवृत्ति रूप उपाधि से, जो स्वरूपज्ञान (दृष्टि) के विशेष आकार वाली

है, उससे कल्पित (आरोपित) है। वह बुद्धिवृत्ति दृश्य कोटि में है। जैसे घट की उत्पत्ति होने से घटाकाश की उत्पत्ति कही जाती है। अतः उक्त 'कारकाधीनात्मलाभत्व' साधन (हेतु) का अव्यापक होने से हेतु की 'उपाधि' है, अर्थात् वह साधन का व्यापक नहीं है। 'जन्यत्व' हेतु भी असिद्ध है। अन्तःकरणदृष्टि (ज्ञान) में आत्मदृष्टि (ज्ञान) का आभास (भ्रम) होता है। उन दोनों का विवेक न होने से आत्मदृष्टि में ही समस्त व्यवहार होता रहता है। वस्तुतः स्वात्मदर्शी के लिये कोई व्यवहार नहीं है एवंच जैसे घट-पट आदि जन्य पदार्थों की सत्ता कारकों के अधीन है, वैसे आत्मचैतन्य, कारकों के अधीन नहीं है। इस कारण वह स्वयं सिद्ध और नित्य है। जैसे घट की उत्पत्ति से घटाकाश की उत्पत्ति मान ली जाती है, उसी प्रकार बुद्धिवृत्तिरूप उपाधि के कारण आत्मचैतन्य भी उत्पन्न हुआ-सा जान पड़ता है ॥ १५ ॥

देहात्मबुद्ध्यपेक्षत्वादात्मनः कर्तृता मृषा ।
नैव किंचित्करोमीति सत्या बुद्धिः प्रमाणजा ॥१६॥

देहात्मेति—**आत्मा की कर्तृता [कर्तृत्व] देहात्मबुद्धि [देहात्मज्ञान] की अपेक्षा रखती है अर्थात् देहात्मबुद्धि पर निर्भर है। अतः वह मिथ्या है, इसलिये 'मैं कुछ भी नहीं करता' यह प्रमाणजन्य ज्ञान ही सत्य है ॥ १६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसके पूर्व श्लोक में यह बताया था कि चित्प्रकाश आत्मा में अव्यभिचरित तथा नित्य होने से 'यो वेदालुप्तदृष्टित्वम्'—(१३) श्लोक के द्वारा उसे (चित्प्रकाश) नित्यदृष्टि (नित्यज्ञान) रूप बताया है। आगे चलकर उसी श्लोक में 'अकर्तृतां यथा' भी कहा गया था, अतः अब उसी 'निर्विकारत्व' को 'देहात्मबुद्धि' और 'कर्तृत्वं कारकापेक्षम्' इन दो श्लोकों के द्वारा बता रहे हैं।

'देहात्मबुद्धि' यह मिथ्या बुद्धि है, और उसी कारण आत्मा में जो कर्तृत्व आदि की प्रतीति होती रहती है, वह भी मिथ्या है। 'नैव किञ्चित् करोमि'=मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, इस प्रकार की 'आत्मा' में जो अकर्तृत्वबुद्धि है, वह उपनिषत्प्रमाण[१] से उत्पन्न होती है, अतः वह सप्रमाण है, इस कारण वही सत्य है, और प्रमाणरहित देहात्मबुद्धि की बाधक है। एवंच आत्मा में होनेवाला कर्तृत्वादिप्रतिभास मिथ्या (अज्ञानमूलक होने से मिथ्या) है और अकर्ता, अभोक्ता आत्मा का ज्ञान, प्रमाणजनित होने से बलवान् है। अतः ब्रह्मात्मज्ञानी के लिए कोई व्यवहार नहीं है ॥ १६ ॥

कर्तृत्वं कारकापेक्षमकर्तृत्वं स्वभावतः ।
कर्ता भोक्तेति विज्ञानं मृषैवेति सुनिश्चितम् ॥१७॥

कर्तृत्वमिति—**कर्तृत्व तो कारकों की अपेक्षा रखता है, किन्तु आत्मा का अकर्तृत्व स्वाभाविक है। अतः 'मैं' कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ—यह विज्ञान मिथ्या ही है, यही सुनिश्चित सिद्धान्त है ॥ १७॥**

हृदयस्पर्शिनी

उक्त श्लोक के द्वारा भी पूर्वोक्त अर्थ को ही (आत्मा में कर्तृत्वबुद्धि पारमार्थिक नहीं है) बता रहे हैं। वस्तुतः असंग, निरवयव आत्मा में कारकों का संसर्ग (संबंध) अनुपपन्न ही है। क्योंकि उसमें अकर्तृत्व तो स्वाभाविक है, इस कारण उसे कर्ता, भोक्ता आदि समझना मिथ्या ही है, वास्तविक (सत्य) नहीं है। 'आत्मा' तो नित्य निर्मल ही है ॥ १७ ॥

एवं शास्त्रानुमानाभ्यां स्वरूपेऽवगते सति ।
नियोज्योऽहमिति ह्येषा सत्या बुद्धिः कथं भवेत् ॥१८॥

एवमिति—**इस प्रकार शास्त्र[२] और अनुमान[३] प्रमाण द्वारा आत्मस्वरूप का बोध हो जाने पर 'मैं नियोज्य [कर्मविधायक वाक्य के द्वारा प्रवृत्त किये जाने योग्य] हूँ'—ऐसी बुद्धि सत्य कैसे हो सकती है? ॥ १८ ॥**

१. 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्'—(श्वेता. उ. ६।१९)
२. 'विज्ञातेर्यस्तु विज्ञाता स त्वमित्युच्यते यतः'—(श्वेता. उ. १२।८)
३. 'यत्स्थस्तापो रवेर्देहे'—(श्वेता. उ. १२।१०)

हृदयस्पर्शिनी

शका—पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार वेदान्त वाक्यों से आपाततः ज्ञान होने पर भी साक्षात्कार के निमित्त प्रसंख्यान विधि को क्यों न माना जाय ?

समा०—'तत् त्वम्' पदार्थ का परिशोधन किये हुए व्यक्ति को वेदान्त वाक्य से ही 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ—यह ज्ञान निरपवादरूप से (अबाधित) हो जाता है, क्योंकि पदार्थ—परिशोधन होने पर 'नियोज्योऽहम्' मैं नियोज्य हूँ, यह बुद्धि नहीं रह पाती, उसका तो उन्मूलन ही हो जाता है। अतः प्रसंख्यानविधि के लिये कोई अवकाश नहीं है। हाँ, पदार्थपरिशोधन के पूर्व 'मैं नियोज्य हूँ'—यह बुद्धि होती रहती है, किन्तु वह कल्पित है, अतएव पदार्थ-शोधन के पश्चात् उस कल्पित बुद्धि का बाध हो जाता है ॥ १८ ॥

यथा सर्वान्तरं व्योम व्योम्नोऽप्यभ्यन्तरो* ह्यहम्।
निर्विकारोऽचलः शुद्धोऽजरो मुक्तः सदाऽद्वयः ॥१९॥

यथेति—**जिस प्रकार आकाश सर्वत्र सबमें व्याप्त [ओतप्रोत] है, उसी प्रकार 'मैं' आकाश के भी अन्तर्गत तथा निर्विकार, अचल, अजर, शुद्ध, मुक्त, नित्य और अद्वयस्वरूप हूँ ॥ १९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'ब्रह्मवित्' में निर्विकारता होने से उसे 'मैं नियोज्य हूँ'—ऐसी बुद्धि (यह ज्ञान) होती ही नहीं ॥ १९ ॥

॥ इति द्वादशम्प्रकाशप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

* व्याप्य—पाठान्तरम्

अचक्षुष्ट्वप्रकरणम्

अचक्षुष्ट्वान्न दृष्टिर्मे तथाऽश्रोत्रस्य का श्रुतिः ।
अवाक्त्वान्न तु वक्तिः स्यादमनस्त्वान्मतिः कुतः ॥१॥

अचक्षुष्ट्वादिति—**चक्षुविहीन [नेत्रहीन] होने से मेरी कोई दृष्टि नहीं है, उसी तरह मैं श्रोत्रहीन हूँ, अतः मुझमें श्रवण शक्ति भी कैसे हो सकती है ? तथा वाक् (वाणी) रहित होने के कारण मुझमें वचन शक्ति भी नहीं है, और मनोहीन (अमना) होने के कारण मुझमें मननशक्ति भी कैसे हो सकती है ? ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

लोगों को पदार्थ के स्वरूप का ठीक-ठीक परिचय न होने से ही वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता, किन्तु पदार्थ का परिचय होते ही वाक्य के ठीक-ठीक अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतः प्रसंख्यानविधि अनर्थक और अनुपपन्न है, यह पहले कह चुके हैं। पूर्व प्रकरण के अन्त में 'निर्विकारो ऽचलः शुद्धः' के द्वारा आत्मा का शुद्धत्व और अचलत्व जो बताया गया था, उसी को और अधिक स्पष्ट करने के लिये इस नवीन प्रकरण का आरंभ किया जा रहा है। इस प्रकरण में आत्मा को सर्वकरणशून्य बताया गया है। चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से बाहर की ओर प्रसृत (फैली हुई) और रूपादि विषयों से उपरञ्जित (रूपादि विषयाकार हुई) 'जानामि' जानता हूँ—यह क्रिया ही 'दृष्टि' शब्द से यहाँ विवक्षित है। इस प्रकार की वह दृष्टि मुझमें नहीं है अर्थात् वह मेरा विकार यानी मेरा धर्म नहीं है। क्योंकि 'अचक्षुष्ट्वात्' अर्थात् चक्षु तो देह (शरीर) देश के आश्रित है, अतः वह भौतिक कारण है। वह मेरे आश्रित नहीं है, यह अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित है, अतः हेतु के असिद्ध होने की (हेत्वसिद्धि की) शंका नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार श्रुति (श्रोत्र) आदि के विषय में समझ लेना चाहिये। तथाच तत्तदिन्द्रियद्वारक बुद्धिवृत्तिरूप दृष्टि आदि क्रिया से हीन होने के कारण आत्मा की अचलता और शुद्धता[1] स्पष्ट हो जाती है। अर्थात् उसके (आत्मा के) निश्चल होने से ही उसकी शुद्धता समझनी चाहिये ॥ १ ॥

अप्राणस्य न कर्मास्ति बुद्ध्यभावे न वेदिता ।
विद्याविद्ये ततो न स्तश्चिन्मात्रज्योतिषो मम ॥२॥

अप्राणस्येति--**मैं प्राणरहित हूँ, अतः मेरा कोई कर्म नहीं है, तथा बुद्धि का अभाव होने के कारण मुझमें ज्ञातृत्व भी नहीं है, अतएव मुझ चिन्मात्रज्योतिःस्वरूप में ज्ञान और अज्ञान भी नहीं है ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि विकारों के हेतुभूत प्राण, बुद्धि के अभाव से (न रहने के कारण) भी मैं शुद्ध हूँ। मैं तो चिन्मात्रज्योतिःस्वरूप अर्थात् सदा प्रकाशमान चिदेकरस हूँ। मुझमें न विद्या न अविद्या अर्थात् ज्ञान और उसका अभाव या ज्ञान और क्रिया नहीं हैं, क्योंकि वे दोनों बुद्धि की ही विशेष अवस्थारूप हैं। आत्मा में बुद्धि के न होने से उसकी शुद्धता सिद्ध हो जाती है। एवंच आत्मा में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व न होने से उसकी निश्चलता और निश्चलता होने से शुद्धता है। उससे बुद्धि का संबंध न होने से उसमें ज्ञातृत्व नहीं है। उसमें ज्ञातृत्व न होने से उसकी चिन्मात्रता स्पष्ट है, उस चिन्मात्र आत्मा से विद्या-अविद्या का कोई संबन्ध न होने से भी उसकी शुद्धता स्पष्ट है ॥ २ ॥

नित्यमुक्तस्य शुद्धस्य कूटस्थस्याविचालिनः ।
अमृतस्याऽक्षरस्यैवमशरीरस्य सर्वदा ॥३॥

---

१. (बृह. उ. ३।८।८)

नित्येति—**इसी प्रकार मुझ नित्यमुक्त, शुद्ध, कूटस्थ, अविचल, अमृतस्वरूप, अविनाशी और अशरीरी में [विद्या, अविद्या नहीं है, इस प्रकार पूर्व श्लोक से सम्बन्ध है] ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वप्रतिपादित धर्मों का आत्मा में अभाव होने से उसकी शुद्धता बताई गई थी, एवंच उसकी शुद्धता में 'अशरीरत्व' को ही हेतु कहना होगा। इसी अभिप्राय से आत्मा के चिन्मात्रज्योति:स्वरूप को अनेक विशेषणों से स्पष्ट कर रहे हैं। इन सब विशेषणों से विशिष्ट आत्मा में विद्या-अविद्या नहीं है, ऐसा अन्वय पूर्व श्लोक के साथ लगाना चाहिये। आत्मा की नित्यता में 'शुद्धत्व' हेतु है, उसकी कूटस्थता में 'अविचालित्व' हेतु है, उसके अमृतत्व में 'अक्षरत्व' हेतु है। इस प्रकार विशेषणों को लगाना चाहिये। उक्त तीनों में 'अशरीरत्व' हेतु है। क्योंकि शरीर का संबंध हुए बिना उसमें अशुद्धि, चलनक्रिया, क्षरणक्रिया की उपपत्ति नहीं हो सकती। आत्मा तो सर्वदा ही अशरीर होने से वह सर्वदा शुद्ध है ॥ ३ ॥

जिघत्सा वा पिपासा वा शोकमोहौ जरामृती ।
न विद्यन्तेऽशरीरत्वाद्व्योमवद्व्यापिनो मम ॥४॥

जिघत्सेति—**उक्त विशेषणों के द्वारा प्रतिपादित आत्मा में क्षुत् [भूख], पिपासा [प्यास], शोक, मोह, जरा, मृत्यु भी नहीं है, क्योंकि मैं अशरीर [शरीर रहित] तथा आकाश के समान व्यापक हूँ ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा के साथ छह ऊर्मियों (षडूर्मियों) का सम्बन्ध न रहने से भी उसकी शुद्धता सिद्ध होती है। खादितुमिच्छा=जिघत्सा=खाने की इच्छा, पातुमिच्छा=पिपासा=पीने की इच्छा। 'अशरीरत्वात्' यह उपलक्षण है (सूचक है), अर्थात् अशरीरत्वात् कहने से अप्राणत्वात्, अमनस्त्वात् को भी समझना चाहिये। कहा भी है—

'प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहकौ ।
जरामृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥' इति ।

क्षुत् और पिपासा 'प्राण' के धर्म हैं, शोक और मोह 'मन' के धर्म हैं, जरा और मृत्यु 'शरीर' के धर्म हैं, इन छह विकारों (ऊर्मियों) से रहित '**शिव**' है ॥ ४ ॥

अस्पर्शत्वान्न मे स्पृष्टिर्नाजिह्वत्वाद्रसज्ञता ।
नित्यविज्ञानरूपस्य ज्ञानाज्ञाने न मे सदा ॥५॥

अस्पर्शत्वादिति—**मैं स्पर्शशून्य हूँ इस कारण मुझमें 'स्पर्शगुण' नहीं है, रसनाहीन हूँ, इसलिये मुझमें रसज्ञता नहीं है, तथा नित्य विज्ञानस्वरूप होने के कारण मुझमें सर्वदा ही ज्ञान और अज्ञान का अभाव है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

स्पर्श-रसनसम्बन्धप्रतिषेध, अनुक्त सकल इन्द्रियवृत्तियों के प्रतिषेध का उपलक्षण है। एवंच आविर्भाव-तिरोभाव रहित होने से उसकी विशुद्ध चिद्रूपता कही गई है। एवंच अनिषिद्ध इन्द्रियनिषेध द्वारा उनसे (उन इन्द्रियों से) प्राप्त दृष्ट्यादि विकार का आत्मा में निषेध किया गया है। वह (आत्मा) नित्य विज्ञानरूप होने से उसमें विद्या-अविद्या भी नहीं हैं ॥ ५ ॥

या तु स्यान्मानसी वृत्तिश्चाक्षुष्का रूपरञ्जना ।
नित्यमेवात्मनो दृष्ट्या नित्यया दृश्यते हि सा ॥६॥

यात्विति—**चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा निर्गत होने वाली रूपविषयिणी जो मानसी वृत्ति है, वह सर्वदा ही आत्मा के नित्य चैतन्य से प्रकाशित होती है ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में दृष्टि आदि नहीं होते हैं, यह पहले बताया गया है, उसी में उपपत्ति दे रहे हैं—इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर अन्तःकरण, विषय के आकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण के इस परिणाम को ही **'वृत्ति'** कहते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों से होने वाले समस्त ज्ञान, तत्तदाकार में परिणत हुई अन्तःकरण की वृत्ति से ही होते हैं। वह वृत्ति, आत्मरूप नित्य चैतन्यप्रकाशलक्षण दृष्टि से नित्य ही प्रकाशित होती रहती है। इसका सभी को अनुभव है। अन्तःकरण की दृष्टि, आत्मचैतन्य की दृश्य है ॥ ६ ॥

तथाऽन्येन्द्रिययुक्ता या वृत्तयो विषयाञ्जनाः ।
स्मृती रागादिरूपा च केवलाऽन्तर्मनस्यपि ॥७॥

तथेति—**इसी प्रकार जो अन्यान्य इन्द्रियों से युक्त विषयाकार वृत्तियाँ हैं, तथा जो [इन्द्रियसम्बन्धरहित] केवल मन के भीतर होनेवाली स्मरणात्मिका, रागात्मिका आदि वृत्तियाँ हैं [वे भी आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होती हैं ॥ ७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व प्रतिपादन के अनुसार यह अनुमान प्रयोग कर सकते हैं कि 'न दृष्ट्यादयः चिदात्मीयाः, तद्दृश्यत्वात्, यो येन दृश्यते न स तदीयः, यथा रूपादिः।' इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा दृष्टि आदि विकारों से रहित होने के कारण उसमें शुद्धता है, इसी अभिप्राय से नेत्रद्वारक वृत्ति में कहे गये न्याय का अतिदेश अन्य वृत्तियों में कर रहे हैं। विषयाञ्जना वृत्ति का अर्थ है विषयोपाधिका अर्थात् विषयाकारा वृत्ति। जो स्मृति, राग आदि वृत्ति, चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा किये बिना ही शरीरान्तर्वर्ती चित्त में हुआ करती है, वह भी पूर्वोक्त आत्मदृष्टि के द्वारा देखी जाती है, अर्थात् प्रकाशित होती है ॥ ७ ॥

मानस्यस्तद्वदन्यस्य दृश्यन्ते स्वप्नवृत्तयः ।
द्रष्टुर्दृष्टिस्ततो नित्या शुद्धाऽनन्ता च केवला ॥८॥

मानस्य इति—**उसी तरह मन की परिणाम रूप जो स्वप्नवृत्तियाँ हैं, वे भी सबसे भिन्न आत्मा की ही दृश्य हैं, इस कारण द्रष्टा की दृष्टि नित्य, शुद्ध, अनन्त और अन्यसंसर्गरहित [केवल] है ॥ ८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अभिप्राय यह है कि स्वप्नावस्था में विद्यमान मनःपरिणामरूप जो विषयाकार वृत्तियाँ हैं, वे सब, अपने से भिन्न द्रष्टा की ही दृश्य जिस प्रकार मानी जाती हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में सभी वृत्तियाँ (दृष्टियाँ) उनसे भिन्न द्रष्टा की दृश्य होती हैं, क्योंकि स्वाप्निक दृश्य एवं जागरित दृश्य दोनों में समान दृश्यता है। समस्त वृत्तियाँ (दृष्टियाँ) कूटस्थदृष्टिभास्य हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि द्रष्टा की दृष्टि (ज्ञान) नित्य, शुद्ध, अनन्त और संसर्ग-शून्य है। इन्द्रिय का विषय (वस्तु) के साथ संसर्ग होनेपर अन्तःकरण, विषय के आकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण के इस परिणाम को ही 'वृत्ति' कहते हैं। इन्द्रियों से होनेवाले सभी ज्ञान उन-उन आकारों में परिणत हुई अन्तःकरण की वृत्ति से ही होते हैं ॥ ८ ॥

अनित्या साऽविशुद्धेति गृह्यतेऽत्राविवेकतः ।
सुखी दुःखी तथा चाहं दृश्ययोपाधिभूतया ॥९॥

अनित्येति—**उपाधिरूप जो दृश्यदृष्टि है, उसके साथ आत्मदृष्टि का अविवेक रहने से लोग उसे अनित्य और अशुद्ध समझते हैं, उस कारण 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' ऐसा समझते हैं ॥ ९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शंका—यदि आत्मदृष्टि ही कूटस्थ है तो उसे अन्यथा (अनित्य, अशुद्ध) क्यों समझा जाता है ?

समा०—वृत्तिमत् (वृत्तिविशिष्ट) अन्तःकरण के साथ अविवेक के होने से वैसा (अन्यथा) समझते हैं। अर्थात् उपाधिभूत दृश्यदृष्टि के साथ विवेक न होने के कारण (विवेकाऽग्रह होने से) व्यवहार दशा में उस नित्य शुद्ध आत्मदृष्टि को ही अविशुद्ध अनित्य समझते रहते हैं और अपने को सुखी-दुःखी मानते हैं ॥ ९ ॥

मूढया मूढ इत्येवं शुद्धया शुद्ध इत्यपि ।
मन्यते सर्वलोकोऽयं येन संसारमृच्छति ॥१०॥

मूढयेति—मूढ़ वृत्ति के साथ आत्मदृष्टि का अविवेक होने से 'मैं मूढ़ हूँ'—ऐसा संपूर्ण संसार समझता है। और शुद्ध वृत्ति का संसर्ग होने पर 'मैं शुद्ध हूँ'—ऐसा समझने लगता है। उस कारण उसे संसार की प्राप्ति होती है अर्थात् मिथ्याभिमान [अविवेकनिबन्धन] ही संसारप्राप्ति है ॥ १० ॥

अचक्षुष्कादिशास्त्रोक्तं सबाह्याभ्यन्तरं त्वजम् ।
नित्यमुक्तमिहात्मानं मुमुक्षुश्चेत्सदा स्मरेत् ॥११॥

अचक्षुष्कादीति—यदि मोक्ष की इच्छा हो तो उसे "अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाक् अमनः" इत्यादि श्रुति के द्वारा बताये गये बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा एवं नित्यमुक्त आत्मा का स्मरण [मनन] करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि संसारनिवृत्ति (मोक्ष) की यदि किसी को इच्छा हो तो उसे श्रुतिप्रतिपादित आचार्योपदिष्ट आत्मस्वरूप का अनवरत [निरन्तर] अनुसन्धान करते रहना चाहिये। इस प्रकार मोक्ष का उपाय [साधन] बताते हुए मुमुक्षु को इस पद्य के द्वारा शिक्षा दी गई है ॥ ११ ॥

अचक्षुष्कादिशास्त्राच्च नेन्द्रियाणि सदा मम ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति चाथर्वणं* वचः ॥१२॥

अचक्षुष्कादीति—अचक्षुष्कादि शास्त्र [बृहदारण्यक श्रुति] की प्रामाणिकता सुनिश्चित होने से सर्वदा ही मेरे इन्द्रियाँ नहीं हैं और उसी प्रकार 'आत्मा प्राणहीन, मनो-हीन, एवं शुद्ध है" ऐसा अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् का भी वाक्य है ॥ १२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में आत्मा की जो चक्षुरादिशून्यता बताई गई थी, उसी में अचक्षुष्कादि शास्त्ररूप बृहदारण्यक[1] श्रुति को प्रमाण रूप में उपस्थित किया गया है। उसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्[2] में भी कहा गया है। एवंच आत्मा का प्राण से या मन से सम्बन्ध नहीं है ॥ १२ ॥

शब्दादीनामभावश्च श्रूयते मम काठके ।
अप्राणो ह्यमना यस्मादविकारी सदा ह्यहम् ॥१३॥

शब्दादीनामिति—मुझमें शब्दादि का अभाव सुना जाता है, तथा मैं प्राणहीन और मनो-हीन भी हूँ, अतः मैं सर्वदा ही अविकारी हूँ ॥ १३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की निर्विशेषता में श्रुति का प्रमाण दे रहे हैं—

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥" (कठ उ० १।३।१५)

यह उपर्युक्त प्रमाण अचक्षुष्कादि का भी उपलक्षण है। एवंच प्राणादिकों के साथ सम्बन्ध न रहने से तथा अविकारी होने से मुमुक्षुत्व सिद्ध हो जाता है ॥ १३ ॥

---

१. ('अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः'—बृ. उ. ३।८।८)
२. (मुं. उ. २।१।२)
* चेर्व०—पाठान्तरम् ।

विक्षेपो नास्ति तस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥१४॥

विक्षेप इति—**मुझमें विकार न होने से ही मुझमें विक्षेप भी नहीं है और विक्षेप न होने से समाधि भी नहीं है। विक्षेप और समाधि तो विकारी मन के ही हो सकते हैं ॥ १४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की अविकारिता का जब निश्चय हो जाता है, तब विक्षेप भी नहीं होता। विक्षेप की निवृत्ति होनेपर समाधि भी नहीं होती अर्थात् विक्षेप के अभाव में समाधि का भी अभाव रहता है। विक्षेप और समाधि दोनों विकारवान् मन में ही हुआ करते हैं। अविकारी में उन दोनों का अभाव रहता है ॥ १४ ॥

अमनस्कस्य शुद्धस्य कथं तत्स्याद्द्वयं मम ।
अमनस्त्वाविकारित्वे विदेहव्यापिनो मम ॥१५॥

अमनस्कस्येति—**मैं मनःशून्य और शुद्ध हूँ, मुझे वे दोनों [समाधि और विक्षेप] कैसे हो सकते हैं ? मुझमें मनःशून्यता और शुद्धता तो मेरे देहहीन और व्यापक होने के कारण है ॥ १५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा यदि मन की तरह विकारी होता या मन के साथ उसका यदि तादात्म्य रहता तो उसमें (आत्मा में) विक्षेप-समाधि का संभव हो सकता था। किन्तु दोनों न होने से विक्षेप, समाधि दोनों नहीं हो पाते। आत्मा विदेह होने से उसमें अमनस्कत्व और व्यापित्व (व्यापकता) होने से अविकारित्व है ॥ १५ ॥

इत्येतद्यावदज्ञानं[तं] तावत्कार्यं ममाभवत् ।
नित्यमुक्तस्य शुद्धस्य बुद्धस्य च सदा मम ॥१६॥

इतीति—**नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त और सर्वदा बोधस्वरूप होने पर भी जब तक मुझे अपने स्वरूप का अज्ञान था तब तक ही मेरे लिये समाधि आदि कर्तव्यकार्य थे ॥ १६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि मैं नित्य, मुक्त, बुद्ध, शुद्ध हूँ तथापि जबतक मुझे अपने नित्यत्व, शुद्धत्व-मुक्तत्वादि का अज्ञान था, तबतक मेरी समाधि आदि में कर्तव्यबुद्धि थी, किन्तु अब नित्यत्व शुद्धत्व, मुक्तत्व का ज्ञान होने पर उसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् अब उसमें मेरी कर्तव्यबुद्धि नहीं रही है ॥ १६ ॥

समाधिर्वाऽसमाधिर्वा कार्यं चान्यत्कुतो भवेत् ।
मां हि ध्यात्वा च बुद्ध्वा च मन्यन्ते कृतकृत्यताम् ॥१७॥

समाधिर्वेति—**अब आत्मबोध हो जाने पर मेरे लिये समाधि, असमाधि अथवा अन्य कोई कर्त्तव्य कैसे हो सकता है ? मेरा ध्यान करके और मुझे जानकर तो मोक्ष की इच्छा रखने वाले लोग अपने को कृतकृत्य मानते हैं ॥ १७॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मस्वरूप का परिज्ञान होने पर किसी हेतु के न रहने के कारण समाधि आदि साधनों का अभ्यास करना अथवा न करना कर्तव्य नहीं रह जाता। ध्यान के द्वारा प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर कृतकृत्यता की सिद्धि हो जाने से कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। क्योंकि प्रत्यगेकरस मुझ ब्रह्म का ध्यान कर, विचार कर, जान कर, साक्षात्कार कर मुमुक्षु लोग कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं। तथाच भगवती श्रुति भी कह रही है—

'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य। न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'[1]। इति।

---

१. बृ. उ. ४।४।२३

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते'[1] ॥

ब्रह्मवेत्ता की यह महिमा नित्य है, जो कर्म से न तो बढ़ती है और न घटती ही है। जो पुरुष केवल आत्मा में क्रीड़ा करता है, आत्मा में तृप्त रहता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष रहता ही नहीं। एवंच अज्ञान के अभाव में उसके लिये अब कुछ भी कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

अहं ब्रह्मास्मि सर्वोऽस्मि शुद्धो बुद्धोऽस्म्यतः सदा ।
अजः सर्वत एवाहमजरश्चाक्षयोऽमृतः ॥१८॥

अहमिति—**मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्वरूप हूँ, इस कारण मैं सदा ही शुद्ध [निर्विकार] और बोध [ज्ञान] स्वरूप हूँ। मैं सब ओर से अजन्मा तथा अजर, अक्षय और अमर हूँ ॥ १८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि आत्मज्ञानी के लिये समाधि आदि कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तथापि आत्मा में ब्रह्मत्व सम्पादन कर प्रपञ्च का विलय करना तो अभी अवशिष्ट है ही—यह शंका हो सकती है। अर्थात् परम आत्मा के ध्यान आदि से जो कृतकृत्यता होती है, वह आत्मा के ध्यान आदि से कैसे होगी ? उक्त शंका का समाधान ग्रन्थकार ने यह दिया है कि आत्मा की ब्रह्मरूपता तो नित्य सिद्ध है, अर्थात् जो आत्मा है वही परमआत्मा है, ब्रह्म और आत्मा ये दो नहीं है, यानी अभिन्न हैं। और प्रपञ्च तो केवल अज्ञान का विलास मात्र है। अज्ञान की निवृत्ति होने के समय में ही वह प्रपञ्च, अधिष्ठान (ब्रह्म) के रूप में विलीन रहता है। अतः उस आत्मज्ञानी के लिये कुछ अनुष्ठेय (कर्तव्य) नहीं रहता। वह (मैं) सदा ही ब्रह्मरूप, सर्वरूप, शुद्ध, बुद्ध होने से बन्धहीन है। और वह (मैं) सब प्रकार से अज एवं अक्षय रहने से जन्म और क्षय के हेतु से रहित है ॥ १८ ॥

मदन्यः सर्वभूतेषु बोद्धा कश्चिन्न विद्यते ।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः ॥१९॥

मदन्य इति—**अखिल प्राणियों में मेरे अतिरिक्त कोई अन्य बोद्धा नहीं है, तथा मैं ही समस्त कर्मों का द्रष्टा, साक्षी, प्रकाशक [चेता], नित्य, निर्गुण और अद्वय हूँ ॥ १९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न चेतन (चैतन्य) भासता है, ऐसी स्थिति में आत्मा को 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकार पूर्णता का अनुभव कैसे हो सकता है ? अर्थात् आत्मा को ब्रह्मरूप कैसे समझ सकते हैं ? इसके उत्तर में आचार्यचरण श्वेताश्वतरोपनिषद् की एक श्रुति का अर्थ पद्य के द्वारा बता रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् की श्रुति इस प्रकार है—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च[2]" ॥

उपर्युक्त श्रुति ने यह बताया है कि एक ही चेतन (चैतन्य) समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है अर्थात् सर्वभूतान्तरात्मा है। भिन्न-भिन्न चेतन नहीं है। चेतन में जो भिन्नता भासित होती है, वह उपाधि की भिन्नता से भासित होती है; जैसे आकाश एक है तथापि घट-मठादि उपाधियों की भिन्नता से उसमें (आकाश में) भी भिन्नता भासित होने लगती है; किन्तु उपाधि के हट जाने पर उस निरुपाधिक की स्वाभाविक एकता का ज्ञान होने लगता है। अतः मेरे (चेतन के) अतिरिक्त अन्य कहीं कोई नहीं है। कर्म के कर्ता के रूप में जो लोग मुझे समझते हैं, वह उनका भ्रम है। क्योंकि मैं कर्म का कर्ता नहीं हूँ, अपितु समस्त कर्मों का द्रष्टामात्र हूँ। चेता अर्थात् विशेषतः विज्ञाता हूँ, साक्षीमात्र हूँ। अतः आत्मा में पूर्णता (ब्रह्मरूपता) का अनुभव, आत्मज्ञानी को होता रहता है ॥ १९ ॥

१. भ. गी. ३।१७
२. श्वे. उ. ६।११

न सच्चाहं न चासच्च नोभयं केवलः शिवः ।
न मे सन्ध्या न रात्रिर्वा नाहर्वा सर्वदा दृशेः ॥२०॥

न सदिति—**न मैं 'सत्' हूँ अर्थात् व्यक्तभूत [पृथ्वी, जल और तेज] स्वरूप हूँ, और न 'असत्' [वायु और आकाश—दो अव्यक्तभूत] स्वरूप हूँ, तथा न 'सदसत्' [पञ्चभूतात्मक शरीर] उभयस्वरूप हूँ। मैं तो केवल [निर्विशेष], शिव-स्वरूप [त्रिगुणातीत] हूँ। न मेरे लिये सन्ध्या है, न रात्रि है और न दिन है, क्योंकि मैं नित्यसाक्षी स्वरूप हूँ ॥ २० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'अहं ब्रह्मास्मि' के द्वारा प्रतिपादित आत्मा की ब्रह्मरूपता तो उचित है, क्योंकि वह (आत्मा) निर्विशेष (समस्त विशेषताओं से रहित) होने से किसी भी क्रिया में वह शेष (अंग, साधन) नहीं हो सकता—इसी अभिप्राय को पूर्वार्ध के द्वारा बताया है। इस पद्य के पूर्व अठारहवें पद्य में 'सर्वोऽस्मि' कहा था, उसे किसी अनुपपत्ति के उपस्थित होने पर सामानाधिकरण्य के अभिप्राय से समझना चाहिये। प्रत्यक्ष के योग्य मूर्त पृथिव्यप्तेजोरूप तीन भूतों को 'सत्' कहते हैं। और 'त्यत्' शब्द से निर्दिष्ट अमूर्त वाय्वाकाशात्मक दो भूतों को 'असत्' कहते हैं। तथा मूर्ताऽमूर्तात्मक भूतपञ्चक अर्थात् पञ्चभूतों के परिणामस्वरूप शरीरसंस्थान को उभय (सदसद्रूप) कहते हैं। 'तत्सर्वं नाहम्' = वह सब मैं नहीं हूँ, ऐसा कहने पर 'नेति नेति' से मुझपर आरोपित का ही निषेध होने से मेरे अतिरिक्त और मुझमें भी अन्य की सत्ता न रहने के कारण 'मैं ही यह सब कुछ हूँ'—यह उचित ही कहा गया है। 'केवल' का अर्थ सर्वविशेषशून्य और 'शिव' का अर्थ निस्त्रैगुण्य होता है। मुझमें सन्ध्या आदि कालविशेष का भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मैं अलुप्तप्रकाशरूप हूँ। अथवा 'सन्ध्यादि' शब्दों से क्रमशः स्वप्न, सुषुप्ति, जागरण अवस्थाओं को समझना चाहिए। मैं तो सदैव एक-सा प्रकाशमान हूँ। अतः स्वरूपावरण-विक्षेपरूप अवस्थाएँ मुझसे कैसे सम्बन्धित हो सकती हैं? एवञ्च सर्वविशेषशून्यता के कारण परिशुद्ध रहनेवाले मुझ आत्मा में ब्रह्मरूपता उपपन्न होती है ॥ २० ॥

सर्वमूर्तिवियुक्तं यद्यथा खं सूक्ष्ममद्वयम् ।
तेनाप्यस्मि विना भूतं ब्रह्मैवाहं तथाऽद्वयम् ॥२१॥

सर्वेति—**जैसे आकाश सर्वविध आकारों से रहित, सूक्ष्म और अद्वितीय है, वैसे ही मैं भी अद्वय ब्रह्मरूप हूँ, और उस आकाश के बिना भी विद्यमान रहता हूँ ॥ २१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसके पूर्व पद्य में बताया था कि चिदेकतान (सर्वदा एकरूपेण प्रकाशमान) निर्विशेष आत्मा, ब्रह्मरूप होने से (वह) पूर्ण है। इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा हृदयंगम करा रहे हैं। जैसे आकाश, सभी परिच्छिन्न आकार वाले आकाशों से विलक्षण है, इस कारण वह (आकाश) सूक्ष्म लक्षित होता है, वैसे ही यह ब्रह्म, परिपूर्ण, अत्यन्त सूक्ष्म तथा द्वैताभावोपलक्षित माना जाता है। एवञ्च ब्रह्म के अद्वितीय रहने से और आत्मा का उससे भेद न होने से (अनन्यता रहने से) 'ब्रह्मैवाऽस्मि'—यह अनुभव होता है। उक्त युक्ति से आत्मा की पूर्णता सिद्ध होने पर भी पुनः एक शङ्का उत्पन्न होती है कि ब्रह्म और आकाश दोनों में एक दृष्टान्त है और एक दार्ष्टान्त है, अर्थात् दोनों में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव (उपमानोपमेयभाव) है, उस कारण ब्रह्म से भिन्न आकाश की सत्ता सिद्ध होने से दोनों में भेद ही सिद्ध होता है, तब ब्रह्म को अद्वितीय कैसे कह सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यचरण इस प्रकार दे रहे हैं—'तेनाप्यस्मि विनाभूतम्' मैं (आत्मा-ब्रह्म) उसके (आकाश के) बिना भी विद्यमान रहता हूँ। यद्यपि 'आकाश' सबसे सूक्ष्म है, व्यापक है, कल्पान्त तक स्थायी है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से उसे (आकाश को) नित्य कहते हैं, तथापि कल्पान्त में आकाश की स्थिति नहीं रहती, इस कारण उसकी नित्यता वास्तविक नहीं है। वास्तविक नित्य तो ब्रह्म ही है, क्योंकि वह सृष्टि के आदि में और कल्पान्त (प्रलय) में भी अर्थात् दोनों ही समय समान रूप से वर्तमान रहता है। अतः उसके अद्वैत भाव में कोई क्षति नहीं है। उपर्युक्त पद्य में 'सूक्ष्ममद्वयम्' और 'तथाऽद्वयम्'—इस प्रकार 'अद्वय' पद की पुनरावृत्ति की शंका का निरसन इस प्रकार होगा कि प्रथम 'अद्वय' पद का सम्बन्ध 'आकाश' के साथ और द्वितीय 'अद्वय' पद का सम्बन्ध 'ब्रह्म' के साथ समझना चाहिये ॥ २१ ॥

ममात्माऽस्य त आत्मेति भेदो व्योम्नो यथा भवेत् ।

एकस्य सुषिभेदेन तथा मम विकल्पितः ॥२२॥

ममेति—जिस प्रकार छिद्रभेद से एक ही आकाश का भेद समझा जाता है उसी प्रकार 'मेरा आत्मा और स्वयं आत्मा' इस प्रकार भेद की कल्पना मुझमें की जाती है। अर्थात् ब्रह्म [आत्मा] तो पूर्ण ही है तथापि औपाधिक भेद की कल्पना उसमें की जाती है ॥ २२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'मेरा आत्मा ब्रह्मरूप है, मैं स्वयं ब्रह्मरूप हूँ'—इस प्रकार जो यह आत्माऽत्मीयभाव के रूप में भेदप्रतिभास होता रहता है, ऐसी स्थिति में अद्वितीय ब्रह्मत्व कैसे माना जाय ? उक्त आशंका का समाधान यह है कि 'मैं' तो एक ही हूँ, किन्तु अन्तःकरण आदि उपाधिकृत भेद का मुझपर आरोप किया जाता है। जैसे आकाश स्वयं एक ही है किन्तु छिद्रभेद से अंशांशिभावरूप भेद का आरोप उस एक आकाश में करते हैं, उसी तरह मेरे विषय में समझो। अतः मेरी वास्तविक एकता में कोई विरोध नहीं है ॥ २२ ॥

भेदोऽभेदस्तथा चैको नाना चेति विकल्पितः ।

ज्ञेयं ज्ञाता गतिर्गन्ता मय्येकस्मिन्कुतो भवेत् ॥२३॥

भेदोऽभेद इति—मुझ एक में ही भेद—अभेद तथा एक-अनेक की कल्पना की जाती है। वस्तुतः एकाकी रहने वाले मुझ आत्मा में ज्ञेय, ज्ञाता और फल, फलभोक्ता की कल्पना कैसे की जा सकती है ? ॥ २३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अविद्या दशा में भेदव्यवहार के रहने पर भी अब आत्मज्ञान के होने पर वह भेदव्यवहार भी नहीं होता। वस्तुतः 'मैं' तो एक ही हूँ, किन्तु आत्मज्ञान होने के पूर्व अर्थात् अज्ञान दशा में मेरे विषय में यह बुद्धि, भेद-अभेद तथा एक और अनेक का व्यवहार किया करती थी, किन्तु विचार (आत्मजिज्ञासा) करने पर मुझ अकेले (एकाकी) में ही ये सब व्यवहार किस प्रकार हो सकते हैं ? अर्थात् 'मैं' ही ज्ञेय और मैं ही ज्ञाता और मैं ही फल (गति) तथा मैं ही फल पानेवाला भोक्ता (गन्ता) कैसे हो सकता हूँ। परंतु यह सब विचार करने पर (आत्मज्ञान होने पर) समझ में आता है; विचार के पूर्व नहीं ॥ २३ ॥

न मे हेयं न चादेयमविकारी यतो ह्यहम् ।

सदा मुक्तस्तथा शुद्धः सदा बुद्धोऽगुणोऽद्वयः ॥२४॥

न म इति—मेरे लिये न कुछ त्याज्य है और न कुछ ग्राह्य है, क्योंकि मैं [आत्मा] विकाररहित हूं, नित्य मुक्त, शुद्ध तथा नित्य ज्ञानरूप [बोधरूप], निर्गुण और अद्वितीय हूँ ॥ २४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को जो निर्विशेष कहा, वह अभी समझ में नहीं आ रहा है, क्योंकि 'संसारित्व' को त्याज्य (हेय) कहा है और 'ब्रह्मत्व' को उपादेय (ग्राह्य) बताया है। ऐसी स्थिति में उसे (आत्मा को) निर्विशेष कैसे कह सकते हैं ? मेरी सर्वविशेषशून्यता (निर्विशेषता) इस प्रकार है कि मैं अविकारी हूँ। उस अविकारिता को 'अविकारी यतो ह्यहम्' में जो 'ही' शब्द है, उससे सूचित किया गया है। क्योंकि 'अविकार्योऽयमुच्यते'[1] ऐसी स्मृति है। अविकारी रहने का फल यह है कि 'मैं' सदैव बन्धसंसर्गशून्य (मुक्त) हूँ, उसी तरह तद्धेतुभूत अविद्यासम्बन्ध से रहित हूँ अर्थात् शुद्ध हूँ। शुद्ध रहने में कारण यह है कि मैं सदैव बुद्ध हूँ। किन्तु बोध (ज्ञान) को नैयायिकों की तरह मेरा गुण न समझना। क्योंकि मैं तो अगुण अर्थात् निर्गुण (गुणरहित) हूँ, अतः बोध (ज्ञान) रूप हूँ। बोधरूप कहने से यह न समझना कि कुछ मेरे लिये बोध्य (ज्ञेय) है, क्योंकि मैं तो अद्वय हूँ अर्थात् मेरे अतिरिक्त कोई अन्य है ही नहीं, ऐसी स्थिति में कौन ज्ञेय होगा ? कोई नहीं, क्योंकि सर्वत्र मैं ही मैं हूँ ॥ २४ ॥

---

१. भ. गी. २।२५

इत्येवं सर्वथाऽऽत्मानं विद्वान्सर्वं समाहितः ।
विदित्वा मां स्वदेहस्थमृषिर्मुक्तो ध्रुवो भवेत् ॥२५॥

इतीति—**इस प्रकार सर्वदा समाहित चित्त से सबको आत्मस्वरूप समझे और अपने देह में स्थित मुझको जानकर वह सर्वदर्शी ऋषि निश्चय ही मोक्ष को प्राप्त हो जाय ॥ २५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार शास्त्र और आचार्य के द्वारा नित्य-मुक्तत्वादिलक्षण आत्मा का ज्ञान कराया गया। अतः उक्त-लक्षण अद्वितीय आत्मा के श्रवण-मनन-निदिध्यासन से युक्त होकर मुमुक्षु व्यक्ति सर्वदा 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ ऐसा समझे। अपने को ब्रह्म समझनेवाला वह सर्वदर्शी ऋषि निश्चित ही मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

कृतकृत्यश्च सिद्धश्च योगी ब्राह्मण एव च ।
य* एवं वेद तत्त्वार्थमन्यथा ह्यात्महा भवेत् ॥२६॥

कृतकृत्य इति—**जो मनुष्य इस वास्तविक सत्य को समझता है, वही कृतकृत्य, सिद्ध, योगी और वास्तविक ब्राह्मण है, अन्यथा मनुष्य आत्मघाती ही होगा ॥ २६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'स ब्राह्मणः' इस श्रुति[1] से यह स्पष्ट है कि वही मुख्य (वास्तविक) ब्राह्मण है, जो उक्त सत्य को समझता है अर्थात् अपने स्वरूप (आत्मस्वरूप) को यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' समझता है। इस प्रकार की आत्मनिष्ठा जिसमें नहीं होती उसे आत्महा अर्थात् आत्मघाती कहा गया है। श्रीमद्भागवत में कहा है—

"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा[2] ॥

यह मनुष्य शरीर समस्त शुभफलों की प्राप्ति का मूल है, यह सत्कर्मियों के लिये सुलभ, और दुष्कर्मियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। इस संसारसागर से पार जाने के लिए यह एक सुदृढ़ नौका है। शरणग्रहणमात्र से ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं। और स्मरणमात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीर के द्वारा संसारसागर से पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्मा का हनन—अधःपतन कर रहा है। यह समझना चाहिये ॥ २६ ॥

वेदार्थो निश्चितो ह्येष समासेन मयोदितः ।
संन्यासिभ्यः प्रवक्तव्यः शान्तेभ्यः शिष्टबुद्धिना ॥२७॥

वेदार्थ इति—**मैंने वेद का यह निश्चित अर्थ संक्षेप से बताया। शास्त्र और आचार्य के द्वारा जिसकी बुद्धि सुशिक्षित है ऐसा शिष्टबुद्धि पुरुष, शम-दमादिसाधनसम्पन्न संन्यासियों के प्रति उपर्युक्त वेदार्थ का उपदेश करे ॥ २७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ग्रन्थकार अपने ग्रन्थोक्त प्रकरण की उक्तियों की प्रामाणिकता तथा प्रतिपत्तिसौकर्य को सूचित कर रहे हैं—जो कुछ मैंने कहा है, वह वेदार्थ है। अतः उसकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह ही नहीं है। और उस वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने में अब कोई कठिनाई भी नहीं है, क्योंकि मैंने उसे संक्षेप से बता दिया है। अतः आचार्य से उपदिष्ट एवं शास्त्रपरिशीलन से परिपक्व बुद्धिसम्पन्न पुरुष, शमादिसाधनसम्पन्न संन्यासियों के प्रति उस वेदार्थ का उपदेश किया करे। संन्यासाश्रम प्राप्त किये संन्यासीमात्र को नहीं ॥ २७ ॥

॥ इति त्रयोदशमचक्षुष्ट्वप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. (बृ. उ. ३।८।१०)

२. (श्रीमद्भागवत—११।२०।१७)

* यदेवं—पाठान्तरम् ।

स्वप्नस्मृतिप्रकरणम्

स्वप्नस्मृत्योर्घटादेर्हि रूपाभासः प्रदृश्यते ।
पुरा नूनं तदाकारा धीर्दृष्टेत्यनुमीयते ॥१॥

स्वप्नस्मृत्योरिति—**स्वप्नकाल और स्मृतिकाल में घट-पटादि पदार्थों का केवल रूपाभास देखा जाता है, इससे यह अनुमान किया जाता है कि पहले अवश्य ही घटपटाकार वृत्ति का अनुभव किया होगा ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसके पूर्व के प्रकरण में यह बताया गया था कि अन्तःकरण के साथ आत्मा का विवेक न होने के कारण संसार की प्रतीति हुआ करती है, स्वतः नहीं। किन्तु जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि संसार तो प्रत्यक्ष है और अन्तः-करण परोक्ष है। अतः अन्तःकरण (बुद्धि) के अविवेक के कारण संसार की प्रतीति हो नहीं सकती। इस जिज्ञासा के समाधानार्थ इस प्रकरण में अन्तःकरण की परोक्षता का निरसन कर उसकी प्रत्यक्षता को बताते हुए पूर्वोक्त सिद्धान्त को युक्तिपुरःसर पुष्ट कर रहे हैं। पहिले जो बताया कि संसार की प्रतीति स्वतः नहीं होती, वह तो अन्तःकरण-विषयक अविवेक रहने के कारण आत्मा में संसारित्व की प्रतीति होती है, किन्तु शास्त्र पर अटल विश्वास रखनेवाला अतएव उसे प्रमाण माननेवाला और तदनुसार साधना करने के कारण जिसका अज्ञान और तज्जन्य कार्य निवृत्त हो गया है, ऐसा भाग्यशाली व्यक्ति अपने (आत्मा) को निश्चित रूप से ब्रह्मरूप ही समझने लगता है। क्योंकि स्वप्न में और स्मरणकाल में घट-पटादि विषयों के रूपाभास (आकारावभास) का अनुभव किया जाता है, अतः यह मानना पड़ेगा कि पहले कभी जाग्रदवस्था में अनुभव अवस्था में भी अवश्य ही घट-पटाकारा अन्तःकरणवृत्ति का साक्षात् अनुभव किया होगा। 'स्वप्न और स्मृति दृष्टार्थविषयक होती है', यह नियम है। और स्वप्न तथा स्मृति में बाह्य पदार्थ तो होता नहीं, ऐसी स्थिति में यही स्वीकार करना होगा कि स्वप्न और स्मृतिकाल में उपलभ्यमान विषय (पदार्थ) अन्य कुछ न होकर अर्थाकार हुई वृत्ति से विशिष्ट अन्तःकरण ही है। इससे यह कल्पना की जाती है कि जाग्रत् अवस्था में तथा पूर्वानुभवावस्था में भी अर्थाकारवृत्तिमत् अन्तःकरण ही अपरोक्षरूपेण (प्रत्यक्षतया) अनुभूत हो चुका है। तस्मात् सभी अवस्थाओं में वृत्तिमदन्तःकरण अपरोक्ष है, और उसमें प्रतिफलित चिदाभास है। परन्तु उन दोनों की भिन्नता को न समझ पाने से (अविवेक से) आत्मा में संसारित्व का अवभास (प्रत्यक्ष) होना उचित ही है। एवंच बुद्धि (अन्तःकरण) परोक्ष होने से और संसारप्रतिभास अपरोक्ष होने से बुद्धयविवेकनिबन्धन संसार की प्रतीति आत्मा में नहीं है, इस शंका का समाधान हो जाता है, और बुद्धि की अपरोक्षता सिद्ध हो जाती है॥ १ ॥

भिक्षामटन्यथा स्वप्ने दृष्टो देहो न स स्वयम् ।
जाग्रद्दृश्यात्तथा देहाद्द्रष्टृत्वादन्य एव सः ॥२॥

भिक्षामिति—**जैसे स्वप्नावस्था में भिक्षाटन करते हुए दीखने वाला देह स्वयं स्वप्नद्रष्टा नहीं होता, वैसे ही जाग्रदवस्था में दिखाई देनेवाले देह से भी द्रष्टा होने के कारण वह भिन्न ही है ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार अन्तःकरण की अपरोक्षता स्पष्ट की गई, उससे यह ज्ञात हुआ कि अन्तःकरणादिसमूह से आत्मा विविक्त (भिन्न) है। इसी को दृष्टान्त देकर बताते हैं—सोये हुए संन्यासी ने स्वप्न में भिक्षार्थ भटकनेवाले जिस देह को देखा, वह देह तो स्वयं द्रष्टा (देखनेवाला) हो नहीं सकता। जैसे देह को आत्मा समझता हुआ भी वह देहरूप (देहात्मक) नहीं होता, वैसे ही जाग्रद् दृश्य देह से भी वह आत्मा पृथक् ही है, क्योंकि वह तो उसका द्रष्टा है। 'देह' शब्द से इन्द्रिय, और अन्तःकरण को भी समझना चाहिये, क्योंकि 'देह' शब्द उपलक्षण है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'विमतो देहादिः न आत्मा, दृश्यत्वात्, स्वप्नदृश्यदेहादिवत् ।' ॥ २ ॥

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥३॥

मूषेति—**जैसे ताम्र [ताँबा] साँचे में डालने पर तदाकार हो जाता है, वैसे ही रूपादि को व्याप्त करने वाला चित्त निश्चय ही तद्रूप [तदाकार] होता है ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सभी अवस्थाओं में बुद्धि ही अर्थ (पदार्थ-वस्तु) के आकारवाली दिखाई देती है, जैसे आग में तपाकर द्रवीभूत किये ताँबे को मूषा (अन्तःसुषिरा मृत्प्रतिमा) अर्थात् साँचे में डालनेपर तत्समानाकार हो जाता है, वैसे ही यह चित्त (बुद्धि) भी रूप आदि विषयों को व्याप्त कर तदाकार (तद्रूपाकार) हो जाता है ॥ ३ ॥

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥४॥

व्यञ्जको वेति—**अथवा जैसे पदार्थ को व्यक्त करने वाला प्रकाश अपने प्रकाश्य के आकार का हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण वस्तुओं को अभिव्यक्त करनेवाली होने के कारण बुद्धि भी तत्तद् वस्तु के आकारवाली होती देखी जाती है ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

साँचे (मूषा) में डाला हुआ तरल ताम्र, कठोर साँचे के अभिघात से शीतल होनेपर उसका साँचे के आकार में परिणत होना तो समझ में आता है, किन्तु चित्त तो अमूर्त है, वह तत्तद् वस्तुओं में व्याप्त होनेपर भी उसका वस्तु के आकार में परिणत होना कैसे संभव हो सकता है ? इस शंका के समाधानार्थ दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जैसे अयःपिण्ड (लोहे के गोले) का अभिव्यञ्जक अग्नि तदाकार (गोले के आकार) में परिणत हो जाता है अथवा प्रकाश घट आदि के आकार का हो जाता है, वैसे ही घट-पटादि को प्रकाशित करनेवाली बुद्धि भी घट-पट के आकार वाली हो जाती है ॥ ४ ॥

धीरेवार्थस्वरूपा हि पुंसा दृष्टा पुराऽपि च ।
न चेत्स्वप्ने कथं पश्येत्स्मरतो वाऽऽकृतिः कुतः ॥५॥

धीरेवेति—**स्वप्न और स्मृति के पूर्व भी पुरुष ने वस्तु के आकार में ही बुद्धि को देखा है, अन्यथा स्वप्न में वह संकल्पमय पदार्थों को कैसे देख पाता ? और उन पदार्थों की स्मृति होते ही उन पदार्थों की सृष्टि [रचना] कैसे होती ? ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अन्वय के द्वारा बुद्धि की प्रत्यक्षता प्रथम श्लोक में बताई थी। विषयाकार हुई बुद्धि का ही जाग्रदवस्था में अनुभव किया था, उसी कारण स्वप्न और स्मृति में वह बुद्धि, अर्थ के आकार में उपस्थित होती है। इसी अभिप्राय को प्रस्तुत पद्य से व्यतिरेक के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—जाग्रदवस्था में बुद्धि को यदि अर्थाकार न देखा होता तो स्वप्न में या स्मृति में वह कैसे दिखाई देती ? क्योंकि स्वप्न और स्मृति में बुद्धि के व्यतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं रहता, और जो न देखा हो, उसका कभी स्फुरण नहीं होता। अर्थात् पूर्वानुभव के समय अर्थाकारा बुद्धि का अनुभव न हुआ होता तो स्मरण के समय स्मृति का कोई आकार ही न बन पाता, क्योंकि उस समय बुद्धि के अतिरिक्त आकार प्रदान करनेवाला कोई पदार्थ नहीं है। कदाचित् वह बुद्धि में आरूढ भी हो तथापि उसके अनुभूत न रहने के कारण उसमें आकारप्रदत्व नहीं रहता। तस्मात् जाग्रदवस्था और पूर्वकालिक अनुभव में विषयाकार हुई बुद्धि की प्रत्यक्षता सिद्ध है ॥ ५ ॥

व्यञ्जकत्वं तदेवास्या रूपाद्याकारदृश्यता ।
द्रष्टृत्वं च दृशेस्तद्वद्व्याप्तिः स्याद्धिय उद्भवे ॥६॥

व्यञ्जकत्वमिति—**रूप आदि के आकार में परिणत हुई बुद्धि, दर्शन के योग्य हो पाती है। उस योग्य बन पाना ही उसका [बुद्धि का] विषय-प्रकाशकत्व है, अर्थात् विषय को प्रकाशित करना है। उसी प्रकार साक्षी आत्मा के द्वारा उस उदित हुई बुद्धि को व्याप्त करना ही उसका [आत्मा का] द्रष्टृत्व है ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

चतुर्थ श्लोक में कहा था कि अभिव्यंजक होने से आलोक के समान बुद्धि भी अर्थाकार होती है। किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। अर्थाकारता का ग्रहण किये बिना भी आलोक स्वच्छ स्वभाव का होने से उसमें तो व्यंजकता संभव हो सकती है, किन्तु बुद्धि में वैसी व्यंजकता कैसे संभव हो सकती है? इस शंका का समाधान यह होगा कि इस बुद्धि की रूपादि आकार से जो दृश्यता अर्थात् दर्शनयोग्यता है, वही तो उस बुद्धि की विषयव्यंजकता है। विषय का अवभास होना ही चैतन्य है। और बुद्धि के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी विषय स्वतंत्ररूप से स्फुरित नहीं होता। एवंच बुद्धि को यदि विषयाकार न मानें तो चैतन्य की विषयरूप से स्फूर्ति नहीं हो सकती। अतः विषय की अभिव्यक्ति के लिये उसका विषयाकार होना ही बुद्धि का व्यंजकत्व है। जैसे रूपादि के आकार में अवभासमान होना ही बुद्धि का रूपादिव्यंजकत्व है, वैसे ही धर्माधर्मवशात् बुद्धि की उत्पत्ति होने पर तद्व्याप्ति अर्थात् बुद्धि के आकार में स्फुरण होना ही आत्मा का द्रष्टृत्व है, वह परिणाम नहीं है। यद्यपि बुद्धि का विषय में व्याप्त होना परिणाम के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि विषयदेश में वह बुद्धि पहले से ही अविद्यमान है। तथापि बुद्धिवृत्ति में चैतन्य आत्मा के व्याप्त होनेपर उसमें परिणाम की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि चिदात्मा में ही उसके प्रकाश से प्रकाशित हुई बुद्धि ही सर्वदा विद्यमान रहती है। अभिप्राय यह है कि चेतन के द्वारा बुद्धि को दृश्य मानने पर द्रष्टा चेतन में परिणामित्व की शंका करना उचित नहीं है। जैसे विषयाकार में बुद्धि के दृश्यत्व को ही व्यंजकत्व कहते हैं, वैसे ही धर्माधर्मवशात् बुद्धि-वृत्तियों के उत्पन्न होनेपर चिदात्मा के सन्निधिमात्र से व्याप्ति अर्थात् उसका साक्षित्व, दृशि आत्मा का द्रष्टृत्व समझना चाहिए, उसमें परिणामित्व नहीं है। निष्कर्ष यह है कि जब पानी उद्यान की क्यारियों में जाता है, तो उन क्यारियों के आकार का ही हो जाता है। वैसे ही यह अन्तःकरण (बुद्धि) की वृत्ति, इन्द्रिय के माध्यम से जब विषयदेश में जाती है और विषय को व्याप्त कर लेती है, तब वह विषय के आकार में ही परिणत हो जाती है। विषयाकार में परिणत हुई बुद्धि को कूटस्थ आत्मचैतन्य प्रकाशित करता है, बुद्धि परिच्छिन्न है। वह विषयदेश में विद्यमान नहीं होती, इसलिए विषय को व्याप्त करने से वह विषयाकार हो जाती है, किन्तु आत्मा विभु और निर्विकार है। वह बुद्धि और विषयदेश में समानरूप से विद्यमान है। अतः उसमें कोई परिणाम नहीं होता। विषय का स्फुरण बुद्धि के परिणाम के अधीन है, किन्तु विषयज्ञान का स्फुरण आत्मचैतन्य से ही होता हैं। विषयज्ञान ही विषयाकारा बुद्धि है। अतः वह आत्मा की दृश्य है और आत्मा उसका साक्षी यानी द्रष्टा है ॥ ६ ॥

चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः ।
मया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो ह्यहम् ॥७॥

चिन्मात्रेति—**क्योंकि समस्त देहों (शरीरों) में समस्त बुद्धियाँ चिन्मात्र-ज्योतिःस्वरूप मेरे ही द्वारा प्रकाशित होती हैं, अतः मैं सभी का आत्मा (स्वरूप) हूँ ॥ ७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

बुद्धि और उसकी वृत्तियों का साक्षी होने से चिदात्मा में परिणाम न होनेपर भी ब्रह्मरूपता के कारण उसे एक समझना उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक शरीर में तत्तद् बुद्धियों के तत्तत् साक्षी भी रहेंगे। अतः चिदात्मा को एक कहना ठीक नहीं है—इस शङ्का का समाधान इस प्रकार करते हैं कि शंकाकार के कथन में कोई प्रमाण नहीं है। जैसे एक शरीर में बुद्धि का जो अवभास है, वह अविकृत चिद्व्याप्तिमात्र है। वैसे ही सर्वशरीरगत बुद्धियों का अव-भास भी है। एवंच भास्यबुद्धि का भेद रहने पर भी, उनमें अवभासत्वधर्म (रूप) है, वह एक ही है, उसका भेद नहीं

है। उसका भेद किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो पा रहा है। भेद भी साक्ष्य है, अतः उसमें साक्षी के धर्म का अभाव है, इन कारण साक्षी आत्मा में भेद की शंका करने का कोई अवकाश ही नहीं है ॥ ७ ॥

करणं कर्म कर्ता च क्रिया स्वप्ने फलं च धीः ।
जाग्रत्येवं यतो दृष्टा द्रष्टा तस्मादतोऽन्यथा ॥८॥

करणमिति—**जिस प्रकार स्वप्नावस्था में करण, कर्म, कर्ता और फल ये सब बुद्धिमात्र ही हैं, उसी प्रकार ये सब जाग्रदवस्था में भी हैं। क्योंकि ये सब दृष्ट हैं। अतः इन सबसे द्रष्टा पृथक् (भिन्न) है ॥ ८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यद्यपि सर्वत्र चैतन्य एक है तथापि बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ तो अनेक हैं, ऐसी स्थिति में अद्वय ब्रह्मात्मता की सिद्धि कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि क्रिया-कारक फलात्मक सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च, अनादि, अनिर्वाच्य अविद्याविजृंभितमात्र है अर्थात् अविद्याविलासबुद्धिमात्र है। उस कारण चैतन्य (चेतन) की अद्वय ब्रह्मता के साथ कोई विरोध नहीं है। जैसे स्वप्न में बुद्धि ही क्रिया-कारक-फल का रूप धारण कर लेती है, क्योंकि उस समय बाह्य पदार्थ का अभाव निश्चित है, उसी प्रकार जाग्रवदस्था में जबकि बुद्धि ही क्रिया-कारक-फल के रूप में देखी गई है और उसी के द्वारा बाह्य पदार्थ की सत्ता का ज्ञान हुआ है। उसी कारण सुषुप्ति में भी तदाकारविशेष का स्फुरण कदाचित् हो सकता है। इसलिए आत्मा में विषयों के साथ ही बुद्धि, अध्यस्त होने के कारण और उस बुद्धि का आदि तथा अन्त होने के कारण उसे मिथ्या कहा जाता है। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि द्रष्टा आत्मा, उस मिथ्या बुद्धि से अन्यादृश ही है, अर्थात् सत्य अखण्डैकरस है, वह बुद्धि का साक्षी है, क्रिया-कारक-फल से वह विलक्षण है। इस रीति से साक्षी में ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥ ८ ॥

बुद्ध्यादीनामनात्मत्वं हेयोपादेयरूपतः ।
हानोपादानकर्ताऽऽत्मा न त्याज्यो न च गृह्यते ॥९॥

बुद्ध्यादीनामिति—**हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) होने के कारण बुद्धि आदि पदार्थ अनात्मरूप हैं, किन्तु इनका त्याग और स्वीकार (ग्रहण) करने वाला आत्मा है, क्योंकि वह बुद्धि आदि पदार्थों का अधिष्ठान है। न तो उसे त्यागा जाता है और न उसे ग्रहण ही किया जाता है ॥ ९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में बुद्धि आदि पदार्थों के साक्षी आत्मा को अन्यादृश बताया था, उसे ही इस पद्य के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। वस्त्र की तरह आगमापायी होने से बुद्धि आदि, अनात्मस्वरूप धर्म है। अनात्म पदार्थ की तरह चिदात्मा में आगमापायित्व की आशंका नहीं कर सकते, क्योंकि बुद्धि आदि अनात्म पदार्थों के हान (लय) और उपादान (विक्षेप) का कर्ता वही चिदात्मा है। अनात्म पदार्थों का अधिष्ठान होनेमात्र से उसे कर्ता कहा जाता है। न वह किसी के द्वारा त्याज्य यानी विलयन करनेयोग्य है और न ग्रहण किया जाता है, क्योंकि वह तो सर्वाधिष्ठान है, उसका कोई अन्य अधिष्ठान नहीं है ॥ ९ ॥

सबाह्याभ्यन्तरे शुद्धे प्रज्ञानैकरसे घने ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चान्यत्कथं हेयं प्रकल्प्यते ॥१०॥

सबाह्येति—**जो आत्मा बाहर भी है और भीतर भी है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है, जो शुद्ध है, एकमात्र ज्ञानरूप है और निरवकाश है, ऐसे उस आत्मा में बाह्य या आभ्यन्तर किसी अन्य हेय या ग्राह्य की कल्पना कैसे की जा सकती है ? ॥ १० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा स्वरूपतः अहेय—अनुपादेय है तथापि तत्संबंधित्वेन प्राप्त होने वाले बाह्य वस्त्र-आभरणादि पदार्थ, और आभ्यन्तर पाप आदि मलों की हेयता तथा आभ्यन्तर योग-ध्यान-धारणा आदि की उपादेयता तो बनी ही

रहेगी, ऐसी स्थिति में आत्मा की विशुद्धि कैसी समझी जाय ? इसका समाधान यह है कि बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् बाहर-भीतर सर्वत्र एकमात्र आत्मा ही है, उससे पृथक् कोई नहीं है। क्योंकि वह शुद्ध केवल है, इससे यह सिद्ध हुआ कि उसके अतिरिक्त बाहर कोई नहीं है, अर्थात् बाह्याभाव सिद्ध हुआ। तथा वह प्रज्ञानैकरस है, इससे भीतर भी उसके अतिरिक्त कोई नहीं है, यह सिद्ध होता है। उसकी एकरसता को ही 'घने' कह कर स्पष्ट किया है। अर्थात् सैन्धवघन के समान वह विज्ञानघन है। 'हेयम्' यह उपलक्षण है अर्थात् उपादेय का भी उपलक्षक है। अतः ऐसे आत्मा में किसी हेय या उपादेय की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? सत्तास्फूर्ति से अनालिङ्गित किसी भी बाह्य या आभ्यन्तर का उल्लेख करना संभव ही नहीं। वे दोनों तो आत्मरूप ही हैं। उससे भिन्न बाहर या भीतर कुछ है ही नहीं, जो वास्तव में उपादेय अथवा हेय बन सके। अतः आत्मा की विशुद्धि मानने में किसी प्रकार का कोई संकोच किया ही नहीं जा सकता ॥ १० ॥

य आत्मा नेति नेतीति परापोहेन शेषितः ।
स चेद्ब्रह्मविदात्मेष्टो यतेतातः परं कथम् ॥११॥

य आत्मेति—**'यह स्थूल या सूक्ष्म देह, आत्मा नहीं है'—इस रीति से अनात्म वर्ग के निषेध द्वारा जिस आत्मा को अवशिष्ट रखा जाता है, यदि ब्रह्मज्ञानी को वही आत्मा अभीष्ट हो तो वह उसकी प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न क्यों करेगा ? ॥ ११ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वस्तुस्वभाव के अनुसार आत्मसम्बन्धी न कोई हेय है और न कोई उपादेय है, यह बता चुके। अब विद्वदनुभव से भी यह बात समझ में आती है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को तो अपना स्वरूप ही अभीष्ट है, तब जिसे स्व-स्वरूप की प्राप्ति हो चुकी, वह कृतकृत्य हो जाता है, वह क्योंकर पुनः यत्न करेगा ? ॥ ११ ॥

अशनायाद्यतिक्रान्तं ब्रह्मैवास्मि निरन्तरम् ।
कार्यवान् स्यां कथं चाहं विमृशेदेवमञ्जसा ॥१२॥

अशनायेति—**मैं क्षुधा[1]-पिपासा (भूख-प्यास) से रहित हूँ। मैं सदा-सर्वदा ब्रह्मरूप ही हूँ। अतः मैं क्रियावान् कैसे हो सकता हूँ, इस प्रकार उचित विचार करना चाहिये ॥ १२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यह ब्रह्म (आत्मतत्त्व) कूटस्थ निर्विशेष है, स्वानुभवगम्य है। अतः आत्मज्ञानी स्वयं ही उसका निश्चय करे। अर्थात् वह आत्मतत्त्व परानुभवगम्य नहीं है। शास्त्र और आचार्योपदेश के अनुसार आत्मज्ञानी स्वयं उसका विवेक करे। 'मैं[2] षडूर्मिवर्जित ब्रह्म ही हूँ' यह निश्चय करे। यह निश्चय होनेपर कार्यवत्त्व वचन तो अनुभवविरुद्ध हो जाता है। अतः अनुभव विरुद्ध को कैसे स्वीकार किया जा सकेगा ? ॥ १२ ॥

पारगस्तु यथा[दा] नद्यास्तत्स्थः पारं यियासति ।
आत्मज्ञश्चेत्तथा[दा] कार्यं कर्तुमन्यदिहेच्छति ॥१३॥

पारग इति—**यदि कोई व्यक्ति आत्मवित् है तो उसको अन्य किसी कार्य करने की इच्छा करना वैसा ही है जैसे नदी के पार पहुंचा हुआ व्यक्ति उस तट पर खड़ा होकर भी पार जाने की इच्छा करे। अभिप्राय यह है कि आत्म-ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति कृतकार्य हो जाता है, तदनन्तर उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता ॥ १३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वोक्त रीति से विमर्श करने पर भी विविदिषावाक्यसिद्ध वेदानुवचनादि को सत्त्वशुद्धि का हेतु माना गया है, अतः ज्ञानोत्पत्ति में हेतुभूत व्यापार का परित्याग करना कैसे संभव हो सकता है ? इस आशंका का समाधान यह

१. (बृ. उ. ३।५।१)
२. (बृ. उ. १३।४)

होगा कि जैसे नदी के परतीर पर प्राप्त होकर और उसी परतीर पर स्थित होकर भी वहीं आने की इच्छा करना जैसे संभव नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही आत्मज्ञ पुरुष भी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण कृतकृत्य हो जाता है, उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने श्रेय प्राप्त कर लिया है ॥ १३ ॥

आत्मज्ञस्यापि यस्य स्याद्धानोपादानता यदि ।
न मोक्षार्हः स विज्ञेयो वान्तोऽसौ ब्रह्मणा ध्रुवम् ॥१४॥

आत्मज्ञस्येति—**यदि आत्मज्ञान हो जाने पर भी त्याग और ग्रहण की बुद्धि रहती है तो उसे मोक्ष का पात्र नहीं समझना चाहिये । निश्चय ही ब्रह्म ने उसका वमन कर दिया है ॥ १४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जैसे वान्त पदार्थ का ग्रहण नहीं किया जाता, उसी प्रकार ब्रह्म भी उसका परित्याग कर देता है, वह उसे स्वीकार नहीं करता । अर्थात् वह व्यक्ति ब्रह्म में लीन होकर मोक्षानन्द को नहीं पा सकता । अभिप्राय यह है कि ऐसे व्यक्तियों को ब्रह्म का साक्षात्कार (अपरोक्ष ज्ञान) नहीं होता । जिसे ब्रह्म का सुदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात्कार) हो जाता है, वे ही पूर्णकाम-आप्तकाम, कृतकृत्य हो जाते हैं, उनके लिए पुनः कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं है ॥ १४ ॥

सादित्यं हि जगत्प्राणस्तस्मान्नाहर्निशैव वा ।
प्राणज्ञस्यापि न स्यातां कुतो ब्रह्मविदोऽद्वये ॥१५॥

सादित्यमिति—**आदित्य (सूर्य) के सहित समस्त विश्व, प्राणरूप है (हिरण्यगर्भरूप) है । अतः प्राणोपासक की दृष्टि में भी न दिन होता है और न रात्रि होती है । तब ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में अर्थात् उसकी अद्वयदृष्टि में विश्वप्रपञ्च की सत्ता कैसे रह सकती है ? ॥ १५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

"अनागतां तु ये पूर्वामनक्षत्रां तु पश्चिमाम् ।
सन्ध्यां नोपासते विप्रास्ते कथं ब्राह्मणाः स्मृताः" ॥

उक्त स्मृतिवचन के अनुरोध से ब्रह्मवित् विप्र को भी सन्ध्यावन्दनादि कार्य करना आवश्यक प्रतीत होता है, इस आशंका का समाधान कैमुतिकन्याय से आचार्यपाद ने किया है—जबकि सूर्य (आदित्य) सहित यह सम्पूर्ण जगत्, प्राण (हिरण्यगर्भ) रूप है, तब 'प्राणोऽहमस्मि'—मैं प्राण हूँ, इस प्रकार प्राणात्म-भावापन्न (प्राणज्ञ) उपासक के लिये दिन और रात कैसे होंगे ? क्योंकि उसकी आत्मा तो उदयास्तभावरहित सूर्यरूप है । प्राण, सूत्रात्मा, और हिरण्यगर्भ—ये पर्यायी शब्द हैं । जो व्यक्ति 'मैं प्राण हूँ'—ऐसी उपासना करता है, उसकी दृष्टि में संपूर्ण जगत् प्राण-स्वरूप हो जाता है । भगवती श्रुति ने प्राण और सूर्य में अभेद बताया है । अतः उदयास्तभावरहित सूर्यरूप हो जाने के कारण उसकी दृष्टि में सतत दिन ही रहता है । भगवती श्रुति कहती है—'न[1] ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृत् दिवा हैवास्मै भवति' । एवंच भेददर्शी प्राणवित् (प्राणज्ञ) की दृष्टि में भी यदि दिन और रात नहीं होते हैं, तब ब्रह्मवित् (मुख्य ब्रह्मभूत) के सर्वद्वैताभासरहित अद्वयस्वरूप में दिन-रात कैसे हो सकेंगे ? अर्थात् प्राणोपासक जैसे भेददर्शी को दिन-रात का अवभास नहीं हो पाता तो अभेददर्शी ब्रह्मवित् को दिन-रात रूपी कालभेद का ज्ञान कैसे होगा ? भेदज्ञान होने का कोई कारण ही नहीं है । अतः कालभेद के दर्शन न होने से ही तन्निमित्त सन्ध्या-वन्दनादि कर्तव्यों का भी अभाव ब्रह्मवित् के लिये समझना चाहिये ॥ १५ ॥

न स्मरेदात्मनो* ह्यात्मा विस्मरेद्वाऽप्यलुप्तचित् ।
मनोऽपि स्मरतीत्येतज्ज्ञानमज्ञानहेतुजम्† ॥१६॥

न स्मरत्तीति—**जिसकी चिन्मयी दृष्टि कभी लुप्त नहीं होती, वह कभी आत्मा का न स्मरण करता है और न उसे भूलता है । मन ही आत्मा का स्मरण करता है—यह ज्ञान भी अज्ञान के कारण ही है ॥ १६ ॥**

---

१. (छां. उ. ३।११।३)

* स्मरत्वा०—पाठान्तरम् ।

† तद्गान०—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

ब्रह्मज्ञानी की बाह्य क्रिया न रहने पर भी 'संध्यं[1] समाधावात्मन्याचरेत्' इस श्रुति के अनुरोध से आत्मविषयक विस्मृति का परित्याग कर मोक्षार्थ आत्मविषयक स्मृति करनी ही चाहिये—ऐसा यदि कोई कहे तो वह उचित न होगा। क्योंकि अलुप्तचित् (सदैव चिन्मयी दृष्टि) होने के कारण उसे उस (आत्मा) के स्मरण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। भूले हुए को स्मरण की आवश्यकता होती है। अतः अशक्य होने से स्वयं को ही स्वयं का स्मरण नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् आविर्भाव-तिरोभावादि विकारों की शान्ति के लिये मन ही आत्मा का स्मरण करे, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा। क्योंकि मन तो अचेतन (जड़) है, अतः वह स्मरण कैसे कर सकेगा ? उसमें स्मर्तृत्व अनुपपन्न है। किन्तु 'मनः स्मरति'—मन स्मरण कर रहा है, यह व्यवहार तो होता है। तथापि इस पर उत्तर यह होगा कि 'मनः स्मरति'—यह ज्ञान भी अज्ञान के कारण होता है अर्थात् अज्ञानात्मक हेतु से होता है। वह ज्ञान अविवेकविलसित है। एवंच 'संध्यं समाधौ'—यह विधि, मन को आत्मा से भिन्न देखने वाले असम्यग्ब्रह्मवित् के लिये है, वह सम्यग्ब्रह्मवित् के लिये नहीं है ॥ १६ ॥

ज्ञातुर्ज्ञेयः परो ह्यात्मा सोऽविद्याकल्पितः स्मृतः ।
अपोढे विद्यया तस्मिन् रज्ज्वां सर्प इवाद्वयः ॥१७॥

ज्ञातुरिति—**यदि परमात्मा को ज्ञाता का ज्ञेय कहा जाय तो उसे अविद्याकल्पित कहना होगा। क्योंकि जो भी ज्ञेय है, वह दृश्य होने से जड़ और अविद्याजन्य माना जाता है। रज्जु में अध्यस्त (आरोपित, कल्पित) सर्प के समान, विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर आत्मा अद्वयरूप ही सिद्ध है ॥ १७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि आत्मा अलुप्तचिद्रूप होने से अपने को (आत्मा को) स्मरण नहीं करता तथापि परमात्मा को तो स्मरण कर ही सकता है—ऐसा यदि कोई कहे तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि परमात्मा को ज्ञाता का ज्ञेय (विषय) कहें तो उसे अविद्याकल्पित कहना होगा। जो स्व-अज्ञान से कल्पित होता है, उसे विद्वान् लोग निश्चित स्मरण करते हैं, जानते हैं। रज्जु-सर्प की तरह ज्ञान का विषय, अविद्याकल्पित होने से उसे आत्मा ही नहीं कह सकते। तथाच आत्मज्ञानरूप विद्या के द्वारा उस आत्मा के परत्व, ज्ञेयत्व आदि का बाध होने पर ज्ञातृ-ज्ञेय विभाग के न रह जाने से अद्वय आत्मा ही शेष रह जाता है। जैसे रज्जुविद्या (ज्ञान) से सर्प का बाध होने पर रज्जु ही अवशेष रहती है, उसी तरह अद्वय आत्मा ही शेष रह जाता है ॥ १७ ॥

कर्तृकर्मफलाभावात्सबाह्याभ्यन्तरं ह्यजम् ।
ममाहं वेति* यो भावस्तस्मिन्कस्य कुतो भवेत् ॥१८॥

कर्तृकर्मफलाभावादिति—**कर्ता, कर्म और फल के न रहने से 'मैं' बाहर और भीतर के सहित अजन्मा आत्मा ही हूँ। अतः मुझमें ममता किंवा अहन्ता की प्रतीति किसी को कैसे हो सकती है ? ॥ १८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वस्तुतः प्रत्यगात्मा अद्वितीय है, तथापि उसमें 'मम, अहं' इत्यादि संसार का प्रतिभास होता रहता है, उसकी निवृत्ति के लिये कुछ कर्तव्य करना होगा, इस शंका की निवृत्ति के लिये 'कर्तृकर्म-फलाभावात्' को आचार्यचरण कह रहे हैं—

ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व तक ही समस्त उपायों का अनुष्ठान कर्तव्य रहता है। ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर ज्ञानी को किसी भी उपाय के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि प्रत्यगात्मा ही 'कर्ता' है, वह 'कर्म' है, और वही 'फल' है। कर्ता, कर्म, फल की भिन्नता जैसे लोक-व्यवहार में प्रतीत होती है, वैसे प्रत्यगात्मा में ज्ञानी को नहीं।

---

१. (आरुणिक उ. २)

* वेति, वेत्ति० इति पाठौ ।

प्रतीत होती। अतः ज्ञानी की दृष्टि में बाहर-भीतर सर्वत्र वही आत्मस्वरूप (अज) विद्यमान है, वही एकमात्र कर्ता, कर्म एवं फल के रूप में विद्यमान है। अतः ज्ञानी को उस आत्मा (प्रत्यगात्मा) में 'मम', 'अहम्' (मेरा, मैं) इस प्रकार का जो प्रतिभास (भाव) हो रहा है, वह किसका (किस अन्य वस्तु का) हो रहा है? कोई कारण ही नहीं है, जिससे तदतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का प्रतिभास हो सके। क्योंकि वही आत्मवस्तु बाहर-भीतर सर्वत्र (एक) मात्र विद्यमान है। अतः ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है॥ १८॥

आत्मा ह्यात्मीय इत्येष भावोऽविद्याप्रकल्पितः।
आत्मैकत्वे ह्यसौ नास्ति बीजाभावे कुतः फलम्॥१९॥

आत्मेति—**आत्मा और आत्मीय (आत्मा से सम्बन्धित) भाव भी 'अविद्या' से कल्पित है। किन्तु 'आत्मा' का एकत्व जब ज्ञात हो जाता है तब वह कल्पित भाव नहीं रहता। क्योंकि बीज ही जब नहीं रहेगा, तब उससे फल की उत्पत्ति कैसे हो पायेगी?॥ १९॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मज्ञानी को देहादि में 'अहंकार-ममकार' क्यों नहीं होता? देहादि के प्रति उसे अहंकार-ममकार, के न होने में कारण (हेतु) यह है, कि 'आत्मा-आत्मीय भाव' अर्थात् अहंकार-ममकार जो है, वह अविद्या के द्वारा कल्पित है। किन्तु आत्मैकत्व (आत्मैक्यभाव) का ज्ञान हो जाने पर अर्थात् सर्वत्र आत्ममय दृष्टि होने पर (ज्ञान हो जाने पर) अविद्या का अभाव हो जाता है, अर्थात् अविद्या नहीं रह पाती (नष्ट हो जाती है)। जब अविद्यारूप बीज ही नहीं रहा, तब अहंकार-ममकार (आत्मा-आत्मीय भाव) रूप फल कैसे उत्पन्न हो पायगा?॥ १९॥

द्रष्टृ श्रोतृ तथा मन्तृ विज्ञात्रेव तदक्षरम्।
द्रष्ट्राद्यन्यन्न तद्यस्मात्तस्माद्द्रष्टाऽहमक्षरम्*॥२०॥

द्रष्ट्रिति—**द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता ही वह अक्षर परब्रह्म है। क्योंकि वह द्रष्ट्रादिस्वरूप प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) उससे भिन्न नहीं है। इसलिये मैं ही द्रष्टृस्वरूप अक्षर ब्रह्म हूँ॥ २०॥**

हृदयस्पर्शिनी

उस आत्मैकत्व का ज्ञान, किस प्रमाण से होगा? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्यचरण कहते हैं—

उस 'आत्मैकत्व' का ज्ञान 'वेदान्तवाक्य' रूप प्रमाण के बल पर होगा। वेदान्तवाक्यों में इस प्रत्यग्रूप (प्रत्यगात्मा) को द्रष्टृ (द्रष्टा), श्रोतृ (श्रोता), मन्तृ (मन्ता), विज्ञातृ[1] (विज्ञाता) आदि भिन्न-भिन्न शब्दों से यत्र-तत्र बताया गया है, तथापि अनेक शब्दों से बताया जाने पर भी प्रत्यग्रूप, वह 'अक्षर' ही है, अर्थात् सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही है। वेदान्तवाक्यों (श्रुतियों) ने द्रष्ट्रादि शब्दों से जो प्रत्यक् स्वरूप बताया है, वह उस अक्षर से भिन्न नहीं है। जब कि श्रुति से ही यह बात सिद्ध हो गई कि इस प्रकार का अविषय भूत ही अद्वय आत्मतत्त्व है अर्थात् 'आत्मतत्त्व' एक ही है और वह कभी 'विषय' नहीं बनता। अतः मैं अक्षर ही 'द्रष्टा' हूँ॥ २०॥

स्थावरं जङ्गमं चैव द्रष्टृत्वादिक्रियायुतम्।
सर्वमक्षरमेवातः सर्वस्याऽऽत्माऽक्षरं त्वहम्॥२१॥

स्थावरमिति—**द्रष्टृत्वादि क्रियाओं से युक्त सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम सृष्टि, अक्षर ब्रह्मरूप ही है। अतः मैं ही सबका आत्मा, अविनाशी ब्रह्म हूँ॥ २१॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्यगात्मा की अक्षर-ब्रह्मात्मता सिद्ध रहने पर भी उसकी अद्वयात्मता की सिद्धि कैसे होगी? अर्थात् 'अक्षर' की सर्वात्मकता बताई और 'आत्मा' की भी सर्वात्मकता बता चुके हैं, ऐसी स्थिति में आत्मा की एकता

१. 'अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ (बृ. उ. ३।८।११)

* द्रष्टृ नान्यदतस्तसाद्यस्माद्द्रष्टाहमक्षरम्-पाठान्तरम्।

(अद्वयता) कैसे होगी ? यह शंका अभी निवृत्त नहीं हो रही है, उसकी निवृत्ति के लिये 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इस श्रुति के अनुरोध से प्रत्यगात्मा की अद्वयात्मता को बताया जाता है। उपाधि, उपहित, और उपाधि का आधार, ये सब 'अक्षर' ही हैं। अतः मैं 'अक्षर' सर्वस्वरूप (सर्वस्यात्मा) हूँ। मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥२१॥

अकार्यशेषमात्मानमक्रियात्मक्रियाफलम् ।

निर्ममं निरहङ्कारं यः पश्यति स पश्यति ॥२२॥

अकार्यशेषमिति—**जो, 'क्रिया' का अंग, क्रियारूप, और क्रिया का फल भी नहीं है, तथा जो, ममता, अहंकार से रहित है, ऐसे 'आत्मा' को जो देखता है, वही वस्तुतः देखता है—यह समझना चाहिये ॥ २२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त प्रपञ्च को 'अक्षर' रूप बताया है, अतः 'सप्रपञ्च अक्षर' ही आत्मा हुआ। इससे तो ब्रह्मात्मा की सप्रपञ्चता ही सिद्ध होती है, अद्वयता नहीं। इस आशंका को दूर करने के लिये आगमिक आत्मज्ञान को स्पष्ट करना आवश्यक है।

यह 'आत्मा' अकार्यशेष है अर्थात् इसमें अकर्तृत्व है। तात्पर्य यह है कि 'आत्मा' अकर्ता है। क्योंकि वह 'अक्रियात्म-क्रियाफल है, अर्थात् क्रियास्वरूप और तत्फल से विलक्षण है। अथवा क्रियातत्फलसंसर्गशून्य है (सर्वविशेषशून्य है) क्योंकि वह 'निर्मम' है, और 'निर्मम' इसलिये है कि वह 'निरहंकार' है अर्थात् 'चिन्मात्र' आत्मतत्त्व है। उस चिन्मात्र आत्मतत्त्व को जो सम्यक् देखता है, वही तत्त्वदर्शी कहलाता है।

आत्मज्ञानी को भी कर्म करते हुए देखा गया है, तब उसमें कार्यशेषत्व तो अर्थात् सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति में उसे 'अकार्यशेष' कैसे कहा गया ? किन्तु इसका समाधान तो यह है कि आत्मज्ञानी को निरन्तर आत्मस्वरूप का अनुभव होता रहता है। उस कारण उसमें ममकार, अहंकार आदि नहीं हो पाते। उनका अभाव रहने से उसे अकर्मशेष (अकार्यशेष) बताया गया है ॥ २२ ॥

ममाहङ्कारयत्नेच्छाः शून्या एव स्वभावतः ।

आत्मनीति यदि ज्ञातमाध्वं स्वस्थाः किमीहितैः ॥२३॥

ममेति—**हे मुमुक्षुओं ! यदि तुमने यह जान लिया है कि 'आत्मा' में ममता, अहंकार प्रयत्न और इच्छा का अभाव निसर्गतः (स्वभावतः) ही है, तो तुम्हें शान्त हो जाना चाहिये, क्योंकि तुम कृतकृत्य हो गये हो। अतः तुम्हें अब कर्म करने की क्या आवश्यकता है ? कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ममकार, अहंकार, यत्न, इच्छा ये स्वभावतः ही आत्मज्ञानी में नहीं रहते। क्योंकि अविद्याप्रयुक्त देहाद्यभिमान के रहने पर ही ये रहा करते हैं, अन्यथा नहीं। अतः हे मुमुक्षुओं ! यदि तुमने इस रहस्य को जान लिया हो तो निर्व्यग्र होकर रहो। तुम्हें कर्मों से क्या करना है ? क्योंकि ज्ञान से ही तुम कृतकृत्य हो चुके हो। अनधिकृत कर्मों के करते रहने से कोई फल नहीं होता। अतः आत्मा में कर्मशेषता नहीं है ॥ २३ ॥

योऽहङ्कर्तारमात्मानं तथा वेत्तारमेव च ।

***वेत्त्यनात्मज्ञ एवासौ योऽन्यथाज्ञः स आत्मवित् ॥२४॥**

योऽहमिति—**जो मनुष्य 'आत्मा' को अहंकार करनेवाला तथा ज्ञाता समझता है, वह आत्मज्ञानी नहीं है और जो मनुष्य इसके विपरीत उसे समझता है, उसे ही आत्मवित् (आत्मज्ञानी) समझना चाहिये ॥ २४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को देह से अतिरिक्त (भिन्न) माननेवाले को ही पारलौकिक कर्मों में अधिकारी माना जाता है। अतः आत्मवित् के द्वारा अनुष्ठीयमान कर्म का फल उसे मिलेगा ही, इस कारण आत्मवित् में भी कर्मशेषता माननी

* वेत्ति नात्मज्ञः—पाठान्तरम् ।

चाहिये। इस आशंका के समाधान में यह कहा जाता है कि जो पुरुष, आत्मा को कर्ता, भोक्ता, प्रमाता समझता है, वह वास्तव में आत्मवित् (आत्मज्ञानी) ही नहीं है। आत्मवित् तो उसे कहते हैं, जो आत्मा को अकर्ता, अज्ञाता, अभोक्ता समझता है। अर्थात् जो उसे कर्ता, ज्ञाता, भोक्ता का साक्षी समझता है, उस पुरुष को ही आत्मवित् समझना चाहिये॥ २४॥

यथान्यत्वेऽपि तादात्म्यं देहादिष्वात्मनो मतम्।
तथाऽकर्तृरविज्ञानात्फलकर्मात्मताऽऽत्मनः ॥२५॥

यथेति—**जिस प्रकार 'आत्मा' वस्तुतः देहादि से पृथक् (भिन्न) है, फिर भी अज्ञानवश देहादि के साथ 'आत्मा' का तादात्म्य (एकरूपता) समझा जाता है, उसी प्रकार अकर्ता-अभोक्ता आत्मा में अज्ञान से ही क्रियाफल की कर्मता मानी जाती है॥ २५॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि आत्मा अहंकार से अतिरिक्त है तो उस आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व की प्रसिद्धि क्यों है? अर्थात् आत्मा को कर्ता, भोक्ता समझनेवाला पुरुष 'आत्मवित्' क्यों नहीं है? क्योंकि कर्तृत्वादि का प्रतिभास तो आत्मा में ही होता है। इस आशंका का समाधान यह है कि आत्मा की अकर्तृता, अभोक्तृता का परिज्ञान न होने के कारण उसमें अहंकार का अध्यास होता रहता है, उससे कर्तृता-भोक्तृता का ज्ञान होता है। वस्तुतः आत्मा तो देहादि से भिन्न है तथापि अज्ञानवश देहादि के साथ आत्मा का तादात्म्य माना जाता है। उसी प्रकार अकर्ता, अभोक्ता जो आत्मा है, उसमें अज्ञान से ही क्रियाफल की कर्मता मानी गई है। जैसे स्थूल देह और आत्मा के अभेदाध्यास से मनुष्यत्वादि का अभिमान होता है, उसी तरह अहंकारप्रधान लिंगदेह और आत्मा का अभेदाध्यास (अविवेक) रहने से आत्मा में कर्तृत्वादि का अभिमान (मिथ्याबुद्धि) होता रहता है॥ २५॥

दृष्टिः श्रुतिर्मतिर्ज्ञातिः स्वप्ने दृष्टा जनैः सदा।
तासामात्मस्वरूपत्वादतः प्रत्यक्षताऽऽत्मनः ॥२६॥

दृष्टिरिति—**स्वप्नावस्था में मनुष्य सर्वदा ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं ज्ञान का अनुभव करता है, क्योंकि ये सभी आत्मस्वरूप ही हैं। इस अनुभव से आत्मा का प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। अर्थात् जिसे 'प्रत्यक्ष' शब्द से कहा जाता है, वह 'ज्ञान' ही है, और 'ज्ञेय' पदार्थ जो है, वह तो 'ज्ञान' की उपाधिमात्र है, और 'ज्ञान' ही आत्मा का स्वरूप है॥ २६॥**

हृदयस्पर्शिनी

पुनरपि शंका होती है कि अहंकार ही तो आत्मा है, तब यह कैसे कहा जा रहा है कि अहंकार और आत्मा में विवेक न होने से आत्मा में कर्तृत्वादि का भ्रम होता है? इसका उत्तर यह है कि अन्तःकरण के सहित दृष्टि आदि जो हैं, वे सब साक्षिवेद्य हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि साक्षी, उनसे भिन्न है। पद्य में दृष्टि, श्रुति, मति, ज्ञाति शब्दों से चक्षुरादिद्वारक अन्तःकरणवृत्तियों का निर्देश किया गया है। स्वप्नावस्था में सर्वदा ही मनुष्य दर्शन, श्रवण, मनन तथा ज्ञान का अनुभव करता है। स्वप्न में सवृत्तिक अन्तःकरण वेद्याकार होता है। अतः उनका वेदिता (ज्ञाता) कोई अन्य है, जिसे साक्षी कहते हैं—यह सिद्ध हुआ। इससे आत्मा की अपरोक्षता (प्रत्यक्षता) सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि दृष्टि आदि सब आत्मस्वरूप ही हैं। अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति में सवृत्तिक अन्तःकरण तो अविद्यामात्र होने से आत्मा में उसका अस्त (लय) हो जाता है, और आत्मा तो कहीं अस्त (लीन) होता नहीं। वह तो स्वयं अद्वय, अपरोक्ष, चिन्मात्ररूप है, अर्थात् 'ज्ञान' ही एकमात्र उसका स्वरूप है। प्रत्यक्ष होनेवाला एकमात्र केवल 'ज्ञान' ही है। ज्ञेय पदार्थ तो उसकी (ज्ञान की) उपाधियाँ हैं। अतः अहंकारादि स्वरूपवाले अन्तःकरण से आत्मा को पृथक् समझना उचित ही है॥ २६॥

परलोकभयं यस्य नास्ति मृत्युभयं तथा ।
तस्यात्मज्ञस्य शोच्याः स्युः सब्रह्मेन्द्रा अपीश्वराः ॥२७॥

परलोकेति—**जिस आत्मज्ञानी मनुष्य को परलोक का भय नहीं है और न मृत्यु का ही भय है, उस आत्मज्ञानी की दृष्टि में तो ब्रह्मा और इन्द्रादि देवता तथा लोकपाल-गण भी शोचनीय ही हैं ॥ २७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को अहंकारादि से भिन्न (समस्त प्रमाताओं का साक्षिभूत) बताकर उसकी ब्रह्मरूपता को सिद्ध करने से क्या लाभ है ? इस आशंका का समाधान करने के लिये 'योऽन्यथाज्ञः स आत्मवित्[1]' श्लोक में उक्त 'आत्मवित्' को स्पष्ट किया है—जिसे परलोक का भय नहीं है और न मृत्यु का ही भय है। श्रुति कह रही है—'किमहं साधु नाकरवम्', 'किमहं पापमकरवम्[2]'—क्या मैंने अच्छा काम नहीं किया ? तथा क्या मैंने पाप किया ?—इस प्रकार परलोकनिमित्त भय नहीं है। श्रुति कहती है—'नैनं कृताऽकृते तपतः[3]'। उसी प्रकार जिसे मृत्युभय (मरणभय) नहीं है, श्रुति कहती है—'न जीवो म्रियते[4]'। आत्मा से अतिरिक्त दूसरा उसकी दृष्टि में कोई है ही नहीं। यदि दूसरा कोई हो तो उससे भय हो। श्रुति कहती है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति[5]'। उस आत्मवित् की दृष्टि में तो ब्रह्मा एवं इन्द्रादि और ज्ञान-ऐश्वर्यसम्पन्न ईश्वर (लोकपालादि) भी शोचनीय हैं। आत्मवित् सोचता है कि ये सब ऐश्वर्य में आसक्त हैं, अतः निरन्तर व्यग्र रहते हैं। ये बेचारे कैसे स्वस्थ हो पायेंगे ? तस्मात् जो पुरुष परलोक और मरण के कारण होनेवाली व्यग्रता के हेतुभूत अहंकारादि से शून्य हो, वही ब्रह्मनिष्ठ आत्मवित् है। इससे जो विपरीत हो, वह आत्मवित् नहीं है ॥ २७ ॥

ईश्वरत्वेन किं तस्य ब्रह्मेन्द्रत्वेन वा पुनः ।
तृष्णा चेत्सर्वतश्छिन्ना सर्वदैन्योद्भवाऽशुभा ॥२८॥

ईश्वरत्वेनेति—**सभी प्रकार की दीनता को उत्पन्न करनेवाली अशुभ तृष्णा का यदि क्षय हो गया है तो उस मुमुक्षु पुरुष को ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व की प्राप्ति से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् वह निःस्पृह रहता है ॥ २८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ब्रह्मभाव, इन्द्रभाव, ईश्वरभाव की इच्छा सभी लोग किया करते हैं, तब वे ब्रह्मेन्द्रादि शोचनीय कैसे कहलायेंगे ? इसका समाधान यह है कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होने पर कुछ भी प्रार्थनीय नहीं रहता। सब प्रकार की दीनता उत्पन्न करनेवाली पापवृत्ति की द्वार होने से अशुभरूपिणी तृष्णा का सर्वथा समूल क्षय हो जाने के कारण उस आत्मवित् पुरुष को ब्रह्मत्व, इन्द्रत्व, ईश्वरत्व से क्या प्रयोजन है ? श्रुति कहती है—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते'[6] ॥ ॥ २८ ॥

अहमित्यात्मधीर्या च ममेत्यात्मीयधीरपि ।
अर्थशून्ये यदा यस्य स आत्मज्ञो भवेत्तदा ॥२९॥

अहमिति—**जिस समय मनुष्य 'अहम्' इस आत्म बुद्धि को तथा 'मम' इस आत्मीय बुद्धि को व्यर्थ (निष्प्रयोजन) समझने लगे, तभी उसे 'आत्मज्ञ' समझना चाहिये ॥ २९ ॥**

१. (उ० सा०१४।२४)
२. (तै. उ. २।९)
३. (बृ. उ. ४।४।२२)
४. (छां. उ. ६।११।६)
५. (बृ. उ. १।४।२)
६. (बृ. उ. ४।४।७)

हृदयस्पर्शिनी

'निर्ममं निरहंकारं यः पश्यति स पश्यति'[1] इस पूर्व श्लोक के द्वारा जो कहा गया है, उसी को स्पष्ट करते हुए आत्मज्ञ का लक्षण बता रहे हैं। अर्थात् 'ब्रह्मात्मज्ञ' कब होता है ? जिस समय शास्त्र और आचार्य से अनुगृहीत मनुष्य की दृष्टि में 'अहम्' इस प्रकार की आत्मबुद्धि और 'मम' इस प्रकार की आत्मीय विषयबुद्धि निष्प्रयोजन (व्यर्थ) हो जाय, अर्थात् आदमी तत्प्रयुक्त व्यवहार से रहित हो जाय, तब उसे आत्मवित् समझना चाहिए अर्थात् देह और तदनुबन्ध में व्यवहारकाल में भी पूर्वावस्था की तरह वस्तुत्वोल्लेख से रहित होने के कारण वह आत्ममात्रदर्शी अर्थात् पूर्णतया आत्मवित् हो जाता है ॥ २९ ॥

बुद्ध्यादौ सत्युपाधौ च तथाऽसत्यविशेषता ।
यस्य चेदात्मनो ज्ञाता तस्य कार्यं कथं भवेत् ॥३०॥

बुद्ध्यादाविति—**जाग्रत् और स्वप्नावस्था में बुद्धि आदि उपाधियों के विद्यमान रहते हुए तथा सुषुप्ति अवस्था में उन उपाधियों के विद्यमान न रहने पर भी जिस पुरुष को आत्मा के एकत्व (एकरूपता) का बोध हो गया हो, उस पुरुष के लिये किसी प्रकार का भी कोई कर्तव्य कार्य कैसे शेष रह सकता है ? ॥ ३० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मबुद्धि और आत्मीयबुद्धि दोनों की प्रवर्तकत्व शक्ति जब समाप्त हो जाती है, तब वेदान्तवाक्य से यथोक्त विद्या का उदय उस पुरुष में होता है। उस समय वह कृतकृत्य हो जाता है, तब उसमें कार्यशेषता का होना संभव नहीं, अतः पूर्वकथित अकार्यशेषता ही उसमें रहती है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में बुद्धि आदि उपाधियों के रहने पर तथा सुषुप्ति अवस्था में उन उपाधियों के न रहने पर जिस पुरुष को आत्मा की अविशेषता (एकरूपता) का ज्ञान हो जाता है, उस पुरुष के लिए कोई कर्तव्य कैसे रह सकता है ? अर्थात् उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। यद्यपि आत्मा की एकरूपता (अविशेषता) में कोई सन्देह नहीं है, तथापि पद्य में 'चेत्' इस सन्देहवाचक शब्द को 'वेदाश्चेत्प्रमाणम्' की तरह समझना चाहिए ॥ ३० ॥

प्रसन्ने विमले व्योम्नि प्रज्ञानेकरसेऽद्वये ।
उत्पन्नात्मधियो ब्रूत किमन्यत्कार्यमिष्यते ॥३१॥

प्रसन्न इति—**स्वाभाविक तथा आगन्तुक दोषों से शून्य (रहित) आकाशस्वरूप, विज्ञानैकरस, अद्वितीय परब्रह्म में जिसे आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है, उस पुरुष के लिये आत्मस्वरूप-ज्ञान के अतिरिक्त तुम ही बताओ कि अन्य कर्तव्य क्या हो सकता है ? ॥ ३१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मवित् के लिये कोई भी कार्य, कर्तव्यरूप में शेष नहीं है। क्योंकि आगन्तुक तथा स्वाभाविक दोषों से रहित, आकाश की तरह निरवयव, विज्ञानैकरस, अद्वितीय अर्थात् कार्य-कारणविभागशून्य परब्रह्म में 'अहमस्मि' इस प्रकार जिसे आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है, उस पुरुष के लिये, बताओ, कोई अन्य कर्तव्य कैसे रह सकता है ? अर्थात् आत्मस्वरूपज्ञान के अतिरिक्त कोई भी कार्य उसके लिये नहीं है ॥ ३१ ॥

आत्मानं सर्वभूतस्थममित्रं चात्मनोऽपि यः ।
पश्यन्निच्छत्यसौ नूनं शीतीकर्तुं विभावसुम् ॥३२॥

आत्मानमिति—**जो मनुष्य, समस्त प्राणियों (प्राणिमात्र) में आत्मा को देखता है, अर्थात् अनुभव करता है, उसी प्रकार किसी को वह अपना शत्रु भी समझता है, तो उसकी वह समझ अग्नि को शीतल करने के समान ही है। अर्थात् जैसे अग्नि का शीतल होना असंभव है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी की दृष्टि में अपना कोई शत्रु दिखाई देना भी सर्वथा असंभव है ॥ ३२ ॥**

---

१. (उ. सा. १४।२२)

हृदयस्पर्शिनी

शास्त्र और आचार्य के अनुग्रह से (प्रसाद से) तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी श्रेयोमार्ग की प्राप्ति में प्रतिबन्धक शत्रु की संभावना तो हो ही सकती है, उसके निवारणार्थ कुछ कार्य तो करना ही होगा। यह आशंका हो सकती है, किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि रवि की स्वाभाविक उष्णता को शीतल करना अथवा अग्नि की स्वाभाविक उष्णता को शीतल करना जैसे संभव नहीं अर्थात् उष्ण स्वभाव वाले अग्नि को जैसे शीत स्वभाव का नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार आत्मवित् की दृष्टि में अपना कोई शत्रु दिखाई देना सर्वथा असंभव है। क्योंकि समस्त प्राणियों में वह आत्मवित् अपने को ही देखता रहता है, अतः उसमें शत्रु-मित्रादि की भावना का होना संभव ही नहीं है। इसलिये उसमें कार्यशेषता नहीं बन पाती ॥ ३२ ॥

प्रज्ञाप्राणानुकार्यात्मा छायेवाक्षादिगोचरः ।
ध्यायतीवेति चोक्तो हि शुद्धो मुक्तः स्वतो हि सः ॥३३॥

प्रज्ञेति—**यह आत्मा, बुद्धि और प्राण का अनुकरण करता रहता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ वह आत्मा सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान इन्द्रिय आदि का विषय होता है। बुद्धि जब किसी विषय का ध्यान करती है, तब वही (आत्मा ही) ध्यान करता-सा प्रतीत होता है। इसी बात को भगवती श्रुति भी कह रही है—'आत्मा मानो ध्यान करता है' किन्तु वस्तुतः उस आत्मा में कोई क्रिया अथवा विकार नहीं है, वह तो सर्वदा शुद्ध और मुक्त ही है ॥ ३३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में कार्यशेषता समझनेवाले से हम पूछते हैं कि पहले यह बताओ कि कार्यशेषता सोपाधिक आत्मा में समझते हो या निरुपाधिक आत्मा में ? सोपाधिक आत्मा में यदि कार्यशेषता कहो तो उसे हम भी कहते हैं। किन्तु यदि निरुपाधिक आत्मा की कार्यशेषता कहो, तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा, बुद्धि और प्राण का अनुकरण करता है। वह सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के समान इन्द्रिय आदि का विषय होता है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब जल आदि में गिरने से उनकी चञ्चलता के कारण चलायमान-सा दिखाई देता है, उसी प्रकार बुद्धि आदि में प्रतिबिम्बित हुआ आत्मा, उन बुद्धि आदि के ध्यान करने पर ध्यान करता-सा जान पड़ता है,[1] किन्तु वास्तव में उसमें कोई क्रिया या विकार नहीं है, वह तो सर्वदा शुद्ध और मुक्त ही है ॥ ३३ ॥

अप्राणस्याऽमनस्कस्य तथाऽसंसर्गिणो दृशेः ।
व्योमवद्व्यापिनो ह्यस्य कथं कार्यं भवेन्मम ॥३४॥

अप्राणस्येति—**प्राणहीन, मनोहीन, असंसारी और आकाश के समान व्यापक मुझ साक्षी को किसी प्रकार का कोई कर्तव्य कैसे हो सकता है ? ॥ ३४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

निरुपाधिक आत्मा में कार्यशेषता तो है ही नहीं, उसी तरह 'प्राणायामान् षडाचरेत्'[2] इत्यादि यतिधर्म-विधिशेषता भी उसमें नहीं है। क्रियाशक्तिवाले प्राण से हीन, ज्ञानशक्तिवाले मन से हीन, स्वभावतः ही असंग (असंसारी), आकाश के समान व्यापक (अपरिच्छिन्न) अर्थात् स्वतः चलनशक्ति से रहित, चिदेकरस (साक्षी) स्वरूप मेरे लिये कोई कर्तव्य कैसे संभव हो सकता है ? तस्मात् मुझ निरुपाधिक में किसी प्रकार की कोई कार्यशेषता नहीं है ॥ ३४ ॥

असमाधिं न पश्यामि निर्विकारस्य सर्वदा ।
ब्रह्मणो मे विशुद्धस्य शोध्यं नान्यद्धिपाप्मनः ॥३५॥

असमाधिमिति—**मैं निर्विकार विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप हूँ, मुझे कभी कोई विक्षेप (विकार) नहीं दिखाई देता, तथा मैं सर्वथा और सर्वदा निष्पाप हूँ, अतः कुछ शोधन करने योग्य भी मैं नहीं समझता ॥ ३५ ॥**

---

१. 'ध्यायतीव लेलायतीव'—(बृ. उ. ४।३।७)

२. (मनु. ६।६९)

हृदयस्पर्शिनी

कदाचित् किसी आत्मवित् को विक्षेप (असमाधान) हो तो उसे दूर करने के लिए उसे कुछ कार्यानुष्ठान करना ही होगा। अर्थात्—

'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये'[1]॥

इत्यादि भगवद्वचन के अनुसार मनःसमाधान के द्वारा आत्मशुद्धि सम्पादन करना तो अभी अवशिष्ट ही है, इस आशंका पर यह कह सकते हैं कि आत्मशुद्धि तो पहले से ही सिद्ध है, आत्मशुद्धिसम्पादन करने का यह अवसर नहीं है। असमाधि का अर्थ 'विकार' है। और विकार उपाधि से होता है। एवंच विकार की हेतुभूत उपाधि से रहित होने के कारण आत्मा सर्वदा निर्विकार ही है, उसे आत्मशुद्धि की अब क्या आवश्यकता होगी? मैं निर्विकार विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप अपने में कभी कोई विक्षेप नहीं देखता, और सर्वथा पापरहित होने के कारण कुछ शोधन करने के योग्य भी नहीं समझता॥ ३५॥

गन्तव्यं च तथा नैव सर्वगस्याऽचलस्य च।
नोर्ध्वं नाधस्तिरो वापि निष्कलस्यागुणत्वतः॥३६॥

गन्तव्यमिति—**मैं सर्वगत और निश्चल हूँ। अतः मेरे लिये कोई गन्तव्य देश नहीं है। उसी तरह निर्गुण होने के कारण मैं निरवयव हूँ, अतएव मुझमें कुछ ऊपर-नीचे अथवा इधर-उधर भी नहीं है॥ ३६॥**

हृदयस्पर्शिनी

शोधन करने योग्य किसी वस्तु को मैं नहीं देख रहा हूँ, क्योंकि मैं आत्मवित्, नित्य निवृत्तकमल्ष हूँ। 'मैं आत्मवस्तु के सिवाय अन्य किसी वस्तु को नहीं देखता हूँ'—यह कथन ठीक नहीं प्रतीत हो रहा है, क्योंकि गन्तव्य-स्थान ब्रह्मलोकादि और गमनसाधन जो अर्चिरादिमार्ग—उसको जानना तो ब्रह्मवित् के लिये भी आवश्यक है। अतः ज्ञातव्य आत्मवस्तु के अतिरिक्त गन्तव्य और गमनसाधन भी ज्ञातव्य है, यह शंका हो सकती है, किन्तु उसका समाधान यह है—सगुणब्रह्मवित् को वह हो सकता है, निर्गुणब्रह्मवित् के लिए वह नहीं है। 'गन्तव्यम्' का भाव और कर्म में तन्त्रेण ग्रहण होगा। तथाच सर्वगत (सर्वत्र व्यापक) होने से चलन (हिलने) का सामर्थ्य नहीं है, उसके न होने से मैं गन्तव्य (गम धात्वर्थ जो गमन) को नहीं जानता, तथा 'गन्तव्यं' अर्थात् गति (गमन) के द्वारा प्राप्तव्य देशरूप स्थानविशेष को भी नहीं लक्षित कर रहा हूँ। अर्थात् सर्वगत होने से निश्चल हूँ, इस कारण मेरे लिये कोई गन्तव्य देश नहीं है। और निर्गुण (अगुण) होने से मैं निरवयव हूँ। यदि यहाँ 'निर्गुण' न कहकर केवल 'निरवयव' कहते तो उसका 'निष्कलत्व' (पूर्णत्व) सिद्ध न हो पाता। क्योंकि कुछ लोगों के अनुसार ज्ञान, सुख आदि गुणात्मक अवयव उसके होने से उसे निरवयव नहीं कहा जा सकेगा। अतः निष्कलत्व को बताने के लिये 'अगुणत्वतः' (निर्गुण) कहना पड़ा। यह जो कहा गया था कि मेरा कोई प्राप्तव्य देश नहीं है, उसका कारण यह है कि देश-भेद हो तो गन्तव्य आदि स्थान का विभाग हो सके। मेरे लिये तो ऊपर-नीचे अथवा सामने-पीछे, दक्षिण, उत्तर कोई दिग्विभाग नहीं है। क्योंकि मैं तो पूर्ण (निष्कल) हूँ। निष्कल इस कारण हूँ कि मैं ज्ञानस्वरूप, सुखस्वरूप हूँ, ज्ञान, सुख आदि मेरे गुण नहीं हैं। मैं तो असंग हूँ, मुझ असंग में संसर्गी गुणों का रहना संभव नहीं है। अतः जैसे दिग्भेद न होने से मेरा कोई गन्तव्य स्थान नहीं, वैसे ही गुण से भी विभागशून्य होने के कारण मेरा कोई गन्तव्य स्थान नहीं है। और न गति (प्राप्ति) ही है। अतः आत्मवित् के लिये गन्तव्य तथा गमनसाधन के जानने की कोई आवश्यकता नहीं है॥ ३६॥

चिन्मात्रज्योतिषो नित्यं तमस्तस्मिन्न विद्यते।
कथं कार्यं ममैवाद्य नित्यमुक्तस्य शिष्यते॥३७॥

चिन्मात्रेति—**जो सर्वदा चिन्मात्र, ज्योतिःस्वरूप है, उसमें (आत्मा में) अज्ञान (तम) भी नहीं है, तब नित्यमुक्त मेरे लिये अब भी कोई कर्तव्य कैसे शेष रह सकता है?॥ ३७॥**

1. (भ. गी. ६।१२)

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा तो सर्वदा चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप है, अतः वह गुण आदि से रहित है। क्योंकि गुण आदि की सत्ता तो अविद्या के होने से होती है। और गुण आदि के कारणीभूत अज्ञान की स्थिति आत्मवित् में कभी नहीं रहती। क्योंकि वह तो चिन्मात्र है। नित्यमुक्त आत्मा में अज्ञान रूप उपाधि के बिना किसी भी प्रकार के विशेष की कल्पना करना शक्य नहीं है। अज्ञान को ज्ञानस्वभाव कहना तो वस्तुतः असंभव ही है। अतः आत्मा में क्रिया-योग्यता तो कदापि नहीं बन सकती। इतना स्थित होने पर अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अज्ञान का भी प्रतिभास नहीं है तब उसमें कर्मविधिशेषता कैसे हो सकेगी ? आत्मा में स्वरूपतः, प्रतिभासतः भी तम (अज्ञान) नहीं है, क्योंकि वह तो चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप है ॥ ३७ ॥

अमनस्कस्य का चिन्ता क्रिया वाऽनिन्द्रियस्य का।
'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र' इति सत्यं श्रुतेर्वचः ॥३८॥

अमनस्कस्येति—**जो अमनस्क (मनोहीन) है, उसे चिन्ता कैसे हो सकती है ? और जो अनिन्द्रिय (इन्द्रिय-रहित) है, वह किसी भी क्रिया को कैसे कर सकता है ? उसके विषय में भगवती श्रुति का वचन यथार्थ ही है—'आत्मा, प्राणहीन, मनोहीन एवं शुद्ध है।' अतएव वह सर्वचिन्तारहित और निष्क्रिय है ॥ ३८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

किञ्च आत्मज्ञानी का अज्ञान के साथ और उसके कार्यभूत मन और चक्षुरादि के साथ सम्बन्ध न होने से उभयविध (बाह्याभ्यन्तर) क्रिया का अभाव है। अर्थात् जो मनोहीन होगा, उसे चिन्ता कैसे होगी ? और जिसे इन्द्रियाँ नहीं होंगी, वह क्रिया कैसे कर सकेगा ? एवञ्च उसमें क्रियाशेषता नहीं है। आत्मा के मन, प्राण आदि के न होने में प्रमाण यह है 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः[1]'—आत्मा प्राणहीन, मनोहीन, एवं शुद्ध है—श्रुति वचन का अर्थ सत्य समझना चाहिये, वह कभी असत्य नहीं हुआ करता। और वह निर्दोष होने के कारण स्वतः प्रमाण रहता है। अतः आत्मवित् सर्वदा चिन्तारहित और क्रियारहित होता है ॥ ३८ ॥

अकालत्वाददेशत्वाददिक्त्वादनिमित्ततः ।
आत्मनो नैव कालादेरपेक्षा ध्यायतः सदा ॥३९॥

अकालत्वादिति—**'आत्मा' काल, देश, दिक् से रहित है, और निर्निमित्त है। अतः उसका ध्यान करने-वाले के लिये सर्वदा ही (कभी भी) काल आदि की अपेक्षा नहीं है ॥ ३९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

किञ्च पुनः एक प्रश्न मन में उठता है कि आत्मचिन्तन के लिये अपररात्र्यादि काल, विविक्त पूतादि देश, प्राच्यादि दिग्विशेष, मनोविक्षेपराहित्य, राहूपरागादि निमित्त की प्रतीक्षा तो करनी ही होगी, तब उसे क्रियारहित कैसे कह सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा रहा है कि सर्वदा आत्मचिन्तन करने वाले यति के लिये काल, देश आदि की कोई अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् जिस प्रकार धर्म का अनुष्ठान करने के लिये पूर्वाह्णादि काल, तीर्थस्थानादि पवित्र देश, पूर्वादि दिशा तथा सूर्यग्रहणादि निमित्त की आवश्यकता रहती है, वैसी आत्मचिन्तन के लिये किसी नियम की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि आत्मा तो काल, देश, दिशा, निमित्त आदि किसी भी उपाधि से परिच्छिन्न नहीं है। एवञ्च आत्मस्वरूप के कालादि में से कोई निबन्धन न होने से उसके ध्यान करने में भी काल आदि की अपेक्षा नहीं होती। उस कारण चलते, फिरते, कहीं भी और किसी भी समय आत्मस्वरूप का चिन्तन (निदिध्यासन) किया जा सकता है। तस्मात् आत्मवित् में क्रियाशेषता नहीं है। भगवान् सूत्रकार ने भी 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्[2]' सूत्र से यही कहा है ॥ ३९ ॥

१. (मुं. उ. २।१।२)
२. (ब्र. सू. ४।१।११)

यस्मिन्देवाश्च वेदाश्च पवित्रं कृत्स्नमेकताम् ।
व्रजेत्तन्मानसं तीर्थं यस्मिन्स्नात्वाऽमृतो भवेत् ॥४०॥

यस्मिन्निति—**समस्त देवगण, वेद और सर्वदा पवित्र (शुद्ध) हरि-हरनामोच्चारणादि, जहाँ एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं, उस मानसतीर्थ में मुमुक्षु को जाना चाहिये, जिसमें स्नान करने से मनुष्य अमर हो जाता है ॥ ४० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मवित् (ब्रह्मवित्) को देश-काल आदि की अपेक्षा रखने वाले कर्म की अपेक्षा न रहने पर भी 'गङ्गातीरे वसेन्नित्यं भिक्षुर्मोक्षपरायणः'—इस स्मृतिवचन के अनुसार उसे प्रयागादि तीर्थ की तो अपेक्षा रहती ही है, क्योंकि प्रयागादि तीर्थ को मुक्ति में हेतु कहा है। अतः ब्रह्मविद् को सर्वविध अपेक्षारहित कैसे कहा जायगा ? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है कि मुक्ति के साक्षात् कारणभूत ब्रह्मात्मज्ञानरूप तीर्थ में जिसने स्नान कर लिया है, उस आत्मज्ञानी के लिये अन्य तीर्थ की अपेक्षा नहीं है। तात्पर्य यह है—सभी तीर्थस्थानों के अधिष्ठाता माधव, विश्वेश्वर, रामेश्वर, त्रिविक्रम आदि देवगण, जो अपनी पूजा, तथा दर्शन, स्पर्शन, स्मरण आदि से भक्तों को पावन करते हैं, तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, जो अपने अध्ययन, ब्रह्मयज्ञपाठ, अनुष्ठान आदि से अनुष्ठाताओं को पवित्र करते हैं तथा सम्पूर्ण पवित्र तीर्थविशेष हरि-हर नामोच्चारण आदि, ब्रह्मात्मस्फुरण होने वाले आत्मज्ञानी में सागर में नदियों के समान ये सब एक हो जाते हैं, क्योंकि सर्वात्मब्रह्माविर्भाव रूप ही वह हो जाता है, सब के एक होने में यही एक परम हेतु है। उस आत्मवित् के अन्तःकरण की वेदान्तमहावाक्यजनित जो ब्रह्माकार वृत्ति है, वह संसाररूप महापाप की मूलभूत अविद्या की उच्छेदिका होने से तीर्थस्वरूप है। उस ब्रह्माकार वृत्तिरूप तीर्थ में अवगाहन कर जलराशि में निक्षिप्त जलबिन्दु के समान एकता को प्राप्त होकर निर्विशेष नित्यात्मस्वरूप ही वह हो जाता है। उस तीर्थ में नित्य निमग्न रहने वाले को किसी अन्य तीर्थान्तर की अपेक्षा नहीं रहती। यही बात तैत्तिरीय श्रुति भी कह रही है—'शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति। सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति। सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति। स मानसीन आत्मा जनानाम्[1]।' उसी तरह काठक श्रुति भी कह रही है—'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम[2]।' अतः जिसमें समस्त देववृन्द, वेद, भगवन्नामोच्चारण, जप आदि सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, उस मानस तीर्थ में जाना चाहिये, जिसमें स्नान करके मनुष्य अमर हो जाता है ॥ ४० ॥

न चास्ति शब्दादिरनन्यवेदनः परस्परेणापि न चैव दृश्यते ।
परेण दृश्यास्तु यथा रसादयः तथैव दृश्यत्वत एव दैहिकाः ॥४१॥

न चेति—**शब्द-स्पर्शादि विषय स्वयं जड़ हैं, वे स्वयंप्रकाश नहीं हैं, और वे स्वयं जड़ होने के कारण ही परस्पर एक-दूसरे से प्रकाशित नहीं हो पाते हैं। अतः ये शब्द-स्पर्श-रसादि बाह्य विषय, जैसे किसी दूसरे के दृश्य माने जाते हैं, उसी प्रकार शारीरिक रसादि विषय भी दृश्य होने के कारण परप्रकाश्य ही हैं ॥ ४१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार कृतार्थ करा देने वाले ज्ञानतीर्थ को किस उपाय से प्राप्त किया जाय ? यह जिज्ञासा होने पर पूर्वोक्त पदार्थविवेक ही उसके प्राप्ति का उपाय है, यह बताने के लिये प्रथमतः आत्मा की स्थूल देह से भिन्नता को स्पष्ट कर रहे हैं। शब्द से लेकर गन्ध तक जितने विषय हैं, वे अनन्यवेदन नहीं हैं, अर्थात् स्वयंप्रकाश नहीं हैं। तथा वे परस्पर एक-दूसरे से भी प्रकाशित नहीं होते हैं। अर्थात् शब्द से स्पर्श, तथा स्पर्श से शब्द इस प्रकार परस्पर के द्वारा भी प्रकाशित नहीं किये जाते हैं, क्योंकि वे सभी जड़ हैं। व्यवहार सर्वदा वस्तु को देखकर ही होता है, बिना देखे नहीं होता। शब्दादि विषयों का दर्शन स्वतः भी नहीं और परस्परतः भी नहीं, परिशेषात् स्वविलक्षण अजड

१. (तै. आ. ३।११)
२. (कठ. उ. ४।१५)

(चेतन) से ही प्रकाश्य हैं। जिस प्रकार ये बाह्य रसादि किसी अन्य के दृश्य हैं, उसी प्रकार दृश्य होने से शारीरिक रसादि भी परप्रकाश्य ही हैं। तथाच अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होगा—'दैहिका रसादयः परेण दृश्याः दृश्यत्वात् बाह्यरसादिवत्।' तथैव 'इमे'—यह उपनय और 'तस्मात्तथा'—यह निगमन है। एवंच आत्मा, स्थूल देह से भिन्न है ॥४१॥

अहंममेत्येषणयत्नविक्रियासुखादयस्तद्वदिह प्रदृश्यतः।
दृश्यत्वयोगाच्च परस्परेण ते न दृश्यतां यान्ति ततः परो भवान्*॥४२॥

अहमिति—उसी तरह व्यवहार में अहंकार, ममता, इच्छा, यत्न, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि विकार और सुख-दुःखादि भी दृश्यरूप होने से स्वयंप्रकाश नहीं हैं, और उनमें दृश्यत्व होने के कारण ही वे परस्पर भी एक दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकते। अतः इनके संघातरूप लिङ्गशरीर से आप (आत्मा) पृथक् (भिन्न) ही हैं ॥ ४२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक के द्वारा पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीर से उसके द्रष्टा आत्मा को पृथक् (अतिरिक्त) सिद्ध करके, अब सूक्ष्मदेह से भी उसे (आत्मा को) पृथक् सिद्ध कर रहे हैं। अहंकार, ममता, इच्छा, यत्न, (कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि) विकार, और सुखादि (दुःख, मोह, द्वेष प्रभृति) ये सब 'मेरे' (मम) शब्द से निर्दिश्यमान मनोवृत्तिरूप हैं, उसी तरह पूर्वनिर्दिष्ट शब्दादि विषयों के समान ये भी स्वयम्प्रकाश (अनन्यवेदन) नहीं हैं। क्योंकि लोकव्यवहार में ये सभी दृश्य हैं (दर्शनक्रिया के कर्म हैं)। अतः इन्हें स्वयम्प्रकाश न कहना उचित ही है। तथा ये परस्पर भी एक दूसरे के दृश्य नहीं हो पाते। अभिप्राय यह है—स्थूल-देह के समान सूक्ष्म-देहात्मक अहंकारादि भी व्यवहार में स्वतः सिद्ध नहीं हैं, और उसी कारण वे परस्पर भी एक दूसरे को नहीं दिखाई पड़ते। एवंच स्वयं से भी स्वयं का ग्रहण न कर-पाने से तथा परस्पर भी एक-दूसरे से एक-दूसरे का ग्रहण न कर पाने से परिशेषात् उन सभी का ग्राहक (द्रष्टा), उन अहंकारादिकों से (अहंकारादिकों के संघातरूप सूक्ष्म देह=लिंगशरीर से) अतिरिक्त (पृथक्) ही है ॥ ४२ ॥

अहंक्रियाद्या हि समस्तविक्रिया सकर्तृका कर्मफलेन संहता।
चितिस्वरूपेण समन्ततोऽर्कवत् प्रकाश्यमानाऽसिततात्मनो ह्यतः ॥४३॥

अहंक्रियाद्या इति—अहङ्कारादि सम्पूर्ण विकार सकर्तृक और कर्मफल से संहत हैं, और सूर्य के समान सर्वदा चेतनस्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होते हैं अतः आत्मा बन्धनरहित है, यह सिद्ध होता है। अहंकारादि उसे बाँध नहीं सकते, क्योंकि वे आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित हुआ करते हैं ॥ ४३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तथापि पुनः जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकार से यद्यपि स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहों (शरीरों) का ग्राहक (द्रष्टा) होने से उन दोनों शरीरों से अतिरिक्त ही आत्मा है, तथापि उनके साथ उस (आत्मा) की सम्बन्धप्रतीति तो सभी को होती है, तब उसे (आत्मा को) नित्यमुक्त कैसे कहा जायगा? उक्त जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि अहंकारादि सम्पूर्ण विकार सकर्तृक और कर्मफल से संहत है, तथा सूर्य के समान चेतनस्वरूप आत्मा से ही सर्वथा प्रकाशित होते रहते हैं। उस कारण आत्मा की अबद्धता (बन्धनशून्यता) सिद्ध है। स्थूल-सूक्ष्म देहात्मक विकार (विक्रिया) के साथ प्रतीयमान सम्बन्ध भी दृश्य है, ऐसी स्थिति में वह (सम्बन्ध) द्रष्टा का धर्म कैसे हो सकता है? आत्मा तो उस सम्बन्ध का भी साक्षी (द्रष्टा) है। विकार और तत्सम्बन्ध आदि ये स्वयं आत्मचैतन्य से प्रकाशित होते रहते हैं, अतः वे उसे कैसे बाँध सकेंगे? अतः आत्मा सदा-सर्वदा नित्य मुक्त ही है ॥ ४३ ॥

दृशिस्वरूपेण हि सर्वदेहिनां वियद्यथा व्याप्य मनांस्यवस्थितः।
अतो न तस्मादपरोऽस्ति वेदिता परोऽपि तस्मादत एक ईश्वरः ॥४४॥

* भवेत्—पाठान्तरम्।

दृशीति—**आत्मा, सम्पूर्ण देहधारियों के अन्तःकरणों को आकाश के समान व्याप्त करके साक्षी के रूप में स्थित है। अतः उससे भिन्न अन्य कोई ज्ञाता नहीं है, और न उससे भिन्न परमेश्वर ही ज्ञाता है। इसलिये आत्मा एक ही है ॥ ४४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

बुद्धि और उसकी वृत्तियों का साक्षी (द्रष्टा) होने के कारण आत्मा का नित्यमुक्तत्व (बन्धनशून्यत्व=असितत्व) यद्यपि सिद्ध किया गया है, अर्थात् द्विविध देहों से आत्मा का पृथक्त्व (विविक्तत्व) यद्यपि बताया गया है, तथापि प्रत्येक देह में उसकी भेदेन प्रतीति होती है, अर्थात् प्रत्येक देह में वह परिच्छिन्न हुआ प्रतीत होता है। उस-कारण ब्रह्मरूप में उसकी पूर्णता कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है—यह आत्मा सम्पूर्ण देहधारियों के अन्तःकरणों को उनका साक्षी (द्रष्टा) बनकर, घट-पटादिकों को व्याप्त किये हुए आकाश के समान व्याप्त करके अवस्थित है। वह परिच्छिन्न रूप में स्थित नहीं है। अतः उस चिति (चैतन्य) स्वरूप आत्मा से भिन्न कोई अन्य जीव ज्ञाता नहीं है, तथा न उससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर ही ज्ञाता है। क्योंकि दोनों का चैतन्य (चिति) स्वरूप एक (समान) ही है। अतः एक ही आत्मा है। उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप नहीं हैं। आकाश के समान उपाधि-परामर्श के बिना उसमें भेदप्रतीति नहीं हो पाती। अतः वास्तविक रूप से आत्मा एक ही है। उसकी भिन्नता में कोई प्रमाण नहीं है। इससे आत्मा की ब्रह्मात्मता (ब्रह्मरूपता=पूर्णता) सिद्ध है ॥ ४४ ॥

शरीरबुद्ध्योर्यदि चान्यदृश्यता निरात्मवादाः सुनिराकृता मया।
परश्च शुद्धो ह्यविशुद्धिकर्मतः सुनिर्मलः सर्वगतोऽसितोऽद्वयः ॥४५॥

शरीरबुद्ध्योरिति—**शरीर और बुद्धि की परप्रकाश्यता यदि सिद्ध होती है, तो मैंने शून्यवादादि निरात्म-वादों का सम्यक्तया निराकरण कर दिया है। उसी तरह हिंसादि दोषों से दूषित कर्मों का साक्षी जो आत्मा है, वह भी उन कर्मों से भिन्न है, वह शुद्ध, निर्मल, सर्वगत, स्वतन्त्र एवं अद्वितीय है ॥ ४५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वकथनानुसार यह आत्मा यदि स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहों का साक्षी और ब्रह्मरूप है, तो कुछ लोगों को उसके न होने की (उसकी सत्ता=विद्यमानता=अस्तित्व में) शंका क्यों होती है? यह प्रश्न अभी दूर नहीं हो रहा है। इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर एक शब्द में यही होगा कि 'अपने ही दोष के कारण'—स्वदोषवशादेव वैसी शंका होती है। पूर्वोक्त न्याय से स्थूल-सूक्ष्म देह (शरीर-बुद्धि) की दृश्यता, नित्य-सद्रूप किसी अन्य के द्वारा (शरीर-बुद्धि की परप्रकाश्यता) जबकि सिद्ध हो चुकी है, तब उस से शून्य-क्षणिकवादी (निरात्मवादी) का निराकरण पूर्णरूप से हो जाता है। अर्थात् श्रुति-प्रमाण तथा प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के बल पर बौद्धादिकों के सिद्धान्त का निराकरण अच्छी तरह से कर दिया गया है। साक्षी के रूप में वह आत्मा, संसार के हेतुभूत (कारणीभूत) अविशुद्धिकर धर्माऽधर्माख्य कर्मों से एकदम पृथक् (व्यतिरिक्त) ही है, क्योंकि वह तो उनका साक्षीमात्र है। अतः वह साक्षी अद्वय आत्मा अकर्ता (शुद्ध), और कर्मफल-भोगफल के लेश से भी रहित (सुनिर्मल), तथा अपरिच्छिन्न (सर्वगत), अतएव बन्धनशून्य (असितः=षिञ् बन्धने) है। उसी तरह वह अद्वितीय भी है। द्वैत प्रपञ्च तो दृश्य है, अतः यह आत्मा तत्सम्बन्धरहित सिद्ध होता हैं ॥ ४५ ॥

घटादिरूपं यदि तेन गृह्यते मनः प्रवृत्तं बहुधा स्ववृत्तिभिः।
अशुद्धचिद्रूपविकारदोषता मतेर्यथा वारयितुं न पार्यते ॥४६॥

घटादिरूपमिति—**पुनः एक जिज्ञासा होती है कि आत्मा यदि 'मन' का ग्रहण करता है, और वह मन अपनी वृत्तियों से अनेक आकारों में परिणत होता है। तब उस परिणत हुए मन का ग्रहण करनेवाले आत्मा में भी उस परिणत हुए मन के समान विषयसंसर्गजनित अशुद्धि, अचित्स्वरूपता, और विकारिता आदि दोष उत्पन्न होंगे। जिनका निवारण करना संभव नहीं है ॥ ४६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वोक्त श्लोकों से आत्मा का द्रष्टृत्व सिद्ध किये जाने पर भी शंकाकुल मन में पुनरपि शंका हो रही है कि आत्मा के द्वारा शरीर और बुद्धि यदि दृश्य हों तो पूर्वोक्त कथन सुसंगत हो सकेगा, किन्तु उनकी (शरीर और बुद्धि की) आत्मदृश्यता ही सिद्ध नहीं है। तब उसे (आत्मा को) द्रष्टा कैसे समझा जाय ? अभिप्राय यह है कि यद्यपि द्विविध शरीर का् ग्राहक होने से उन दोनों शरीरों से भिन्न, नित्य सद्रूप आत्मा है, तथापि दृश्य के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले दोषों का परिहार कैसे किया जा सकता है ? अपने स्वरूपभूत चैतन्य से दृश्यावच्छिन्न चैतन्य का भेद न होने से वह दृश्य को अवभासित करता है, उसी कारण वह द्रष्टा कहलाता है। यदि इस तरह अवभासित न करे (द्रष्टा न हो) तो दृश्य वस्तु का प्रत्यक्ष ही नहीं हो पायेगा। दृश्य वस्तु को प्रकाशित करने पर ही किसी को द्रष्टा कहा जाता है। यदि मन और उसकी वृत्तियाँ आत्मा के द्वारा प्रकाशित न हों तो आत्मा को द्रष्टा नहीं कहा जा सकेगा। एवंच उनका प्रकाशक होने से उसमें (आत्मा में) उनके संसर्ग से होनेवाले दोषों की संभावना है, इस कारण उसे शुद्ध नहीं कह सकते। पद्य का शब्दार्थ इस प्रकार होगा—यदि अपनी वृत्तियों से घटा-पटादि अनेक आकारों में परिणत होनेवाला मन, उससे (आत्मा से) ग्रहण किया जाता है, तो दृश्य के साथ सम्बन्ध होने से उस (मन) के तुल्य उस आत्मा की भी (विषय-सम्पर्कजनित) अशुद्धि, जड़रूपता (अचिद्रूपता) एवं विकारिता आदि दोषता (दोषों) का निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे चैतन्य के संसर्ग से बुद्धि की चिच्छयता (चिच्छायापत्ति) का निवारण नहीं किया जा सकता। इस व्याख्या में 'तेन' यह तृतीयान्त पद रहेगा।

अथवा दूसरी व्याख्या—शरीर और बुद्धि को आत्मदृश्य न मानने में बाधा है। अतः दोनों में आत्म-दृश्यता माननी ही होगी। यदि तुम्हारे मत में अपनी वृत्तियों के कारण अनेक प्रकार से प्रवृत्त होकर घट-पटादि विषयाकार बने हुए मन को उससे अतिरिक्त ज्ञात होनेवाले आत्मा के द्वारा गृहीत (प्रकाशित) नहीं किया जाता, तब आत्मा को मन से भिन्न नहीं कहा जा सकेगा। तब उसमें भी मन के समान ही अशुद्धि, अचिद्रूप विकार-दोष मानने होंगे, जिनका निवारण करना शक्य नहीं होगा, और उसे साक्षी मानने पर मन-बुद्धि से पृथक् रहने के कारण मन-बुद्धि के दोषों का उसमें आना संभव ही नहीं है। किन्तु उसे साक्षी न मानने पर बुद्धिगत दोषों का उसमें आना अनिवार्य है, तब उसका कभी मोक्ष ही नहीं हो सकेगा। इस व्याख्या में 'ते' और 'न' पृथक् पद होंगे ॥ ४६ ॥

यथा विशुद्धं गगनं निरन्तरं न सज्जते नापि च लिप्यते तथा।
समस्तभूतेषु सदैव तेष्वयं समः सदात्मा ह्यजरोऽमरोऽभयः ॥४७॥

यथेति—**जिस प्रकार विशुद्ध और अपरिच्छिन्न आकाश किसी के साथ संलग्न या लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार समस्त भूतों में सर्वदा समान भाव से स्थित रहने वाला यह आत्मा जरा, मरण और भय से रहित रहता है ॥४७॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में मन-बुद्धि के दोष तब आ सकते हैं; यदि वह बुद्धि (मति) के समान सावयव, परिच्छिन्न, परिणामी हो, किन्तु आत्मा का स्वरूप तो ऐसा नहीं है, अतः आत्मा में अशुद्धि आदि दोषों के होने की शंका करने का अवसर ही नहीं है। इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा बताते हुए उत्तर दे रहे हैं—जिस प्रकार परिणामरूप विकारात्मक मल से रहित (शुद्ध), और अपरिच्छिन्न (निरन्तर) अतएव निरवयव आकाश, काष्ठ से जतु की तरह किसी के साथ संलग्न अथवा भल्लातक (बिब्बा, भिलावा) रस से वस्त्र के समान लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी विशुद्ध, निरन्तर, निरवयव है, यह शास्त्र से सुनिश्चित हो चुका है, अतः वह भी बुद्धि आदिकों में संलग्न नहीं होता अर्थात् उसके दोष से लिप्त नहीं होता। क्योंकि अपने-अपने अभिमानी देवताओं के सहित विद्यमान समस्त भूतों में वह सर्वदा समान भाव से स्थित रहता है, अतः वह अजर, अमर, अभय है। अर्थात् जरा, मरण और भय से रहित है, यानी नित्य शुद्ध है। तथाच श्रुति ने भी यही बताया है—'जो समस्त भूतों में स्थित रहने वाला समस्त भूतों के भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं, और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का

नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है[1]" इति। श्रीमद्भगवद्गीता का भी यही अभिप्राय है—"नाम, रूप, जाति आदि भेदों से परस्पर विभक्त भूतों में एक रूप से विद्यमान तथा भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट न होने वाले परमेश्वर को जो साक्षात् देखता है, वह ब्रह्मविद् यति ही अपने को विमुक्त देखता है[2]।" कठोपनिषद् ने भी इसी का समर्थन किया है—"सम्पूर्ण भूतों का एक ही आत्मा संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, बल्कि उनसे बाहर रहता है[3] ॥ ४७ ॥

अमूर्तमूर्तानि च कर्मवासना दृशिस्वरूपस्य बहिः प्रकल्पिता ।
अविद्यया ह्यात्मनि मूढदृष्टिभिरपोह्य नेतीत्यवशेषितो दृशिः ॥४८॥

अमूर्तमूर्तानीति—**मूढदृष्टि प्राकृत मनुष्य के द्वारा अविद्यावश आत्मा में वायु और आकाश जैसे अमूर्त एवं अग्नि, जल और पृथिवी जैसे मूर्त भूतों तथा कर्मवासनाओं का आरोप कर लिया जाता है। किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा से भिन्न बाह्य वस्तुओं का 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्य से निषेध (निराकरण) कर देने पर 'साक्षी' ही शेष रह जाता है। अतः उसमें किसी भी प्रकार के दोष का स्पर्श तक नहीं है ॥ ४८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

किंच दृश्य के बाधित होने पर भी तत्कृत दोषसम्बन्ध का होना आत्मा में संभव नहीं। क्योंकि मिथ्या पदार्थ (वस्तु) के साथ सत्य वस्तु का सम्बन्ध नहीं हुआ करता। तब दृश्य को बाधित कैसे समझा जाय? रज्जु-सर्प की तरह प्रतिपन्न उपाधि में निषेध किये जाने के कारण दृश्य को बाधित समझना चाहिये। (उप समीपवर्तिनि स्वधर्मम् आदधाति संक्रामयति इति उपाधिः।) मूढ़ दृष्टिवाले पुरुषों द्वारा मोहरूप अविद्या के कारण दृशिस्वरूप प्रत्यगात्मब्रह्मरूप आत्मा में वायु और आकाश रूप अमूर्त, तथा अग्नि, जल और पृथिवीरूप मूर्त भूतों तथा कर्मवासनाओं का आरोप कर लिया गया है। चैतन्यस्वरूप आत्मा में उन बाह्य वस्तुओं का 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से निराकरण (निषेध) किये जाने पर निषेध का परमावधिरूप साक्षी ही अवशिष्ट रह जाता है[4]। अतः उस आत्मा में किसी प्रकार का दोषसंसर्ग नहीं है। 'अमूर्तमूर्तानि' यहाँपर 'अमूर्तं च मूर्तानि च अमूर्तमूर्तानि' अर्थात् पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल पदार्थ[5] और कर्मवासना का आश्रयभूत लिङ्ग पदार्थ[6] इस प्रकार अमूर्तादि पदार्थों का निराकरण करते हुए श्रुति ने आत्मस्वरूप का प्रतिपादन किया है। अतः आत्मा की विशुद्धता में कोई सन्देह नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रबोधरूपं मनसोऽर्थयोगजं स्मृतौ च सुप्तस्य च *दृश्यतेऽर्थवत् ।
तथैव देहप्रतिभानतः पृथग् दृशेः शरीरं च मनश्च दृश्यतः ॥४९॥

प्रबोधरूपमिति—**जैसे जाग्रत् अवस्था, 'मन' कि विषयाकार वृत्तिस्वरूप है, क्योंकि वह विषयाकार मनोवृत्ति, विषय के संसर्ग से उत्पन्न हुई है। तथा स्वप्न और स्मृति के समय भी मन की वृत्ति विषयाकार प्रतीत होती है, यद्यपि उस समय विषय का अभाव रहता है। उसी प्रकार दृश्य होने के कारण, 'शरीर, मन और दोनों शरीरों' का जो**

1. "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"—(बृ. उ. ३।७।१५)
2. "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।"—(भ. गी. १३।२७)
3. "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः"—(कठ. उ. २।२।११)
4. "सत्यस्य सत्यम्"—(बृ. उ. २।३।६), "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः"—(सूत सं. ४।२।८) 'यथा शुक्तौ आरोपितस्य रजतस्य अधिष्ठानशुक्तियाथात्म्यज्ञानेन निवृत्तौ सत्याम् अधिष्ठानभूता शुक्तिरेव केवलमवशिष्यते, नतु अन्यद्रजतं तदभावलक्षणं किमपि। तद्वदेव सकलजगदधिष्ठानब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेन समारोपितजगन्निवृत्तौ अधिष्ठानमात्रावशेषोऽवतिष्ठते।'
5. "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च"—(बृ. उ. २।३।१)
6. "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासः"—(बृ. उ. २।३।६)

* दृश्यतोऽर्थ॰—पाठान्तरम्।

प्रतिभास होता है, वह भी 'आत्मा' से पृथक् ही है। वे 'आत्मा' के विशेषण नहीं हैं। अतः दृश्य होने मात्र से वे शुक्ति-रजत के समान मिथ्या हैं॥ ४९॥

हृदयस्पर्शिनी

भगवती श्रुति ने स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च का बाध कर दिया है यह बताकर, युक्ति से भी उसका बाध बता रहे हैं। जिस प्रकार विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई मन की विषयाकार वृत्तिरूपा जाग्रत् अवस्था है, उसी प्रकार स्वप्न और स्मृति के समय (विषय का अभाव रहने पर भी) मन की वृत्ति विषयाकार हुई-सी दिखाई देती है। वे मनोवृत्तियाँ आत्मा के द्वारा दृश्य रहती हैं, उस कारण उन्हें आत्मा से पृथक् ही समझना चाहिये। वे आत्मा की विशेषण नहीं हैं। तथैव दृश्य होने के कारण ही शरीर, मन एवं देहद्वय का प्रतिभास भी आत्मा से पृथक् ही है। अर्थाकार (विषयाकार) हुआ जो रूप है, वह मन का रूप है, आत्मा का नहीं। आत्मातिरिक्त स्थूल-सूक्ष्मादि यच्चयावत् पदार्थ, आत्मा के द्वारा दृश्य होने के कारण उससे पृथक् ही हैं। और दृश्य होने से शुक्तिरजतादि के समान वे सभी मिथ्या हैं॥ ४९॥

स्वभावशुद्धे गगने घनादिके मलेऽपयाते सति चाविशेषता।
यथा च तद्वच्छ्रुतिवारितद्वये सदाऽविशेषो गगनोपमे दृशौ॥५०॥

स्वभावशुद्धे इति—**जैसे स्वभावतः ही शुद्ध आकाश में मेघादि मल के निवृत्त हो जाने पर कोई विशेषता नहीं रहती, वैसे ही भगवती श्रुति के द्वारा द्वैतमल का निराकरण कर देने पर उस आकाशसदृश साक्षी में सर्वदा ही विशेषता का अभाव रहता है॥ ५०॥**

हृदयस्पर्शिनी

भगवती श्रुति के द्वारा यदि आत्मा में अध्यस्त संसार का निरसन (निषेध) कर आत्मा का प्रतिपादन किया जा रहा है, तो निवृत्त संसारी और अनिवृत्त संसारी में कोई भेद ही नहीं रहा, दोनों समान हैं, तब उसमें अनित्यत्वादि दोषों की प्रसक्ति क्यों नहीं होगी? अथवा प्रकारान्तर से यह भी कह सकते हैं कि अध्यस्त का निषेध करने से आत्मा में निवृत्त-संसारत्वरूपविशेषतारूपी विकार पैदा होने के कारण उसमें अनित्यत्वादि दोष का प्रसंग क्यों नहीं होगा? उक्त शंका का समाधान यह है कि जिस प्रकार स्वभावतः शुद्ध आकाश में मेघादि मल की निवृत्ति हो जानेपर कोई विशेषता (विकार) नहीं रहती, अर्थात् आकाश (गगन) रूप अधिष्ठान सदैव विकाररहित (अविक्रिय) ही है। उसी प्रकार श्रुति के द्वारा जिसमें द्वैत का निषेध किया गया है, उस आकाशसदृश साक्षी में सर्वदा ही विशेषता का अभाव है। अर्थात् उसमें कूटस्थता है। यह दृक् आत्मा, स्वभावत एव शुद्ध है, उसके स्वरूप में अध्यस्तनिवृत्ति के व्यतिरिक्त कभी कोई विशेष नहीं होता। और यह निवृत्ति, मिथ्याप्रतियोगिक होने से (मिथ्या पदार्थ की निवृत्ति होने से) अधिष्ठानरूप दृगात्मा के व्यतिरिक्त (भिन्न) नहीं है। अतः आत्मस्वरूप में कभी कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ करता। उसका अपना विशुद्ध स्वरूप ही आच्छादन के हट जाने पर प्रकट रहता है॥ ५०॥

॥ इति चतुर्दशं स्वप्नस्मृतिप्रकरणं समाप्तम्॥

नान्यदन्यत्प्रकरणम्

नान्यदन्यद् वेदस्मान्नान्यत्किञ्चिद्विचिन्तयेत् ।
अन्यस्यान्यात्म*भावे हि नाशस्तस्य ध्रुवो भवेत् ॥१॥

नान्यदिति—**प्रत्येक वस्तु, स्वरूपतः भिन्न ही रहती है, इसीलिये कोई वस्तु, किसी दूसरी वस्तु के रूप में नहीं समझी जाती—यह लौकिक नियम है, तदनुसार जीव 'ब्रह्म' नहीं हो सकता, यह भावना मुमुक्षु पुरुष को नहीं करनी चाहिये। अर्थात् 'ब्रह्म' मुझसे भिन्न है—यह चिन्तन नहीं करना चाहिये। यदि अन्य का अन्य भाव हो जाता है, यानी ब्रह्म, आत्मस्वरूप में परिणत होता है और आत्मा 'ब्रह्मरूप' हो जाता है—इस प्रकार चिन्तन करने पर तो उसका अवश्य ही नाश हो जायेगा। क्योंकि परिणामी मानने पर ब्रह्म की अनित्यता का वारण नहीं हो सकेगा। उसे अनित्य कहना होगा। अतः वास्तव में आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। उनमें कोई भेद नहीं है ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

कतिपय एकदेशीय विद्वानों का कहना है कि यदि आत्मा, स्वभावत एव शुद्ध है, तो साधनों के निरूपण करने की आवश्यकता ही नहीं, उनका निरूपण करना व्यर्थ होगा। साधन निरूपण करने से स्पष्ट हो रहा है कि वह आत्मा स्वभावत एव शुद्ध नहीं है, अपितु स्वभावतः ही वह संसारी है और ज्ञान, ध्यान आदि साधनों के अनुष्ठान से स्वभावशुद्ध ब्रह्मस्वरूपता (ब्रह्मभाव) को प्राप्त करता है।

किन्तु इन एकदेशीयों के कहने पर मुमुक्षुजनों को विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके कथन का श्रुति से तथा युक्ति से बाध हो जाता है। एकदेशीयों से यह प्रष्टव्य है कि जीव और ब्रह्म में अत्यन्त भेद आपको इष्ट है, या भेदाऽभेद इष्ट है ? अन्तिम पक्ष को इष्ट कहना तो उचित न होगा, क्योंकि भेद और अभेद दोनों परस्परविरुद्ध स्वभाव के हैं। अतः 'ब्रह्म अहम्'=मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार ब्रह्म की और अपनी एकरूपता का ध्यान तथा ज्ञान करना संभव नहीं, और जब वह संभव ही नहीं, तब असंसारी ब्रह्मभावरूप फल की निष्पत्ति होना भी संभव नहीं। इसी भाव को मन में रखकर प्रथम पक्ष में दोष प्रदर्शित कर रहे हैं—दोनों के स्वरूप को यदि अत्यन्त भिन्न मानेंगे अर्थात् एक को जीवरूप और दूसरे को ब्रह्मरूप मानेंगे तो जो जीवरूप से स्थित है, उसे दूसरे के रूपवाला अर्थात् ब्रह्मरूप का कभी कहा ही नहीं जा सकेगा, क्योंकि दोनों का स्वरूप नितान्त भिन्न है, दोनों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है। दूसरा कारण यह भी है कि यदि जीवरूप नष्ट होकर ब्रह्मरूप होता है ऐसा कहें तो, पानेवाला जीवरूप ही जब नहीं रहा तब ब्रह्मरूप को पाया किसने ? अतः दोनों में अत्यन्त भेद नहीं माना जा सकता—यह बात युक्ति से सिद्ध हुई। और भेद मानने पर 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'[1] इस श्रुति से विरोध होना तो स्पष्ट ही है। एवंच एकदेशीयों का मत, श्रुति और युक्ति विरुद्ध होने से 'अन्यत् ब्रह्म' मुझसे (आत्मा से) अतिरिक्त कोई ब्रह्म है, ऐसा ईषन्मात्र (किञ्चिन्मात्र) भी चिन्तन मुमुक्षु को नहीं करना चाहिए। अपितु 'अहमेव ब्रह्म', 'ब्रह्मैवाऽहम्' इस प्रकार भेदोपमर्दन करते हुए एकरूप से ही आत्मवस्तु का चिन्तन करना चाहिए। यह सब ठीक है, तथापि लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि किसी साधनविशेष की सहायता से एक वस्तु, दूसरी वस्तु के रूप में परिणत हो जाती है। जैसे औषधविशेष के सम्बन्ध से ताम्र भी सुवर्ण बन जाता है। अर्थात् ताम्र का रूप सुवर्ण के रूप में बदल जाता है। तद्वत् यहाँ पर भी मान लिया जाय कि जीव का रूप ज्ञान, ध्यान के अनुष्ठान की सहायता से ब्रह्मरूप में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु इस प्रकार मानना अनुचित होगा[2]। क्योंकि जैसे लाल तपे हुए लोहे के गोले पर (अयोगोलक पर) डला हुआ (प्रविष्ट हुआ)

---

१. (तै. आ. २।२)

२. "रसविद्धमयः स्वर्णं यथा भवति सर्वदा, केनचित् साधनेनैव तथा जीवः शिवो भवेत् ॥ इति केचित् स्वमोहेन प्रवदन्ति तु वादिनः ॥"—(सूत सं. ४।३९-४०)

* न्यत्व०—पाठान्तरम्।

जलबिन्दु निश्चित रूप से नष्ट हो जाता है, उसी तरह भेदवादी के अनुसार ब्रह्मस्वरूप के विरुद्ध (भिन्न) स्वरूप वाले जीव का, अपने से भिन्न स्वरूप वाले ब्रह्म में यदि एकीभाव कहा जाय तो निश्चय ही जीव के रूप का नाश हो जायगा, उस कारण ब्रह्मभावापत्ति की पुरुषार्थ में गणना न होगी, बल्कि उसे पुरुषार्थ न कहा जाकर अनर्थार्थ कहा जायगा। ताम्र का दृष्टान्त देना यहाँ उचित न होगा। ताम्र का रूप, सुवर्ण के रूप में परिवर्तित समझना केवल भ्रम है, वास्तविक नहीं है। जैसे वस्त्र को नीले पीले किसी रंग में रंगने पर उसका अपना निजी रूप, नीले-पीले आदि रंग से अभिभूत हो जाता है, ठीक उसी तरह सुवर्ण के रूप से ताम्र का रूप कुछ काल के लिये अभिभूतमात्र हो जाता है, कुछ समय के पश्चात् सुवर्णाकारता (सुवर्ण का रूप) के हट जाने पर पुनः ताँबे का रूप दृष्टिगोचर होने लगता है, उसपर सर्वदा के लिये सुवर्णरूप नहीं रहता। अतः 'ताँबे का सोना हो गया'—यह ज्ञान जैसे भ्रमात्मक, वैसे ही जीव और ब्रह्म को भिन्न मानकर जीव का ब्रह्मरूप हो जाने का ज्ञान भी भ्रमात्मक ही रहेगा। अतः जीव को ब्रह्म से भिन्न नहीं समझना चाहिए ॥ १ ॥

स्मरतो दृश्यते दृष्टं पटे चित्रमिवार्पितम्।
यत्र येन च तौ ज्ञेयौ सत्त्वक्षेत्रज्ञसंज्ञकौ ॥२॥

स्मरत इति—**पूर्व दृष्ट नील-पीत आदि वर्णों का स्मरण करने वाले पुरुष को वस्त्र पर काढ़े हुए चित्र के समान उन नील-पीतादि वर्णों के वासनाओं की उपलब्धि होती है। वह उपलब्धि जहाँ होती है और जिसे होती है, उन्हें क्रमशः 'सत्त्व' (बुद्धि) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) समझना चाहिये ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि अपने (आत्मा) से अतिरिक्त कोई ध्येय नहीं है, और ध्यातृ-ध्येयभाव के उपपन्न न हो पाने से अपना ही अपने में ध्यान करना भी संभव नहीं है, तो निदिध्यासन का विधान क्यों किया गया है ? अतः जीव-ब्रह्म का भेद मानना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में यही कह रहे हैं कि बिना भेद माने भी उपपत्ति हो जाती है; उसके लिये भेद मानने की आवश्यकता नहीं। पूर्वदृष्ट नील-पीतादि रंग का स्मरण करने वाले पुरुष के अन्तःकरण में, वस्त्र पर काढ़े हुए चित्र के समान उन नील-पीतादि रंगों के वासनाओं की उपलब्धि होती है। वह उपलब्धि जहाँ होती है, उसे सत्त्व (बुद्धि-अन्तःकरण) कहते हैं, और जिसे वह होती है, उसे क्षेत्रज्ञ (जीव) कहते हैं। तथाच 'आत्मा निदिध्यासितव्यः' विधि ने 'त्वम्' पदार्थ का विवेक (विचार) सम्पादन ही निरन्तर करने के लिए कहा है, विवेक किया हुआ (विविक्त हुआ) 'त्वमर्थ' ही तो ब्रह्म है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अपरोक्षानुभव (प्रत्यक्ष) से ही संसारनिवृत्तिरूप फल की प्राप्ति होती है। अपने (आत्मा) से ब्रह्म अन्य (भिन्न) है, इत्याकारक अन्यत्व की भावना करने पर पूर्वोक्त न्याय से अन्य की अन्यात्मकता न हो सकने से संसार की निवृत्ति होना कभी संभव नहीं है, जिससे विधि को निष्फल कहना पड़ेगा ॥ २ ॥

फलान्तं चानुभूतं यद्युतं कर्त्रादिकारकैः।
स्मर्यमाणं हि कर्मस्थं पूर्वं* कर्मैव तच्चितः ॥३॥

फलान्तमिति—**सुख-दुःखादि फल पर्यन्त कर्तृ-कर्मादिकारकविशिष्ट जिन द्वैत पदार्थों का पहले अनुभव किया था, वे द्वैत पदार्थ ही अब याद आने पर कर्मस्थ (दृश्यरूप अन्तःकरण आदि में स्थित) दिखाई देते हैं। इसलिये पहले भी वे चेतन आत्मा के कर्म (दृश्य) थे। निष्कर्ष यह है कि जब हम स्मरण करते हैं, उस समय वासनात्मक द्वैत अपने आश्रयभूत अन्तःकरण में स्थित दिखाई देता है। उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी सुख-दुःखादि पर्यन्त जितना भी कर्तृ-कर्मादिकारकविशिष्ट स्थूल प्रपञ्च है, वह सब अपने आश्रयभूत स्थूल-सूक्ष्म शरीर में स्थित हुआ ही अनुभव होता था। अतः सभी अवस्थाओं में वे पदार्थ आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होते रहते हैं यह मानना होगा, क्योंकि उनके जो आश्रय हैं, वे भी उन्हीं के समान 'आत्मा' के दृश्य हैं। इसलिये केवल 'आत्मा' ही साक्षी है, और उसके अतिरिक्त सभी पदार्थ 'आत्मा' के दृश्य हैं, और उसमें अध्यस्त हैं—यही समझ में आता है ॥ ३ ॥**

* पूर्वकर्मै०—पाठान्तरम्

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि अन्तःकरण के प्रत्यक्ष न होने से उसमें स्थित नील-पीतादि की उपलब्धि, स्मृति-अवस्था में कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर तो यह है कि सुख-दुःखादि फलपर्यन्त जिन कर्तृ-कर्मादि कारकों से युक्त द्वैत पदार्थों का प्रथमतः (पूर्व) अनुभव किया था, उनका अब स्मरण किये जानेपर वे दृश्यरूप अन्तःकरणादि में स्थित (कर्मस्थ) दिखाई देते हैं; द्रष्टृनिष्ठ नहीं दिखाई पड़ते। क्योंकि उससे पूर्व भी स्मर्यमाण अधिकरण का अधिकरणरूप अन्तः-करण, 'आत्मा' (चित्) का दृश्य (कर्म) ही है। निष्कर्ष यह है—पूर्वानुभूत विषयाकार वृत्ति, जो अन्तःकरण की परिणामरूप है, उसे ही 'स्मृति' कहते हैं। उसमें भासित होनेवाला (भासमान) जो विषय, वह आश्रय के सहित (साश्रय) ही भासित होता है। उस समय साक्षी के द्वारा अनुभूयमान विषय की अवस्थिति का भान कहीं बाहरी आश्रय में नहीं होता है। जिस प्रकार स्मरण करते समय वासनात्मक द्वैत अपने आश्रय अन्तःकरण में स्थित दिखाई देता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी सुखदुःखादिपर्यन्त जितना कर्तृ-कर्मादिकारकविशिष्ट स्थूल प्रपञ्च है, वह सब अपने आश्रय स्थूल-सूक्ष्म शरीर में स्थित ही अनुभूत होता है। अतः सभी अवस्थाओं में वे आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होनेवाले हैं, क्योंकि उनके आश्रय तो उनके समान ही आत्मा के दृश्य हैं। अतः एकमात्र आत्मा ही साक्षी है, शेष सभी पदार्थ आत्मा के दृश्य और उसमें अध्यस्त हैं। एवंच पहिले भी ये सभी चेतन (आत्मा) के कर्म (दृश्य) ही थे॥ ३॥

द्रष्टुश्चान्यद्भवेद्दृश्यं दृश्यत्वाद्घटवत्सदा।
दृश्याद्द्रष्टाऽसजातीयो न धीवत्साक्षिताऽन्यथा॥४॥

द्रष्टुरिति—**सभी दृश्य पदार्थ घट-पटादि के समान दृश्य रहने से सर्वदा ही द्रष्टा से पृथक् होते हैं। 'द्रष्टा' कभी भी 'दृश्य' का सजातीय नहीं होता। यदि यह न माना जाय तो उसे भी बुद्धि के समान परिणामी कहना होगा। तब उसे 'साक्षी' नहीं कह सकेंगे॥ ४॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक से 'स्मर्यमाण के अधिकरण के रूप में चित्त ही दिखाई देता है',—यह बताया गया, जिससे अन्तःकरण में साक्षी की प्रत्यक्षता सिद्ध हुई। किन्तु भाट्ट मीमांसकों ने आत्मा को ही द्रष्टा और दृश्य दोनों रूपों में माना है। अतः कहना होगा कि स्वगत वासनारूप को ही आत्मा देखता है, 'इदं स्मरामि'—यह अनुभव तो अन्यथा भी सिद्ध हो सकता है, अतः अन्तःकरण को साक्षीप्रत्यक्ष कैसे कह सकेंगे ? उत्तर यह होगा कि दृश्य पदार्थ, घटादि के समान दृश्य होने के कारण ही सर्वदा द्रष्टा से भिन्न होते हैं, अर्थात् 'विमतं दृश्यं द्रष्टुरत्यन्तं भिन्नं, दृश्यत्वात्, घटवत्'—इस अनुमान से द्रष्टा और दृश्य का भेद सिद्ध रहने पर भी परिणामिता के कारण साजात्य (सजातीयता) का संभव होने से द्रष्टा का सजातीय ही यह दृश्य है, यह क्यों न कहा जाय ? द्रष्टा कभी भी दृश्य का सजातीय नहीं होता। अन्यथा दृश्यांश के अचेतन होने से उसका (द्रष्टा का) आत्मत्व उपपन्न नहीं हो सकेगा। तथा बुद्धि के समान उसे परिणामी मानने पर उसकी साक्षिता सिद्ध न हो पायगी॥ ४॥

स्वात्मबुद्धिमपेक्ष्यासौ विधीनां स्यात्प्रयोजकः।
जात्यादिः शववत्तेन तद्वानात्मताऽन्यथा॥५॥

स्वात्मबुद्धिमिति—**माता-पिता आदि के मृत शरीर में आत्मीयता का दृढ़ अभ्यास रहने से उसके संस्कार करने की प्रवृत्ति होती है, उसी तरह ब्राह्मणत्वादि जाति, वृद्धादि अवस्था और पिता-पुत्रादि सम्बन्धों में भी आत्मत्व का अभिनिवेश रहने से ही वे विधि में प्रवृत्त कराते हैं। वे शव के समान ही आत्मा के धर्म नहीं हैं। नहीं तो 'आत्मा' की अनात्मता कही जायगी॥ ५॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि आत्मा तो साक्षी हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो ब्राह्मणत्व आदि जातिमान् रहता है, उस कारण उसमें विशेषता रहती है, जिससे उसको कर्मानुष्ठान का अधिकार प्राप्त रहता है, इस प्रकार उसमें

परिणामित्व की उपपत्ति हो जाती हैं। तस्मात् विकारी होने के कारण उसे साक्षी कैसे कहा जा सकता है? उक्त प्रश्न का यह उत्तर है कि शव के समान ब्राह्मणत्वादि जाति, उसी प्रकार वय, अवस्था आदि तथा पिता-पुत्रादि सम्बन्धों में भी आत्मत्व का अभिनिवेश होने से, वे विधि के प्रयोजक (प्रवर्तक) बनते हैं। वस्तुतः प्राण निकल जाने पर देह, 'शव' कहलाता है, तथापि 'मेरी माता, मेरे पिता'—यह अध्यास दृढ़ रहने के कारण, वह संस्कार का प्रयोजक होता दिखाई देता है, अर्थात् उसके संस्कारादि किये जाते हैं। उसके अभाव में नहीं। उसी प्रकार (शव के समान ही) जाति, वृद्धादि अवस्था, एवं पिता-पुत्रादि सम्बन्ध भी आत्मा के धर्म नहीं है। यदि इन सब को आत्मा के धर्म कहें तो घट आदि के समान उसमें अनात्मता (जड़ता) सिद्ध होगी। तस्मात् आत्मा को साक्षी समझना चाहिये, कर्म का अधिकारी सुनकर उसे परिणामी (विकारी) नहीं समझना चाहिये ॥ ५ ॥

न प्रियाप्रिय इत्युक्तेर्नादेहत्वं क्रियाफलम्।
देहयोगः क्रियाहेतुस्तस्माद्विद्वान् क्रियास्त्यजेत् ॥६॥

नेति—'आत्मा' अशरीरी है, उसे कभी भी सुख-दुःख आदि स्पर्श नहीं करते—इस श्रुतिवचन के अनुरोध से 'अशरीरत्व' को 'कर्म' का फल नहीं समझना चाहिये। 'कर्म' का फल तो 'देह' के साथ सम्बन्ध होना ही है। अतः विद्वान् (ज्ञानी) पुरुष को कर्मों का त्याग कर देना चाहिये ॥ ६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि कर्तृत्व को अध्यास-निबन्धन नहीं कह सकते, क्योंकि मुमुक्षु विद्वान् को भी मोक्षार्थ क्रियानुष्ठान करना पड़ता है। उसका समाधान यह होगा कि अशरीरत्व (शरीर रहित होना) को 'मोक्ष' कहा जाता है। उसे किसी क्रिया का फल नहीं कह सकते। क्योंकि क्रिया के फल तो 'सुख-दुःख' संसार में प्रसिद्ध हैं। वे सुख-दुःख शरीर को ही हुआ करते हैं, शरीर से अन्यत्र अशरीर पर होते उन्हें न किसी ने देखा और न सुना है। अशरीरी आत्मा को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते—'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'[1] इस श्रुतिवचन से ही उसकी मुक्तता स्पष्ट हो जाती है। कर्म का फल तो देह के साथ संबन्ध होना ही है। अर्थात् कर्म (क्रिया) से देहसम्बन्ध ही साध्य है, मोक्ष नहीं। तस्मात् विद्वान् मुमुक्षु यह समझे कि मुक्ति, 'कर्म' से—साध्य होने वाली नहीं, अपितु एकमात्र 'ज्ञान' से ही वह साध्य है। इस प्रकार समझते हुए वह अहंकार सहित सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग करे, अर्थात् संन्यस्त होकर श्रवण-मननादि में तत्पर रहे ॥ ६ ॥

कर्मस्वात्मा स्वतन्त्रश्चेन्निवृत्तौ* च तथेष्यताम्।
अदेहत्वे फलेऽकार्ये ज्ञाते कुर्यात्कथं क्रियाः ॥७॥

कर्मेति—'कर्म' करने में यदि 'आत्मा' स्वतन्त्र है, तो कर्म के त्याग करने में भी उसको वैसे ही स्वतन्त्रता समझनी चाहिये। देहसम्बन्धरहित मोक्षरूप फल यदि कर्म से साध्य नहीं है, तो 'ज्ञान' होने पर मुमुक्षु विद्वान् कर्मानुष्ठान क्यों करे? ॥ ७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि लोकव्यहार में हम अनुभव करते रहते हैं कि सभी कर्म (क्रियाएँ) आत्मकर्तव्य के रूप में होते हैं, ऐसी स्थिति में विद्वान् मनुष्य उन कर्मों (क्रियाओं) को कैसे त्याग सकेगा? समाधान यह है कि यदि आत्मा कर्म (क्रियाओं के) करने में स्वतन्त्र है, तो उसे उन कर्मों के त्यागने में भी वैसा ही स्वतन्त्र समझो। जैसे आसक्त (रागादिमान्) पुरुष प्रवृत्तिरूप कर्म में स्वतन्त्र होता है, उसीप्रकार विशुद्ध वीतराग पुरुष को भी कर्म के त्यागने (निवृत्ति) में स्वतन्त्र समझना चाहिये। कर्मसाध्य फल की अभिलाषा न रहने पर कर्म का त्याग तो अर्थात् प्राप्त है। देहसम्बन्ध से शून्य (शरीरसम्बन्धरहित) मोक्षरूप फल, किसी भी कर्म से साध्य नहीं है (अकार्य है),

१. (छां. उः ८।१२।१)

* निवृत्तं•—पाठान्तरम्।

यह बात शास्त्र आदि के द्वारा ज्ञात हो जाने पर मुमुक्षु पुरुष क्यों कर्म करेगा ? अर्थात् कभी नहीं करेगा। उसके लिये क्रियाएँ निष्प्रयोजन ही हैं ॥ ७ ॥

जात्यादीन्संपरित्यज्य निमित्तं कर्मणां बुधः ।
कर्महेतुविरुद्धं यत्स्वरूपं शास्त्रतः स्मरेत् ॥८॥

जात्यादीनिति—ज्ञानी पुरुष 'कर्मों' की निमित्तभूत जाति आदि का सम्यक् प्रकार से त्याग कर कर्मरूप निमित्त के विरुद्ध जो आत्मा का स्वरूप है, उसका शास्त्र के अनुसार चिन्तन करे। 'ब्राह्मण वसन्त ऋतु में अग्नि का आधान करे'—इस विधिवाक्य में ब्राह्मण जाति ही अग्न्याधान करने में निमित्त है। अतः कर्मानुष्ठान में 'जाति' को ही निमित्त कहना होगा, किन्तु शुद्ध आत्मा में कोई जाति आदि नहीं है, इसलिये उसे कर्म के निमित्त के विरुद्ध कहा गया है ॥ ८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तो क्या केवल क्रिया (कर्म) परित्याग करनेमात्र से विदेहकैवल्यरूप अकार्य की प्राप्ति हो जायगी ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा रहा है कि बुद्धिमान् (पण्डित) पुरुष, कर्मों की निमित्तभूत जाति का अर्थात् जाति आदि के अभिमान का सम्यक् प्रकार से त्याग कर कर्म-निमित्त के उपमर्दक शुद्ध आत्मस्वरूप का शास्त्रानुसार चिन्तन करता रहे। तात्पर्य यह है कि 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत'—वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे, इस विधि के अनुसार अग्न्याधान में निमित्त 'ब्राह्मणत्व जाति' है। अतः कर्म के अनुष्ठान में निमित्त ब्राह्मणत्व जाति ही कही जायगी, किन्तु शुद्ध आत्मा में कोई जाति आदि नहीं है। अतः शुद्ध आत्मस्वरूप को कर्म की निमित्तभूत जाति आदि से विरुद्ध कहा गया है। एवञ्च कर्मपरित्याग करने मात्र से विदेहकैवल्य (मोक्ष) प्राप्त नहीं होगा, अपितु यथाशास्त्र विशुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन करने से वह प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

आत्मैकः सर्वभूतेषु तानि तस्मिंश्च खे यथा ।
पर्यगाद्व्योमवत्सर्वं शुक्रं दीप्तिमदिष्यते ॥९॥

आत्मैक इति—समस्त भूतों में आकाश के समान एक ही आत्मा व्याप्त है, तथा वे भूत भी उसी (आत्मा) में अध्यस्त हैं। क्योंकि 'स पर्यगाच्छुक्रं' अर्थात् वह (आत्मा) सर्वगत, शुक्र अशरीरी, अक्षत, स्नायु आदि से रहित, शुद्ध और पापशून्य है। इस श्रुतिवचन के अनुसार आत्मा को आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त, शुद्ध और प्रकाशमय माना गया है ॥ ९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

किस रूप के (किंलक्षण) आत्मा का चिन्तन करे ? और कौन-सा वह शास्त्र है, जिसके अनुसार चिन्तन करे ? उसके उत्तर में शास्त्रीय वाक्यों का उल्लेख करते हुए स्मर्तव्य आत्मस्वरूप को स्पष्ट कर रहे हैं—'आत्मैकः··· खे यथा।' इस पूर्वार्ध से ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र[१] के अर्थ को बताया गया है। और अग्रिम सार्धश्लोक से आठवें मन्त्र[२] के अर्थ को बताया है। सम्पूर्ण भूतों में 'मैं' ही एकमात्र आत्मा हूँ, भिन्न-भिन्न भूतों में भिन्न-भिन्न आत्मा (चेतन) नहीं है। तो क्या ये भूत, आत्मा के अधिकरणस्वरूप हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि ये भूत, आत्मा के अधिकरण नहीं हैं, प्रत्युत उस आत्मा में ही ये भूत अध्यस्त हैं, उससे पृथक् नहीं हैं। तथाच अपने (आत्मा) में अध्यस्त हुए समस्त विकारों में मणियों में, सूत्र के समान पिरोये हुए (अनुस्यूत) सत्तास्फूर्तिरूप आत्मा का विकारोप-मर्दपुरःसर अनुसन्धान करते रहना चाहिये। अन्तः (भीतर) सुषिर रूप से और बाहर अवकाश रूप से विद्यमान आकाश में जैसे भूतसम्बन्ध है, उसी प्रकार से समझना चाहिये। वह आत्मा सर्वगत, शुभ्र, अशरीरी, अक्षत,

---

१. "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ॥
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥"—(ई. उ. ६)

२. "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।"—(ई० उ० ८)।

स्नायुरहित, शुद्ध, पापशून्य है। ब्राह्मण[1] ने भी इसी का समर्थन किया है। इस शास्त्र के अनुसार प्रकाशस्वभाव (शुक्रम्=दीप्तिमत्) शुद्ध आत्मस्वरूप माना गया है, उस आत्मस्वरूप का चिन्तन करे ॥ ९ ॥

व्रणस्नाय्वोरभावेन स्थूलं देहं निवारयेत् ।
शुद्धापापतयाऽलेपं लिङ्गं चाकायमित्युत ॥१०॥

व्रणेति—पूर्वोक्त 'स पर्यगात्' इत्यादि श्रुति ने व्रण और स्नायु का अभाव बताकर स्थूल शरीर का निराकरण किया है। शुद्ध और निष्पाप बताकर उसे (आत्मा को) निर्लेप बताया है, तथा अकाय कहकर सूक्ष्म शरीर का निषेध किया है ॥ १० ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब दशम श्लोक के द्वारा श्रुतिगत 'अव्रणम्, अस्नाविरम्' पदों के अर्थ को बता रहे हैं। श्रुति ने व्रण (क्षत) और स्नायु (शिराजाल) का अभाव बताकर (निरास कर) स्थूल देह के आत्मत्व का निराकरण किया है, शुद्ध (रागादि दोषों से हीन) रहने से ही अपाप अर्थात् निष्पाप (पुण्य और पाप दोनों से रहित) कह कर उसे निर्लेप बताया है। अर्थात् सुख-दुःख और उसके अनुभव तथा उससे उत्पन्न संस्कार से हीन वह आत्मा है। और 'अकाय' (अशरीर) कह कर सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) की आत्मता का भी निराकरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि स्थूल-सूक्ष्म देह, उनके कार्य, तज्जन्य संस्कार इन सबसे अतिरिक्त (पृथक्), समान, एक, अपरिच्छिन्न आत्मा का सर्वदा चिन्तन करना चाहिये ॥ १० ॥

वासुदेवो यथाऽश्वत्थे स्वदेहे चाब्रवीत्समम् ।
तद्वद्वेत्ति य आत्मानं समं स ब्रह्मवित्तमः ॥११॥

वासुदेव इति—जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' तथा 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' कह कर अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष में और अपने शरीर में अपनी सत्ता को समान बताया है, उसी प्रकार जो पुरुष अपनी आत्मा को समस्त उपाधियों के वैषम्य से रहित सर्वत्र देखता है, वही ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ११ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व निर्दिष्ट प्रकार से आत्मा को जो जानता है, वही ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ है। भगवान् [2]वासुदेव श्रीकृष्ण ने निकृष्टोपाधिक अश्वत्थ वृक्ष के शरीर में और आविर्भूत विज्ञानैश्वर्यशक्तिमत् आत्माधिष्ठित उत्कृष्टोपाधिक अपने शरीर में 'अश्वत्थ सर्ववृक्षाणाम्'[3] और '[4]वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मिः' कहकर अपनी समान सत्ता का निर्देश किया है, उसी तरह जो पुरुष अपनी आत्मा को समस्त उपाधिकृत वैषम्य से रहित देखता है (जानता है), वही सर्वाधिक ब्रह्मवित् है ॥ ११ ॥

यथा ह्यन्यशरीरेषु ममाहन्ता न चेष्यते ।
अस्मिन्नपि तथा देहे धीसाक्षित्वाविशेषतः ॥१२॥

यथेति--जिस प्रकार अन्य शरीरों में ममता और अहंता (अहंकार) अभीष्ट नहीं है, उसी प्रकार इस शरीर में भी ममता तथा अहंता नहीं होनी चाहिये। क्योंकि दोनों ही शरीरों में उसका (आत्मा का) बुद्धिसाक्षित्व समान रूप से है। निष्कर्ष यह है कि आत्मतत्त्व के विचार करने में अहंकार आदि का अवकाश न रहने से सर्वत्र समान रूप से आत्मदर्शन करना चाहिये ॥ १२ ॥

---

१. 'नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम्'—(बृ. उ. २।५।१८)
२. 'सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि। भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः।—(वि. पु. ६।५।८०)
३. (भ. गी. १०।२६)
४. (भ. गी. १०।२७)

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि अपनी आत्मा को सर्वत्र समान रूप से देखना भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के लिये तो ठीक हो सकता है, क्योंकि वह उपाधियों के प्रति ममता और अहंकार से रहित हैं, किन्तु मुमुक्षु पुरुष तो उपाधियों के प्रति ममता और अहंकार सहित होता है। अतः वह अपनी आत्मा को सर्वत्र समभाव से कैसे देख सकेगा ? उत्तर यह है कि जिस प्रकार बाहर दिखाई देनेवाले अन्य शरीरों में ममभाव (ममता) अहंभाव (अहंता=अहंकार) इष्ट नहीं रहता, क्योंकि वे सब दृश्य होने से उनमें अनात्मत्व का निश्चय रहता है। उसी प्रकार स्वत्वेन अभिमत इस (अपने) शरीर में भी ममता, अहंता करना इष्ट नहीं है। क्योंकि अपने और दूसरे उभयविध शरीरों में आत्मा की बुद्धिसाक्षिता समान (एक-सी) है। इस कारण आत्मतत्त्व का आलोचन (विचार) करते समय ममता-अहंकार आदि को अवकाश न होने के कारण भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के समान सर्वत्र समान रूप से अपनी आत्मा को देखना उचित ही है॥ १२ ॥

रूपसंस्कारतुल्याधी रागद्वेषौ भयं च यत्।
गृह्यते धीश्रयं तस्माज्ज्ञाता शुद्धोऽभयः सदा ॥१३॥

रुपेति—**यदि किसी को यह आशंका हो कि राग, द्वेष और भय आदि की उपलब्धि तो सभी को हुआ करती है। अतः 'आत्मा' में अभिमान का सर्वथा अभाव कैसे हो सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि ये जो राग, द्वेष और भय आदि हैं, वे भी सब नीलादिरूप संस्कार के समान साश्रय (आश्रय वाले) हैं, अर्थात् वे सभी, बुद्धि के ही आश्रित रहते हैं, किन्तु उन सबका साक्षी जो आत्मा है, वह सर्वदा शुद्ध और भयरहित है ॥ १३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि यह कहें कि राग, द्वेष, और भय आदि की उपलब्धि होने से आत्मा में अभिमान (अहंकार), ममता आदि का सर्वथा अभाव कैसे हो सकता है ? उनका अभाव इस तरह समझा जा सकता है कि ये जो राग, द्वेष और भय हैं, वे नीलादिरूप संस्कार के समान आश्रय (आधि) वाले हैं, क्योंकि ये सब बुद्धि के ही आश्रित देखे जाते हैं। स्वाश्रय में पूर्व उद्भूतावस्था के समान अन्य अवस्था के आपादक अतीन्द्रिय धर्म को **संस्कार** कहते हैं । ततश्च रूपाद्याकार में परिणत अन्तःकरण में रूपादि संस्कार, पुनरपि रूपाद्याकार परिणाम में हेतु बनता है, और वहींपर रूपादि दर्शननिमित्त राग-द्वेष और तन्निमित्तक भय भी वहींपर होता है। श्रुति भी कह रही है—"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव"[1]। राग-द्वेष-भय ये तीनों बुद्धि के ही आश्रित रहते हैं अर्थात् तीनों का आश्रय बुद्धि ही है। इन तीनों को आत्मा जानता है, आत्मा तीनों का ज्ञाता (साक्षी) है। ये आत्मा के आश्रित नहीं रहते। अतः आत्मा तो सर्वदा शुद्ध (रागादि से रहित) और अभय है॥ १३ ॥

यन्मनास्तन्मयोऽन्यत्वे नात्मत्वाप्तौ क्रियाऽऽत्मनि।
आत्मत्वे चानपेक्षत्वात्सापेक्षं हि न तत्स्वयम् ॥१४॥

यन्मना इति—**ध्याता और ध्येय का यदि भेद रहता है, तो ध्याता जिस प्रकार के ध्येय में अपना मन लगाता है, तद्रूप ही वह हो जाता है। किन्तु आत्मप्राप्ति के लिये किसी ध्यान आदि क्रिया करने की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि आत्मा तो मोक्षस्वरूप ब्रह्म ही है, अतः उसे किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती। यदि उसे भी सापेक्ष कहा जाय तो उसमें आत्मस्वरूपता की स्थिति नहीं होगी ॥ १४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक के द्वारा आत्मा को सर्वदा शुद्ध बताया गया है, किन्तु वह सर्वदा शुद्ध कैसे होगा ? श्रुति भी कह रही है—"यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति"[2]। उसी तरह स्मृति भी कह रही है—

---
१. (बृ. उ. १।५।३)
२. (छां. उ. ३।१४।१)

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः"[1]॥

अतः पूर्व में अशुद्ध रहा हुआ भी पुरुष, ब्रह्मभावना करने से शुद्ध होगा, पश्चात् ब्रह्मभाव को ही पायेगा। इस कारण आत्मा को सर्वदा ही शुद्ध कहना उचित नहीं है।

किन्तु इस प्रकार समझ बैठना समुचित नहीं है, क्योंकि ध्याता और ध्येय का भेद रहने पर तो ध्याता (ध्यान करने वाला) जिस प्रकार के देवादि ध्येय में मन लगाता है, तो वह ध्येय देवादिमय (तन्मय) हो जाता है, ध्यान की क्रिया वहीं पर सार्थक हो पाती है। किन्तु आत्मप्राप्ति के लिये (आत्मस्वरूप में अवस्थिति प्राप्त करने के लिये) आत्मा में किसी ध्यानादि क्रिया की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि मोक्षरूप ब्रह्म ही तो आत्मा है, उस कारण वहाँ किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि वह चतुर्विध क्रियाफल से विलक्षण है। यदि कैवल्य (मोक्ष) को क्रियासापेक्ष माना जाय तो वह स्वयं आत्मरूप नहीं हो सकता। क्योंकि जो क्रिया से साध्य होता है, वह अनात्मरूप और अनित्य होता है। एवञ्च आत्मा सर्वदा ही शुद्ध है, उसमें जो अशुद्धि का आभास होता है, वह मिथ्या, अध्यास है॥ १४॥

खमिवैकरसा ज्ञप्तिरविभक्ताऽजराऽमला।
चक्षुराद्युपधाना सा विपरीता विभाव्यते॥१५॥

खमिवेति—**स्व (आत्मा) के समान ज्ञप्ति (ज्ञान) भी एकरस, निर्विभाग (अखण्ड), जरारहित और निर्मल (अमल) है, तथापि चक्षु (नेत्र) आदि उपाधियों के कारण ही वह विपरीत प्रतीत होता रहता है। जैसे निर्मल स्फटिक मणि जपापुष्प की सन्निधि से लाल रंग का दिखाई पड़ता है। अथवा जैसे व्यापक आकाश घट-मठादि उपाधियों के कारण विभक्त हुआ-सा प्रतीत होता है। उसी प्रकार एक ही शुद्ध ज्ञान, जो साक्षात् आत्मस्वरूप ही है, तथापि नेत्र आदि उपाधियों के कारण रूप-रसादि विभिन्न भेदों से युक्त हुआ-सा प्रतीत होता है॥ १५॥**

हृदयस्पर्शिनी

विभागादि मलों के न रहने से और चिदेकरस होने से आत्मा को सर्वदा ही शुद्ध समझना चाहिये। उसी तरह अर्थात् आत्मा के समान ज्ञान भी एकरस, विभागरहित (निर्विभाग), जरारहित और निर्मल है। यदि कोई कहे कि ज्ञान (ज्ञप्ति) का स्वरूप इस प्रकार का है, तो जन्म-विनाश आदि भेद अर्थात् जायते, नश्यति (पैदा होता है, नष्ट होता है) इत्यादि प्रतीति क्यों कर होती है? उसका उत्तर तो यह है कि नेत्रादि उपाधियों के कारण ही वैसी प्रतीति होती है। जिस प्रकार निर्मल स्फटिक, जपाकुसुम आदि की सन्निधि से रक्त वर्ण का भासित होता है अथवा एक ही व्यापक आकाश घट-मठादि उपाधियों के कारण विभक्त हुआ-सा ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक ही शुद्ध ज्ञान, जो साक्षात् आत्मस्वरूप ही है, नेत्रादि उपाधियों के संसर्गदोष के कारण उसके जन्म, विनाश तथा रूप, रस आदि भेदों की प्रतीति होती है॥ १५॥

दृश्यत्वादहमित्येष नात्मधर्मो घटादिवत्।
तथाऽन्ये प्रत्यया ज्ञेया दोषाश्चात्माऽमलो ह्यतः॥१६॥

दृश्यत्वादिति—**'मैं' यह प्रतीति भी घट-पटादि के समान दृश्य रहने से उसे 'आत्मा' का धर्म नहीं कह सकते। उसी तरह अन्यान्य दूसरी प्रतीतियाँ और राग-द्वेष आदि दोषों को भी समझना चाहिये। अतः 'आत्मा' निर्मल ही है॥ १६॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में प्रतिपादित आत्मा के अमलत्व को अधिक स्पष्ट करने के लिये कह रहे हैं—'अहम्'=मैं, यह प्रतीति भी दृश्य होने के कारण घट-पट आदि दृश्य पदार्थों के तुल्य आत्मा का धर्म नहीं है—अर्थात् आत्मनिष्ठ नहीं है, इसका बोध हमें 'अहमिति प्रत्ययः नात्मधर्मः दृश्यत्वात् घटादिवत्'—इस अनुमान से होता है। उसी

१. (भ. गी. ८।६)

प्रकार अन्यान्य राग-द्वेषादि दोषरूप परिणाम (प्रत्यय, प्रतीतियाँ) भी आत्मधर्म (आत्मनिष्ठ) नहीं हैं, क्योंकि आत्मा तो निर्मल (अमल, मलरहित) है ॥ १६ ॥

सर्वप्रत्ययसाक्षित्वादविकारी च सर्वगः ।
विक्रियेत यदि द्रष्टा बुद्ध्यादीवाल्पविद्भवेत् ॥१७॥

सर्वेति—**सभी प्रतीतियों का साक्षी होने से 'आत्मा' अविकारी और सर्वगत है। साक्षी आत्मा में भी यदि विकार माना जाय तो वह बुद्धि आदि के समान अल्पज्ञ ही होगा ॥ १७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रश्न—अहंकार आदिकों में आत्मधर्मता के न होने पर भी आत्मा को शुद्ध (मलरहित) नहीं कह सकते, क्योंकि वह विकारी और परिच्छिन्न ज्ञात होता है, ऐसी स्थिति में उसे शुद्ध कैसे कहा जाय ?

उत्तर—प्रश्नकर्त्ता के कथनानुसार आत्मा को यदि विकारी या परिच्छिन्न कहा जाय तो उसमें सर्व-साक्षिता नहीं बन पायेगी। वह बुद्धि, चित्त, मन की तरह अल्पज्ञ कहलायेगा। यहाँ पर मूलगत 'बुद्ध्यादि' शब्द से बुद्धिगत आभास को लक्षित किया गया है। अन्यथा बुद्ध्यादि तो स्वरूपतः अचेतन हैं, तथापि ज्ञान (वेदन) सम्बन्ध के कारण उनमें अल्पवित्त्व जो कहा गया है, वह उपपन्न नहीं हो सकेगा। विषय का अवभास कराने मात्र में उपक्षीण परिणाम वाली साभास बुद्धि जैसे पूर्व-पर अनुभूति, तदवस्था, तत्प्रचार का अनुसंधान नहीं कर पाती, क्योंकि वह विकारी है, उसी तरह द्रष्टा (आत्मा) को भी विकारी मानने पर वह भी पूर्वापर अनुभूति आदि का अनुसन्धान नहीं कर पायेगा, जिससे कोई व्यवहार ही नहीं चल पायेगा, अर्थात् समस्त व्यवहार ही लुप्त होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः आत्मा यच्चयावत् समस्त प्रतीतियों का साक्षी होने से विकाररहित (अविकारी) और सर्वव्यापक (सर्वत्र व्याप्त, सर्वगत) है ॥ १७ ॥

न दृष्टिर्लुप्यते द्रष्टुश्चक्षुरादेर्यथैव तत् ।
नहि द्रष्टुरिति ह्युक्तं तस्माद्द्रष्टा *सदैकदृक् ॥१८॥

नेति—**चक्षुरादि की दृष्टि के समान द्रष्टा (आत्मा) की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। अतएव भगवती श्रुति ने भी कहा है—"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"—अविनाशी होने से द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता—इसलिये द्रष्टा (आत्मा) सर्वदा एकरूप द्रष्टृस्वभाव हो है ॥ १८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शङ्का—बुद्धि के समान द्रष्टा आत्मा को भी अल्पवित् (अल्पज्ञ) ही कहा जाय, क्योंकि जो साधन के अधीन होता है, वह उत्पत्ति-विनाशवान् होता है।

समा०—किन्तु यह कथन इसलिये उचित नहीं है कि जैसे परिणामिता (विकार) के कारण चक्षुरादि-द्वारक दृष्टि का लोप होता है, वैसे आत्मारूप द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता, क्योंकि वह (दृष्टि) अपरिणामी आत्मस्वरूप ही है। आत्मा की दृष्टि को श्रुति ने नित्य कहा है[1]। इस कारण द्रष्टा की दृष्टि का लोप न होना प्रमाणसिद्ध है। 'सदैकदृक्' का अर्थ है—एकरूप दृष्टि स्वभाव वाला। 'सदैकभुक्' पाठ यदि हो तो 'भुङ्क्ते पश्यति' इति भुक्=साक्षी अर्थ होगा। एवञ्च द्रष्टा, सदा साक्षी है ॥ १८ ॥

सङ्घातो वाऽस्मि भूतानां करणानां तथैव च ।
व्यस्तं वाऽन्यतमो वाऽस्मि को वाऽस्मीति विचारयेत् ॥१९॥

संघात इति—**अतः मुमुक्षु पुरुष को यह विचारना चाहिये कि क्या मैं भूतों का संघातरूप स्थूल शरीर हूँ ? अथवा इन्द्रियों (करणों) का संघात (समूह) हूँ ? यदि मैं इन्द्रियों का संघातस्वरूप हूँ तो क्या मैं भिन्न-भिन्न प्रत्येक इन्द्रियरूप हूँ ? अथवा उनमें से कोई एक हूँ ? या उनसे पृथक् कोई अन्य हूँ ? और यदि कोई अन्य हूँ, तो कौन हूँ ? ॥१९॥**

---

१. 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् ।'—(बृ. उ. ४।३।२३)

* सदैव दृक्०—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार आत्मा शुद्धस्वरूप सिद्ध होने पर भी उपाधि सम्बन्ध से वह अन्यथा प्रतीत होता है। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि वह आत्मा को ब्रह्मरूप में समझने के लिए पदार्थ-विवेक (पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार) करे। आत्मा की प्रतीति 'अहम्'—(मैं) के आकार में होती है। इस प्रतीति में मैं कृश हूँ, स्थूल हूँ इस प्रकार भूतों के संघातरूप स्थूल शरीर का स्फुरण होता रहता है। उसी तरह 'मैं' द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, काण, बधिर हूँ—इस प्रकार 'मैं' कहने से इन्द्रियों (करणों) का भी उल्लेख होता रहता है। अतः मुमुक्षु को चिन्तन करना होगा कि क्या 'मैं' भूतों का संघात (समूह-समुदाय) रूप स्थूल शरीर हूँ? या 'मैं' इन्द्रिय (करण) संघातरूप हूँ? यदि 'मैं' इन्द्रियों का संघातरूप हूँ, तो पृथक्-पृथक् इन्द्रियों के प्रति पृथक्-पृथक् अहंकार (प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति अहंकार) होने से क्या 'मैं' पृथक्-पृथक् प्रत्येक इन्द्रियस्वरूप हूँ? अथवा एक ही शरीर में अनेक रूपों में रहने पर कदाचित् वैमत्य (विरोध) होने की भी संभावना रहने से भोगव्यवस्था नहीं बन पायेगी, इस कारण उन इन्द्रियों में से कोई एक हूँ? या इन्द्रिय संघात से भिन्न कोई अन्य हूँ, उन सबका अधिष्ठाता हूँ? यदि उनमें से ही कोई अन्यतम हूँ, तो क्या अन्तःकरण, प्राण आदि में से ही कोई एक हूँ? किंवा उनका साक्षी होकर उनसे विलक्षण स्वरूप का हूँ? इस रीति से विचार करना चाहिए ॥ १९ ॥

व्यस्तं नाहं समस्तं वा भूतमिन्द्रियमेव वा।
ज्ञेयत्वात्करणत्वाच्च ज्ञाताऽन्योऽस्माद्घटादिवत् ॥२०॥

व्यस्तमिति—**विचारने पर यह निश्चय अवश्य होगा कि मैं भूत नहीं हूँ, तथा इन्द्रिय नहीं हूँ, तथा व्यस्त अथवा समस्त भी नहीं हूँ, क्योंकि ये सब घट आदि के समान ज्ञेय और करण रूप हैं। मैं तो इनका ज्ञाता हूँ। अतः मैं इनसे भिन्न हूँ ॥ २० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार विचार करने पर पदार्थविवेकरूप फल की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त रीति से विचारने पर मुमुक्षु को यह निश्चय हो जाता है कि 'मैं' न भूत हूँ, न इन्द्रिय हूँ तथा न व्यस्त (पृथक्-पृथक्) हूँ, न समस्त हूँ, क्योंकि ये सभी घटादि के समान अचेतन (जड़) हैं, और कुठार आदि के समान करणरूप (साधनरूप) हैं। तस्मात् 'मैं' तो इन सबका ज्ञाता हूँ, चेतन हूँ, इन सभी अन्तःकरण, प्राण आदि जड़ पदार्थों से भिन्न हूँ, इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य का अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा आलोचन करते हुए विवेक करना चाहिए ॥ २० ॥

आत्माग्नेरिन्धना बुद्धिरविद्याकामकर्मभिः।
दीपिता प्रज्वलत्येषा द्वारैः श्रोत्रादिभिः सदा ॥२१॥

आत्माग्नेरिति—**आत्मा रूप अग्नि का ईंधन—'बुद्धि' है। यह बुद्धिरूप ईंधन अविद्या, काम और कर्मों से दीपित होकर श्रोत्रादि के द्वारा सर्वदा प्रज्वलित होता रहता है ॥ २१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक से पदार्थविवेक करने की रीति बताई गई। अब २१ से २६ तक के श्लोकों से साक्षी और साक्ष्य का अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा आलोचन करते हुए अवस्थात्रय (तीन अवस्थाओं) का विवेक और उसके द्वारा तत्साक्षी तुरीय का अधिगम करने का (ज्ञान का) प्रकार बता रहे हैं—अग्नि को किसी विशेष आकार में अभिव्यक्त करने में कारण ईंधन होता है। उसी तरह आत्मचैतन्य को विशेष आकार में अभिव्यक्त करनेवाली यह 'बुद्धि' है। अग्नि-स्थानापन्न आत्मचैतन्य को और ईंधनस्थानापन्न बुद्धि को समझना चाहिए। बुद्धि को ईंधनस्थानापन्न इसलिए कहते हैं कि जैसे काष्ठादि ईंधन के द्वारा अग्नि को प्रकाशित किया जाता है, वैसे ही यह बुद्धि, आत्मचैतन्य को व्यवहार-योग्य बनाती है। 'इध्यते प्रकाश्यते व्यवहारयोग्यः क्रियते अनया इति इन्धना बुद्धिः'। जैसे वायु के कारण अग्निस्थित ईंधन प्रज्वलित हो उठता है, उसी तरह अविद्या काम कर्म के कारण उत्तेजित (दीपित) हुई वह बुद्धि, चैतन्यग्रस्त होने

से प्रकाशित हो जाती हैं, जैसे अभिव्यक्त हुए अग्नि से जलता हुआ ईंधन प्रकाशित होता है। और गवाक्षों से निर्गत दीर्घ प्रभा जैसे सर्वदा प्रकाशित होती रहती है, वैसे ही श्रोत्रादि के माध्यम से निकलनेवाली यह बुद्धि सर्वदा प्रज्वलित (प्रकाशित) होती रहती है। इस प्रसंग में अग्नि-ईंधन के रूपक से निर्देश करने का प्रयोजन यह है कि व्यवहार-काल में विषयग्रहण के होम करने की भावना की जा सके, इस प्रकार की भावना करने से फल यह होगा कि विषयों के प्रति होनेवाली आसक्ति की निवृत्ति होगी। एवंच अविद्या आदि के द्वारा प्रेरित होनेवाली बुद्धि का परिणत होते रहना ही जागरित अवस्था है॥ २१॥

दक्षिणाक्षिप्रधानेषु यदा बुद्धिर्विचेष्टते।
विषयैर्हविषा दीप्ता* ह्यात्माग्निः स्थूलभुक्तदा॥२२॥

दक्षिणाक्षीति—**जिस समय विषय रूपी हवि से दीपित हुई बुद्धि, दक्षिण नेत्रादि इन्द्रियों में चेष्टा करती है, उस समय आत्मस्वरूप अग्नि स्थूल विषयों का भोग करता है अर्थात् भोक्ता होता है॥ २२॥**

हृदयस्पर्शिनी

जिस समय विषयरूपी हवि से दीप्त हुई बुद्धि, दक्षिण नेत्रादि इन्द्रियों में चेष्टा (व्यापार) करती है, अर्थात् हविःस्थानापन्न विषयों से दीप्त होती है, यानी विषय को व्याप्त करके उस विषय के आकार में प्रकाशित होती है, उस समय आत्मारूप अग्नि, स्थूल विषयों का भोक्ता होता है, तब उसे 'जागता है' कहते हैं अर्थात् यही बुद्धि की अवस्था, जाग्रत् अवस्था (जागरण) शब्द से कही जाती है। पुरुष के दक्षिण अंग की श्रेष्ठता प्रसिद्ध है, इस कारण अक्षि में 'दक्षिण' विशेषण दिया गया है॥ २२॥

हूयन्ते तु हवींषीति रूपादिग्रहणे स्मरन्।
अरागद्वेष आत्माग्नौ जाग्रद्दोषैर्न लिप्यते॥२३॥

हूयन्तेत्विति—**जो पुरुष रूपादि विषयों के ग्रहण करते समय राग-द्वेष रहित (वीतराग) होकर यह स्मरण रखता है कि आत्मारूप अग्नि में हवियों का होम (हवन) किया जा रहा है, तब वह पुरुष जाग्रत् अवस्था के दोषों से लिप्त नहीं होता है॥ २३॥**

हृदयस्पर्शिनी

रूपक के द्वारा निरूपण करने का फल बता रहे है—विषयों का ग्रहण करते समय शोभन-अशोभन के अध्यास (मिथ्या ज्ञान) से होनेवाले राग-द्वेषों से शून्य रहकर जो व्यक्ति यह स्मरण रखता है कि इन विषयरूप हवियों का आत्मारूप अग्नि में हवन (होम) किया जा रहा है, उसे जाग्रत् अवस्था के दोषों का लेप नहीं हो पाता। अर्थात् वह व्यक्ति विषयोपलब्धिनिबन्धन पुण्य-अपुण्यलक्षण जाग्रत् दोषों से लिप्त (संश्लिष्ट=सम्बद्ध) नहीं होता॥ २३॥

मानसे तु गृहे व्यक्तः† सोऽविद्याकर्मवासनाम्।
पश्यंस्तैजस आत्मोक्तः स्वयंज्योतिः प्रकाशिता‡॥२४॥

मानसेत्विति—**अब स्वप्नावस्था को बता रहे हैं। तदनन्तर मनोरूप घर में अभिव्यक्त होकर अविद्या से उत्पन्न कर्मवासना को देखने के कारण 'आत्मा' को तैजस कहते हैं। उस समय यह स्वयंज्योति आत्मा ही विषयों का प्रकाशक होता है। क्योंकि उस समय सूर्यादि बाह्य ज्योतियों का अभाव रहता है॥ २४॥**

हृदयस्पर्शिनी

जागरित अवस्था को बताने के बाद अब स्वप्नावस्था को बता रहे हैं—मनोरूप गृह (मनः परिणामोपाधि-रूप मानसगृह) में अभिव्यक्त हुआ वह आत्मा, अविद्या से उत्पन्न हुए कर्म से उद्बुद्ध हुई वासना (अविद्याजनित कर्म-वासना) को विषय के आकार में देखनेवाला आत्मा '**तैजस**' शब्द से कहा जाता है। क्योंकि वह तेज में (तेजोरूप वासनामय विषय में) अभिव्यक्त होता है। उस समय भासमान कर्म, सुख-दुःख आदि सभी मनोमात्र ही होते हैं। उस

* दीप्त आत्मा। † व्यक्ता अविद्याकर्मवासनाः। ‡ प्रकाशिताः—पाठान्तरम्।

समय वे सब दृश्यरूप में ही स्थित रहते हैं। उस समय आत्मा की कोई अन्य उपाधि भी नहीं होती। उस समय सूर्यादि बाह्य ज्योतियों का भी अभाव रहता है। उस समय स्वयंज्योति आत्मा ही विषयों का प्रकाशक (साक्षी) होता है। इसी अभिप्राय को श्रुति भी बता रही है—"दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च[1]", "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति[2]" इति ॥ २४ ॥

विषया वासना वापि चोद्यन्ते नैव कर्मभिः ।
यदा बुद्धौ तदा ज्ञेयः प्राज्ञ आत्मा ह्यनन्यदृक् ॥२५॥

विषया इति—**जिस समय कर्मों के द्वारा विषय (स्थूल) तथा वासनाओं (सूक्ष्म) की भी अन्तःकरण में उद्भूति न हो, उस समय आत्मा (अपने) व्यतिरिक्त विषय अथवा वासना को न देखने के कारण उसे (आत्मा को) प्राज्ञ समझना चाहिये ॥ २५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

स्वप्नावस्था बताने के बाद अब सुषुप्ति अवस्था को बताते हैं—जिस समय बुद्धि (अन्तःकरण) में कर्मों के द्वारा स्थूल विषय तथा सूक्ष्म वासनाएँ, जो स्वप्न में दृश्य रहती हैं, उनका भी उद्बोध; न हो, उस समय वह अपने से भिन्न किसी भी विषय को या वासना को नहीं देखता है, इस कारण उसे अनन्यदृक् (अपरिच्छिन्नदर्शी) अर्थात् **'प्राज्ञ'** शब्द से कहा जाता है। 'प्रज्ञातिशयात् तदा प्राज्ञः' इस व्युत्पत्ति से उसे 'प्राज्ञ' कहा गया है।

उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को तथा तत्कालीन चैतन्य एवं उनके कोष और शरीर को समझने के लिए निम्नलिखित सरल प्रकार यह है—

१. **जाग्रत् अवस्था** के समय स्थित चैतन्य—**समष्टि** को **'वैश्वानर'** और चैतन्य—**व्यष्टि** को **'विश्व'** कहते हैं, और उनका कोष **'अन्नमय'** कोष और शरीर **'स्थूल शरीर'** होता है।

२. **स्वप्न अवस्था** के समय स्थित चैतन्य—**समष्टि** को **'सूत्रात्मा'**, और चैतन्य—**व्यष्टि** को **'तैजस'** कहते हैं, और उनके **तीन कोष 'मनोमय'**, **'प्राणमय'**, **'विज्ञानमय'** होते हैं, और शरीर **'सूक्ष्म शरीर'** होता है।

३. **सुषुप्ति अवस्था** के समय स्थित चैतन्य—**समष्टि** को **'ईश्वर'** और चैतन्य—**व्यष्टि** को **'प्राज्ञ'** कहते हैं, और उनका कोष **'आनन्दमय कोष'** और शरीर **'कारणशरीर'** होता है ॥ २५ ॥

मनोबुद्धीन्द्रियाणां च* ह्यवस्थाः कर्मचोदिताः ।
चैतन्येनैव भास्यन्ते रविणेव घटादयः ॥२६॥

मनोबुद्धीन्द्रियाणामिति—**जिस प्रकार घटादि पदार्थ सूर्य से प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार कर्म के द्वारा उद्बुद्ध हुई ये मन, बुद्धि और इन्द्रियों की अवस्थाएं 'चैतन्य=आत्मा' से ही प्रकाशित की जाती हैं। मन की अवस्था 'स्वप्न', बुद्धि की अवस्था 'सुषुप्ति', और इन्द्रियों की अवस्था 'जाग्रत्' कहलाती है ॥ २६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार तीन अवस्थाओं तथा तदवस्थ आत्मा का द्रष्टा-दृश्यभाव से विवेचन करने के बाद अब अभिमानी सहित अवस्थात्रय के साक्षीरूप में विश्वादित्रय की अपेक्षा तुरीय (चतुर्थ) नित्यविज्ञप्ति (नित्यविज्ञान) स्वभाववाले प्रत्यक् आत्मा को बता रहे हैं—

जिस प्रकार घट-पटादि पदार्थ, सूर्य (रवि) से प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार कर्म के द्वारा उद्बुद्ध होनेवाली ये मन, बुद्धि और इन्द्रियों की अवस्थाएँ आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होती हैं। इन्द्रियों की अवस्था जागरण (जाग्रत्), मन की अवस्था स्वप्न, और बुद्धि की अवस्था यानी कारणावस्था सुषुप्ति कही जाती है ॥ २६ ॥

---

१. (बृ. उ. ४।३।१५, १६, २४, २७)
२. (बृ. उ. ४।३।९,१४)
* या अव०—पाठान्तरम् ।

तत्रैवं सति बुद्धीर्न आत्मभासाऽवभासयन् ।
कर्ता तासां यदर्थास्ता मूढैरेवाभिधीयते ॥२७॥

तत्रेति—**ये उक्त अवस्थाएं 'आत्मा' में अध्यस्त हैं। अतः अपने सुख-दुःख का अवभास कराने वाली बुद्धियों को अपने प्रकाश (अपने चैतन्य के आभास) से प्रकाशित करनेवाला आत्मा, मूढ़ लोगों के द्वारा उनका कर्ता कहा जाता है ॥ २७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस पर कोई कह सकता है कि यदि आत्मा निर्विकार ही साक्षी कहलाता है तो उसे बुद्धि आदि का कर्ता क्यों कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि उपरिनिर्दिष्ट तीनों अवस्थाएँ निर्विकार आत्मा में मोह से अध्यस्त हैं। अतः अपने सुख-दुःखावभास की कारणीभूत अवस्था सहित बुद्धियों को अपने प्रकाश (आत्मभास, स्वचैतन्याभास) से प्रकाशित करनेवाला आत्मा (ज्ञ), शास्त्राचार्योपदेश से रहित मूढ़ पुरुषों के द्वारा उनका कर्ता कहा जाता है। अर्थात् जिस आत्मा के सुख-दुःख का ज्ञान कराने के लिये बुद्धियों का स्वीकार किया गया है, उन बुद्धियों को यह आत्मा अपने प्रकाश से प्रकाशित करता रहता है, जिस कारण मूर्ख लोग उसे कर्ता कहा करते हैं। अर्थात् कर्म के कारण उद्भासित बुद्धयवस्थाओं का अनुगमन करनेवाले चिदाभास और आत्मा दोनों में विवेक न हो पाने से मूर्ख लोग उस आत्मा को ही 'दर्शनकर्ता' कहते हैं ॥ २७ ॥

सर्वज्ञोऽप्यत एव स्यात्स्वेन भासाऽवभासयन् ।
सर्वं सर्वक्रियाहेतोः सर्वकृत्त्वं तथाऽऽत्मनः ॥२८॥

सर्वज्ञ इति—**अतएव अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करने के कारण वह सर्वज्ञ भी कहा जाता है और उसके सन्निधिमात्र से समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति होने के कारण उसमें सर्वकर्तृत्व माना जाता है ॥ २८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार अज्ञान और उसके कार्य में प्रतिबिम्बित हुए चिदात्मा का ज्ञातृत्व उपाधिनिबन्धन होता है, यह बताकर अब मायारूप उपाधि में प्रतिबिम्बवशात् उसी की सर्वज्ञता, और सर्वकर्तृता को बता रहे हैं—स्वात्माश्रयविषयक सम्पूर्ण माया (विवर्त) को आदित्य (प्रकाश) के समान अविकृत स्वचैतन्य से भासित करने के कारण उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। सर्व विषयों के ज्ञानकर्ता के रूप में उसे सर्वज्ञ नहीं कहा जाता। उसी तरह आत्मा का सर्वकर्तृत्व भी माया-निबन्धन ही है। अर्थात् सन्निधिमात्र से भ्रामक के समान सर्व कारकों की प्रवृत्ति कराने में कारण होने से उसका सर्वकर्तृत्व माना जाता है ॥ २८ ॥

सोपाधिश्चैवमात्मोक्तो निरुपाख्योऽनुपाधिकः ।
निष्कलो निर्गुणः शुद्धस्तं मनो वाक्च नाप्नुतः ॥२९॥

सोपाधिरिति—**इस प्रकार से सोपाधिक आत्मा का निरूपण किया गया। किन्तु निरुपाधिक आत्मा तो अकथनीय, निष्कल, निर्गुण और शुद्ध है। उसे मन और वाणी भी प्राप्त नहीं कर पाते ॥ २९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार तीनों अवस्थाओं के साक्षी होने से विविक्त, शुद्ध, चिद्रूप आत्मा में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, सर्वज्ञत्वादि व्यवहारास्पदत्व मायोपाधिवशात् है, स्वाभाविक नहीं है, इसी उक्त अर्थ का अनुवाद करके 'वह स्वाभाविक बिम्बतुल्य आत्मस्वरूप क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि सोपाधिक आत्मा का वर्णन तो किया गया, और निरुपाधिक (निरुपाख्य), जो विषयतया उल्लेख के योग्य नहीं होता, उसे अनुपाधिक अर्थात् सर्वव्यवहारातीत कहते हैं। अर्थात् वह गुण, अवयव से रहित होने के कारण शुद्ध (कूटस्थ) है। उसकी निरुपाख्यता यही है कि उसे मन और वाणी प्राप्त नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

चेतनोऽचेतनो वापि कर्ताऽकर्ता गतोऽगतः ।
बद्धो मुक्तस्तथा चैकोऽनेकः शुद्धोऽन्यथेति वा ॥३०॥

चेतन इति—**भिन्न-भिन्न मतवादी विद्वान् आत्मा को चेतन या अचेतन, कर्ता या अकर्ता, व्यापक या अव्यापक, बद्ध या मुक्त, एक या अनेक तथा शुद्ध या शबल इस प्रकार भिन्न-भिन्न रीति से बताते हैं ॥ ३० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

मन और वाणी से उसकी अगम्यता को बताते हैं—'अहम्' यहाँ पर शब्द और प्रत्यय दोनों पराक्व्यावृत्त हुए प्रत्यक् आत्मा को बताते हैं, इसमें किसी का विवाद नहीं है। ये दोनों (शब्द और प्रत्यय) शुद्ध आत्मा को ही यदि विषय करते हों तो प्रत्यक्षतः उपलब्ध घटादि के समान किसी भी वादी को विप्रतिपत्ति ही नहीं होगी। किन्तु आत्मा के संबन्ध में वादियों की अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। वेदबाह्य लोगों का कहना है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि में से अन्यतम अचेतन (जड़) या चेतन कोई भी 'आत्मा' है। वेदवादियों का कहना है कि उपर्युक्त समस्त अचेतनों (जड़ों) से भिन्न (अन्य) कोई चेतन आत्मा है। उनमें भी नैयायिक लोग आत्मा को कर्ता के रूप में बताते हैं और सांख्य वाले उसे अकर्ता कहते हैं। जैन दार्शनिक आत्मा को शरीरपरिमाण का मानते हैं। किन्तु रामानुज आदि वैष्णवाचार्य उसे अणु-परिमाण कहते हैं। कुछ लोग जीव को बद्ध और ईश्वर को मुक्त कहते हैं। तथा वेदान्ती केवल 'एक आत्मा' स्वीकार करते हैं। किन्तु सांख्य-नैयायिकादि अनेक आत्माओं को मानते हैं। वेदान्ती और सांख्यवादी आत्मा को शुद्ध (रागादिगुण रहित) कहते हैं, किन्तु नैयायिकादि लोग उसके विपरीत अर्थात् आत्मा को रागादि गुण सहित (शबल) बताते हैं। इस प्रकार एक आत्मा को लेकर भिन्न-भिन्न वादियों के भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं ॥ ३० ॥

अप्राप्यैव निवर्तन्ते *वाचो धीभिः सहैव तु ।
निर्गुणत्वात् क्रियाभावाद्विशेषाणामभावतः ॥३१॥

अप्राप्यैवेति—**आत्मा, निर्गुण होने के कारण निष्क्रिय है, यानी उसमें क्रिया का अभाव है तथा जाति आदि स्वगत और गो-सुवर्ण आदि बाह्य विशेषणों (विशेषों) का भी उसमें अभाव है। अतएव बुद्धि के सहित वाणी (शब्द) उसे (आत्मा को) प्राप्त किये बिना ही लौट आती है ॥ ३१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वाणी और बुद्धि, आत्मतत्त्व तक बिना पहुँचे ही क्यों परावृत्त होती (लौटती) हैं ? वास्तविक प्रवृत्तिद्वार (प्रवृत्तिबीज) के प्राप्त न होने से उन्हें वापस आना पड़ता है। क्योंकि आत्मा निर्गुण है, उसमें क्रिया का अभाव है, तथा जाति आदि स्वगत एवं गो-सुवर्णादि बाह्य विशेषणों का भी अभाव है। अभिप्राय यह है कि आत्मा रूपादि-गुणों से शून्य होने के कारण बाह्येन्द्रियद्वारक बुद्धि के द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो पाती, और मन भी बाह्येन्द्रियो से उपलब्ध कराये गये विषयों के अतिरिक्त विषयों को स्वतन्त्रतया प्राप्त करने (देखने) में असमर्थ है। अतः गोचर न हो पाने वाले आत्मा को वह (मन) नहीं प्राप्त कर पाता। अथवा आत्मा, निष्क्रिय होने से मन का विषय नहीं हो पाता। जैसे घट आदि वस्तुओं के द्वारा अनुगत रहने पर भी क्रियाहीन अनवच्छिन्न (अपरिमित) आकाश में किसी अपूर्व (नवीन) धर्म की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही क्रियाहीन अनवच्छिन्न आत्मवस्तु में किसी क्रियावान् की अनुगति होने मात्र से अपूर्व धर्म की उत्पत्ति का होना संभव नहीं है। व्यावहारिक ज्ञान तो मनःसंयोगजन्य होता है। आत्मा तक मन की पहुँच ही न हो पाने से उसकी मन से भी अवगति नहीं हो पाती। तथा बाह्य गोधनादि विशेष अथवा स्वगत जात्यादिरूप प्रवृत्तिनिमित्तों के न होने से शब्द भी आत्मा तक नहीं पहुँच पाता। क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति में हेतुभूत षष्ठी आदि विभक्तियों और बुद्धि की प्रवृत्ति में हेतुभूत रूपादि के वस्तुतः न होने पर भी आरोपित रूप तथा षष्ठी आदि विभक्तिसम्बन्ध के कारण समस्त व्यवहार होता रहता है। आत्मा के विषय में वादियों के जितने भी मत हैं, वे सब अयथाभूत आत्मा तक ही सीमित हैं, अतः 'अहम्' यह शब्द-प्रत्यय भी शुद्ध आत्मा को बताने

* वचो०—पाठान्तरम् ।

में समर्थ नहीं हैं। श्रुति भी यही कह रही है—' । चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा[1]" इति। तथा "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह[2]" इति ॥ ३१ ॥

व्यापकं सर्वतो व्योम मूर्तैः सर्वैर्वियोजितम् ।
यथा तद्वदिहात्मानं *विद्याच्छुद्धं परं पदम् ॥३२॥

व्यापकमिति—**जैसे व्यापक आकाश, सम्पूर्ण मूर्त पदार्थों से सर्वथा सम्बन्धशून्य है, वैसे ही वेदान्त के सिद्धान्त में आत्मा को शुद्ध परब्रह्मस्वरूप समझो ॥ ३२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जब कि आत्मा, किसी शब्द का, प्रत्यय का, मन का, वाणी का—किसी प्रमाण का विषय ही नहीं है, तो उसे वेदान्त-वेदनीय (वेद्य) कैसे कहा जाय ? उत्तर में कहा जाता है कि लक्षणा का ही एक मार्ग है, जिससे वह जाना जाता है। जिस प्रकार व्यापक आकाश, सम्पूर्ण मूर्त पदार्थों से सर्वथा सम्बन्धशून्य है, उसी प्रकार यहाँ वेदान्त सिद्धान्त में शुद्ध अर्थात् अवस्थात्रयोपाधि से रहित और अवस्थात्रय के साक्षीरूप से लक्षित परब्रह्मस्वरूप आत्मा को समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

दृष्टं हित्वा स्मृतिं तस्मिन्सर्वग्रस्तं तमस्त्यजेत् ।
सर्वदृग्ज्योतिषा युक्तो दिनकृच्छार्वरं यथा ॥३३॥

दृष्टमिति—**जिस प्रकार भगवान् सूर्य, रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष जाग्रत् अवस्था में दृष्ट (देखे हुए) पदार्थों का त्याग करे, और उनकी स्मृति (स्मरण=यानी स्वप्न में देखे हुए पदार्थों) का भी त्याग करे, और आत्मा के सर्वप्रकाशक तेज से युक्त होकर सबको अपने में लीन करने वाले (सुषुप्ति अवस्था के) अज्ञान का भी परित्याग कर दे ॥ ३३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार आत्मतत्त्व का निश्चय रहने पर पुनः अवस्थात्रय (तीन अवस्थाओं) का अभिमान वह नहीं कर सकेगा। द्रष्टा, श्रोता, मन्ता इस प्रकार एक-एक क्रिया से उसे सम्बद्ध समझने का अभिमान न करे। अर्थात् दर्शनादि की अवस्था में भी आत्मा को निर्विशेष ही समझे। उस दृष्ट (देखे हुए) पदार्थ की स्मृति (स्वप्न) का भी त्याग करे। अर्थात् मैं स्वप्न में देव हुआ, व्याघ्र बना, इस प्रकार के अभिमान का त्याग करे। स्वप्न भी संस्कारद्वारक (संस्कार के कारण) होने से उन्हें भी 'स्मृति' शब्द से कहा गया है। यह स्वप्न (स्मृति) की वासना से विशिष्ट दृश्य, मन का ही विकार है, आत्मा का नहीं, इस प्रकार से असंगत (असम्बद्ध) आत्मा का अनुसन्धान करते रहना चाहिये। उसी तरह सुषुप्ति (तम) का भी त्याग करे। यह तम सब को ग्रस लेता है, अतः उसे 'सर्वग्रस्' कहते हैं। 'सर्वं ग्रसतीति सर्वग्रः'। यह आत्मा, सुषुप्ति का भी अवभासक है, अतः उसका प्रकाशस्वभाव कभी भी लुप्त नहीं होता। उसे मूढ या ज्ञानवान् नहीं समझना चाहिये। अतः जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार को सूर्य नष्ट कर देता है, उसी प्रकार आत्मजिज्ञासु व्यक्ति जाग्रत् अवस्था में देखे हुए पदार्थ को त्यागकर उनकी स्मृति अर्थात् स्वप्नदृष्ट पदार्थों का त्याग करे, पश्चात् आत्मा के सर्वप्रकाशक तेज से युक्त होकर सबको अपने में लीन करने वाले सुषुप्ति अवस्था के अज्ञान का भी त्याग कर दे। इन तीनों अवस्थाओं का त्यक्ता कौन है ? उत्तर यह है कि सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा जो ज्योति (ब्रह्म) के साथ एकीभूत है। क्योंकि 'ज्योतिषां ज्योतिः[3]' के द्वारा ब्रह्म को बताया गया है। इस रीति से अद्वयानन्दस्वभाव ही आत्मा सिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

---

१. (मुं० उ० ३।१।८)
२. (तै० उ० २।९)
३. (मुं० उ० २।२।९)
* विन्द्यात्० पाठान्तरम् ।

रूपस्मृत्यन्धकारार्थाः प्रत्यया यस्य गोचराः ।
स एवात्मा समो द्रष्टा सर्वभूतेषु सर्वगः ॥३४॥

रूपेति—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के पदार्थ जिसके विषय हैं, वही समस्त भूतों में व्याप्त, सर्वगत, निर्विशेष, साक्षी 'आत्मा' है ॥ ३४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

रूप, स्मृति, अन्धकार, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, आदि पदार्थ जिन प्रत्ययों के विषय हैं, वे प्रत्यय भी जिस साक्षी के प्रतिभास्य (गोचर) होते हैं, वही आत्मा है, वही समस्त भूतों में व्याप्त रहने वाला द्रष्टा है, तथापि वह निर्विशेष (सम) है, क्योंकि वह परिच्छेदकरहित (सर्वग) है ॥ ३४ ॥

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुर्विषयालोकसङ्गमात् ।
विचित्रो जायते बुद्धेः प्रत्ययोऽज्ञानलक्षणः ॥३५॥

आत्मेति—'आत्मा' को निर्विशेष बताया गया है तो विचित्र प्रकार के ज्ञान क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, विषय और प्रकाश का संयोग होने से अज्ञानरूप उपाधि के कारण बुद्धि से विविध प्रकार के ज्ञान हुआ करते हैं ॥ ३५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि आत्मा निर्विशेष (समस्त विशेषताओं से रहित) है, तो विविध प्रकार के ज्ञान (विचित्र संसारप्रत्ययोदय) किस प्रकार होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, विषय और प्रकाश का संयोग होने पर अज्ञानरूप उपाधि के कारण बुद्धि से नाना प्रकार के ज्ञान होते हैं। यहाँ ज्ञातव्य यह है—आत्मा को असंग बताया जाता है। जब कि वह असंग है, तब उससे किसी का भी सम्बन्ध होना कभी संभव ही नहीं हो सकता। तथापि यहाँ पर बुद्धि आदि के साथ उसका संबंध बताया जा रहा है, वह कैसे संगत हो सकता है ? उसका उत्तर यही होगा कि वास्तव में आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध नहीं है, तथापि अज्ञानरूप उपाधि के कारण कल्पित संबंध माना जाता है, उस कारण यह भेदज्ञान होता है। कोई भी ज्ञान, आत्मा के बिना तो होता ही नहीं, अतः उसका संबन्ध तो मानना ही पड़ेगा। बुद्धि, ज्ञान का आश्रय है। मन, साधारण कारण है। इन्द्रियाँ, विशेष कारण हैं। विषय, निमित्त कारण है। प्रकाश के बिना वस्तु की प्रतीति होती नहीं, इसलिये वह भी उसके ज्ञान में कारण है। एवंच अविद्यापरिकल्पित उपाधियों का और आत्मा का विवेक उपलब्ध न होने से अनर्थात्मक विचित्र संसार की प्रतीति होती रहती है ॥ ३५ ॥

विविच्यास्मात्स्वमात्मानं *विद्याच्छुद्धं परं पदम् ।
द्रष्टारं सर्वभूतस्थं समं सर्वभयातिगम् ॥३६॥

विविच्येति—मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि वह बुद्धि आदि के संघात से आत्मा का विवेक करे यानी आत्मा को पृथक् समझे। उसे शुद्ध, साक्षी, सर्वभूतान्तर्यामी, निर्विशेष (सम) और सर्वभयातीत प्राप्तव्य स्थान समझे ॥ ३६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अविद्या और उसकी कार्यरूप उपाधियों के साथ आत्मा का विवेक (भेद) उपलब्ध न हो सकने से ही संसार का प्रतिभास हुआ करता है, यह निश्चित हो जाने पर मुमुक्षु का कर्तव्य बताते हैं—इस बुद्धि आदि के संघात से विवेक करके मुमुक्षु पुरुष को अपने परमप्राप्तव्य, शुद्ध, साक्षी, सर्वभूतान्तर्यामी, निर्विशेष, सर्वभयातीत (आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये) ॥ ३६ ॥

* विन्द्यात्०—पाठान्तरम् ।

समस्तं सर्वगं शान्तं विमलं व्योमवत्स्थितम् ।
निष्कलं निष्क्रियं सर्वं नित्यं द्वन्द्वैर्विवर्जितम् ॥३७॥

समस्तमिति—**सर्वस्वरूप, सर्वगत, शान्त, निर्मल, आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त, निरवयव (निष्कल), निष्क्रिय, सर्वमय, नित्य एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित इस प्रकार से आत्मा को समझना चाहिये ॥ ३७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उसी वेद्य आत्मस्वरूप को पुनः अन्य विशेषणों से युक्त करके बता रहे हैं—सर्वस्वरूप, सर्वगत, शान्त, निर्मल, आकाश के समान सर्वत्र स्थित, निरवयव, निष्क्रिय, सर्वमय, नित्य, एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मूल में 'समस्त' और 'सर्व' शब्द प्रयुक्त हुए देखकर पुनरुक्ति की शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि 'समस्त' शब्द 'आत्मा' को और 'सर्व' शब्द 'ब्रह्म' को बता रहे हैं अतः पुनरुक्ति नहीं है। यहाँ पर विधि-मुखेन और निषेधमुखेन जिन विशेषों का निर्देश किया गया है, उन सबका 'त्वम्' पदार्थ 'साक्षी' में, और 'तत्' पदार्थ-'ब्रह्म' में अनुसन्धान करके इन दोनों की तुल्यलक्षणता का निश्चय करके 'तत्त्वमसि' वाक्य से 'अहं ब्रह्म' इस प्रकार निश्चय कर ले ॥ ३७ ॥

सर्वप्रत्ययसाक्षी ज्ञः कथं ज्ञेयो मयेत्युत ।
विमृश्यैवं विजानीयाज्ज्ञानकर्म न वेत्ति वा ॥३८॥

सर्वेति—**सर्वविध प्रतीतियों का साक्षी जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कैसा है ? वह मेरा ज्ञेय है या नहीं ? वह किसी प्रकार के ज्ञान का कर्म है या नहीं ? यह सब विचार करते हुए आत्मतत्त्व को जानना चाहिये ॥ ३८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अपनी आत्मा के रूप में ही ब्रह्म को जाने, इस प्रकार जो बताया, उसी के सम्बन्ध में मुमुक्षु को पुनः कुछ और भी शिक्षा देते हैं—समस्त प्रतीतियों का साक्षी जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कैसा है ? उसका विचार करना चाहिए। 'कथं' शब्द से सूचित 'विमर्श' को बता रहे हैं—वह आत्मा क्या घट आदि की तरह ज्ञेय है, अथवा नहीं ? यदि ज्ञेय हो तो क्या वह किसी प्रकार के ज्ञान का कर्म है, या नहीं ? इस प्रकार विचार कर 'प्रत्यग्भूत अविषयत्वेन ज्ञात होनेवाला ब्रह्म है, वह किसी का विषय नहीं है'—इस रीति से आत्मतत्त्व को भी जानना चाहिए ॥ ३८ ॥

अदृष्टं द्रष्टृविज्ञातं दभ्रमित्यादिशासनात् ।
नैव ज्ञेयं मयाऽन्यैर्वा परं ब्रह्म कथंचन ॥३९॥

अदृष्टमिति--**आत्मा दृश्य (दिखाई देने वाला) नहीं है, वह तो सबको देखने वाला (द्रष्टा) है, 'जो ज्ञान का विषय (ज्ञेय) होता है, वह तो अल्प होता है'—ऐसा श्रुतिवचन है। अतः परब्रह्म मेरे अथवा किसी अन्य के द्वारा किसी प्रकार से भी ज्ञेय नहीं है ॥ ३९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उक्त रीति से विमर्श करने पर ब्रह्म और आत्मा के सन्बन्ध में जो ज्ञेयत्व पक्ष है, वह संभव नहीं हो सकता। 'आत्मा दृश्य न होकर सबको देखनेवाला (द्रष्टा) है,' 'जो ज्ञान का विषय होता है, वह अल्प होता है'[1] इत्यादि श्रुतिवाक्य होने के कारण परब्रह्म मेरे अथवा किसी अन्य के द्वारा किञ्चित् भी ज्ञेय नहीं है[2]। यदि उसे ज्ञेय कहेंगे तो उसमें अल्पत्व होगा और अल्पत्व होने पर अब्रह्मत्वापत्ति होगी ॥ ३९ ॥

स्वरूपाव्यवधानाभ्यां ज्ञानालोकस्वभावतः ।
अन्यज्ञानानपेक्षत्वाज्ज्ञातं *चैव सदा मया ॥४०॥

---

१. "यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणोरूपम्"—(के० उ० ९)
२. "अदृष्टमविज्ञातम्"—(बृ० उ० ३।८।११)
* ब्रह्म०—पाठान्तरम् ।

स्वरूपेति—आत्मा तो मेरा स्वरूप है और मुझसे सर्वथा व्यवधानरहित है, तथा वह चैतन्यप्रकाशस्वरूप है, इसलिये उसे किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। अतः वह सर्वदा मुझे ज्ञात ही है। क्योंकि वह स्वयंप्रकाश और निरावरण है। अतः वह नित्य ज्ञानस्वरूप है, किसी भी अवस्था में वह अज्ञात नहीं है ॥ ४० ॥

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार ज्ञेयत्व का उसमें संभव नहीं है, तो 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' —आत्मा में ही आत्मा को देखे इत्यादि उपदेश कैसे किया है? यह शंका होती है, उसके समाधान में कहते हैं कि अविषयत्वेन आत्मतत्त्वविज्ञान का आविर्भाव मात्र होता है। आत्मतत्त्व को विषय बनाकर उसका ज्ञान नहीं होता। क्योंकि 'यस्यामतं-तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' यह श्रुति है। ज्ञाता से भिन्न जो पदार्थ, वे अन्य देश आदि से व्यवहित और जड़ होते हैं, उनके लिये ज्ञान आदि का व्यवहार होता है। नित्य चैतन्यस्वरूप में ज्ञान होने का व्यवहार संभव नहीं, क्योंकि उसका तो स्वतः स्फुरण होता ही रहता है ॥ ४० ॥

नान्येन ज्योतिषा कार्यं रवेरात्मप्रकाशने ।
स्वबोधान्नान्यबोधेच्छा बोधस्यात्मप्रकाशने ॥४१॥

नान्येनेति—जिस प्रकार सूर्य को अपना स्वरूप प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य ज्योतिर्मय पदार्थ (प्रकाश) की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार बोध (ज्ञान) स्वरूप आत्मा को अपना बोध कराने के लिये आत्म-चैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य चैतन्य की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ४१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जैसे सूर्य को अपना स्वरूप प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्योतिर्मय पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा को अपना ज्ञान (बोध) कराने के लिये आत्मचैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य चैतन्य की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ४१ ॥

न तस्यैवान्यतोऽपेक्षा स्वरूपं यस्य यद्भवेत् ।
प्रकाशान्तरदृश्यो न प्रकाशो ह्यस्ति कश्चन ॥४२॥

न तस्येति—जिस पदार्थ का जो स्वरूप होता है, उसे अपने स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। ऐसा कोई भी प्रकाश नहीं है, जो किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित होता हो ॥ ४२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जो जिसका स्वरूप होता है, उसकी सिद्धि के लिए उसे किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा कोई भी प्रकाश नहीं है, जो किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित होता हो। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'आत्मा न अन्यतो ज्ञानमपेक्षते तत्स्वरूपत्वात्, यद् यस्य स्वरूपं तत् न अन्यतस्तदपेक्षते, यथा प्रकाशरूपः सविता, न प्रकाशमन्यतोऽपेक्षते, तथा चायं, तस्मात्तथा। किंच—'नात्मा प्रकाशान्तरदृश्यः, प्रकाशरूपत्वात्, आदित्यवत्' ॥ ४२ ॥

व्यक्तिः स्यादप्रकाशस्य प्रकाशात्मसमागमात् ।
प्रकाशस्त्वर्ककार्यः स्यादिति मिथ्यावचो ह्यतः ॥४३॥

व्यक्तिरिति—यदि यह कहें कि आत्मा, परप्रकाश्य भले हो न हो किन्तु उसे स्वप्रकाश्य तो कहना ही होगा, अर्थात् अपने प्रकाश का विषय तो वह होगा ही।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि जो वस्तु, प्रकाशशून्य (प्रकाशरहित) होती है, उसी की अभिव्यक्ति, प्रकाशरूप वस्तु की सन्निधि होने पर हुआ करती है। इसलिये प्रकाश को सूर्य का कार्य समझना अर्थात् 'प्रकाश सूर्य का कार्य है'—यह वाक्य मिथ्या है ॥ ४३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहें कि परप्रकाश्य न होने पर भी (प्रकाशान्तर से दृश्य न रहने पर भी) आत्मा स्वप्रकाश्य (अपने प्रकाश का विषय-स्वरूपप्रकाशदृश्य) ही क्यों न होगा ? जैसे सूर्य, घट-पट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ अपने को भी प्रकाशित करता ही है, उसी प्रकार आत्मा भी दृश्य को प्रकाशित (अवभासित) करता हुआ स्वयं अपने को भी प्रकाशित करेगा। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो वस्तु प्रकाशशून्य होती है, उसी की, प्रकाशस्वरूप वस्तु की सन्निधि में रहने पर अभिव्यक्ति हुआ करती है। अतः प्रकाश को सूर्य का कार्य कहना मिथ्या है ॥ ४३ ॥

यतोऽभूत्वा भवेद्यच्च तस्य तत्कार्यमिष्यते ।
स्वरूपत्वादभूत्वा न प्रकाशो जायते रवेः ॥४४॥

यत इति—**जो वस्तु पहले नहीं है, किन्तु उत्तर क्षण में जिससे होती है, उसे उसका कार्य कहा जाता है। सूर्य का प्रकाश तो उसका अपना स्वरूप ही है। वह पहले नहीं था, बाद में उत्पन्न हुआ हो—यह बात नहीं है ॥ ४४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जो वस्तु पहले न होकर बाद में जिससे होती है, वह उसका कार्य कही जाती है। किन्तु सूर्य का प्रकाश तो उसका अपना स्वरूप है। 'वह पहले नहीं था, बाद में उत्पन्न हुआ' यह नहीं कह सकते ॥ ४४ ॥

सत्तामात्रे प्रकाशस्य कर्ताऽऽदित्यादिरिष्यते ।
घटादिव्यक्तितो यद्वत्तद्वद्बोधात्मनोष्यताम् ॥४५॥

सत्तेति—**जिस प्रकार प्रकाश के रहने से घट-पटादि पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है। अतः सूर्य आदि को प्रकाश का कर्त्ता माना जाता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान होने के कारण आत्मा को बोध का कर्ता कह दिया करते हैं। किन्तु वास्तव में उसमें (आत्मा में) किसी प्रकार का कोई कर्तृत्व नहीं है ॥ ४५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहें कि प्रकाशस्वरूप आदित्य (सूर्य) को प्रकाशक (प्रकाश करनेवाला), और बोध (ज्ञान) स्वरूप आत्मा को बोद्धा (ज्ञाता) कैसे कहा जाता है ?

जिस प्रकार प्रकाश की सत्तामात्र से घट-पटादि वस्तुओं की अभिव्यक्ति होने के कारण सूर्य को प्रकाशक कहा जाता है, उसी प्रकार बोधस्वरूप आत्मा में स्वाध्यस्त वस्तु की सन्निधिमात्र रहने पर वह सबका ज्ञाता (बोधक) कहा जाता है, वास्तव में वह कर्ता नहीं है ॥ ४५ ॥

बिलात्सर्पस्य निर्याणे सूर्यो यद्वत्प्रकाशकः ।
प्रयत्नेन विना तद्वज्ज्ञाताऽऽत्मा बोधरूपतः ॥४६॥

बिलादिति—**जिस प्रकार सर्प, बिल से बाहर जब निकलता है तब बिना किसी प्रयत्न के ही सूर्य, उसका प्रकाशक हो जाता है। उसी प्रकार बोधस्वरूप होने के कारण आत्मा भी किसी विकार को प्राप्त हुए बिना ही सभी का ज्ञाता होता है ॥ ४६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अपने में (स्वगत) विकार हुए बिना ही आत्मा, अर्थप्रकाशक होता है, इसे सूर्य के दृष्टान्त से बताते हैं—जैसे सर्प अपने बिले से बाहर निकलता है, तब उसे प्रकाशित करने के लिए सूर्य को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, बिना प्रयत्न के ही वह सर्प को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा बोधस्वरूप होने के कारण बिना प्रयत्न के ही (विकार को प्राप्त हुए बिना ही) ज्ञाता कहा जाता है ॥ ४६ ॥

दग्धैवमुष्णः सत्तायां तद्वद्*बोधात्मनीष्यताम् ।

सत्यैव यदुपाधौ तु ज्ञाते सर्प इवोत्थिते ॥४७॥

दग्धैवमिति—**जिस प्रकार उष्ण स्वभाववाला अग्नि, किसी दाह्य वस्तु के समीप रहने पर अपनी सत्ता-मात्र से उसका दाहक हो जाता है। उसी प्रकार बोध्य वस्तु के समीप रहने मात्र से आत्मा उसका बोद्धा कहलाता है। जैसे बिल के बाहर निकले हुए उपाधिभूत सर्प के ज्ञात होने पर ही सूर्य को उसका प्रकाशक कहा करते हैं। वैसे ही आत्मा का बोद्धृत्व भी औपाधिक ही है ॥ ४७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अब अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अर्थात् उपाधि के रहने पर ही ज्ञातृत्व व्यवहार, और उपाधि के न रहने पर उसका (ज्ञातृत्व व्यवहार का) न होना—इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ("तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्, तदभावे तदभावः' यही अन्वय-व्यतिरेक का स्वरूप है) इस प्रकार ज्ञातृत्व औपाधिक है, यह बताने के लिये एक अन्य उदाहरण दे रहे हैं—जिस प्रकार उष्ण स्वभाववाला अग्नि दाह्य वस्तु के सन्निध रहने पर अपनी सत्तामात्र से उसका (दाह्य वस्तु का) दाहक होता है। अतः अग्नि में दाहकत्व औपाधिक कहा जाता है, उसी प्रकार बोध्य वस्तु की सन्निधि रहने पर अपनी सत्तामात्र से आत्मा में बोद्धृत्व (ज्ञातृत्व) समझना चाहिए। जिस तरह बिल से निकले हुए उपाधिभूत सर्प के ज्ञात होनेपर ही सूर्य उसका प्रकाशक कहा जाता हैं, सर्प के ज्ञात न रहने पर नहीं, उसी प्रकार उपाधि के (ज्ञेय पदार्थ के) ज्ञात होनेपर ही आत्मा को ज्ञाता कहा जाता है, अन्यथा नहीं। अतः आत्मा में ज्ञातृत्व (बोद्धृत्व) व्यवहार औपचारिक ही है ॥ ४७ ॥

ज्ञाताऽयत्नोऽपि तद्वज्ज्ञः कर्ता भ्रामकवद्भवेत् ।

स्वरूपेण स्वयं नात्मा ज्ञेयोऽज्ञेयोऽथवा ततः ॥४८॥

ज्ञातेति—**जिस प्रकार प्रयत्न के बिना ही ज्ञानस्वरूप आत्मा सभी का ज्ञाता कहलाता है, उसी तरह भ्रामक (सूर्य और चुम्बक) के समान वह आत्मा कर्ता भी कहा जाता है। अतः स्वयं स्वरूप से तो आत्मा न ज्ञेय है और न अज्ञेय है ॥ ४८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक से आत्मा के औपाधिक ज्ञातृत्व को सूर्य के दृष्टान्त से बताकर, उसी दृष्टान्त से उसका (आत्मा का) कर्तृत्व भी औपाधिक है—उसे बता रहे हैं। जिस प्रकार यह 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा, बिना प्रयत्न के ही सबका ज्ञाता है, उसी प्रकार स्वगत किसी विशेष के न रहने पर भी (स्वगतविशेषशून्य होने पर भी) भ्रामक के समान केवल अपनी सत्तामात्र से सन्निहित कारकों को प्रेरित करता हुआ क्रिया का कर्ता कहा जाता है। 'भ्रामक' शब्द से सूर्य या चुम्बक (अयस्कान्त) दोनों समझे जाते हैं। क्योंकि सोये हुए पुरुषों को अपनी सत्तामात्र से जगाकर कार्य में प्रवृत्त करने के कारण सूर्य को 'भ्रामक' कहते हैं। उसी तरह अपनी सत्तामात्र से सन्निहित लोहखण्ड को अपनी ओर आर्कषित कर लेने के कारण 'चुम्बक' को भी 'भ्रामक' कहते है। इस प्रकार 'व्यक्तिः स्यादप्रकाशस्य'—(१५/४३) से आरंभ कर प्रसंगप्राप्त आत्मा के ज्ञानकर्मत्व-अकर्मत्व के द्वारा समर्थित उसके (आत्मा के) अज्ञेयत्व पक्ष और ज्ञेयत्व पक्ष का अब उपसंहार कर रहे हैं। पूर्व श्लोक में बता चुके हैं कि जैसे भ्रामक स्वगतचलनशून्य होकर भी सन्निहित लोह का प्रेरक होता है, उसी तरह आत्मा निश्चल रहता हुआ भी चिदाभासोपेत मोहादि परिणाम की दृष्टि से उसमें कर्तृत्व व्यवहार किया जाता है। किन्तु वास्तव में वह तो निर्विशेष है, स्वभाव से ही वह अलुप्तप्रकाशस्वरूप वाला है। उस कारण वह स्वयं स्वरूपतः ही (असाधारण स्वभाव वाला होने से ही) ज्ञानक्रिया से व्याप्त अर्थात् ज्ञेय नहीं होता, तथा अज्ञेय भी नहीं रहता अर्थात् व्यवहित वस्तु के समान ज्ञानप्रकाशरहित भी नहीं है। 'अथवा' शब्द से बता रहे हैं कि वस्तुतः वह आत्मा निर्विकार होने से न किसी का ज्ञाता है, और चैतन्यस्वरूप होने से न किसी का अज्ञाता है। तथा अध्यस्त कारकों का अधिष्ठान होने से उसे कर्ता भी कह देते हैं, और निर्व्यापार रहने से उसे कर्ता नहीं भी मानते। एवंच यह आत्मा, ज्ञाता भी नहीं, कर्ता भी नहीं, न वह ज्ञेय है, और न अज्ञेय है, न कार्य है, न प्राप्य है, न हेय है, इस प्रकार उसकी सर्वविशेषशून्यता सिद्ध हो जाती है ॥ ४८ ॥

---

* बोद्धात्म०—पाठान्तरम्

विदिताविदिताभ्यां तदन्यदेवेति शासनात् ।
बन्धमोक्षादयो भावास्तद्वदात्मनि कल्पिताः ॥४९॥

विदितेति—**"आत्मा विदित और अविदित से अन्य ही है" इस प्रकार श्रुति का शासन रहने से ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के समान ही बन्ध-मोक्षादि भाव भी आत्मा में कल्पित ही समझने चाहिये ॥ ४९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'[1]—आत्मा, विदित और अविदित से अन्य ही है—अर्थात् कार्य-कारण से अतिरिक्त ही यह आत्मतत्त्व 'ब्रह्म है'—इस प्रकार श्रुति का उपदेश होने से कार्य-कारण-धर्मविलक्षण-स्वभाववाला ही यह आत्मा है। एवंच जैसे आत्मा में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, कारणत्व आदि सब कुछ अविद्यावशात् ही कल्पित है, तथा बन्ध-मोक्ष, छिन्न-भिन्न, सुखी-दुःखी इत्यादि भाव आत्मा में कल्पित ही हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ ४९ ॥

नाहोरात्रे यथा सूर्ये प्रभारूपाविशेषतः ।
बोधरूपाविशेषान्न बोधाबोधौ तथाऽऽत्मनि ॥५०॥

नाहोरात्र इति—**जिस प्रकार समान भाव से प्रकाशस्वरूप होने के कारण सूर्य में दिन और रात्रि नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वरूप में कोई विशेषता न होने के कारण उसमें (-आत्मा में) ज्ञान और अज्ञान भी नहीं हैं ॥ ५० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में बन्धादिकों को कल्पित बताने में दृष्टान्त के साथ हेतु भी बता रहे हैं—जिस प्रकार समान भाव से प्रकाशस्वरूप होने के कारण सूर्य में दिन और रात्रि नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वरूप में कोई विशेषता न होने के कारण उसमें ज्ञान और अज्ञान भी नहीं है। अबोधनिबन्धन बन्ध है, और बोधनिबन्धन मोक्ष है। एवंच आत्मा के स्वरूप में बोध और अबोध उन दोनों के अभाव में बन्ध और मोक्ष इन दोनों का भी अभाव है ॥ ५० ॥

यथोक्तं ब्रह्म यो वेद हानोपादानवर्जितम् ।
यथोक्तेन विधानेन स सत्यं नैव जायते ॥५१॥

यथोक्तमिति—**जो मुमुक्षु उपर्युक्त प्रकार से ग्रहण-त्याग से रहित ब्रह्म को जान लेता है, उसे पुनः जन्म नहीं प्राप्त होता—यह सत्य है ॥ ५१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त उपायों के द्वारा अभिहित स्वरूप के ब्रह्म को जो जान लेता है, उसकी फलप्राप्ति को बता रहे हैं—जो व्यक्ति ऊपर निर्दिष्ट की हुई रीति से ग्रहण-त्यागशून्य ब्रह्म को जानता है, वह पुनः जन्म नहीं लेता, इसमें (इसकी सत्यता में) किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं है। 'न स भूयोऽभिजायते'[2]—यह उक्त कथन में प्रमाण है। 'हानोपादानवर्जितम्' कहने से हानोपादानकर्तृत्व और कर्मत्व की व्यावृत्ति हो जाती है। इस कारण समस्त विशेषों का प्रतिषेध हो जाता है, क्योंकि सभी विशेष, परिग्रह-परित्यागरूप हुआ करते हैं ॥ ५१ ॥

जन्ममृत्युप्रवाहेषु पतितो नैव शक्नुयात् ।
इत उद्धर्तुमात्मानं ज्ञानादन्येन केनचित् ॥५२॥

जन्मेति—**जन्म मृत्यु के प्रवाह में पड़ा हुआ मनुष्य, ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य साधन (उपाय) के द्वारा इस प्रवाह से अपने को उबार नहीं सकता ॥ ५२ ॥**

---

१. (के. उ. १।३)
२. (भ. गी. १३।२३)

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि यथोक्त ब्रह्मज्ञान के बिना भी यथोक्त फल प्राप्त हो सकता है, अतः ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की क्या आवश्यकता ? इस शंका के समाधान में कह रहे हैं कि जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पतित मनुष्य ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य साधन के द्वारा इस जन्म-मरण के प्रवाह से अपना उद्धार नहीं कर सकता। श्रुति भी कहती है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'[1]—इससे उद्धार चाहनेवाला व्यक्ति, ब्रह्मज्ञान को ही प्राप्त करे। और कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ ५२ ॥

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्ट" इति श्रुतेः ॥५३॥

भिद्यत इति—**"मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है"—इस कथन में यह श्रुतिवचन प्रमाण है—'आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर प्रवाहपतित इस पुरुष के हृदय की कामादिरूप ग्रन्थि टूट जाती है, उसके समस्त संशय (सन्देह) निवृत्त हो जाते हैं, तथा सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं' ॥ ५३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस विषय में अथर्वोपनिषद् वाक्य को प्रमाणरूप से उद्धृत कर रहे हैं। "उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार (ज्ञान) हो जानेपर इस मुमुक्षु व्यक्ति के हृदय की काम-क्रोधादि ग्रन्थि टूट जाती है, उसके समस्त सन्देहों की निवृत्ति हो जाती है, तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं,' ॥ ५३ ॥

ममाहमित्येतदपोह्य सर्वतो विमुक्तदेहं पदमम्बरोपमम् ।
सुदृष्टशास्त्रानुमितिभ्य ईरितं विमुच्यतेऽस्मिन्यदि निश्चितो नरः ॥५४॥

ममेति—**सम्यक् अनुशीलन किये हुए शास्त्र और अनुमान के द्वारा, स्थूल-सूक्ष्म उभयविध देहों से रहित, आकाश के सदृश ब्रह्म का निरूपण किया गया। यदि मुमुक्षु पुरुष सर्वथा ममता और अहंता को त्याग कर उसमें अपनी बुद्धि को स्थिरता से निश्चित कर ले तो अवश्य ही वह मुक्त होगा, यह नितान्त सत्य है ॥ ५४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस 'नान्यदन्यत्प्रकरण' का संक्षेप में उपसंहार कर रहे हैं—यथार्थ रूप में विचार किये हुए शास्त्र और अनुमान के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म द्विविध शरीरों से रहित यह प्रत्यक्तत्त्व आकाश के समान वर्णित ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय सर्वथैव अहंकार-ममता आदि विकारों का त्याग कर मुमुक्षु यदि कर ले, तो वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है। क्योंकि यह ब्रह्मात्मैक्यभाव श्रुति-स्मृति से निर्धारित है, कल्पित नहीं है। अतः उसमें असंभावना नहीं करनी चाहिए ॥ ५४ ॥

॥ इति पञ्चदशं नान्यदन्यत्प्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. (श्वे. उ. ३।८ तथा ६।१५)

पार्थिवप्रकरणम्

पार्थिवः कठिनो धातुर्द्रवो देहे स्मृतोऽम्मयः ।
पक्तिचेष्टावकाशाः स्युर्वह्निवाय्वम्बरोद्भवाः ॥१॥

पार्थिव इति—**देह [शरीर] में मांस आदि कठिन धातु पृथिवी के विकार हैं, तरल (द्रव) रुधिरादि धातु जल के विकार हैं, और पाक, चेष्टा तथा अवकाश क्रमशः अग्नि, वायु, और आकाश के कार्य हैं। इसलिये पञ्चभूतों का परिणामरूप यह शरीर 'आत्मा' नहीं है ॥ १ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व प्रकरण में एकदेशिमत (भेदाभेदवाद) का खण्डन करते हुए यह सिद्ध कर चुके हैं कि ब्रह्मैकत्व (ब्रह्मात्मैक्य) ज्ञान ही स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष का साधन है, भेदाऽभेदज्ञान नहीं। अब सम्पूर्ण तार्किकों के मत का खण्डन करके मुमुक्षु को स्वाराज्य पर अभिषिक्त करने के लिये यह 'पार्थिवप्रकरण' आरम्भ किया जा रहा है। इसमें सर्वप्रथम स्थूल शरीर को आत्मा मानने वालों के मत का निराकरण कर रहे हैं। स्थूल शरीर में मांसादिरूप जो कठिन धातु है, वह पार्थिव (पृथिवी का अंश, परिणाम, विकार) है, और रुधिरादि जो तरल धातु है, वह अम्मय (जल का परिणाम, विकार) है, और पाक (पक्ति), स्पन्दन (चेष्टा) और अवकाश (अन्न-पान-मन के सञ्चार मार्ग अर्थात् शरीरगत सुषि = छिद्र) क्रमशः अग्नि, वायु और आकाश के कार्य हैं अर्थात् शरीरानुगत अग्नि आदि अंशों के कार्यरूप हैं। इस कारण पञ्चभूतों का परिणामभूत देह (शरीर) आत्मा नहीं है। वल्मीक जैसे बाह्यभूत के समान इस भौतिक शरीर को अनात्मा ही समझना चाहिये ॥ १ ॥

घ्राणादीनि तदर्थाश्च पृथिव्यादिगुणाः क्रमात् ।
रूपालोकवदिष्टं हि सजातीयार्थमिन्द्रियम् ॥२॥

घ्राणेति—**घ्राणादि इन्द्रियाँ और उनके विषय गन्धादि क्रमशः पृथिवी आदि भूतों के गुण हैं, क्योंकि रूप और प्रकाश के समान इन्द्रिय और उनके विषय, दोनों को सजातीय माना गया है ॥ २ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इन्द्रियों को आत्मा माननेवालों के मत का निराकरण कर रहे हैं—

घ्राणादि इन्द्रियाँ और उनके गन्धादि विषय, क्रमशः पृथिवी आदि भूतों के गुण हैं, अर्थात् कार्य हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश के क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये प्रसिद्ध धर्म हैं। ये सब घ्राणादि एक-एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं—यह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है। रूप और प्रकाश के समान इन्द्रिय और उनके विषय दोनों सजातीय माने गये हैं। जो इन्द्रिय, जिसके धर्म का ग्रहण करती है, अर्थात् यज्जातीय के अर्थ को प्रकाशित करती है, वह इन्द्रिय उसकी सजातीय हुआ करती है—जैसे तैजस रूप का प्रकाशक दीपादि, तैजस देखा गया हैं। उसी तरह इन्द्रियाँ भी भौतिक पदार्थों की प्रकाशक होने से भौतिक ही हैं। नेत्र तेज का कार्य है, उसका विषय रूप भी तेज का ही कार्य है। इसी प्रकार घ्राण और गन्ध, रसना और रस, त्वक् और स्पर्श, श्रोत्र और शब्द भी क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु एवं आकाश के ही कार्य हैं। इससे गृहीता और ग्राह्य का साजात्य सिद्ध होता है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का चरम गृहीता आत्मा है। अतः उसका ग्राह्य सम्पूर्ण प्रपञ्च भी वस्तुतः आत्ममय ही होना चाहिये। इसी कारण प्रमातृ चैतन्य और विषयचैतन्य के संयोग से ही प्रत्यक्षादि प्रमा की उत्पत्ति कही गई है। अतः प्रमाता, प्रमेय और प्रमा सभी चिन्मय हैं। इसीलिये श्रुति कह रही है कि 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'—सब कुछ ब्रह्म ही है—यही सिद्धान्त है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होंगे—'घ्राणं पार्थिवं, रूपादिषु गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात् हिङ्गुवत् ।', 'रसनम् आप्यं रसादिषु रसस्यैव व्यञ्जकत्वात्

आस्योदकवत्।' 'चक्षुः तैजसं रूपादिषु रूपस्यैव व्यञ्जकत्वात् दीपवत्।' 'त्वग् वायवीया स्पर्शादिषु स्पर्शस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात् व्यजनवायुवत्।' 'श्रोत्रम् आकाशीयम् शब्दादिषु शब्दस्यैव व्यञ्जकत्वात् वेणुविवरवत्।' इन अनुमानों से इन्द्रियों का भौतिकत्व सिद्ध है, अतः घट-पटादि के समान इन्द्रियों का अनात्मत्व स्पष्ट है ॥ २ ॥

बुद्ध्यर्थान्याहुरेतानि वाक्पाण्यादीनि कर्मणे ।
तद्विकल्पार्थमन्तःस्थं मन एकादशं भवेत् ॥३॥

बुद्ध्यर्थानीति—**घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों को ज्ञान का साधन कहते हैं, और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—इन पाँच इन्द्रियों को कर्म का साधन कहते हैं। तथा इनके विकल्प के लिये आभ्यन्तर मन को ग्यारहवाँ इन्द्रिय कहा गया है ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इन्द्रियों का करणत्व (साधनत्व) अनुमान से भी सिद्ध है, अतः उन्हें 'आत्मा' नहीं कहा जा सकता। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'इन्द्रियाणि, न आत्मानः, करणत्वात्, कुठारवत्' इति। अब उनके कार्यों को देखने से उनकी एकादश संख्या का निर्धारण किया जा रहा है। ये घ्राणादि इन्द्रियाँ ज्ञान (बुद्धि) के लिये होने से ज्ञान की साधना (करण) कही गयी हैं। तथा वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (मलेन्द्रिय), उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पाँचों इन्द्रियाँ क्रमशः वचन, आदान (ग्रहण), गमन, विसर्ग (त्याग), और आनन्दरूप कर्मों के लिये होने से वे कर्म की साधन (करण) कही गयी हैं। उन दसों इन्द्रियों का युगपत् (एकसाथ) विषयसन्निधान होने पर क्रम से तत्तद् विषयों के ज्ञान का नियमन करने के लिये (विकल्पार्थ) जो एक अन्य इन्द्रिय माना जाता है, अर्थात् पूर्वोक्त दशसंख्याक इन्द्रियों की अपेक्षा जो एक अतिरिक्त एकादशवाँ (ग्यारहवाँ) अन्तःस्थ इन्द्रिय माना जाता है, उसे ही 'मन' कहते हैं। उसे अवश्य ही मानना होगा, क्योंकि आत्मा तो व्यापक है, उसका सभी इन्द्रियों के साथ निरन्तर समानरूप से सम्बन्ध है। यदि आत्मा और इन्द्रियों के सम्बन्ध (संयोग) से ही ज्ञान की उत्पत्ति कही जाय, तो प्रतिक्षण एक साथ ही (युगपत् ही) समस्त इन्द्रियजनित ज्ञान उत्पन्न होता रहता, परन्तु ऐसा होता नहीं। ऐसा न हो सकने में कारण 'मन' ही है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होता है। मन का परिमाण 'अणु' माना गया है। उस कारण उसका (मन का) एक साथ (युगपत्) समस्त इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं होता, अतएव उसे इन्द्रियजन्य ज्ञान के विकल्प का कारण (हेतु, निमित्त) कहा गया है। सर्वविध ज्ञानों के प्रति साधारण कारण के रूप में 'मन' को अवश्य ही मानना होगा। इस रीति से वह एकादशवाँ 'मन' भी साधन होने से इन्द्रियों के समान उसे भी अनात्मा ही समझना चाहिये ॥ ३ ॥

निश्चयार्था भवेद्बुद्धिस्तां सर्वार्थानुभाविनीम् ।
ज्ञाताऽऽत्मोक्तः स्वरूपेण ज्योतिषा व्यञ्जयन्सदा ॥४॥

निश्चयार्थेति—**अन्तःकरण की निश्चयार्था वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। तथा समस्त पदार्थों के अनुभव को कराने वाली उस बुद्धि को अपने स्वरूपभूत प्रकाश से सर्वदा अभिव्यक्त करनेवाले आत्मा को उस बुद्धि का ज्ञाता कहते हैं ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अब बौद्धों के मत का खण्डन करने के लिये बुद्धि का भी अनात्मत्व सिद्ध कर रहे हैं—'बुद्धिरपि न आत्मा, करणविशेषत्वात्, मनोवत्'—इस अनुमान से उसका अनात्मत्व स्पष्ट है। अब उसके स्वभाव को बताते हैं—जिस अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन (फल) निश्चय (अर्थपरिच्छेद) करना है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं। अर्थात् अन्तःकरण की निश्चयार्था वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। वह निश्चय करने का साधन (करण) है। एवंच निश्चय का करण (साधन) होने से उसे 'आत्मा' नहीं कह सकते। किञ्च अन्य (आत्मा) के द्वारा दृश्य (ज्ञेय) रहने से भी उसे आत्मा नहीं कह सकते। समस्त पदार्थों का अनुभव कराने वाली उस बुद्धि को अपने स्वरूपभूत प्रकाश से सर्वदा अभिव्यक्त करने वाला 'आत्मा' उसका ज्ञाता कहा जाता है। अतः आत्मा की ज्ञेय होने से बुद्धि भी 'आत्मा' नहीं है। यदि कोई कहे कि बुद्धि जैसी

आत्मा के द्वारा ज्ञेय है, वैसे आत्मा भी किसी के द्वारा ज्ञेय होगा। उसका समाधान यह है कि प्रकाश, ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप ही है। अतः वह किसी के द्वारा ज्ञेय नहीं है, वह तो स्वयंप्रकाश है। रूप और आलोक (प्रकाश) के समान भास्य और भासक का भेद रहने से भास्यरूप बुद्धि का भासक, उससे अन्य ही है, और वही आत्मा है ॥ ४ ॥

व्यञ्जकस्तु यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतां गतः।
व्यतिकीर्णोऽप्यसंकीर्णस्तद्वज्ज्ञः प्रत्ययैः सदा ॥५॥

व्यञ्जकस्त्विति—**जैसे वस्तु (पदार्थ=विषय) के अभिव्यञ्जक (दीपक से होने वाला) प्रकाश, अपने व्यङ्ग्य विषय (वस्तु) के समान आकार वाला हो जाता है, किन्तु उसके साथ मिला हुआ प्रतीत होने पर भी वस्तुतः उससे मिलता नहीं है। उसी प्रकार चेतन आत्मा भी अपने प्रकाश्य प्रत्ययों से सर्वदा अलिप्त रहता है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को बुद्धि का प्रकाशक (भासक) मानने पर उस बुद्धि के संसर्ग से उसमें (आत्मा में) अशुद्धि आयेगी, किन्तु यह शंका ठीक नहीं है। जिस प्रकार विषय को प्रकाशित (अभिव्यक्त) करने वाला दीप का प्रकाश (दीपालोक) अपने घटादि व्यङ्ग्य विषय के समान आकार वाला हो जाता है, इस रीति से उसके साथ मिला हुआ (व्यतिकीर्ण, व्यामिश्र हुआ) प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह उससे मिला हुआ नहीं (असंकीर्ण, विविक्त-स्वभाव ही) रहता है, उसी तरह 'ज्ञ' (आत्मा, चेतन) भी अपने प्रकाश्य बुद्धिवृत्तियों (प्रत्ययों) से सर्वदा अलिप्त ही रहता है। अतः उसमें बुद्धिगत अशुद्धि के आने की कोई संभावना नहीं है। वह आत्मा नित्य शुद्ध ही है ॥ ५ ॥

स्थितो दीपो यथाऽयत्नः प्राप्तं सर्वं प्रकाशयेत्।
शब्दाद्याकारबुद्धीर्ज्ञः प्राप्तास्तद्वत्प्रपश्यति ॥६॥

स्थित इति—**जिस प्रकार एक स्थान पर रखा हुआ दीपक अपने समीप स्थित सभी पदार्थों को बिना किसी प्रयत्न के ही प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार शब्द-स्पर्शादि के आकार में परिणत होकर प्राप्त हुई बुद्धिवृत्तियों को यह आत्मा साक्षी बना हुआ देखता रहता है ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यह आत्मा, बुद्धि आदि सभी पदार्थों से अत्यन्त विलक्षण और निर्व्यापार है, तो वह बुद्धि आदि का अवभासक कैसे होता है ? इस शंका का समाधान यह होगा कि जिस प्रकार एक स्थान पर स्थित हुआ दीपक, अपने समीप आये हुए सभी पदार्थों को बिना किसी प्रयत्न के प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार शब्दादि के आकार में परिणत होकर अपने समीप आयी हुई बुद्धिवृत्तियों का साक्षी मात्र रहने से उस आत्मा को उनका अवभासक कहा जाता है ॥ ६ ॥

शरीरेन्द्रियसंघात आत्मत्वेन गतां धियम्।
नित्यात्मज्योतिषा दीप्तां विशिषन्ति सुखादयः ॥७॥

शरीरेन्द्रियेति—**सुख-दुःखादि भी शरीर तथा इन्द्रियसंघात में आत्मत्व को प्राप्त हुई और नित्य आत्मज्योति से प्रकाशित होने वाली बुद्धि को ही विशेषित करते हैं, 'आत्मा' को नहीं। देहादि में आत्मत्व का अभिमान करने वाली बुद्धि है, उसी के ये सुख-दुःखादि धर्म हैं। अतः 'अहं सुखी' इत्यादि अनुभव के समय अहं-शब्दवाच्य बुद्धि ही सुख-दुःखादि से विशिष्ट होती है। आत्मा तो केवल उसका साक्षी मात्र है ॥ ७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

तथापि जिज्ञासा अभी शान्त नहीं हो पा रही है, क्योंकि 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इस प्रकार से सुखित्वादि का स्फुरण होते रहने से उस आत्मा में शुद्धि कैसे रह सकती है ? एवञ्च आत्मा की शुद्धता अभी सिद्ध नहीं हो पा रही

है। यह जिज्ञासा इस प्रकार समझने से शान्त हो जायेगी। सुख-दुःखादि भी आत्मा के धर्म नहीं हैं, वे भी देहादि में आत्मत्व का अभिमान करनेवाली बुद्धि के ही धर्म हैं। अतः जिस समय यह अनुभव होता है कि 'मैं सुखी या दुःखी हूँ', उस समय अहंपदवाच्य बुद्धि ही दुःखविशिष्ट होती है, आत्मा तो उसका केवल साक्षीमात्र है। वे सुखादि, आत्मा को विशेषित नहीं करते हैं। तथाच भास्य बुद्धि और भासक आत्मा इन दोनों का विवेक न हो पाने से 'आत्मा सुखादि-मान्' ऐसी भ्रान्ति होती है ॥ ७ ॥

शिरोदुःखादिनाऽऽत्मानं दुःख्यस्मीति हि पश्यति ।
द्रष्टाऽन्यो दुःखिनो दृश्याद्द्रष्टृत्वाच्च न दुःख्यसौ ॥८॥

शिरोदुःखादिनेति—**यह आत्मा शिर की वेदना से अपने को 'मैं दुःखी हूँ'—ऐसा देखता है (समझता है)। किन्तु वह अपने दृश्यभूत 'दुःखी' से वस्तुतः भिन्न है, क्योंकि वह तो उस दृश्य का द्रष्टा है। द्रष्टा होने के कारण वह दुःखी भी नहीं है ॥ ८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ये सुखादिक, शरीरादि से सम्बन्धित बुद्धि को ही विशेषित करते हैं, आत्मा को नहीं—यह निश्चय कैसे किया गया ? इस प्रकार किया गया कि जिस समय यह अनुभव होता है कि 'मैं सुखी हूँ, या दुःखी हूँ', उस समय उस सुख या दुःख का कारण स्थूल देहगत कोई विकार या हर्ष, शोक, मोहादि लिङ्ग (सूक्ष्म) देहगत कोई विकार ही होता है। उस विकार का जो आधार है, वही उससे होनेवाले सुख-दुःख का भी आधार है। और आत्मा उसका साक्षी होने के कारण उससे सर्वथा असंग है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा को जो विशेष ज्ञान होता है, वह बुद्धि के अध्यास के कारण होता है (बुद्ध्यध्यासनिबन्धन है)। तथाच शिरोदुःख से या उदरदुःख से मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार अभिमान करनेवाले बुद्ध्यवस्थापन्न विशेष को ही वह ज्ञान होता है, क्योंकि वही दुःखी होता है। अतः बुद्धि ही सुख-दुःखादिकों से विशिष्ट होती है, यही कहना उचित है। दुःखी होनेवाले दृश्य से उसका द्रष्टा तो भिन्न ही है। अर्थात् देहादिकों में आत्मा के रूप में (आत्मत्वेन) समझी जानेवाली (अभिमन्यमान), देह के किसी अवयवादि के आहत हो जाने पर उत्पन्न होने वाले दुःख के आकार वाली, दृश्यसाभास बुद्धि का जो साक्षी है, वह उससे अन्य ही है। अतः वह केवल द्रष्टामात्र होने से उसे कोई दुःख-सुखादि नहीं होते। ये सुख-दुःखादि तो अहंपदवाच्य साभास बुद्धि को ही हुआ करते हैं, आत्मा को नहीं ॥ ८ ॥

दुःखी स्याद्दुःख्यहंमानाद्दुःखिनो दर्शनान्न वा ।
संहतेऽङ्गादिभिर्द्रष्टा दुःखी दुःखस्य नैव सः ॥९॥

दुःखीति—**यह जीवात्मा जो अपने को दुःखी समझता है, उसका इस प्रकार समझना दुःखी अन्तःकरण (बुद्धि) में अभिमान करने के कारण ही है, दुःखविशिष्ट अन्तःकरण (बुद्धि) का साक्षी होने के कारण नहीं है ॥ ९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'आत्मा (में केवल द्रष्टृत्व) द्रष्टामात्र रहने से वह दुःखी नहीं होता'—इसी को स्पष्ट कर रहे हैं—यह आत्मा (जीव) जो दुःखी प्रतीत होता है, वह दुःखविशिष्ट अन्तःकरण (बुद्धि) में अर्थात् दुःखाकार से परिणत होनेवाले अन्तःकरण में 'अहम्'=मैं—ऐसा अभिमान करने के कारण वैसा प्रतीत होता है। दुःखविशिष्ट अन्तःकरण का साक्षी होने के कारण आत्मा दुःखी प्रतीत नहीं हो रहा है। यदि दुःखाकार से परिणत होनेवाले के देखनेमात्र से (साक्षी होने मात्र से) उसे दुःखी कहा जाय तो अन्य दुःखी जीवों को देखकर भी उसे दुःखी कहना होगा। अतः हस्त-पादादि अवयवों से संहत शरीर में जो दुःख है, उससे दुःखी बुद्धि ही है, उसका साक्षी आत्मा उसके दुःख से दुःखी नहीं है ॥९॥

चक्षुर्वत्कर्मकर्तृत्वं स्याच्चेज्ज्ञानेकमेव तत् ।
संहतं च ततो नात्मा द्रष्टृत्वात्कर्मतां व्रजेत् ॥१०॥

चक्षुर्वदिति—जीवात्मा का कर्मत्व और कर्तृत्व भी नेत्र के समान माना जा सकता है, किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि नेत्र तो अनेकरूप और संहत है। इसलिये उसमें तो उस प्रकार का भेद हो सकता है, किन्तु जीवात्मा तो साक्षीस्वरूप होने से उसे साक्ष्यस्वरूप नहीं कह सकते ॥ १० ॥

हृदयस्पर्शिनी

दुःखी होने वाले अन्तःकरण का द्रष्टा रहने पर भी आत्मा का दुःखी होना संभव क्यों नहीं है? जैसे दर्पणस्थ चक्षु, गोलकस्थ चक्षु का दृश्य (कर्म) होता है। अर्थात् दर्पणस्थ होता हुआ चक्षु दृश्य होता है और मुख-देश में स्थित होता हुआ वह द्रष्टा भी होता है, उसी तरह जब वह आत्मा, दुःखसंभिन्न (दुःखसम्पृक्त) होता है, तब वह दृश्य रहता है, और जब वही आत्मा अपने स्वरूपभूत चैतन्य में अवस्थित रहता है, तब उसे द्रष्टा समझा जाता है। एवंच एक ही में अवस्थाभेद से कर्म-कर्तृभाव घट सकता है—इस प्रकार यदि कोई कहे तो उसका समाधान यह होगा—नेत्र तो अनेकरूप (अनेकाकार) और संहत है, अतः उसमें कर्म-कर्तृभाव (अंश भेद) उपपन्न हो सकता है। अर्थात् दर्पणस्थ गोलकांश में दृश्यत्व और उसी का मुखनिविष्ट शक्तिमत्त्वांश में द्रष्टृत्व, इस रीति से एक ही चक्षु (नेत्र) में उभयरूपत्व उपपन्न हो सकता है। किन्तु इस प्रकार का अंशभेद आत्मा में नहीं पाया जाता, क्योंकि वह (आत्मा) एकरूप है, असंहत है (संघातरूप, समूहरूप नहीं है)। अतः चित्प्रकाशैकस्वभाव आत्मा द्रष्टा ही है, वह दृश्यांश से युक्त नहीं है। क्योंकि दृश्यांश तो अनात्मरूप होता है। अतः द्रष्टा होने से वह कभी कर्म नहीं बन सकता। एवंच आत्मा साक्षीस्वरूप होने से वह कभी भी साक्ष्यरूप नहीं हो सकता ॥ १० ॥

ज्ञानयत्नाद्यनेकत्वमात्मनोऽपि मतं यदि ।
नैकज्ञानगुणत्वात्तु ज्योतिर्वत्तस्य कर्मता ॥११॥

ज्ञानेति—आत्मा को इच्छादिगुणविशिष्ट और अनेक मानने वाले नैयायिकों के मतानुसार आत्मा का भी अनेकत्व (अंश-भेद से ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व) कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जीवात्मा, एकमात्र ज्ञानस्वभाव के कारण प्रकाश के समान वह अपना कर्म (दृश्य) नहीं बन सकता ॥ ११ ॥

हृदयस्पर्शिनी

नैयायिक आत्मा को इच्छादिगुणविशिष्ट और अनेक मानते हैं, तदनुसार आत्मा में अनेकत्व अर्थात् अंशभेद से ग्राह्यत्व (भास्यत्व) और ग्राहकत्व (भासकत्व) क्यों न माना जाय? निष्कर्ष यह है कि ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेषादि अनेक गुणों के कारण अनेकात्मकता होने से किसी अंश से विशिष्ट हुए आत्मा में ग्राह्यत्व और अन्य किसी अंश से विशिष्ट हुए उसी आत्मा में ग्राहकत्व भी हो सकता है। किन्तु इस तरह से उभयरूपता आत्मा में नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति ने आत्मा को ज्ञानैकस्वभाव, विज्ञानघन[1] कह कर उसे एकरूप ही बताया है, अनेकरूप नहीं। इस कारण प्रकाश के समान (ज्योतिर्वत्) वह (आत्मा) अपना कर्म (दृश्य) नहीं हो सकता। अतः आत्मा केवल ग्राहक ही है, वह कभी ग्राह्य नहीं है ॥ ११ ॥

ज्योतिषो द्योतकत्वेऽपि यद्वन्नात्मप्रकाशनम् ।
भेदेऽप्येवं समत्वाज्ज्ञ आत्मानं नैव पश्यति ॥१२॥

ज्योतिष इति—जिस प्रकार सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ प्रकाशक होने पर भी अपने को कर्मरूप में प्रकाशित नहीं करते, उसी प्रकार आत्मा में यदि अंशभेद भी मान लिया जाय तो भी चिन्मात्र रूप से उसमें समानता रहने से वह अपने को नहीं देख सकता। क्योंकि आत्मा में अंशभेद से ग्राह्य-ग्राहक भाव मानने पर ग्राह्य अंश को यदि चेतन कहें तो वह किसी का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन तो सर्वदा प्रकाशक ही होता है, वह कभी भी प्रकाश्य नहीं होता। यदि ग्राह्य जड़ माने तो प्रकाश और अन्धकार के समान चेतन और जड़ दोनों परस्परविरुद्ध धर्म होने से एक जगह (एक आत्मा में) कभी नहीं रह सकते। दोनों का एक जगह रहना युक्तिविरुद्ध होगा ॥ १२ ॥

---

१. (मुं. उ. २।२।९)

हृदयस्पर्शिनी

दृष्टान्त को स्पष्ट कर रहे हैं—आत्मा में यदि अंशभेद को स्वीकार कर, उसके किसी अंश को गृहीता और किसी को ग्राह्य कहें तो वहाँ पर भी यह प्रश्न होगा कि उसका ग्राह्य अंश जड़ है या चेतन ? यदि चेतन है, तो वह किसी का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन तो प्रकाशक ही होता है, वह किसी का प्रकाश्य नहीं हुआ करता। यदि जड़ कहें तो प्रकाश और अन्धकार के समान चेतन और जड़ ये दो अत्यन्त विरुद्ध धर्म एक ही आत्मा में नहीं रह सकते। जिस प्रकार सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ प्रकाशक होने पर भी अपने को प्रकाश्यरूप में प्रकाशित नहीं करते, उसी प्रकार आत्मा में अंशभेद के स्वीकार करने पर भी चिन्मात्र रूप से उसमें समानता होने से वह अपने को ही नहीं देख सकता। अतः उसमें अंशभेद की कल्पना करके स्वयं को ही ग्राह्य-ग्राहकरूप मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। अतः ग्राह्यांश को आत्मा नहीं कह सकते ॥ १२ ॥

यद्धर्मा यः पदार्थो न तस्यैवेयात्स कर्मताम् ।
न ह्यात्मानं दहत्यग्निस्तथा नैव प्रकाशयेत् ॥१३॥

यद्धर्मेति—**जो पदार्थ जिस धर्म को धारण करता है, वह उसी धर्म का कर्म नहीं हुआ करता। जैसे अग्नि अपने को न तो जला ही सकता है और न प्रकाशित ही कर सकता है ॥ १३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

स्वरूप से अथवा अंश के द्वारा यद्यपि वह अपने आप को नहीं देख पाता, तथापि स्वगुण के ज्ञान का वह कर्म हो सकता है। किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ जिस धर्म से युक्त होता है, वह उसी धर्म का कर्म नहीं हुआ करता। तथाच जिस प्रकार अग्नि अपने को न तो दग्ध कर सकता है और न प्रकाशित ही कर सकता है, तद्वत् ज्ञानस्वभाव वाला आत्मा कभी भी ज्ञान का कर्म नहीं बन सकता। अनुमान-प्रयोग इस प्रकार कर सकते हैं—'आत्मा न स्वीयधर्मव्याप्यः पदार्थत्वात् अग्निवत् ।' अर्थात् आत्मा अपने प्रकाश का विषय नहीं बनता, वस्तु (पदार्थ) होने के कारण, वह्नि (अग्नि) की तरह। अतः आत्मा ग्राह्य (प्रकाश्य) नहीं है ॥ १३ ॥

एतेनैवात्मनाऽऽत्मानो* ग्रहो बुद्धेर्निराकृतः ।
†अंशोऽप्येवं समत्वाद्धि निर्भेदत्वान्न युज्यते ॥१४॥

एतेनेति—**इस पूर्वोक्त युक्ति से बुद्धि को ही आत्मा मानने वाले बौद्धों के बुद्धि रूप आत्मा को अपने ही द्वारा ग्रहण किया जाना (ग्राह्य मानना) निरस्त हो जाता है। उसी तरह चिन्मात्र रूप से समान और भेदशून्य होने से आत्मा में अंशभेद की कल्पना करना भी युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि आत्मा और उसकी दृश्यता का साजात्य चिन्मयता की दृष्टि से है। अर्थात् यह साजात्य परमार्थसत्ता की दृष्टि से है और प्रस्तुत कथन व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से है ॥ १४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस पूर्वोक्त युक्ति से ही विज्ञानवादी बौद्धों के मत का भी खण्डन हो जाता है। विज्ञानवादी बौद्ध बुद्धि (ज्ञान) रूप आत्मा का अपने ही द्वारा (बुद्धि=ज्ञान से) ग्रहण होना मानते हैं। अर्थात् ज्ञान अपने आप को ही ग्रहण करता है, यानी उनके मत में वही ग्राहक और वही ग्राह्य माना गया है। उसका खण्डन उपर्युक्त दृष्टान्त से हो जाता है.। और चिन्मात्ररूप से समान और भेदरहित होने के कारण आत्मा में अंश मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। अर्थात् स्वरूप का स्वरूप से ही ग्राह्यत्व न हो सकने पर भी बुद्धि के एक अंश से ग्राह्यत्व और अन्य अंश से ग्राहकत्व की कल्पना करना भी उचित नहीं है ॥ १४ ॥

शून्यतापि न युक्तैवं बुद्धेरन्येन दृश्यता ।
युक्ताऽतो घटवत्तस्याः प्राविसद्धेश्च विकल्पतः ॥१५॥

---

* आत्मनः—पाठान्तरम् । † अंशो०—पाठान्तरम् ।

शून्यतेति—शून्यवादी बौद्ध सभी पदार्थों का निराकरण करते हैं और वे एकमात्र शून्य को ही परम तत्त्व मानते हैं। किन्तु उनका यह शून्यवाद भी युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि बुद्धि तो जड है, इसलिये वह परप्रकाश्य है। घट के समान बुद्धि का भी किसी दूसरे के द्वारा देखा जाना ही उचित है, उसी प्रकार शून्य पदार्थ भी जड़ होने के कारण उसे भी परप्रकाश्य ही कहना होगा। इसलिये उस शून्य को परम तत्त्व नहीं कहा जा सकेगा। उसे देखने वाला अन्य पदार्थ, शून्य या बुद्धि की कल्पना से पूर्व विद्यमान है। इस कारण बुद्धि का शून्यत्व कहना ठीक नहीं है। अतः बुद्धि का जो साक्षी है, वही आत्मतत्त्व है और वही परम तत्त्व है। बुद्धि उसी में अध्यस्त है ॥ १५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार बुद्धि के स्वग्राह्यत्व का निराकरण करने से अन्यग्राह्यत्व अर्थात् प्राप्त हो जाता है, अन्यथा उसकी क्षणिकता सिद्ध नहीं हो पायेगी। अतः शून्यवादी बौद्धों का कहना है कि न बुद्धि का मानना आवश्यक है और न हीं उसके किसी अन्य ग्राहक को मानने की आवश्यकता है, 'शून्य' ही आत्मतत्त्व है। किन्तु शून्यवादी का यह शून्यता का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। जिस प्रकार युक्तिविरोध के कारण बुद्धि की स्वग्राह्यता उचित नहीं, उसी प्रकार बुद्धि और उसमें स्थित अवभास की शून्यता को मानना भी उचित नहीं। क्योंकि अपरोक्षतया उसकी प्रतीति होती है। उस कारण घट के समान बुद्धि का भी किसी अन्य के द्वारा देखा जाना ही युक्ति युक्तहै। साक्षी में पर्यवसान होने से उसकी शून्यता की शंका करना भी उचित नहीं है। बुद्धि की कल्पना करने के पूर्व से ही सुषुप्ति में भी आत्मप्रकाश की विद्यमानता माननी ही होगी। इस प्रकार से साक्षी की सिद्धि होने से कभी भी शून्यता है ही नहीं। सुषुप्ति में साक्षी को न माना जाय तो, सुषुप्ति के अनन्तर प्रबोध में परामर्श न होने का ही प्रसंग प्राप्त होगा। शून्यवादी सब वस्तुओं का निराकरण कर एकमात्र शून्य को ही परमार्थतत्त्व मानते हैं। जैसे बुद्धि जड़ और परप्रकाश्य हैं, उसी प्रकार शून्य भी जड़ और परप्रकाश्य है, अतः उसे परमार्थतत्त्व नहीं कह सकते। अतः जो बुद्धि का साक्षी है, वही आत्मतत्त्व परमार्थतत्त्व है। उसी में बुद्धि अध्यस्त है। वह बुद्धि से पूर्व भी विद्यमान है। अतः शून्य को परमार्थतत्त्व के रूप में नहीं माना जा सकता है ॥ १५ ॥

अविकल्पं तदस्त्येव यत्पूर्वं स्याद्विकल्पतः ।
विकल्पोत्पत्तिहेतुत्वाद्यद्यस्यैव तु कारणम् ॥१६॥

अविकल्पमिति—जो पदार्थ विकल्प के पहिले स्थित रहता है, वह विकल्प की उत्पत्ति में कारण होता है। अतः वह स्वयं अविकल्परूप होता है। जो जिसका कारण रहता है, वह उससे पूर्व ही हुआ करता है ॥ १६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

किञ्च जो कार्य, जिससे अन्वित हुआ दिखाई देता है, वह उसका कारण होता है और कार्य की कल्पना के पूर्व भी वह रहता है। जैसे घटरूप कार्य मृत्तिका (मिट्टी) से अन्वित होने के कारण वह मृत्तिका घट का कारण कहलाती है, और घटरूप कार्य की उत्पत्ति के पूर्व भी वह रहती है। उसी तरह बुद्धि आदि विकल्प, 'सत्' रूप अर्थ से अन्वित हुआ उपलब्ध होता है, और वह बुद्ध्यादि विकल्प के पूर्व भी सिद्ध है। अतः बुद्ध्यादि विकल्प उसी सत् का कार्य है। उस बुद्ध्यादि विकल्प को सत्कारणक कहना ही उचित है। जो वस्तु विकल्प से पूर्व सिद्ध रहती है, वह विकल्प की उत्पत्ति में हेतु होती है। उस कारण वह स्वयं अविकल्पित हुआ करती है। अर्थात् यह सद्वस्तु सर्वविकल्परहित कूटस्थ है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति होना अनुपपन्न है। कार्य है तो कारण का होना नान्तरीयक ही है। अन्यथा कार्यविशेषार्थियों की कारणविशेषोपादान में प्रवृत्ति का नियम उपपन्न नहीं हो सकेगा। क्योंकि शून्य तो सर्वत्र सुलभ रहता है ॥ १६ ॥

अज्ञानं कल्पनामूलं संसारस्य नियामकम् ।
हित्वाऽऽत्मानं परं ब्रह्म *विद्यान्मुक्तं सदाऽभयम् ॥१७॥

अज्ञानमिति—सभी विकल्पों (कल्पनाओं) के बीजभूत (मूलभूत), और संसार की स्थिति के कारणभूत अज्ञान का त्याग करके मुक्त स्वरूप एवं अभय (भयशून्य) ब्रह्मरूप आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १७ ॥

---

* विन्द्या०—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

समस्त विकल्परहित कूटस्थ ब्रह्म, विकल्प का कारण कैसे होगा ? क्योंकि कारण तो व्यापारवान् को कहते हैं। इस शंका का उत्तर यह है कि सर्प का कारण जैसे रज्जु होती है, वैसे ही विवर्त का अधिष्ठान होने के कारण उस कूटस्थ विकल्परहित ब्रह्म में कारणता होती है। कूटस्थ प्रत्यगात्मा ब्रह्म में संपूर्ण कल्पनाओं (अतद्रूप से प्रतिभास कराने) का मूल और संसार की स्थिति का हेतुभूत अज्ञान है। तथाच चिदविद्या के विवर्तरूप कार्यों में सत्ता के रूप में भासमान होने से कूटस्थ में भी कारणता संगत होती है। अज्ञान में 'संसारस्य नियामकम्'—संसार का नियामक—इस विशेषण के देने से सम्पूर्ण विकल्पनाओं के मूल में अज्ञान है, यह बात अन्वय-व्यतिरेकसंज्ञक अनुमान प्रमाण को सूचित कर रही है। तो क्या अज्ञानविशिष्ट ब्रह्म का ही प्रत्यक्त्वेन रूपेण अनुसन्धान करना चाहिये ? इस शंका के समाधान में बताते हैं कि नहीं, कार्यसहित अज्ञान का त्याग कर तत्साक्षी आत्मा को 'तत्त्वमसि'—इस महावाक्य से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्तलक्षण ब्रह्म समझें। अर्थात् अपनी आत्मा का मुक्त (कार्य-कारणप्रपञ्चसंसर्गरहित), अभय, अद्वय ब्रह्मरूप में चिन्तन करें ॥ १७ ॥

जाग्रत्स्वप्नौ तयोर्बीजं सुषुप्ताख्यं तमोमयम् ।
अन्योन्यस्मिन्नसत्त्वाच्च नास्तीत्येतत्त्रयं त्यजेत् ॥१८॥

जाग्रदिति--**'अज्ञान' का परित्याग करने की प्रक्रिया यह है कि 'जाग्रत्' और 'स्वप्न' (स्थूल-सूक्ष्म विषय भोगरूप संसार) तथा उन दोनों की बीजभूत (हेतुभूत) अज्ञानमयी 'सुषुप्ति' अवस्थाओं का परस्पर एक-दूसरे की अवस्था में अभाव रहता है। अतः वास्तव में ये हैं ही नहीं। इस लिये इन तीनों का त्याग करना चाहिये ॥ १८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

संसारनियामक अज्ञान का त्याग कर आत्मा को ब्रह्म समझे, यह बताया। किन्तु संसार क्या है ? अज्ञान क्यों उसका कारण है ? उस अज्ञान से आत्मा का विवेक कैसे हो सकेगा ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर दिये जा रहे हैं—स्थूल-सूक्ष्म विषयभोगलक्षण जाग्रत्-स्वप्न यही संसार है। इन दोनों का कारणस्वरूप अज्ञानप्राय है, जिसे सुषुप्ति नाम से कहा जाता है। 'तमोमयम्' यहाँ 'मयट्' प्रत्यय के प्रयोग से अज्ञान की स्वतन्त्रता का वारण किया गया है। इस प्रकार कार्य-कारण का स्वरूप बताकर उन दोनों के त्याग का प्रकार बताते हैं—जाग्रत् और स्वप्न अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म विषयभोगरूप संसार तथा उन दोनों की वीजभूत अज्ञानमयी सुषुप्ति अवस्था, इनका परस्पर एक-दूसरी अवस्था में अभाव होने के कारण वस्तुतः ये हैं ही नहीं। अतः इन तीनों को त्यागना चाहिये ॥ १८ ॥

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुरालोकार्थादिसङ्करात् ।
भ्रान्तिः स्यादात्मकर्मेति क्रियाणां सन्निपाततः ॥१९॥

आत्मेति—**'त्याग करना चाहिये' इस विधि के सुनने से तो 'आत्मा' में कर्तृत्व की प्रतीति होती है, तब उसकी ब्रह्मरूपता कैसे सिद्ध हो सकेगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि देह (आत्मा), बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रकाश, विषय और 'आदि' पद से देश-काल का परस्पर गुण-प्रधान भाव से अध्यास होने के कारण क्रियाओं का उद्भव (उत्पत्ति) होता है। इसी से आत्मा में कर्तृत्व की भ्रान्ति होती है। अर्थात् आत्मा कर्म (क्रिया) करता है—यह भ्रम होता है। आत्मा तो स्वतः निष्क्रिय है। अतः उसमें निष्क्रिय ब्रह्मरुपता के मानने में कोई विरोध नहीं है ॥ १९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

तीनों अवस्थाओं का त्याग करने पर भी आत्मा का ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं हो पा रहा है, क्योंकि 'त्यजेत्'-त्यागना चाहिये—इस प्रकार विधि होने से तो उसका (आत्मा का) कर्तृत्व प्रतीत हो रहा है। इस शंका का समाधान इस प्रकार होगा कि देह, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रकाश, विषय, देश, काल आदि का गुण-प्रधान भाव से तादात्म्याध्यास होते रहने के कारण (संकर होने के कारण) क्रियाओं का उदय (उद्भव) होता है, उसी से ऐसी भ्रान्ति होती है कि यह

आत्मा का कर्म (क्रिया) है, और आत्मा उसका कर्ता है। अर्थात् इन सबके अधिष्ठानभूत कूटस्थ होते हुए भी आत्मा में भ्रमवशात् क्रिया-कर्तृत्व की प्रतीति हुआ करती है। तस्मात् आत्मा तो स्वतः निष्क्रिय है, उस कारण उसका निष्क्रिय ब्रह्मत्व सिद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

निमीलोन्मीलने स्थाने वायव्ये ते न चक्षुषः।
प्रकाशत्वान्मनस्येवं बुद्धौ न स्तः प्रकाशतः ॥२०॥

निमीलेति—**आत्मा में कर्तृत्व के आरोप में यह दृष्टान्त दिया जा सकता है—नेत्र के गोलकों में पलकों की जो खोलना-बन्द करना आदि क्रिया होती है, वह तो वस्तुतः 'वायु' का कार्य है, 'नेत्र' का नहीं, क्योंकि 'नेत्र' तो तेजोमय हैं। उसी प्रकार 'मन' और 'बुद्धि' में भी क्रिया नहीं है, क्योंकि वे 'ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें जो क्रिया प्रतीत होती है, वह 'प्राण' का कार्य है ॥ २० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अब दृष्टान्त देकर आत्मा में कर्तृत्व के आरोप को समझाते हैं—नेत्रगोलकों के स्थान पर पक्ष्मों (पलकों) का बन्द करना और खोलना (निमीलन-उन्मीलन) हुआ करता है, वह वायु का कार्य है, क्योंकि क्रियात्मक वायु में तदाश्रयता है। वह निमीलन-उन्मीलन, चक्षुरिन्द्रिय का कार्य नहीं है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय तो प्रकाशरूप है, उस कारण उसमें क्रियाश्रयत्व उपपन्न नहीं हो सकता। तथापि अध्यासवशात् उन्मीलन-निमीलन का चक्षु में ही व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार मन और बुद्धि में भी चलनाचलनादि क्रिया नहीं है, क्योंकि वे प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप हैं, उनमें जो क्रिया प्रतीत होती है, वह प्राण का कार्य है। तथापि उसका मन-बुद्धि पर आरोप किया जाता है, और 'चञ्चल मन तथा स्थिर बुद्धि' इस प्रकार व्यवहार हुआ करता है ॥ २० ॥

सङ्कल्पाध्यवसायौ तु मनोबुद्ध्योर्यथा क्रमात्।
नेतरेतरधर्मत्वं सर्वं चात्मनि कल्पितम् ॥२१॥

संकल्पेति—**'संकल्प' और 'निश्चय' क्रमशः 'मन' और 'बुद्धि' के धर्म हैं। उनका परस्पर सांकर्य नहीं होता। अतः 'आत्मा' में ये सब अध्यस्त ही हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ २१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

मन का धर्म सङ्कल्प करना है और बुद्धि का धर्म अध्यवसाय (निश्चय) करना है। इस प्रकार व्यवस्था रहने से उनका परस्पर सांकर्य नहीं होता। ये सब आत्मा में अध्यस्त (आरोपित) हैं, वास्तव में नहीं हैं। क्योंकि कूटस्थ आत्मा में स्वतः कर्तृत्व का होना असंभव है, अविद्यादि जो जड़ पदार्थ हैं, उनमें स्वतन्त्र प्रवृत्ति का रहना असंभव है, जड़ पदार्थ और अजड़ (चेतन) पदार्थ दोनों का वस्तुतः सम्बन्ध बताना संभव नहीं। सम्पूर्ण सहेतुक संसारबन्धन का आत्मा में अध्यास मात्र (कल्पना मात्र, आरोपमात्र) किया जाता है। वास्तव में बन्धन नहीं है। अतः सर्वदा ही आत्मा, अद्वय ब्रह्मरूप है, यह सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

स्थानावच्छेददृष्टिः स्यादिन्द्रियाणां तदात्मताम्।
गता धीस्तां हि पश्यन् ज्ञो देहमात्र इवेक्ष्यते ॥२२॥

स्थानेति—**जैन दार्शनिक 'आत्मा' को देहपरिमाणवाला कहते हैं, तब उसमें ब्रह्मत्व (ब्रह्मरूपता) कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन्द्रियों की दृष्टि अपने-अपने गोलकों से परिच्छिन्न है, और वह तदाकारता को प्राप्त हो जाती है, तथा 'बुद्धि' का देह और इन्द्रियों से तादात्म्य है। अतः बुद्धि का साक्षी होने से 'आत्मा', देहपरिमाणवाला प्रतीत होता है ॥ २२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पहले बता चुके हैं कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, और शून्य—इनमें से कोई भी आत्मा नहीं है, किन्तु इनसे विलक्षण ही कोई अन्य आत्मा है। अब देहादिकों से विलक्षण रहता हुआ भी वह आत्मा देहसमपरिमाण है,

ऐसा जैनमतावलम्बी कहते हैं। देहपरिणाम मानने पर उसे परिच्छिन्न कहना होगा, तब उसका ब्रह्मत्व कैसे सिद्ध हो सकेगा ? तथा सब कुछ उस पर कल्पित है, यह कहना भी कल्पक के अभाव में संगत नहीं है। इसका खण्डन इस प्रकार करते हैं—इन्द्रियों की दृष्टि अपने-अपने गोलकों से परिछिन्न है, क्योंकि वे इन्द्रियाँ देह में ही होती हैं, देह के बाहर नहीं। अतः देह के अवयवभूत गोलकस्थान को ही उन दृष्टियों का परिच्छेदक मानना होगा। तथाच त्वगादि इन्द्रियाँ, यथायोग देहपरिमाण की होने से, और इन्द्रियों सहित देह के साथ तदाकारता (तादात्म्य) को प्राप्त हुई बुद्धि भी मध्यम परिमाण की (देहपरिमाण की) हो जाती है। उसे देखने वाला आत्मा, अपरिच्छिन्न रहने पर भी देहपरिमाण का-सा भ्रमवश दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आत्मा देहपरिमाण नहीं है। उसे देहपरिमाण मानने पर घट-पटादि के समान सावयव और अनित्य कहना पड़ेगा, तथा पारलौकिक साधनों की ओर प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। उपर्युक्त उपाधियों के बिना आत्मा का स्वतः परिच्छेद उपलब्ध न होने से उसका ब्रह्मत्व (उसकी ब्रह्माकारता) उचित ही है। और जो निरवयव है, वस्तुतः उसके साथ किसी उपाधि का संसर्ग न हो पाने से उस पर सब कुछ कल्पित कहना भी उचित ही है। किञ्च देहपरिमाण मानने पर यदि उसे कर्मवशात् मनुष्य शरीर से कीट योनि प्राप्त हो जाय तो कीट शरीर में उसका प्रवेश होना संभव न हो सकेगा, और कीट योनि से हाथी आदि की योनि प्राप्त हो जाय तो हाथी के सर्व शरीर में व्याप्त न हो सकने से सम्पूर्ण शरीर के सुख-दुःखादि का वह अनुभव नहीं कर सकेगा। अतः आत्मा को विभुपरिमाण (सर्वव्यापक) ही मानना उचित है, वह स्वरूपतः अनन्त है। उसमें जो परिच्छिन्नता प्रतीत होती है, वह औपाधिक ही है ॥ २२ ॥

क्षणिकं हि तदत्यर्थं धर्ममात्रं निरन्तरम् ।
सादृश्याद्दीपवत्तद्धीस्तच्छान्तिः पुरुषार्थता ॥२३॥

क्षणिकमिति—**बौद्धों का सिद्धान्त है कि 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' क्षणिक हैं, स्वभावतः नाशवान् हैं, वे धर्ममात्र (वस्तुमात्र) हैं अर्थात् निरधिष्ठान हैं तथा निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। दीपक की शिखा के समान उनमें सादृश्य होने के कारण उनकी प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः उनकी निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ (निर्वाण) है। अभिप्राय यह है कि इनके मत में सभी पदार्थ क्षणिक विज्ञान मात्र हैं। विषयों के समान ही उनका ज्ञाता आत्मा भी क्षणिक है। जैसे दीप शिखा, या नदी का प्रवाह प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न होता हुआ भी पूर्व सदृश होने के कारण उसकी प्रत्यभिज्ञा (वही यह है, इस प्रकार की प्रतीति) होती है, वैसे ही दृश्यमान वस्तु भी पूर्वसदृश होने के कारण स्थायी-सी प्रतीत होती है। उसमें स्थायित्वबुद्धि की निवृत्ति ही 'विवेक' है, और वही परम पुरुषार्थ है ॥ २३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

दिगम्बर-जैन मत का खण्डन करके आत्मा की अनन्तता का जो प्रतिपादन किया, उसे शाक्य अर्थात् बौद्ध सहन नहीं कर पा रहे हैं, अतः उनका मत बता रहे हैं। बौद्धों का कहना है कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों क्षणिक हैं, अर्थात् द्वि-त्रिक्षणावस्थायी भी नहीं है, अपितु वे स्वभावतः नाशशील (स्वरस-भङ्गुर) हैं, वे धर्ममात्र (वस्तुमात्र) हैं अर्थात् उस वस्तु का कोई स्थायी अधिष्ठान नहीं है। स्वरस-भङ्गुर रहने पर भी पूर्वोत्तर क्षणों में असद्बुद्धि नहीं होगी, क्योंकि वे धर्म (वस्तु) निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। उनका कभी विच्छेद उपलब्ध नहीं होता। सभी वस्तु क्षणिक होने पर भी दीपशिखा के समान उनमें अत्यन्त सादृश्य होने के कारण 'तदेवेदम्, सोऽहम्' इस प्रकार दृश्य-द्रष्टृ-विषयक उनकी प्रत्यभिज्ञा हुआ करती है। निष्कर्ष यह है कि बौद्धों के मत में यच्चयावत् पदार्थ क्षणिक हैं, विज्ञान मात्र हैं। जैसे विषय (पदार्थ, वस्तु, ज्ञेय) क्षणिक हैं, वैसे ही उनका ज्ञाता आत्मा भी क्षणिक है। जैसे दिपशिखा अथवा नदी का प्रवाह प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न होता हुआ भी पूर्वसदृश होने के कारण पूर्व के-से (पहले के-से) ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार दृश्यमान वस्तुएँ भी पूर्वसदृश होने के कारण स्थायी जान पड़ती हैं। उनमें स्थायित्व-बुद्धि की निवृत्ति ही विवेक है और वही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ है ॥ २३ ॥

स्वाकारान्यावभासं* च येषां रूपादि विद्यते ।
येषां नास्ति ततश्चान्यत्पूर्वासञ्ज्ञतिरुच्यते ॥२४॥

---

*भास्यं०—पाठान्तरम् ।

स्वाकारेति—जिन बौद्धों के मत में रूपादि बाह्य पदार्थ, ज्ञानाकार से भिन्न किसी अन्य ज्ञान के द्वारा अवभासित होते हैं, उसी तरह जिनके मत में उससे भिन्न उनकी सत्ता नहीं है, वे एक प्रकार से पूर्व मतावलम्बियों के मत की असंगति को बताते हैं।

विज्ञान वादी बौद्धों के मत में रूपादि बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं है, बुद्धि में रूपादि बाह्य पदार्थों के संस्कार (वासना) रहते हैं, उस कारण विज्ञान का ही अवभास मात्र होता रहता है। तथा वे ज्ञान, ज्ञानान्तर से प्रकाशित होते हैं, यह भी मानते हैं। परन्तु शून्यवादी बौद्ध, ज्ञान और ज्ञेय दोनों की ही सत्ता नहीं मानते। ये, विज्ञानवादी के मत को असंगत बताते हैं। इनको इस पारस्परिक मतभेद को दिखाकर उनके मत का खण्डन ग्रन्थकार ने कर दिया है॥ २४॥

हृदयस्पर्शिनी

भिन्न-भिन्न वादियों पर दिये गये भिन्न-भिन्न दूषणों के परिज्ञानार्थ बौद्धों के मतभेद को प्रदर्शित करते हैं—रूपादि बाह्य आकारों का ज्ञान से अवभास मानने वाले बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी वैभाषिक हैं। किन्तु विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध, नील-पीतरूपादि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानते, अपितु बुद्धिगत रूपादि संस्कार के कारण उन्हें विज्ञान के ही अवभास मात्र मानते हैं। और एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से प्रकाशित होना स्वीकार करते हुए वैभाषिक बौद्धों के मत को असंगत बताते हैं। किन्तु जिन बौद्धों के मत में वह विज्ञान भी नहीं है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय दोनों की सत्ता जो स्वीकार नहीं करते, अपितु 'सर्वं शून्यम्' कहते हैं, वे माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध विज्ञानवादियों के मत को असंगत बताते हैं॥ २४॥

बाह्याकारस्वतो ज्ञप्तेः स्मृत्यभावः सदा क्षणात्।
क्षणिकत्वाच्च संस्कारं नैवाधत्ते क्वचित्तु धीः॥२५॥

बाह्येति—विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार 'ज्ञान' ही बाह्यविषयस्वरूप होने से, और ज्ञाता भी क्षणिक होने से सर्वदा ही स्मृति का अभाव होता है, तथा बुद्धि भी क्षणिक होने से वह अपने संस्कारों को उत्तरकालीन बुद्धि में कभी भी स्थापित नहीं कर सकती॥ २५॥

हृदयस्पर्शिनी

अब उन असंगतियों को बताते हैं—यदि ज्ञान ही बाह्य वस्तु के आकार में परिणत होता है, तो विषय की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञान के साथ उसका सम्बन्ध होना संभव ही नहीं, और उत्पन्न होने पर भी उस वस्तु के क्षणिक होने से ज्ञान के साथ उसका संबन्ध होना असंभव ही है, अतः उसका प्रत्यक्ष अनुभव होना भी उपपन्न नहीं है। उस कारण वैभाषिक का बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद उचित नहीं है। अतएव सौत्रान्तिक का बाह्यार्थ-नित्यानुमेयवाद भी अनुपपन्न है। परिशेषात् प्रतीयमान बाह्य विषय. ज्ञान का ही आकार है, अतः एकमात्र विज्ञान का ही अस्तित्व मानना चाहिये। किञ्च ज्ञाता को भी क्षणिक मानने वाले विज्ञानवादी के अनुसार पूर्व क्षण में रहने वाली बुद्धि का उत्तर क्षण में होने वाली बुद्धि से संबन्ध न रहने के कारण अपने अनुभव किये हुए पदार्थ का संस्कार वह नहीं छोड़ सकती। उस कारण उसे पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति भी नहीं होनी चाहिये। किन्तु स्मृति होती तो है। (अतः विज्ञानवादी का मत स्वीकारार्ह नहीं है। उसी प्रकार शून्यवादी का मत युक्तिविरुद्ध होने से सर्वथैव अग्राह्य है)॥ २५॥

आधारस्याप्यसत्त्वाच्च तुल्यतार्निर्निमित्ततः।
स्थाने वा क्षणिकत्वस्य हानं स्यान्न तदिष्यते॥२६॥

आधारस्येति—ये बौद्ध गण 'बुद्धि' का कोई आधार (साक्षी) भी नहीं स्वीकार करते, इसलिये पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती ज्ञानों की तुल्यता का भी कोई हेतु नहीं है। और यदि वे किसी को आधार मानते हैं, तो उनके क्षणिकत्व-सिद्धान्त का भंग होता है। सिद्धान्त का भंग होना तो उन्हें इष्ट नहीं है॥ २६॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा या अन्त:करण में संस्कार का आधान, बुद्धि (ज्ञान) करेगी कहें, तो संस्कारों के आधानकाल में बुद्धि के आधारभूत अन्त:करण या आत्मा की स्थिति ही कहाँ है ? क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में तो सभी क्षणिक माने गये हैं। तस्मात् बौद्ध मत के अनुसार सर्वदैव स्मृति का अभाव ही रहेगा। प्रत्यभिज्ञा को बौद्धों ने सादृश्यनिबन्धन भ्रम कहा है, किन्तु उनका यह कहना अनुचित है। इनके मत में बुद्धि का कोई आधार (साक्षी) न होने से पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती ज्ञान की तुल्यता का भी कोई हेतु नहीं है, अत: वह तुल्यता, निर्निमित्त ही है; क्योंकि पूर्वक्षण और उत्तरक्षणवर्ती दोनों ज्ञानों में सादृश्यनिरूपक कोई नहीं है। सादृश्य के व्यवहार में निमित्त तो गुण या अवयव हुआ करते हैं, विज्ञान में उनका होना संभव नहीं, क्योंकि विज्ञान तो निर्गुण और निरवयव रहता है। तथा पूर्वोत्तर क्षणों में किसी एक द्रष्टा के विद्यमान न रहने से सादृश्य कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अत: तुल्यता के सिद्ध न हो पाने से प्रत्यभिज्ञान को तन्निबन्धन अर्थात् सादृश्यनिबन्धन भी नहीं कह सकते। इन सब विपत्तियों से बचने के लिये यदि पूर्वापरक्षणसादृश्य के किसी स्थायी द्रष्टा का स्वीकार करोगे तो तुम्हारे क्षणिकत्व के सिद्धान्त की हानि होगी, जो तुम्हें इष्ट नहीं है ॥ २६ ॥

शान्तेश्चाप्रयत्नसिद्धत्वात्साधनोक्तिरनर्थिका ।
एकैकस्मिन्समाप्तत्वाच्छान्तेरन्यानपेक्षता ॥२७॥

शान्तेश्चेति—**बाह्य वस्तुओं के स्थायित्वादि भ्रम की निवृत्ति अनायास ही हो सकती है। अतः उसके लिये साधन (उपाय) बताना व्यर्थ ही है। विज्ञान की निवृत्ति एक-एक क्षण में (प्रतिक्षण) हो ही जाती है। अतः उसकी निवृत्ति के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है ॥ २७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

बौद्धों का जो यह कथन है कि 'सर्वं क्षणिकम्—इस प्रकार क्षणिकत्वादि भावना करते रहने से स्थायित्व-भ्रम की निवृत्ति (शान्ति) होना ही मुक्ति है', वह भी उचित नहीं है। विषयों (पदार्थों) के स्थायित्वादिभ्रम की निवृत्ति के लिये किसी प्रकार के प्रयत्न की तुम्हारे मत के अनुसार आवश्यकता नहीं होगी। क्योंकि तुम्हारे मत में प्रत्येक ज्ञान स्वभावत: ही क्षणिक है, अत: उसके स्थायित्वभ्रम को दूर करने के लिये किसी साधन (उपाय) की कौन-सी आवश्यकता है ? वह तो स्वयमेव दूसरे क्षण में शान्त (निवृत्त) हो जायेगा। सदृश ज्ञान-सन्तान के लिये यदि कहो तो 'सदृश ज्ञान-सन्तान' तो कोई वस्तु ही नहीं है। क्योंकि उस सन्तान का कोई स्थिर साक्षी नहीं है। और एक-एक क्षण में भ्रम का अभाव तो स्वाभाविक ही है, अत: शान्ति (निवृत्ति) रूप मुक्ति के लिये किसी साधन की अपेक्षा तुम्हारे मत में नहीं होनी चाहिये। अत: बौद्ध मत के अनुसार मुक्ति के लिये साधनानुष्ठान करना या साधनोपदेश देना अनुचित ही सिद्ध हो रहा है ॥ २७ ॥

अपेक्षा यदि भिन्नेऽपि परसंतान इष्यताम् ।
सर्वार्थे क्षणिके कस्मिंस्तथाप्यन्यानपेक्षता ॥२८॥

अपेक्षेति—**इसके अतिरिक्त बौद्ध मत के अनुसार पदार्थों का कार्य-कारण भाव भी नहीं बन सकता। यदि यह कहें कि कार्य और कारण में अत्यन्त भेद होने पर भी उनमें सन्तति-क्रम होने के कारण उन्हे एक-दूसरे की अपेक्षा हो सकती है, तब तो किसी अन्य कार्य-कारण सन्तति में भी अन्य वस्तु की अपेक्षा कहनी होगी। यदि यह कहें कि सब पदार्थ क्षणिक होने पर भी किसी-किसी में ही किसी विशेष पदार्थ की अपेक्षा होती है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिक होने के कारण एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा ही नहीं होगी ॥ २८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

किञ्च बौद्ध मत के अनुसार लौकिक साध्य-साधनभाव (कार्य-कारणभाव) भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक ही हैं। लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि दूध से दही हुआ करता है, अर्थात् दही का

कारण दूध है। किन्तु बौद्ध मत के अनुसार यदि सभी पदार्थ क्षणिक माने जाते हैं तो कार्य के नियत पूर्ववर्तीरूप से कारण के रहने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। यदि कहो कि पदार्थों को क्षणिक मानने पर भी उनका सन्ततिक्रम तो चलता ही रहता है। अर्थात् कदाचित् बौद्ध यह कहें कि कार्य-कारण में अत्यन्त भिन्नता रहने पर भी, उनमें सन्ततिक्रम (धाराप्रवाह) चलते रहने के कारण एक-दूसरे की अपेक्षा हो सकती है, तो यह बात अनुचित है। जैसे दही से पहले कारणरूप से दूध का होना आवश्यक है, तथापि दुग्धसन्ततिक्रम से दधिसन्ततिक्रम सर्वथा भिन्न है, इसलिये जिस प्रकार दधिसन्ततिक्रम के कारणरूप से दुग्धसन्ततिक्रम की अपेक्षा होती है, वैसे ही वालुकादि अन्य सन्ततिक्रम से भी दधि की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? न हो सकने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। यदि दूध और दही का वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, तो बालू से भी दही बनाया जाना चाहिये। यदि कहो कि पदार्थों के क्षणिक होने पर भी किसी-किसी कार्य में ही किसी विशेष पदार्थ की आवश्यकता होती है, किन्तु यह कहना भी उचित न होगा, क्योंकि क्षणिक होने के कारण किसी को भी किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती ॥ २८ ॥

तुल्यकालसमुद्भूतावितरेतरयोगिनौ ।
योगाच्च संस्कृतो यस्तु सोऽन्यं हीक्षितुमर्हति ॥२९॥

तुल्यकालेति—**एक साथ उत्पन्न होने वाले दो पदार्थ जब परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, तब उन दोनों का सम्बन्ध होने पर जो जिससे संस्कार प्राप्त करता है, वही दूसरे की अपेक्षा किया करता है ॥ २९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जैसे अंकुर और पर्जन्य तुल्यकालसमुद्भूत हैं, अर्थात् एक साथ उत्पन्न होते हैं, और उनका परस्पर सम्बन्ध भी है। उन दोनों में से जो अंकुर पदार्थ है, वही पर्जन्य के सम्बन्ध से अतिशयित होता है। अतिशय को प्राप्त (संस्कृत) हुआ वह अंकुर पदार्थ, अन्य पर्जन्य की अपेक्षा करता है। किन्तु क्षणभङ्गुरवाद में दोनों भिन्नकालिक होने के कारण परस्पर उन दोनों में सम्बन्ध न होने से उपकार्योपकारक—भाव अनुपपन्न है, अतः अंकुर को पर्जन्य की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। किन्तु हमारे मत में पर्जन्य और अंकुर में उपकार्योपकारक—भाव है। पर्जन्य, अंकुर का उपकारक है और अंकुर उसका उपकार्य है। अतः अंकुर को पर्जन्य की अपेक्षा हो सकती है और यह बात स्थायित्व होने पर ही संभव है। जो जिससे उपकृत (संस्कृत) होता है, वह उस संस्कारकर्त्ता की अपेक्षा करता है ॥ २९ ॥

मृषाध्यासस्तु यत्र स्यात्तन्नाशस्तत्र नो मतः ।
सर्वनाशो भवेद्यस्य मोक्षः कस्य फलं वद ॥३०॥

मृषेति—**अभी तक बौद्धों के मत का खण्डन किया गया, अब अपने मत को बता रहे हैं—हमारे वेदान्त-सिद्धान्त में जहाँ (कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिशून्य ब्रह्म में) कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि का मिथ्या अध्यास होता है, वहीं 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध से उस अध्यास का नाश होता है, अधिष्ठानभूत ब्रह्म का कभी नाश नहीं होता। किन्तु जिसके मत में सर्वनाश (सभी का नाश) हो जाता है, तब मोक्षरूप फल की प्राप्ति किसे होगी ? तुम ही बताओ ॥ ३० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार क्षणिकमत का निराकरण कर अब शून्यमत का भी निराकरण करेंगे, किन्तु उससे पूर्व अपने मत का सामञ्जस्य बता रहे हैं। वेदान्तमत के अनुसार ब्रह्मरूप आत्मा में किसी प्रकार का कोई अतिशयाधान न होने से क्षणिकमत के समान वेदान्त में भी मोक्ष की अनुपपत्ति माननी पड़ेगी। इस आशंका का उत्तर यह है कि ब्रह्मरूप आत्मा में किसी अतिशय का आधान न होने पर भी उसके (ब्रह्मरूप आत्मा के) स्थायी रहने से मोक्षरूप फल की उपपत्ति हो जाती है। अतः उक्त आशंका उपस्थित करना उचित नहीं है। वेदान्तसिद्धान्त में जहाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-शून्य अधिष्ठानरूप ब्रह्म में कर्तृत्वादिरूप संसार का मिथ्या अध्यास होता है, अथवा अविद्यानिबन्धन मृषाभ्यासरूप भ्रम (कर्तृत्वादिसंसार का प्रतिभास) जहाँ होता है, वहीं पर 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ—इस ज्ञान (विद्या) से अध्यस्त का विनाश हुआ करता है। तथाच अज्ञान के वश होने से जो बन्ध का अनुभव कर रहा हो, उसी को ज्ञान होने पर बन्ध

की निवृत्ति होने से शुद्धस्वरूपानुभवरूप पुरुषार्थ का लाभ होता है। अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति के माध्यम से यथोक्त अध्यासनिवृत्तिरूप मोक्ष ही हमें विवक्षित है, हेयोपादेयरूप नहीं। तस्मात् हमारे पक्ष में वस्तुत: अतिशयाधान न होनेपर भी मोक्ष की अनुपपत्ति नहीं है। अत: वेदान्तियों का मत सामञ्जस्यपूर्ण है। अब शून्यवादी के मत में दोष बताते हैं—जिस शून्यवादी के मत में अधिष्ठान, आरोप्य आदि सभी का नाश होने से न फल रहा और न फलभोक्ता रहा, तब मोक्षरूप फल का अधिकारी ही कौन रहा ? अत: मोक्षरूप फल के अधिकारी के रूप में किसी स्थिर (स्थायी) तत्त्व को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये। एवंच शून्यवादी के मत में 'मोक्ष' सिद्ध ही नहीं हो पाता है ॥ ३० ॥

अस्ति तावत्स्वयं नाम ज्ञानं वात्माऽन्यदेव वा।
भावाभावज्ञतस्तस्य नाभावस्त्वधिगम्यते ॥३१॥

अस्तीति—**सभी के सिद्धान्तों के अनुसार 'आत्मा' तो है ही। किन्तु विचारणीय प्रश्न इतना ही है कि वह (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है या शून्य है ? हमारे वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार तो वह (आत्मा) भाव और अभाव दोनों का साक्षी होने से उसे शून्यरूप नहीं कह सकते ॥ ३१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शून्यवादी के अनुसार 'सर्वनाश' को ही मोक्ष कहना होगा। क्योंकि शून्य के परमार्थस्वभाव होने में इनके पास कोई प्रमाण नहीं है। 'स्वयं' तो सभी मानते हैं, उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान, आत्मा, कहें या शून्य कहें ? कहने का तात्पर्य यह है कि कोई एक परमार्थवस्तु (परमार्थस्वभाव वस्तु) अवश्य है। वह क्या है ? यही विचारणीय प्रश्न है। वह परमार्थवस्तु, लौकिक भाव-अभाव की अभिज्ञ (साक्षी) अर्थात् लोकव्यवहारसिद्ध भाव-अभाव पदार्थों को जाननेवाली है। अत: परमार्थवस्तु का अभाव नहीं कह सकते। तस्मात् 'शून्य' को परमार्थ वस्तु समझना उचित नहीं है। भाव-अभाव के अभिज्ञ किसी स्थिर साक्षी के अभाव में अर्थात् न मानने पर समस्त व्यवहार के लोप होने का प्रसंग प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

येनाधिगम्यतेऽभावस्तत्सत्स्यात्तन्न चेद्भवेत्।
भावाभावानभिज्ञत्वं लोकस्य स्यान्न चेष्यते ॥३२॥

येनेति—**जो अभाव को जानता है, वह जानने वाला कोई सत् ही होना चाहिये। अन्यथा लोगों को भाव और अभाव का ज्ञान ही नहीं होगा, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है ॥ ३२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अपने शून्यवाद को सिद्ध करने के लिए यदि बौद्ध कहें कि उस परमार्थवस्तु के अभाव का भी ज्ञान यदि किसी को हो जाय ? तो जिसे वह ज्ञान होगा उसी का सत्त्व (सत्ता) होगा, शून्यत्व की शंका करने का अवसर ही कहाँ रहेगा ? अथवा पूर्वोक्त अर्थ को ही स्पष्ट कर रहे हैं—जो सभी के अभाव को जानता है, उसे सत् ही कहना होगा। अन्यथा लोगों को भाव और अभाव का ज्ञान ही नहीं हो पायगा। उसे इष्ट कहें तो स्वानुभवविरोध होगा, क्योंकि सभी को भाव और अभाव का ज्ञान रहता है। उसका अपलाप नहीं कर सकते। अत: भाव-अभाव का जो अभिज्ञ है, वही सत् आत्मा है। शून्य नहीं है ॥ ३२ ॥

सदसत्सदसच्चेति विकल्पात्प्राग्यदिष्यते।
तदद्वैतं समत्वात्तु नित्यं चान्यद्विकल्पितात् ॥३३॥

सदिति—**सत्-असत् और सदसत्—इस विकल्प से पूर्व जो वस्तु अभीष्ट है, वह समानरूप होने के कारण अद्वितीय और नित्य है एवं विकल्पित पदार्थों से भिन्न है ॥ ३३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसपर भी बौद्ध पुनः शंका करता है कि भाव-अभाव के विभाग को जाननेवाली यद्यपि कोई वस्तु है, यह स्वीकार कर भी लिया जाय, तथापि वह अभिज्ञातृ वस्तु इसी प्रकार की (अर्थात् सत्) है, इस विशेषता के साथ उसका निर्धारण कर पाने में कोई कारण नहीं है। इस शंका के निराकरणार्थ उसके स्वरूप को बता रहे हैं—भावाभाव को जाननेवाला जो साक्षीस्वरूप है, वह सत्, असत् और सदसत् के विकल्प (विवाद) स्वरूप जगत् के पूर्व से ही सिद्ध है। क्योंकि विकल्प (विवाद) किसी आधार (आलम्बन) पर हुआ करता है, निराधार (निरालम्बन) विकल्प नहीं हुआ करता। अतः विकल्परूप दृश्य जगत् के पूर्व जो है, वह अद्वैत ही है। क्योंकि विकल्प (जगत्) के पूर्व विषमता रहने का कोई कारण ही नहीं है। विकल्प से पूर्व वही अद्वैत वस्तु समानरूप से है। उस अद्वैत वस्तु का स्वरूप द्वैत जड़ से विलक्षण है और वह अविनाशी होने से नित्य है। तथा अनृत (असत्य) से विलक्षण (भिन्न) रहने से वह सत्य है। पूर्वार्ध में 'विकल्पात् प्राग् यदिष्यते' के द्वारा उसका स्वतःसिद्धत्व बताने से उसकी ज्ञानस्वरूपता बताई गई है। 'अद्वैतम्' से उसकी अनन्तता बताई गई है। 'नित्यम्' के द्वारा कूटस्थत्व बताने से दुःखाभाव को सूचित किया गया है और उससे अभिन्न रहनेवाली (अर्थात् दुःखाभाव से सम्बद्ध) आनन्दरूपता को ध्वनित किया गया है। तथाच यह आत्मतत्त्व सत्य-ज्ञान-अनन्त-आनन्दरूप है, यह अनुभव से ही सिद्ध होता है, किसी अन्य कारण के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं है ॥ ३३ ॥

विकल्पोद्भवतोऽसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदिष्यताम् ।
द्वैतस्य प्रागसत्त्वाच्च सदसत्त्वादिकल्पनात् ॥३४॥

विकल्पेति—**द्वैत (असत्त्व) का आविर्भाव विकल्प से हुआ है और सत्त्व (सत्ता) और असत्त्व (असत्ता) आदि की कल्पना होने से पूर्व उसका (द्वैत का) अभाव है। अतः स्वप्न के दृश्य के समान उसका (द्वैत का) अभाव ही मानना चाहिये ॥ ३४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

नानाविध द्वैत के प्रतीयमान रहते हुए अद्वैत आत्मतत्त्व का अनुभव हो रहा है, यह कैसे कह सकते हैं? अथवा द्रष्टा की सत्यता को बताकर दृश्य के विकल्पात्मक रहने से उसकी असत्यता को बता रहे हैं। द्वैत का आविर्भाव विकल्प से हुआ है। वस्तु के न रहने पर भी (अस्तित्व-सत्ता-न रहने पर भी) शब्द मात्र से जिसका बोध होता हो, उसे विकल्प कहते हैं— 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'। यह प्रतिभासमान संसार अविद्या (माया) के कारण अध्यस्त होने से विकल्परूप ही है। वास्तव में वह है नहीं, केवल भ्रम से उसकी प्रतीति हो रही है, उस कारण इसे विकल्प से आविर्भूत हुआ कहते हैं; जैसे स्वप्नदृश्य वस्तुतः नहीं रहता, फिर भी उसकी प्रतीति होती है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'द्वैतं न परमार्थसत् दृश्यत्वात् स्वप्नदृश्यवत्'। उसके मिथ्यात्व में एक अन्य हेतु भी है— 'सदसत्त्वादिविकल्पनात् प्राक् असत्वात्'—अर्थात् सत्ता और असत्ता आदि की कल्पना करने से पूर्व इसका स्वप्नदृश्य के समान अभाव था। द्वैतरूप प्रपञ्च की अज्ञातसत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। अतः द्वैतात्मक प्रपञ्च (संसार) को मिथ्या ही समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

वाचारम्भणशास्त्राच्च विकाराणां ह्यभावता ।
मृत्योः स मृत्युमित्यादेर्मम मायेति च स्मृतेः ॥३५॥

वाचारम्भणेति—**'ये सब घट-पटादि विकार वाणी से आरम्भ होने वाले हैं'—इस शास्त्रवाक्य से, और 'वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है'—इस श्रुति से तथा 'मेरी माया का पार पाना कठिन है'—इस स्मृति से विकारों का अभाव ही सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

न्याय (तर्क) से द्वैत का मिथ्यात्व बताकर अब शास्त्र से भी उसके मिथ्यात्व को बताते हैं—'घटादि विकार वाणी से आरम्भ हुआ करते हैं'[1] इस श्रुत्यात्मक शास्त्र से विकारों का अभाव स्पष्ट है। 'वाचारम्भण' शब्द अनृतत्व (मिथ्यात्व) का वाचक है, यह प्रतीत हो रहा है, क्योंकि उसके आगे ही कारण की सत्यता का निश्चय किया गया है। 'वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है'[2] इस श्रुत्यात्मक शास्त्र से द्वैतदर्शन (भेददृष्टि) की निन्दा की गई है। यदि द्वैत सत्य होता तो उसकी निन्दा न की गई होती। अर्थात् उसकी (द्वैत की) अनृतता (असत्यता) प्रतिपादित हो जाती है। मूलस्थित 'आदि' शब्द से साक्षात् द्वैतापवादक (द्वैत का बाधक) शास्त्र 'नेह नानास्ति किञ्चन[3]' को भी समझना चाहिए। तथा 'मेरी माया का पार पाना कठिन है'[4] यहाँ पर 'जो मेरे ही शरण आते हैं, वे इस माया का पार हो पाते हैं'—इस प्रकार परमात्मज्ञान से ही इस गुणमयी कार्यसहित माया की निवृत्ति की जा सकती है,—यह भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से बता रहे हैं। यदि द्वैत सृष्टि सत्य होती तो उनका यह कथन कैसे उपपन्न होगा ? अतः द्वैत मायिक है, यह सिद्ध हो जाता है।। ३५ ॥

विशुद्धिश्चात एवास्य विकल्पाच्च विलक्षणः ।
उपादेयो न हेयोऽस्त आत्मा नान्यैरकल्पितः ॥३६॥

विशुद्धिरिति—**अतएव 'आत्मा' शुद्ध स्वभाववाला और द्वैत से विलक्षण है। वह न ग्राह्य है, और न त्याज्य है और न किसी अन्य तत्त्व के द्वारा कल्पित ही है ॥ ३६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार श्रुति तथा युक्ति से द्वैत का मिथ्यात्व बताया गया, उस कारण आत्मा का अद्वितीयत्व सुदृढ़ सिद्ध हुआ। अब अशुद्धि का कोई कारण न होने से उसकी विशुद्धि भी बतायी जा रही है—द्वैत के मिथ्या होने से ही आत्मा की धर्माधर्मतत्फलसंस्पर्शरूप विशुद्धि भी स्पष्ट है। और विकल्पात्मक द्वैत से विलक्षण (विपरीत) स्वभाव का रहने से वह (आत्मा) न ग्राह्य (उपादेय) है, न त्याज्य (हेय) है। क्योंकि हानोपादान (त्याग और ग्रहण) तो मूर्त पदार्थ का होता है। अमूर्त प्रत्यगात्मा में उनका होना संभव नहीं है। किंच—किसी अन्य तत्त्व के द्वारा उसकी कल्पना करना शक्य न होने से भी वह विशुद्ध है। समस्त कल्पनाओं के अधिष्ठान की किसी के द्वारा कल्पना नहीं की जा सकती। अतः आत्मा नित्य शुद्ध है, यह सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

अप्रकाशो यथाऽऽदित्ये नास्ति ज्योतिःस्वभावतः ।
नित्यबोधस्वरूपत्वान्नाज्ञानं तद्वदात्मनि ॥३७॥

अप्रकाश इति—**प्रकाशस्वरूप (ज्योतिःस्वभाव) होने के कारण जिस प्रकार सूर्य में अप्रकाश (अन्धकार) नहीं है, उसी प्रकार नित्यज्ञानस्वरूप [नित्यबोधरूप] होने से आत्मा में अज्ञान नहीं है ॥ ३७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की कल्पना क्यों नहीं की जा सकती ? ऐसी शंका यदि कोई करे तो उसका उत्तर स्पष्ट ही है कि कल्पना का हेतुभूत अज्ञान, वस्तुतः आत्मा में नहीं है। अज्ञान से कल्पित तो अनात्म पदार्थ हैं। अतएव आत्मा में उसका अभाव है। आत्मा तो प्रकाशस्वरूप है। जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा नित्यज्ञानस्वरूप होने से उसमें अज्ञान नहीं है ॥ ३७ ॥

---

१. (छां. उ. ६।१।४)
२. (बृ. उ. ४।४।१९)
३. (बृ. उ. ४।४।१९)
४. (भ. गी. ७।१४)

तथाऽविक्रियरूपत्वान्नावस्थान्तरमात्मनः ।
अवस्थान्तरवत्त्वे हि नाशोऽस्य स्यान्न संशयः ॥३८॥

तथेति—उसी प्रकार आत्मा निर्विकार रहने से उसमें [आत्मा में] कभी कोई अवस्थान्तर भी नहीं होता। यदि उसमें अवस्थान्तर हो तो निश्चय ही उसका विनाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जैसे आत्मा, नित्यबोधस्वरूप होने से उसमें वस्तुतः अज्ञान नहीं रहता, उसी तरह वह (आत्मा) सर्वविक्रियारहितस्वभाव (निर्विकार) रहने से उसमें कूटस्थताप्रच्युतिरूप अवस्थान्तर भी नहीं होता। यदि उसमें अवस्थान्तर हो तो निश्चय ही उसका नाश हो जायगा ॥ ३८ ॥

मोक्षोऽवस्थान्तरं यस्य कृतकः स चलो ह्यतः ।
न संयोगो वियोगो वा मोक्षो युक्तः कथंचन ॥३९॥

मोक्ष इति—जिसके मत में मोक्ष को आत्मा का अवस्थान्तर कहा गया है, उसके सिद्धान्त के अनुसार वह कृतक होने से अनित्य है, क्योंकि ब्रह्म के साथ आत्मा के संयोग अथवा वियोग को मोक्ष मानना किसी प्रकार उचित नहीं है ॥ ३९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जैसे आत्मा में कल्पितत्व नहीं, वैसे ही उसमें अवस्थान्तर भी नहीं—यह पूर्व श्लोक में बताया, किन्तु आत्मा का मोक्षावस्था को प्राप्त होना ही उसका अवस्थान्तर को प्राप्त होना स्पष्ट है। तब उससे अवस्थान्तर का अभाव कैसे माना जाय ? इस पर कहते हैं कि जिस वादी के मत में मोक्ष, आत्मा का अवस्थान्तर है, उसके मत के अनुसार मोक्ष अनित्य (कृतक) होने से उसे चल, विनाशी मानना होगा, तब वह मोक्ष ही नहीं कहलायेगा। उसे अपुरुषार्थ कहना पड़ेगा। मोक्ष को अवस्थान्तर जैसे नहीं माना जाता, उस तरह ब्रह्म के साथ आत्मा के संयोग को अथवा प्रकृति के वियोग को भी मोक्ष नहीं माना जा सकता ॥ ३९ ॥

संयोगस्याप्यनित्यत्वाद्वियोगस्य तथैव च ।
गमनागमने चैव स्वरूपं तु न हीयते ॥४०॥

संयोगस्येति—ब्रह्म के साथ संयोग और वियोग दोनों ही अनित्य होने के कारण उन्हें मोक्ष नहीं कहा जा सकता। उसी तरह दिव्य लोकों में जीव के गमनागमन को भी मोक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता है, यानी आत्मस्वरूप में कभी च्युति नहीं हुआ करती ॥ ४० ॥

हृदयस्पर्शिनी

ब्रह्मात्मसंयोग या प्रकृति से वियोग रूप मोक्ष के अनौचित्य में हेतु दे रहे हैं—'जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है'—यह नियम है, तदनुसार संयोग या वियोग को मोक्ष नहीं माना जा सकता। उसी तरह जीव का संसार देश से परमात्मा के देश में गमन अथवा अपने उपासक भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये परमात्मा के उनके प्रति आगमन को ही मोक्ष यदि कहें, तो वह भी उचित न होगा। क्योंकि जीव और परमात्मा दोनों ही निर्विकार (विकाररहित) होने से उनका गमनागमन होना संभव नहीं। इस प्रकार दूसरों के मतों में दोष दिखलाकर अपना निर्दुष्ट मत बताते हैं—'स्वरूपं तु न हीयते'—आत्मस्वरूप में कभी च्युति नहीं हुआ करती। अतः 'आत्मस्वरूप ही मोक्ष है' एवञ्च हमारे पक्ष में मोक्ष नित्य है ॥ ४० ॥

स्वरूपस्यानिमित्तत्वात्सनिमित्ता हि चापरे ।
अनुपात्तं स्वरूपं हि स्वेनात्यक्तं तथैव च ॥४१॥

स्वरूपस्येति—**स्वरूप का कोई कारण नहीं है, किन्तु अन्य [अवस्थान्तरादि] सकारण हैं। निष्कर्ष यह है कि 'स्वरूप' में अकार्यता है, किन्तु अन्य अवस्थान्तर आदि में कार्यता है, क्योंकि वे सकारण हैं। स्वरूप उसी को कहते हैं, जिसका ग्रहण [उपार्जन] अथवा त्याग किसी के द्वारा भी अर्थात् न अपने द्वारा और न किसी अन्य के द्वारा ही किया जा सकता है ॥ ४१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मस्वरूपात्मक मोक्ष के नित्य और अकार्य होने में हेतु बता रहे हैं—स्वरूप अनिमित्त है, अर्थात् स्वरूप का कोई कारण नहीं है, इसलिये वह अकार्य है। अन्य अवस्थान्तर आदि सकारण हैं (सनिमित्त हैं) इसलिए वे अनित्य हैं अर्थात् कार्य हैं। स्वरूप की अनिमित्तता उसके लक्षण से ही सिद्ध होती है। स्वरूप उसे कहते हैं, जो अपने द्वारा या दूसरे के द्वारा उपार्जन नहीं किया जाता और न त्यागा ही जाता है। उपार्जन (उपादान) इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह स्वरूपत्वेन नित्य है, और त्यागा इसलिये नहीं जा सकता कि वह स्वरूप होने के कारण ही त्यागने के योग्य नहीं है। तस्मात् अनिमित्त (निमित्तशून्य) होने से स्वरूप को नित्य ही कहना पड़ता है। लोकव्यवहार में भी देखा गया है कि वस्त्रादि का स्वरूप न उपादेय होता है और न हेय ही होता है। अतः वस्तुस्वरूप आगन्तुक नहीं है, अपितु नित्य है ॥ ४१ ॥

स्वरूपत्वान्न सर्वस्य त्यक्तुं शक्यो ह्यनन्यतः ।
ग्रहीतुं वा ततो नित्योऽविषयत्वात्पृ*थक्त्वतः ॥४२॥

स्वरूपत्वादिति—**सबका स्वरूप सब से अभिन्न रहता है, अतः आत्मा का ग्रहण या त्याग नहीं हो सकता। तथा किसी का विषय न होने के कारण भी उसका पृथक् रूप से त्याग या ग्रहण करना संभव नहीं है ॥ ४२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक से उक्त स्वरूपलक्षण को लक्ष्य (आत्मा) में संघटित कर रहे हैं—आकाशादि सबका स्वरूप होने से और आरोपित सर्प आदि के रज्जु की तरह आत्मभूत (अभिन्न) होने के कारण आत्मा का त्याग या ग्रहण करना संभव नहीं। अभिप्राय यह है कि अध्यस्त पदार्थ की सत्ता अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार रज्जु में प्रतीयमान सर्प, रज्जु से भिन्न नहीं, उसी तरह सबका अधिष्ठानभूत आत्मा सबसे भिन्न नहीं, किन्तु अभिन्न ही है। तथा किसी का विषय न होने के कारण भी आत्मा पृथक् रूप से ग्राह्य या त्याज्य नहीं है। अविषय का उपादान या स्वरूप का त्याग नहीं किया जाता ॥ ४२ ॥

आत्मार्थत्वाच्च सर्वस्य नित्य आत्मैव केवलः ।
त्यजेत्तस्मात्क्रियाः सर्वाः साधनैः सह मोक्षवित् ॥४३॥

आत्मेति—**सभी पदार्थ 'आत्मा' के ही लिये हैं। इसलिये 'आत्मा' ही नित्य और निरुपाधिक [केवल] है। अतः मुमुक्षु पुरुष साधनों के सहित समस्त कर्मों को त्याग दे ॥ ४३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की नित्यता में हेत्वन्तर दे रहे हैं—समस्त आगमापायी (उत्पाद-विनाशशील) पदार्थ (वस्तुएँ) आत्मा के लिए ही होती हैं। अर्थात् आत्मा की भोग्य होती हैं, अतः जो स्वयं अनागमापायी (उत्पत्तिरहित-विनाशरहित) और उनका भोक्ता होगा वही आत्मा है, वही नित्य है। वही केवल अर्थात् निरुपाधिक है। उपाधि से भी उसमें कोई विशेष नहीं हो पाता। जबकि आत्मा नित्य है, उसके अतिरिक्त सभी अनित्य हैं और आत्मार्थ हैं, तथा आत्मस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है, इतना स्पष्ट हो गया है। अतः मुमुक्षु को साधनों सहित समस्त कर्मों का त्याग कर देना चाहिए ॥ ४३ ॥

---

* त्वादपृथक् कृतः—पाठान्तरम् ।

आत्मलाभः परो लाभ इति शास्त्रोपपत्तयः ।
अलाभोऽ*न्यात्मलाभस्तु त्यजेत्तस्मादनात्मताम् ॥४४॥

आत्मलाभ इति—आत्मलाभ ही परमलाभ है, ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है तथा तर्कसंगत भी है। अन्य अनात्म पदार्थों का लाभ तो अलाभ ही है, यानी उसे 'लाभ' शब्द से कहना उचित नहीं है। इसलिये अनात्मता का त्याग करना चाहिये ॥ ४४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

मुमुक्षु को कर्म (क्रिया) का त्याग इसलिए भी करना चाहिए कि 'आत्मलाभान्न परं विद्यते'[1]—आत्मलाभ ही परमलाभ है—यह स्मृतिशास्त्र का सिद्धान्त है। इस प्रकार के अनेक शास्त्रवचन और उपपत्तियाँ हैं। 'सर्वस्व-त्यागेनापि आत्मसंरक्षणप्रवृत्तिदर्शनमुपपत्तिः'—सर्वस्व का त्याग करके भी आत्मरक्षण की प्रवृत्ति होती दिखाई देती है—यह उपपत्ति अर्थात् तर्क, युक्ति है। आत्मलाभ तो नित्यसिद्ध है, तब यह कौन-सी नवीन (अपूर्व) बात वताई जा-रही है ? नवीन बात यह कही जा रही है कि अन्यात्मलाभ जो है, वह वास्तवं में अलाभ ही है। अर्थात् अपने आत्मा के अज्ञान से निष्पन्न अहंकारादि में अभेदेन जो आत्मस्फुरण होता है, उसे अन्यात्मलाभ कहते हैं। उससे संसारदुःख प्राप्त होता है, इस कारण वह वास्तविक लाभ नहीं है। और वह स्वतःसिद्ध परमानन्दाविर्भाव के होने में प्रतिबन्धक बनता है, उस कारण भी उसे वास्तविक लाभ नहीं कह सकते। वह अन्यात्मलाभ, लाभ न होकर प्रत्युय क्षतिरूप ही है। इसलिए प्रमाणजनित ब्रह्मात्मज्ञान से अज्ञातबाध द्वारा अहंकारादिकों में अविद्या से अध्यारोपित आत्माभिमानतारूप अनात्मताबुद्धि का त्याग करना चाहिए ॥ ४४ ॥

गुणानां समभावस्य भ्रंशो न ह्युपपद्यते ।
अविद्यादेः प्रसुप्तत्वान्न चान्यो हेतुरुच्यते ॥४५॥

गुणानामिति—सृष्टि के सम्बन्ध में सांख्यदार्शनिकों के विचार का खण्डन कर रहे हैं—गुणों की साम्यावस्था का नाश [भ्रंश] होना संभव नहीं है, और वे सृष्टि के आरंभ से पूर्व अविद्या आदि अपने कारण में लीन रहते हैं, और उनसे भिन्न जो पुरुष है, उसे सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं माना गया है। अतः सृष्टि के सम्बन्ध में सांख्य के विचार उचित नहीं हैं ॥ ४५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अभी तक यह बताया गया कि आत्मतत्त्व को ब्रह्मरूप समझना ही आत्मलाभ कर लेना है, और वही परमलाभ है, परमपुरुषार्थ है—इस प्रकार का ब्रह्मात्मैक्यज्ञान मोक्ष का साधन है। आत्मा अद्वयानन्दरूप है, उसमें संसार की जो प्रतीति होती है, वह अज्ञान के कारण होती है, वास्तविक प्रतीति नहीं है। इस प्रकार अपना मत बता-कर, उसी में मुमुक्षुओं की बुद्धि को स्थिर करने के लिये अन्यान्य मतों के निराकरण का आरंभ करते हुए भगवान् भाष्यकार सृष्टि के विषय में सांख्यपक्ष का निराकरण अब कर रहे हैं—सांख्य का कहना है कि स्वतन्त्र, अचेतन, त्रिगुणात्मक जो प्रधान (प्रकृति) है, वह पुरुष (आत्मा) के भोगापवर्गार्थ महदादि (महत्तत्त्व आदि) के रूप में परिणत होता है। किन्तु उनका यह कथन संभव नहीं हो सकता। क्योंकि गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। उस प्रकृति (सत्त्व-रजस्-तमोगुणों) के सृष्टिपूर्वकालीन मेलनरूप समभाव का (साम्यावस्था का) ध्वंस (भ्रंश, प्रच्युति) अर्थात् पूर्वावस्था (साम्यावस्था) का त्याग कर अवस्थान्तरापत्ति (वैषम्यावस्था) रूप परिणाम होना संभव नहीं है। यदि ऐसा माना जाय कि प्रकृति के सर्गोन्मुख होनेपर उसके गुणसाम्य में विषमता हो जाती है। किन्तु यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि प्रश्न यह उपस्थित होगा कि गुणसाम्य में होनेवाला विषमतारूप परिणाम निर्हेतुक होगा या सहेतुक होगा ? यदि विषमतारूप परिणाम को निर्हेतुक अर्थात् बिना किसी कारण के ही माना जाय तो सर्वदा ही वह परिणाम होता रहेगा। और यदि अविद्या तथा अदृष्ट को उसका कारण कहें तो प्रकृति

१. (आप. ध. १।२२।२)
* ऽनात्म—पाठान्तरम् ।

के परिमाण से पूर्व वे उसी में लीन रहते हैं, इसलिए वे उस परिणाम के कारण नहीं बन सकते। पुरुष को कारण कहें तो वह उदासीन है। ईश्वर को कारण कहें तो सांख्य सिद्धान्त का ही भंग होगा, क्योंकि वह जगत् के उपादानरूप में ईश्वर को नहीं बताता, जगत् का उपादान तो प्रकृति को बताता है। अतः प्रकृति का महदादिरूप में परिणाम होना संभव ही नहीं हो रहा है। अतः सांख्यमत अनुपपन्न है ॥ ४५ ॥

इतरेतरहेतुत्वे प्रवृत्तिः स्यात्सदा न वा।
नियमो न प्रवृत्तीनां गुणेष्वात्मनि वा भवेत् ॥४६॥

इतरेति—**परस्पर एक दूसरे की प्रवृत्ति में गुणों को कारण कहा जाय तो सर्वदा ही प्रवृत्ति होती रहेगी अथवा प्रवृत्ति ही नहीं होगी। क्योंकि आत्मा अथवा गुणों में उनकी प्रवृत्ति का नियामक बन पाने का कोई हेतु उपलब्ध नहीं हो रहा है ॥ ४६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि सत्त्वादि गुणों को परस्पर एक दूसरे की प्रवृत्ति का कारण माना जाय तो किसी अन्य प्रयोजक (कारण) की प्रतीक्षा की अपेक्षा न रहने से सर्वदा ही प्रवृत्तिरूप परिणाम होता रहेगा, क्योंकि प्रवृत्ति का हेतु सर्वदैव विद्यमान है। या किसी विशेष के न होने से प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अर्थात् आत्मा में या गुणों में उनकी प्रवृत्ति का नियामक कोई हेतु नहीं है। इसलिये सदा प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति होगी—यह अभिप्राय है। सांख्य ने गुण और पुरुष के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं किया है, जो गुणों में या पुरुषों में स्थित रहकर प्रवृत्ति आदि का नियामक बन सके ॥ ४६ ॥

विशेषो मुक्तबद्धानां तादर्थ्ये न च युज्यते।
अर्थार्थिनोस्त्वसम्बन्धो नार्थी ज्ञो नेतरोऽपि वा ॥४७॥

विशेष इति—**यदि 'पुरुष' के भोगापवर्ग के लिये 'प्रधान' की प्रवृत्ति कहें तो बद्ध और मुक्त जीवों में कोई भेद ही नहीं हो सकेगा। इस सांख्यमत में 'अर्थार्थी' [शेष-शेषी] रूप सम्बन्ध ही नहीं बन सकता, क्योंकि 'जीव' भी अर्थी नहीं है, और 'प्रधान' भी अर्थी नहीं है ॥ ४७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यथाकथञ्चित् प्रधान की प्रवृत्ति मानी भी जाय, तो भी दोष प्रसक्ति का परिहार नहीं हो सकेगा। प्रधान को पुरुषार्थ के लिये (पुरुष के भोग-मोक्ष के लिए) यदि स्वीकार करें तो बद्ध और मुक्त जीवों का भेद (विशेष) उपपन्न न हो सकेगा। क्योंकि एक ही प्रधान सभी पुरुषों के लिये समान होनेपर उस एक (प्रधान) के व्यापार से किसी का बन्ध और किसी का मोक्ष ऐसा विभिन्न परिणाम (विभिन्न व्यवस्था) उपपन्न नहीं हो सकता। तथाच सभी लोग सर्वदा बद्ध या मुक्त ही रहेंगे। इस मत में अर्थ-अर्थी (शेष-शेषी) का सम्बन्ध ही नहीं बन सकता। क्योंकि जो चाहा जाता है, उसे 'अर्थ' अर्थात् सुख या तत्साधनरूप पदार्थ (वस्तु) कहते हैं, और उसके चाहने वाले को 'अर्थी' कहते हैं। उनका उपकार्योपकारक—भावसम्बन्ध हुआ करता है। वह सम्बन्ध प्रधानवाद में (सांख्य के मत में) घटित (संगत) नहीं हो सकता। क्योंकि न तो 'जीव' ही अर्थी है और न प्रधान ही। क्योंकि जीव (पुरुष) ज्ञानैकस्वभाव (ज्ञ) है, अतः उसे अर्थी मानना उचित न होगा। उसे तो असंग और निर्विशेष माना गया है। उससे भिन्न जो प्रधान है, उसे भी अर्थी नहीं कह सकते, क्योंकि वह तो जड़ है। तस्मात् प्रधान में परार्थत्व की कल्पना करना अनुचित है। उस कारण अर्थ-अर्थी में शेष-शेषिसंबंध नहीं हो पा रहा है ॥ ४७ ॥

प्रधानस्य च पारार्थ्यं पुरुषस्याविकारतः।
न युक्तं सांख्यशास्त्रेऽपि विकारेऽपि न युज्यते ॥४८॥

प्रधानस्येति—**सांख्यशास्त्र में भी 'पुरुष' को निर्विकार कहा गया है, उस कारण 'प्रधान' का पारार्थ्य बताना उचित नहीं है। यदि 'पुरुष' को यथाकथञ्चित् सविकार भी कहा जाय तो भी प्रधान का पारार्थ्य [परार्थ होना] सिद्ध नहीं किया जा सकेगा ॥ ४८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सांख्यशास्त्र ने भी प्रधान की जो परार्थता स्वीकार की है, वह भी पुरुष के निर्विकार होने के कारण युक्तियुक्त नहीं है। यदि प्रधान को पुरुष के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिये स्वीकार किया जाय तो पुरुष को विकारी मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि प्रधान के व्यापार से उसमें कोई फल ही न हुआ तो प्रधान की पुरुषार्थता ही क्या हुई ? और पुरुष का स्वामित्व ही क्या रहा ? किन्तु सांख्यमत में पुरुष को निर्विकार माना गया है। इसलिये प्रधान उसका उपकारक नहीं हो सकता। यदि प्रधान के प्रति पुरुष का स्वामित्व सिद्ध करने के लिये पुरुष में यथा-कथञ्चित् विकार को स्वीकार कर लिया जाय, तो भी प्रधान की परार्थता नहीं बन पा रही है। क्योंकि 'जो विकारवान् होता है, वह अनित्य होता है' इस नियम के अनुसार पुरुष को अनित्य मानना होगा, तब अनित्य पुरुष, नित्य प्रधान का उपकार्य नहीं हो सकेगा। अतः प्रधान, पुरुष के लिये है—यह नहीं कहा जा सकता ॥ ४८ ॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
मिथोऽयुक्तं तदर्थत्वं प्रधानस्याचितित्वतः ॥४९॥

सम्बन्धेति—**प्रकृति और पुरुष दोनों का परस्पर सम्बन्ध न हो सकने से और प्रकृति के जड़ होने से उसका पुरुष के लिये होना [परार्थ होना] कभी सम्भव नहीं है ॥ ४९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रधान और पुरुष के सम्बन्ध का जो अभाव बताया गया है, उसी को पुनः स्पष्ट कर रहे हैं—पुरुष, असंग और उदासीन है और प्रकृति जड़ है, उस कारण उसकी (प्रकृति की) स्वतः प्रवृत्ति हो नहीं सकती। इसलिये उन दोनों का उपकार्योपकारक भावसम्बन्ध होना असंभव है। एवंच सांख्य में प्रतिपादित प्रधान की परार्थता युक्ति-युक्त नहीं कही जा सकती। तात्पर्य यह है कि प्रकृति-पुरुष का परस्पर सम्बन्ध न हो सकने के कारण और प्रकृति के जड़ होने के कारण प्रधान (प्रकृति) का पुरुष के लिये होना कदापि संभव नहीं है ॥ ४९ ॥

क्रियोत्पत्तौ विनाशित्वं ज्ञानमात्रे च पूर्ववत् ।
निर्निमित्ते त्वनिर्मोक्षः प्रधानस्य प्रसज्यते ॥५०॥

क्रियेति—**पुरुष में क्रिया की उत्पत्ति यदि मानते हैं, तो पुरुष में विनाशित्व प्राप्त होता है और यदि उसमें केवल ज्ञानमात्र क्रिया का होना स्वीकार करते हैं तो पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है। अर्थात् पुरुष तो कूटस्थ है, उस कारण प्रधान के व्यापार से पुरुष का कोई उपकार नहीं हो सकता। यदि प्रधान की प्रवृत्ति निर्निमित्त ही माने तो पुरुष का कभी मोक्ष ही नहीं हो सकेगा ॥५०॥**

हृदयस्पर्शिनी

पुरुष में यत्किञ्चित् क्रिया की उत्पत्ति मानने पर उसका विनाशित्व सिद्ध होता है। क्योंकि ऐसी व्याप्ति (नियम) देखी जाती है—'यत् क्रियावत् तदनित्यम् यथा घटादि'। और सांख्य ने तो पुरुष को नित्य माना है। इस पर यदि कोई कहे कि पुरुष में परिस्पन्द या परिमाणरूप क्रिया मानने पर अनित्यत्व प्रसंग हो सकता है, किन्तु हम (सांख्य) परिस्पन्द या परिमाणरूप क्रिया का होना पुरुष में नहीं मानते। हम तो उसमें ज्ञानक्रिया को ही मानते हैं। तथापि पुनः यह प्रश्न होगा कि उस ज्ञान को जन्य मानते हो या अजन्य ? यदि जन्य ज्ञान का उससे सम्बन्ध कहो तो विकारित्व प्राप्त होने से अनित्यत्वापत्ति होगी। यदि अजन्य ज्ञान (नित्य ज्ञान) का उससे सम्बन्ध कहो तो प्रधान के व्यापार से पुरुष पर कोई उपकार नहीं हुआ। अर्थात् प्रधान के प्रति उसकी (पुरुष की) स्वामिता

सिद्ध नहीं हो पाई। एवञ्च उक्त दोष तदवस्थ ही रहा। तस्मात् पुरुष के असंग, उदासीन, अतिशयशून्य होने से उसमें प्रवर्तकत्व उपपन्न नहीं होता, और प्रधान के विकारों के अतिरिक्त अन्य किसी कारण को स्वीकार न करने से तथा प्रलय-काल में प्रधान के विकारों का स्वरूप न रहने से कोई प्रवर्तक दिखलाई नहीं पड़ता। अतः प्रधान की प्रवृत्ति को निर्निमित्त ही कहना होगा। निर्निमित्त मानने पर पूर्वोक्त अव्यवस्था ज्यों-की-त्यों ही बनी रही। प्रधान की निमित्तरहित प्रवृत्ति मानने पर पुरुष का मोक्ष कभी भी नहीं हो सकेगा ॥ ५० ॥

न प्रकाश्यं यथोष्णत्वं ज्ञानेनैवं सुखादयः।
एकनीडत्वतोऽग्राह्याः स्युः कणादादिवर्त्मनाम् ॥५१॥

नेति—**जिस प्रकार अग्नि का उष्णत्व उसके प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार एक ही आश्रय में स्थित रहने के कारण आत्मगत ज्ञान से उसके आनन्दादि गुणों का ग्रहण नहीं किया जा सकता ॥ ५१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यहाँ तक निर्गुण पुरुषवादी सांख्य के मत का निराकरण किया गया। अब सगुण पुरुषवादी वैशेषिकों के मत का निराकरण कर रहे हैं—सगुण पुरुषवादी वैशेषिक लोग आत्मा को सुख, दुःख, ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट मानते हैं। और आत्मगत सुखादि गुणों को आत्मगत (आत्मनिष्ठ) ज्ञान से ग्राह्य (प्रकाशित) मानते हैं। किन्तु यह संगत नहीं हो रहा है। तथापि अग्निनिष्ठ (अग्नि का, अग्निगत) उष्णत्व उसके प्रकाश से (अग्निनिष्ठ, अग्निगत प्रकाश से) प्रकाशित नहीं होता (प्रकाश्य, प्रकाशार्ह नहीं होता), उसी प्रकार वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार एक ही आश्रय में स्थित होने के कारण आत्मगत ज्ञान से उसके (आत्मा के) सुखादि गुण ग्राह्य नहीं हो सकते। विषय-विषयी की समानदेशता रहने पर यह ग्राह्य है, इस प्रकार भेद-नियम नहीं बन सकता ॥ ५१ ॥

युगपत्समवेतत्वं सुखविज्ञानयोरपि।
मनोयोगैकहेतुत्वादग्राह्यत्वं सुखस्य च ॥५२॥

युगपदिति—**किञ्च आत्मा के साथ सुख और ज्ञान का समवायसम्बन्ध होना शक्य नहीं है। तथा सुख का ग्रहण आत्म-मनःसंयोग से होता है। अतः किसी भी प्रकार से सुख का ग्राह्यत्व नहीं बन पाता है ॥ ५२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

केवल एकाश्रय होने से ही ज्ञान-सुखादिकों में भास्य-भासकता की अनुपपत्ति नहीं है, अपितु यौगपद्य के संभव न होने से भी है। सुख और ज्ञान का आत्मा के साथ एक ही समवाय सम्बन्ध का होना भी संभव नहीं है। अर्थात् सुख और विज्ञान में युगपत् समवेतत्व संभव नहीं है। क्योंकि वैशेषिकों के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान और सुखादि का असमवायिकारण आत्म-मनःसंयोग है, और वह आत्म-मनःसंयोग रूप असमवायिकारण आत्मा के केवल एक ही गुण के प्रति कारण होता है। अतः जिस समय सुखनिमित्तक आत्म-मनःसंयोग होगा, उस समय ज्ञाननिमित्तक संयोग न होने के कारण सुख का ज्ञान नहीं हो सकता और सुख के असमवायिकारणरूप उस मनः-संयोग का नाश होने पर सुख का भी नाश हो जायगा। इस प्रकार किसी भी तरह सुख की ग्राह्यता नहीं बताई जा सकती। संयोगान्तररूप असमवायिकारण के ज्ञान से सुख की ग्राह्यता प्रत्यक्षतः उपपन्न नहीं है। 'अपि' शब्द से समवाय की कल्पना भी प्रामाणिक नहीं है। 'च' शब्द से निरवयव आत्मा और मन का कोई प्रदेश न रहने से दो आत्माओं की तरह संयोग भी अनुपपन्न है। यदि दो विभु आत्माओं का संयोग मान भी लिया जाय तो उनका विभाग अनुपपन्न है। विभाग के न हो पाने पर संयोगान्तर (अन्य संयोग) की अनुपपत्ति होगी, तब ज्ञानादि कार्यों के क्रम की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। 'कोई भी कार्य, अपने असमवायिकारण के देश का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) नहीं किया करता' इस नियम के अनुसार यहाँ भी अणुपरिमाण मनःसंयोग अणुप्रदेशमात्रवर्ती रहने से उस का कार्य भी तन्मात्रवर्ती ही रहेगा, तब सकल शरीरगत आत्मवेदना के अप्रत्यक्ष होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, इत्यादि अनेक दोषों के होने की संभावना होगी ॥ ५२ ॥

तथाऽन्येषां च भिन्नत्वाद्युगपज्जन्म नेष्यते ।
गुणानां समवेतत्वं ज्ञानं चेन्न विशेषणात् ॥५३॥

तथेति—**उसी प्रकार एक-दूसरे से भिन्न होने के कारण दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि अन्य गुणों की भी उत्पत्ति एक साथ होना शक्य नहीं है। यदि 'उन सभी गुणों का आत्मा के साथ समवायसम्बन्ध होना ही उनका ज्ञान है' [ऐसा कहा जाय]—किन्तु यह कथन भी उचित न होगा, क्योंकि उन गुणों का विशेषण रूप से व्यवहार [ज्ञात सुख, ज्ञात दुःख] किया जाता है ॥ ५३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जैसे ज्ञान और सुख की युगपत् उत्पत्ति न होने से उनमें ग्राह्य-ग्राहकत्व की अनुपपत्ति बताई उसी प्रकार परस्पर भिन्न होने के कारण दुःख, इच्छा, प्रयत्नादि गुणों का भी एक साथ (युगपत्) उद्भव होना संभव नहीं है। क्योंकि एक आत्म-मनःसंयोग से अनेक कार्यों का होना संभव नहीं है। मूलगत 'च' से एक आश्रयवालों में विषय-विषयिभाव भी नहीं होता। सुखादिकों में ज्ञानभास्यता भले ही न रहे, एक आत्मा में उन सब का समवायसम्बन्ध से होना ही उनका ज्ञान है, किन्तु यह भी ठीक न होगा, क्योंकि 'ज्ञातं सुखम्, ज्ञातं दुःखम्'—इस प्रकार उनका विशिष्ट व्यवहार दृष्टिगत होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सुखादि, आत्मा के गुण न होकर आत्मा के विषय हैं और आत्मा उनका साक्षी है ॥ ५३ ॥

ज्ञानेनैव *विशेषत्वाज्ज्ञानाप्यत्वं स्मृतेस्तथा ।
सुखं ज्ञातं मयेत्येवं तवाज्ञानात्मकत्वतः ॥५४॥

ज्ञानेनैवेति—**सुख-दुःखादि गुणों का विशेषण 'ज्ञान' है, यह ऊपर बता चुके हैं। अतः सुख-दुःखादि गुण, ज्ञान के द्वारा विशेषित रहने से और 'मुझे सुख ज्ञात हुआ' ऐसी स्मृति होने से स्पष्ट होता है कि सुखादि की प्राप्ति में 'ज्ञान' साधन है। किन्तु तुम्हारे [वैशेषिकों के] मत में तो आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं कहा गया है। अतः सुखादि गुणों की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ५४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त कथन को ही और अधिक स्पष्ट करते हैं—ज्ञान के द्वारा सुखादि के विशेषित होने से वे सुखादि ज्ञान के द्वारा प्राप्य हैं। अर्थात् ज्ञान के द्वारा आहित संस्कारों से उत्पन्न स्मृति के विषय होने के कारण भी सुखादिकों में ज्ञानव्याप्यता समझनी चाहिए। 'मुझे सुख ज्ञात हुआ'—इस प्रकार स्मृति होने के कारण सुखादिक, ज्ञान के द्वारा प्राप्त (ग्राह्य) होते हैं। यदि सुखादि ज्ञान को ज्ञानविशिष्ट आत्मसमवेत होना ही मानते हो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिक आत्मविशेषगुणों का युगपत् समवाय होना संभव नहीं है। अन्यथा आत्मगत संख्या, परिमाण आदि गुणों का भी ग्रहण होने लगेगा। उसी तरह सुखादि ज्ञान को केवल आत्मसमवेत होना भी नहीं कह सकते क्योंकि तुम्हारे (वैशेषिकों के) मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप न होने के कारण सुखादि की सिद्धि नहीं हो सकती। वैशेषिकों के मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है, किन्तु मन के साथ आत्मा का संयोग होने पर उसमें ज्ञानादि गुणों का अनुभव होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा घटादि के समान केवल द्रव्यमात्र है। अतः जड़रूप होने से उससे समवेत होने मात्र से सुखादि की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि सभी तो जड़ हैं। तुम्हारे मत में ज्ञान भी स्वयं-प्रकाश नहीं है। अतः केवल आत्मसमवेत होने मात्र से सुखादि के ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ५४ ॥

सुखादेर्नात्मधर्मत्वमात्मनस्तेऽविकारतः ।
भेदादन्यस्य कस्मान्न मनसो वाऽविशेषतः ॥५५॥

सुखादेरिति—**तुम्हारे [वैशेषिकों के] मत के अनुसार भी 'आत्मा' निर्विकार, विभु और अनेक है। अतः सुखादि उसके धर्म तो हो नहीं सकते तथा भेद में किसी प्रकार की कोई विशेषता न रहने के कारण वे किसी दूसरे आत्मा या मन के धर्म क्यों नहीं होंगे ? ॥ ५५ ॥**

* विशेष्यत्वा०—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

ज्ञान, सुख आदि को आत्मा के गुण मानकर भास्य-भासक भाव को असंभव बताया, अब उन्हें आत्म-गुण कहना भी संभव नहीं, यह बता रहे हैं—क्योंकि वैशेषिकों के मतानुसार भी आत्मा विकाररहित होने के कारण सुखादि उसके धर्म हो नहीं सकते। उसी तरह आत्मा विभु होने के कारण उसे तुमने नित्य माना है। उसी तरह उसे अनेक भी माना है। तब कोई भी नित्य पदार्थ अनित्य गुण वाला हो, ऐसा कोई दृष्टान्त भी नहीं है। एवंच आत्मा का गुणवत्त्व ही सिद्ध नहीं हो पा रहा है। ग्राह्य-ग्राहकत्व की कल्पना तो दूर रही। किंच गुण-गुणी में अत्यन्त भेद मानने वाले तुम्हारे मत में इसी आत्मा के ये सुखादिक गुण हैं, यह नियम भी नहीं बन सकता। क्योंकि भेद में कोई विशेषता न होने के कारण वे सुखादिक किसी अन्य आत्मा के या मन के धर्म क्यों नहीं हो सकते? निष्कर्ष यह है—समस्त आत्माओं के विभु होने के कारण जिस शरीरावच्छिन्न आत्मा में सुखादि होंगे, उस समय वहाँ समस्त आत्माएँ विद्यमान होने से उनका भेद वहाँ ज्ञात नहीं हो सकता, इस कारण इसी आत्मा के ये सुखादि धर्म हैं, अन्य आत्मा के नहीं, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। यदि कहो कि जिस शरीरावच्छिन्न आत्मा के साथ मन का संयोग हो, उसी आत्मा के उन सुखादि धर्मों को समझा जायगा, एवंच भिन्न-भिन्न मनःसंयोगों को नियामक कहेंगे, तो वह भी ठीक नहीं रहेगा, क्योंकि शरीरस्थ मन का सभी आत्माओं के साथ समान सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न अदृष्टों को भी नियामक नहीं कह सकते, क्योंकि अदृष्ट भी आत्मा का धर्म है, यह अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है। अदृष्ट के हेतुभूत प्रयत्न आदि भी मनःसंयोग के निमित्त हुआ करते हैं। और वे सभी आत्माओं में समान हैं, उनमें कोई विशेषता (भिन्नता) नहीं होती। अतः अदृष्ट का भी कोई आश्रयविशेष (कोई एक ही आत्मा) सिद्ध नहीं हो पा रहा है। जहाँ कहीं भी होनेवाला सुखादि, जिस किसी का भी क्यों नहीं माना जा सकेगा? तथा मन में क्रिया के होने से और मूर्तता के होने से एवं सुखादिकों के देश (स्थान) का व्यभिचार न होने से सुखादिकों को मन के ही धर्म क्यों न माना जाय? न मानने में कोई विनिगमना (युक्ति) नहीं है ॥ ५५ ॥

स्यान्मालाऽपरिहार्या तु ज्ञानं चेज्ज्ञेयतां व्रजेत्।
युगपद्वापि चोत्पत्तिरभ्युपेताऽत इष्यते ॥५६॥

स्यादिति—**तुम्हारे मत के अनुसार यदि एक ज्ञान, दूसरे ज्ञान का विषय बन सकता है तो उन ज्ञानों की अनवस्था अनिवार्य हो जायगी और यदि उनकी उत्पत्ति एक साथ मान ली जाय तो रूप-रस आदि सभी ज्ञानों की एकसाथ उत्पत्ति माननी होगी ॥ ५६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वैशेषिकों ने एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान का विषय (वेद्य) होना स्वीकार किया है, किन्तु वह भी अनवस्था के कारण उचित नहीं है। वैशेषिकों के मतानुसार विषयज्ञान व्यवसायात्मक है और उसका पुनः ज्ञान अनुव्यवसायात्मक है। प्रत्येक व्यवसायात्मक ज्ञान अपने अनुव्यवसायात्मक ज्ञान का विषय होता है। इस प्रकार ज्ञान को ज्ञानान्तर का विषय मानने से अनुव्यवसायात्मक ज्ञान भी दूसरे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान का और दूसरा तीसरे का विषय होगा। इस प्रकार अनवस्था होगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ज्ञान किसी पूर्ववर्ती ज्ञान की अपेक्षा से ही होता है, अतः इस प्रकार से भी अनवस्था का दोष होगा। इसलिये ज्ञान को ज्ञानान्तर का विषय मानना उचित नहीं है। और यदि समस्त ज्ञानों को एक ही आत्म-मनःसंयोग से उत्पन्न हुआ कहें तो शब्द, स्पर्श, रूप,रसादि सभी ज्ञान एक साथ (युगपत्) होने लगेंगे। अभिप्राय यह है कि जिस आत्म-मनःसंयोग से प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे भिन्न किसी संयोगान्तर से तद्-विषयक अन्य ज्ञान होता है या उसी पूर्व संयोग से ही अन्य ज्ञान होता है? पूर्वज्ञान यदि ज्ञेयता को प्राप्त होता है तो ज्ञान-परम्परा (अनवस्था-ज्ञानमाला) का परिहार करना कठिन होगा। विषय के अवभास के समय यदि ज्ञान का अवभास नहीं होता है ऐसा कहें तो क्या विषय स्वयं ही भासित होता है? या ज्ञान के अधीन होकर भासित होता है? इसका विवेक करना शक्य न होने से उसी समय ज्ञान के भान के लिए ज्ञानान्तर को मानना होगा, उसका भी भान न हो पाने पर पूर्वज्ञान में ज्ञानान्तरभास्यता के सिद्ध न हो पाने से उसके भानार्थ पुनः एक ज्ञानान्तर—इस तरह अनवस्था

दुर्निवार्य हो जायगी। एवंच प्रथम ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर मन में क्रिया, उससे विभाग, उससे पूर्वसंयोग का नाश, उससे संयोगान्तर, तब कहीं ज्ञानान्तर—इस प्रकार से अनेक क्षणों के विलम्ब से उत्पन्न होनेवाला उत्तरज्ञान, पूर्वज्ञान का अवभासन कैसे कर पायगा ? क्योंकि उसका उस काल में अभाव ही रहेगा। इस प्रकार 'ज्ञानं चेद् ज्ञेयतां व्रजेत्' इस प्रथम पक्ष में दोष है। अब 'युगपद् वापिचोत्पत्तिः' इस द्वितीय पक्ष को स्वीकारते हैं, तो अतिप्रसक्ति दोष होगा। अर्थात् अनवस्था दोष को दूर करने के लिए एक ही संयोग से पूर्वोत्तर ज्ञानों की युगपत् उत्पत्ति को कहें तो उस एक ही संयोग से संनिकृष्ट रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शों के ज्ञानों की उसी समय युगपत् उत्पत्ति मान ली जाय, और उसी समय संस्कारोद्बोध संपात् में सहकारी लाभ होने से तदर्थक स्मृतियों का भी युगपत् उत्पन्न होना मान लिया जाय ? अतः ज्ञान को ज्ञानान्तर से वेद्य होने की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है ॥ ५६ ॥

अनवस्थान्तरत्वाच्च बन्धो नात्मनि *विद्यते ।
नाशुद्धिश्चाप्यसङ्गत्वादसङ्गो हीति च श्रुतेः ॥५७॥

अनवस्थेति—आत्मा में कभी कोई अवस्थान्तर नहीं होता है। अतः उसे बन्ध नहीं है तथा 'पुरुष असंग है' इस श्रुतिवचन के अनुसार उसके असंग होने के कारण उसमें अशुद्धि भी नहीं है ॥ ५७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

किंच—'आत्मनश्चैतन्यम्'—आत्मा का चैतन्य—यह आत्मा का स्वरूपलक्षण है या तटस्थलक्षण है ? यदि इसे स्वरूपलक्षण कहें तो पृथिवी में गन्ध की तरह सर्वदा ही उसके रहने से और उसका स्वरूप से अतिरेक (भिन्नता) न रहने से 'अनित्यज्ञानवान् आत्मा है' यह तुम्हारा उद्घोष मिथ्या हो जायगा। और यदि उसे तटस्थलक्षण कहें तो अनात्म पदार्थों में अतिप्रसक्त न होनेवाला कोई दूसरा ही स्वरूपलक्षण कहना होगा। वह स्वरूपलक्षण, चेतन के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता। अतः देहादि जड़ पदार्थों से विलक्षण आत्मा है—यही कहोगे, तब तुम्हें आत्मा को सदैव निर्विशेष, चिद्रूप, कूटस्थ ही स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा 'विकारी पदार्थ अनित्य होता है' इस नियम के अनुसार 'बन्ध-मोक्ष से सम्बन्धित (अन्वयी) एक ही आत्मा होता है',—यह कहना तुम्हारे लिये कठिन हो जायगा। इसी अभिप्राय को उक्त पद्य के द्वारा बता रहे हैं—वैशेषिकों की कल्पना कोई उचित नहीं है। वस्तुतः आत्मा में कोई अवस्थान्तर नहीं होता, क्योंकि वह तो कूटस्थ है, इसलिए उसमें वस्तुतः विशेषगुणवत्त्वरूप बन्ध नहीं है। 'च' कार से बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष भी नहीं है। अर्थात् आत्मा का न तो बन्ध है और न ही मोक्ष है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'[1]—पुरुष असंग है, इस श्रुति के अनुसार असंग होने के कारण उसमें अशुद्धि भी नहीं है तस्मात् आत्मा नित्य शुद्ध ही है। वैशेषिकों की कल्पना का निराकरण करने का फल यह है कि स्वगतधर्मकृत बन्धाभाव की तरह अन्यसंसर्गकृत अशुद्धि भी असंग होने के कारण उसमें नहीं है ॥ ५७ ॥

सूक्ष्मैकागोचरेभ्यश्च न लिप्यत इति श्रुतेः ।
एवं तर्हि न मोक्षोऽस्ति बन्धाभावात्कथंचन ॥५८॥

सूक्ष्मेति—किञ्च सूक्ष्मत्व, अद्वितीयत्व और अविषयत्व रूप हेतुओं से तथा 'आत्मा, लोकदुःखों से लिप्त नहीं होता'—इस श्रुतिवचन के अनुसार भी वह [आत्मा] नित्य शुद्ध है।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो बन्ध का अभाव रहने से किसी प्रकार मोक्ष भी नहीं हो सकेगा ॥ ५८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में पारमार्थिक बन्ध आदि के न होने में और भी कारण है—सूक्ष्मत्व (सूक्ष्मता) अर्थात् मन और वाणी से गम्य न होना 'मनोवागगम्यत्वम्', और अद्वितीयत्व अर्थात् एकत्व 'एकत्वमद्वितीयत्वम्', तथा अगोचरत्व (अविषयत्व) अर्थात् 'अगोचरत्वं निर्विशेषत्वम्'—इन हेतुओं से आत्मा की नित्य शुद्धता को ही बताया गया है[2]।

---

१. (बृ. उ. ४।३।१५)

२. 'न लिप्यते लोकदुःखेन'—(कठ. उ. ५।११)

* युज्यते०—पाठान्तरम्

कठश्रुति ने भी उसकी शुद्धता को प्रमाणित किया है। तथा गीता[1] का स्मृतिवचन भी उक्तार्थ का समर्थन कर रहा है। इतना भाव 'सूक्ष्मैका ···· ···· ··· इति श्रुतेः' इस अर्धश्लोक से बताया गया है। इसपर पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि क्या आत्मा की नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावता को सिद्ध करने वाले वेदान्ती लोग आत्मोपदेश शास्त्र को निरर्थक समझ रहे हैं ? अर्थात् वेदान्तियों के मतानुसार आत्मा को बन्ध का अभाव होने के कारण उसके मोक्ष की कोई बात ही नहीं है। मोक्ष तो बन्धपूर्वक होता है, बन्ध नहीं तो मोक्ष भी नहीं ॥ ५८ ॥

शास्त्रानर्थक्यमेव स्यान्न बुद्धेर्भ्रान्तिरिष्यते ।
बन्धो मोक्षश्च तन्नाशः स यथोक्तो न चान्यथा ॥५९॥

शास्त्रानर्थक्यमिति—उत्तर—**तथा च मोक्षप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ ही हो जायेगा। किन्तु मोक्षप्रतिपादक शास्त्र को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बुद्धि की भ्रान्ति को बन्धन और उस भ्रान्ति के नाश को मोक्ष माना गया है। इस बात को पहिले बता चुके हैं। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार का मोक्ष नहीं है ॥ ५९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

तथाच मोक्षोपायभूत उपदेशशास्त्र का आनर्थक्य ही रहेगा। उक्त आशंका का समाधान आचार्यचरण कर रहे हैं कि बुद्धि के भ्रम (भ्रान्ति) को बन्ध कहते हैं और उस भ्रम (भ्रान्ति) के नाश को मोक्ष कहते हैं। वस्तुतः आत्मा को न बन्ध है और न ही मोक्ष है। इस प्रकार 'अज्ञानं कल्पनामूलं संसारस्य नियामकम्' यह पहले बता चुके हैं। तथाच अज्ञान से कल्पित बन्धभ्रम के निवृत्त्यर्थ उपदेशशास्त्र की आवश्यकता है, उसे निरर्थक नहीं कहा जा सकता ॥ ५९ ॥

बोधात्मज्योतिषा दीप्ता बोधमात्मनि मन्यते ।
बुद्धिर्नान्योऽस्ति बोद्धेति सेयं भ्रान्तिर्हि धीगता ॥६०॥

बोधात्मेति—**बोधस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा से प्रकाशित हुई बुद्धि अपने ही में ज्ञान का होना समझती है कि मुझसे भिन्न कोई अन्य बोद्धा नहीं है, किन्तु इस प्रकार समझना बुद्धि की भ्रान्ति ही है ॥ ६० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पहले बता चुके हैं कि चिदात्मा में बुद्धिधर्म का अध्यासरूप बन्ध, अज्ञानमूलक है, उसी का उपपादन किया जा रहा है—बोध (ज्ञान) रूप आत्मा की जो ज्योति (प्रकाश) है, वही चिदाभास है, उससे प्रकाशित (दीप्त - व्याप्त) हुई बुद्धि, अपने में ही बोध (ज्ञान, चैतन्य) समझती है, और अपने से अतिरिक्त अन्य कोई बोद्धा नहीं है, 'मैं ही बोद्धा' इस प्रकार साभास बुद्धि प्रकाशित होती है। उसके अविवेक से आत्मा में 'मैं ही बद्ध हूँ, कर्ता हूँ' इत्यादि जो संसार प्रतीत होता रहता है, वह सब बुद्धि की ही भ्रान्ति है ॥ ६० ॥

बोधस्यात्मस्वरूपत्वान्नित्यं तत्रोपचर्यते ।
अविवेकोऽप्यनाद्योऽयं संसारो नान्य इष्यते ॥६१॥

बोधस्येति—**बोध (ज्ञान)** तो **आत्मा का ही स्वरूप है। बुद्धि में तो उसका नित्य उपचार किया जाता है। यह अविवेक के कारण होता है। यह अविवेक भी अनादि है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई संसार नहीं है ॥ ६१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रतीति के अनुसार बुद्धि को ही वस्तुतः बोधरूप क्यों न माना जाय ? इस आशंका का उत्तर यह है कि बुद्धि के आगन्तुक होने से बोध का व्यभिचार है, अतएव सुषुप्ति में बुद्धि के बिना भी बोध का सद्भाव रहने से (ज्ञान

१. 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥'—(भ. गी. १३।३२)

की सत्ता, विद्यमानता रहने से) आत्मा का स्वरूप तो विद्यमान ही है। बोध तो सर्वदा आत्मा का ही स्वरूप है। बुद्धि में तो उसका उपचार होता है। अर्थात् अविवेक के कारण अध्यास करके व्यवहार किया जाता है। यदि अविवेक के कारण यह अध्यास किया जाता है, तो वह अविवेक सादि है या अनादि ? यदि अनादि अज्ञानकृत अविवेक होने से उसे भी अनादि कहा जाता है, तो ब्रह्मात्मज्ञान से उस अविवेक की ही निवृत्ति कही जाय, संसार की निवृत्ति क्यों बताई जा रही है ? इस भ्रम का निवारण यह है कि कर्त्रादिधर्मक बुद्धि का जो अविवेक है, वही तो संसार है, उस अविवेक के अतिरिक्त अन्य कोई संसार नहीं है ॥ ६१ ॥

मोक्षस्तन्नाश एव *स्यान्नान्यथाऽनुपपत्तितः ।
येषां वस्त्वन्तरापत्तिर्मोक्षो नाशस्तु तैर्मतः ॥६२॥

मोक्ष इति—**उस अविवेक (अज्ञान) का नाश ही मोक्ष है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष उपपन्न नहीं हो सकता। जिनके मत में आत्मा का किसी अन्य वस्तु के आकार को प्राप्त होना 'मोक्ष' माना गया है, उन्हें उसके (आत्मा के) नाश को भी मोक्ष मानना होगा ॥ ६२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

बन्ध की अज्ञानात्मकता का फल बता रहे हैं—ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होनेपर अज्ञानकार्यरूप बन्ध की जो निवृत्ति है, उसे ही मोक्ष (मुक्ति) कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष, हेय या उपादेय के रूप में उपपन्न नहीं हो सकता। जो लोग स्व-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य वस्तु (वस्त्वन्तर) की प्राप्ति को या अपने स्वरूप का त्याग कर अन्य वस्तु के स्वरूपाकार होने को ही मोक्ष कहते हैं, उन लोगों को, आत्म-नाश को ही मोक्ष का स्वरूप मानना पड़ेगा। कोई वस्तु स्थित रहे या नष्ट हो जाय तो भी वह अन्य नहीं कहलाती। 'स्वरूपादन्यवस्त्वन्तरापत्ति' से यदि प्राप्ति विवक्षित है, तो 'संयोगा विप्रयोगान्ताः'[1] इस न्याय से कृतक की 'अनित्यत्व' के साथ व्याप्ति रहती है, अतः मोक्ष को अनित्य कहना होगा ॥ ६२ ॥

अवस्थान्तरमप्येवमविकारान्न युज्यते ।
विकारेऽवयवित्वं स्यात्ततो नाशो घटादिवत् ॥६३॥

अवस्थान्तरमिति—**इसी प्रकार आत्मा का अवस्थान्तर होना भी संभव नहीं है, क्योंकि वह विकाररहित (निर्विकार) है। यदि उसमें विकार होना माना जाय तो उसे सावयव कहना होगा। तब घट-पटादि के समान उसका नाश भी मानना पड़ेगा ॥ ६३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जैसे 'वस्त्वन्तरापत्तिर्मोक्षः' इस पक्ष में अनुपपत्ति और अनित्यत्वापत्ति होती है, उसी तरह 'आत्मनोऽवस्थान्तरापत्तिर्मोक्षः' पक्ष में भी वही दोष समानरूप से है। क्योंकि आत्मा निर्विकार है, अतः उसमें अवस्थान्तर होने की संभावना ही नहीं। यदि उसमें विकार माना जाय, तो उसे सावयव मानना होगा। तब सावयव रहने से घटादि के समान उसका नाश होना अपरिहार्य रहेगा। अतः 'भ्रान्तिनिवृत्तिरेव मोक्षः'—भ्रान्ति का ध्वंस हो जाना ही मोक्ष है ॥ ६३ ॥

तस्माद्भ्रान्तिरतोऽन्या हि बन्धमोक्षादिकल्पनाः ।
साङ्ख्यकाणादबौद्धानां मीमांसाह[र्]तकल्पनाः ॥६४॥

तस्मादिति—**अतः इस वेदान्तसिद्धान्त को न मानकर जिन लोगों ने बिना विवेक किये जो बन्ध-मोक्षादि की कल्पना की है, वह तो केवल उनका भ्रम ही है। वस्तुतः सांख्य, काणाद (वैशेषिक) और बौद्धों की वे कल्पनाएँ सर्वथा अविचारपूर्ण ही हैं ॥ ६४ ॥**

१. (महा. भा. स्त्रीपर्व २।३ तथा मोक्षपर्व ३३८।२०)

* स्यान्नान्योऽस्त्यनु०—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

अत: वेदान्त के सिद्धान्त से पृथक् विविध वादियों के द्वारा बन्ध-मोक्षादि की जो कल्पनाएँ की गई हैं, वे श्रुति-स्मृति के न्यायों से बाधित होने के कारण मानने योग्य नहीं हैं। परिशेषात् आत्मा के बन्ध-मोक्ष का जो प्रतिभास होता है, वह भ्रम ही है, ऐसा श्रुति आदि ने कहा है। बन्ध-मोक्ष के भ्रम के अतिरिक्त जो उनके स्वरूप की और उनके हेतुओं की कल्पनाएँ अन्य लोगों के द्वारा की गई हैं, वे कभी भी मानने योग्य नहीं है। सांख्य, कणाद और बौद्धों की कल्पनाएँ तो सर्वथा विचारशून्य ही हैं ॥ ६४ ॥

शास्त्रयुक्ति*विहीनत्वान्नादर्तव्याः कदाचन ।
शक्यन्ते शतशो वक्तुं दोषास्तासां सहस्रशः ॥६५॥

शास्त्रेति—**उन सांख्यादि दार्शनिकों की बन्ध-मोक्ष विषयक कल्पनाएँ शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध हैं। अतः उन कल्पनाओं में आदरबुद्धि नहीं करनी चाहिये। अर्थात् वे कल्पनाएँ उपेक्षणीय हैं। क्योंकि उन कल्पनाओं में सैंकड़ों-हजारों दोष बताये जा सकते हैं ॥ ६५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध होने के कारण वे कल्पनाएँ किसी भी तरह आदरणीय नहीं है, क्योंकि उनमें सैंकड़ों-हजारों दोष बताये जा सकते हैं ॥ ६५ ॥

अपि निन्दोपपत्तेश्च यान्यतोऽन्यानि चेत्यतः ।
त्यक्त्वाऽतो ह्यन्यशास्त्रोक्तौर्मतिं कुर्याद्दृढां बुधः ॥६६॥

अपीति—**'यान्यतोऽन्यानि' आदि वचनों से वेदान्तशास्त्र के अतिरिक्त शास्त्रों की निन्दा की गई है। अतः उन शास्त्रों के कथन की उपेक्षा करके विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्तों में सुदृढ निष्ठा रखे ॥६६॥**

हृदयस्पर्शिनी

मनु एवं सूत संहिता आदि में वेदान्तातिरिक्त शास्त्रों की निन्दा की गई है। अत: वेदान्त से भिन्न शास्त्रों की उपेक्षा करके बुद्धिमान् मुमुक्षु वेदान्तशास्त्र में ही अपनी निष्ठा को दृढ़ करे। मनु कहते हैं कि इस पृथ्वीपर वेदान्तशास्त्र से भिन्न जो विविध शास्त्र हैं, उन सब से धर्मशुद्धि चाहने वाला विद्वान् पुरुष सशंक रहे। जितनी भी वेदबाह्य स्मृतियाँ तथा कुतर्क हैं, वे सभी निष्फल हैं और मृत्यु के पश्चात् निरय में ले जाने वाली हैं ऐसा कहा गया है[1] ॥ ६६ ॥

श्रद्धाभक्ती पुरस्कृत्य हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
वेदान्तस्यैव तत्त्वार्थे व्यासस्याभिमते तथा ॥६७॥**

श्रद्धेति—**मुमुक्षु विद्वान् को चाहिये कि वह सब प्रकार की कुटिलता को त्याग कर श्रद्धा एवं भक्ति के साथ साक्षात् नारायणावतार भगवान् व्यास के द्वारा अभिमत वेदान्तगम्य तत्त्वार्थ में अपनी बुद्धि को लगावे और उसे उसी में स्थिर रखे ॥ ६७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

विद्वान् मुमुक्षु को चाहिये कि वह सर्वविध कुटिलता का त्याग करके श्रुत्युक्त अर्थ में विश्वास (श्रद्धा) और उसके प्रति तत्परता (भक्ति) के साथ भगवान् व्यास के अभिमतवेदान्त प्रतिपादित तत्त्व में ही अपनी बुद्धि को दृढ़ करे ॥ ६७ ॥

---

१. 'यान्यतोऽन्यानिशास्त्राणि पृथिव्यां विविधानि वै। शङ्कनीयानि विद्वद्भिर्धर्मशुद्धिमभीप्सुभिः'।
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥"—(मनु. १२।९५. सूत. सं. २।१४।१८)

* विरोधात्ता ना०—पाठान्तरम्। ** भिमतौ०—पाठान्तरम्।

इति प्रणुन्ना द्वयवादकल्पना निरात्मवादाश्च तथा हि युक्तितः ।
व्यपेतशङ्काः परवादतः स्थिरा मुमुक्षवो ज्ञानपथे स्युरित्युत* ॥६८॥

इतीति—**इस प्रकार द्वैतवाद की कल्पना और निरात्मवाद का युक्तिपूर्वक खण्डन कर दिया गया। अतः मुमुक्षु विद्वान् लोग अन्यान्य वादों में न फँस कर सब प्रकार की शङ्काओं (सन्देह) का परित्याग करके अर्थात् निःशङ्क होकर वेदान्तशास्त्रनिदिष्ट ज्ञानमार्ग में स्थिर हो जायें ॥ ६८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार भेदवाद की कल्पनाओं का युक्तिपुरःसर खण्डन किया गया, उसी तरह निरात्मवादी बौद्धों की कल्पनाओं का भी खण्डन किया गया। अतः मुमुक्षुगण वेदान्तातिरिक्त अन्यान्य शास्त्रीय वादों की ओर से निःशङ्क होकर वेदान्तोक्त ज्ञानमार्ग में सुस्थिर हो जायँ ॥ ६८ ॥

स्वसाक्षिकं ज्ञानमतीव निर्मलं विकल्पनाभ्यो विपरीतमद्वयम् ।
अवाप्य सम्यग्यदि निश्चितो भवेत् निरन्वयो निर्वृतिमेति शाश्वतीम् ॥६९॥

स्वसाक्षिकमिति—**इस आत्मसाक्षिक, अत्यन्त निर्मल, सब प्रकार की कल्पनाओं से विपरीत और अद्वय (अद्वैत) ज्ञान को प्राप्त करके मोक्षपथिक विद्वान् यदि सम्यक्तया निश्चय कर ले तो वह सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्यों के सम्बन्ध से रहित होकर नित्य शान्ति अर्थात् अखण्ड आनन्दानुभव को प्राप्त कर लेता है ॥ ६९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वेदान्तविहित ब्रह्मात्मज्ञान ही पुरुषार्थ का साधन है, इसलिये उसके स्वरूप को बताते हुए मुमुक्षुओं को तन्निष्ठ होने की आवश्यकता बता रहे हैं—इस स्वसाक्षिक (आत्मसाक्षिक), अत्यन्त निर्मल, त्रिविध प्रकार की कल्पनाओं के विपरीत, और अखण्डवस्तुमात्राकार (अद्वय) ज्ञान को प्राप्त कर साधक यदि सम्यक् प्रकार से निश्चय कर ले तो वह अज्ञान और उसके कार्य के सम्बन्ध से रहित होकर अखण्ड आनन्दानुभवस्वरूपाविर्भावरूप शाश्वती निर्वृति का अनुभव करता है ॥ ६९ ॥

इदं रहस्यं परमं परायणं व्यपेतदोषैरभिमानवर्जितैः ।
समीक्ष्य कार्या मतिरार्जवे सदा न तत्त्ववृग्स्वा†न्यमतिर्हि कश्चन ॥७०॥

इदमिति—**दोषरहित और अभिमानरहित मुमुक्षु विद्वान् इस परमगति रूप परम रहस्य का सम्यक् चिन्तन करके सर्वदा स्व-स्वरूप ब्रह्म में एकनिष्ठ हो जायें। आत्मा से भिन्न वस्तु में निष्ठा रखने वाला (अपने आराध्य को आत्मा से भिन्न मानने वाला) कोई भी पुरुष तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता ॥ ७० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यथोक्त ज्ञान के अधिकारी को बताते हुए तत्त्वनिष्ठा के स्वरूप को बता रहे हैं—जिसे पा कर शाश्वती निर्वृति को प्राप्त करता है, वह रहस्य एकमात्र उपदेशगम्य ही है। वह परमात्मतत्त्व का प्रकाशक होने से सर्वोत्तम (परम) है। वह निरवधिक सर्वाश्रय-परमगतिरूप (परायण) है। इस प्रकार आत्मज्ञान की सम्यक् आलोचना के द्वारा दृढ़ करे। इस प्रकार के आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों की बहिर्मुखता को दूर करना होगा, और पाण्डित्य आदि के कारण उत्पन्न हुए चित्तदोषों को दूर कर (अभिमानरहित होकर) शान्त-दान्त बनना होगा। ऐसा अधिकारी ही अपनी बुद्धि को समस्वरूप (आर्जव अर्थात् ऋजुभावापन्न) ब्रह्मात्मतत्त्व में परिनिष्ठित कर सकता है। ब्रह्मात्मतत्त्व ही सर्वदा, सर्वत्र एकरूप होने से 'ऋजु' कहलाता है। उसके स्वरूप को ही आर्जव कहते हैं। क्योंकि उसमें निर्विशेषता रहती है। तथाच ब्रह्माऽभेदेन आत्मज्ञाननिष्ठा को ही तत्त्वनिष्ठा कहते हैं। इसी को व्यतिरेककथन के द्वारा विशद (स्पष्ट) कर रहे हैं—जो कोई प्रत्यगात्मा से भिन्न वस्तु को ही ब्रह्म मानकर, यदि उसी में निष्ठा रखनेवाला है, तो

* त्यतः—पाठान्तरम् । † शाप्यमति०—पाठान्तरम् ।

वह वस्तुत: तत्त्ववेत्ता (तत्त्वदृक्, तत्त्वदृष्टिसम्पन्न) नहीं है। क्योंकि श्रुति कह रही है--'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'[1] तथा 'योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मि इति न स वेद'[2] ॥ ७० ॥

अनेकजन्मान्तरसंचितैर्नरो विमुच्यतेऽज्ञाननिमित्तपातकैः ।
इदं विदित्वा परमं हि पावनं न लिप्यते व्योम* इवेह कर्मभिः ॥७१॥

अनेकेति--**इस परम पवित्र आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानी पुरुष, जन्म-जन्मान्तर के सञ्चित अज्ञानजनित पापों से मुक्त हो जाता है, तदनन्तर पुनः वह इस लोक में आकाश के समान कर्मों से निर्लिप्त रहता है ॥ ७१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अत्यन्त प्रयत्न से लब्ध हुए ज्ञान का फल बता रहे हैं--इस परम पवित्र आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य जन्म-जन्मान्तर के सञ्चित हुए अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले पापों से मुक्त हो जाता है। तदनन्तर पुनः इस संसार के कर्मों से वह आकाश के ही समान लिप्त नहीं होता है ॥ ७१ ॥

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ॥७२॥

प्रशान्तचित्तायेति—**गुरु का भी यह कर्तव्य है कि जो अत्यन्त शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, दोषशून्य, शास्त्रोक्त स्वधर्म का आचरण करने वाला, सद्‌गुणसम्पन्न और अपने अनुकूल रहने वाला मोक्षकामी शिष्य हो, उसी को सतत इस आत्मज्ञान का उपदेश करे ॥ ७२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आचार्य का कर्तव्य बताते हैं—वह आचार्य गुरु अपने शिष्य को जब अच्छी तरह परख ले कि शिष्य अत्यन्त शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, दोषरहित, शास्त्रप्रतिपादित स्वधर्म का अनुसरण करने वाला तथा गुरु की आज्ञा का श्रद्धा-भक्ति से पालन करने वाला, गुणवान्, और अपने अनुकूल रहने वाला है, तब उस मोक्षेच्छु शिष्य को ही[3] इस आत्मज्ञान को सर्वदा दे, जिस किसी को शिष्य मानकर इस आत्मतत्त्व ज्ञान को न दे ॥ ७२ ॥

परस्य देहे न †यथाभिमानिता परस्य तद्वत्परमार्थमीक्ष्य च ।
इदं हि विज्ञानमतीव निर्मलं संप्राप्य मुक्तोऽथ भवेच्च सर्वतः ॥७३॥

परस्येति— **जिस प्रकार एक पुरुष के शरीर में दूसरे पुरुष को अभिमान नहीं होता है, उसी प्रकार अपने शरीर में भी अभिमानरहित हो जाय। यह तभी हो सकता है कि जब वह इस शरीर में परमार्थतत्त्व का साक्षात्कार कर ले, तथा इस अत्यन्त निर्मल ज्ञान को प्राप्त कर ले तभी वह सब ओर से सर्वथा मुक्त हो सकता है ॥ ७३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त प्रकार का शिष्य महावाक्य के द्वारा ज्ञात कराये जाने वाले आत्मतत्त्व को किस प्रकार से अवगत कर पाता है? और उससे उसे क्या फलप्राप्ति होती है? जिस प्रकार अपने से भिन्न दूसरे पुरुष के शरीर में किसी पुरुष को अभिमान नहीं होता अर्थात् मैं-मेरा इस प्रकार अभिमान नहीं होता, उसी प्रकार अपने शरीर में

१. (के. उ. ४, ५, ६, ७, ८)
२. (बृ. उ. १।४।१०)
३. 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति'—(बृ. उ. ४।४।२३ तथा गीता—६।३, २।६६, २।५८, १८।६६, २।१४, २।५३, १२।८, ४।३९, ४।४० तथा मोक्षधर्म प. ३१०।३५-३८ तथा भागवते ३।३२।३९-४२)
* नभवेद क—पाठान्तरम् ।
† यथात्ममानिता०—पाठान्तरम् ।

भी परमार्थतत्त्व का अर्थात् देहातिरिक्त आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अभिमानरहित होता हुआ इस अत्यन्त निर्मल ज्ञान को प्राप्त कर पुरुष सर्वथा मुक्त हो जाता है। अर्थात् अज्ञान और उसके कार्यभूत संस्कारों से रहित होकर परमानन्दानुभवरूप ब्रह्मात्मस्वरूप हो जाता है ॥ ७३ ॥

न हीह लाभोऽभ्यधिकोऽस्ति कश्चन स्वरूपलाभात् स इतो हि नान्यतः ।

न देयमैन्द्रादपि राज्यतोऽधिकं स्वरूपलाभं त्वपरीक्ष्य यत्नतः ॥७४॥

नहीति—**इस संसार में स्वरूपलाभ (आत्मलाभ) से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। वह लाभ वेदान्त-वाक्यों से ही हो सकता है, किसी अन्य उपाय (साधन) से नहीं। अतः इस आत्मलाभ को, जो इन्द्रलोक के राज्य से भी बढ़कर है, उसे प्रयत्न पूर्वक परीक्षा किये बिना किसी को नहीं देना चाहिये ॥ ७४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

गुणविशेषविशिष्ट शिष्य की परीक्षा करने की गुरु को आवश्यकता क्यों होती है? जिस किसी भी आये हुए शिष्य को यह आत्मविद्या क्यों नहीं दी जाती? इस संसार (देव-मनुष्यादि जन्मपरंपरा) में आत्मतत्त्वज्ञान (स्वरूपलाभ) से बढ़कर कोई दूसरा लाभ नहीं है[1]। और वह लाभ वेदान्तवाक्यों से ही हो सकता है, अर्थात् तत्त्व मस्यादि वाक्य का पदार्थविवेक करनेवाले मुमुक्षु को ही निःसंदिग्ध (निर्विचिकित्स) 'अहं ब्रह्म' इस प्रकार साक्षात्कार-रूप ज्ञान, जो वेदान्तवाक्य से उत्पन्न हुआ है, वही मोक्ष प्राप्त कराने में हेतु होता है; किसी अन्य शास्त्रान्तरों से नहीं होता है। इस कारण शिष्य की प्रयत्नपूर्वक परीक्षा किये बिना इस स्वरूपलाभ कराने वाले ज्ञान को नहीं देना चाहिये। क्योंकि यह लाभ इन्द्रलोक के राज्य से भी कहीं अधिक बढ़कर है। अतः ऐसे-वैसे किसी भी अनधिकारी शिष्य को यह ज्ञान कभी भी न दे। श्रुति ने भी यही आज्ञा दी है[2] ॥ ७४ ॥

॥ इति षोडशम्पार्थिवप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. 'आत्मलाभान्न परं विद्यते'—(आप. ध. १।२२।२)

२. 'प्राणाय्याय वान्तेवासिने नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूयः'—(छां. उ. ३।११।६)

सम्यङ्मतिप्रकरणम्

आत्मा ज्ञेयः परो ह्यात्मा, यस्मादन्यन्न विद्यते ।

सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्धस्तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥१॥

आत्मेति—तत्त्वजिज्ञासु मनुष्य को आत्मज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि सांसारिक जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, उन सबसे वह उत्कृष्ट है। तथा उससे पृथक् कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं। वह (आत्मा) सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा (सर्वसाक्षी) और शुद्ध है। उस ज्ञातव्य (ज्ञेय) स्वरूप आत्मा को मेरा नमस्कार है ॥ १ ॥

हृदयस्पर्शिनी

मोक्षसाधनभूत ज्ञान को परपक्ष का निराकरण करते हुए अभी तक बताया गया, अब अपनी प्रक्रिया के अनुसार भी उसे व्यक्त करने की इच्छा से प्रकरणान्तर का आरम्भ कर देवताभक्ति को विद्याप्राप्ति में अन्तरङ्ग साधन बताते हुए प्रणाम करने के व्याज से प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ को संक्षेप से बता रहे हैं। आत्मा का ज्ञान स्वरूपतः प्राप्त करना चाहिये। किन्तु घटज्ञान में ज्ञान का विषय मानकर घट का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस तरह आत्मज्ञान को नहीं मानना चाहिये। वह (आत्मा) यच्चयावत् समस्त ज्ञेय पदार्थों से उत्कृष्ट है। वह (आत्मा) ज्ञेयत्वधर्म से रहित है। क्योंकि उस आत्मा (स्वरूप) से भिन्न कोई अन्य पदार्थ, या उसका धर्म वस्तुतः नहीं है। तथाच—रूपरहित होने से चक्षुरादि इन्द्रिय का वह गोचर (विषय) नहीं है। तथा अपने तुल्य (स्व-समानजातीय) किसी अन्य व्यक्ति का प्रत्यक्ष न रहने से (प्रत्यक्ष व्यक्त्यन्तर के अभाव के कारण) व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) के न हो पाने के कारण अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण का भी वह विषय नहीं है। उसके सदृश अन्य वस्तु के न होने के कारण वह उपमान का भी विषय नहीं है। जाति, गुण, क्रिया आदि धर्मों के न होने से शब्दप्रमाण का भी वह विषय नहीं है। और ज्ञाता तो स्वरूप (आत्मा) ही है, उस कारण 'नास्ति'-नहीं है—यह भी स्वीकार नहीं कर सकते। परिशेषात् विषयभूत देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि का प्रत्याख्यान (निषेध) करते हुए अन्वेषण करने पर विषय के स्वरूप से रहित बल्कि समस्त विषयों का साक्षी ऐसा स्वयंप्रकाश आत्मा जानने योग्य है, अर्थात् ज्ञेय है। एवं त्वंपदार्थ शोधन कर, वह (त्वम्) तत् पदार्थरूप ही है, और वही वाक्यार्थ है, यह बताने के लिये 'तत्' पदार्थ को बता रहे हैं—ग्रन्थकार ने 'सर्वज्ञ' और 'सर्वदृक्' दो शब्दों का प्रयोग किया है। उनमें 'सर्वज्ञ' उसे कहते हैं, जो सामान्यतः सब जानता है—'सामान्यतः सर्वं जानातीति सर्वज्ञः'। और विशेषतः जो सब देखता है, उसे 'सर्वदृक्' कहते हैं—'विशेषतः सर्वं पश्यतीति सर्वदृक्'। सर्वज्ञत्व को उपलक्षण (तटस्थलक्षण) बताकर उसके स्वरूपलक्षण को कह रहे हैं कि वह अनृत, जड़, परिच्छिन्न, दुःखादि प्रपञ्च के संसर्ग से रहित, सत्य-ज्ञान-अनन्त-आनन्दरूप है। और 'तत्'-'त्वम्' इन दो पदार्थों का जो ऐक्य (एकता) वही वाक्यार्थ है। ऐसे सर्वज्ञत्वाद्युपलक्षित सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द, सर्वसाक्षी, शुद्ध, ज्ञेयस्वरूप आत्मा के लिये प्रणाम (प्रह्वीभाव) है। यहाँ पर 'भेददृष्टि का विलय' होना ही 'नमः' शब्द का अर्थ है ॥ १ ॥

पदवाक्यप्रमाणज्ञैर्दीपभूतैः प्रकाशितम् ।

ब्रह्म वेदरहस्यं यैस्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥२॥

पदवाक्येति—पद (व्याकरण), वाक्य (मीमांसा), और प्रमाण (न्यायशास्त्र) अर्थात् पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण प्रदीपस्वरूप जिन गुरुजनों ने ब्रह्म (परब्रह्म और वेद) के रहस्य को प्रकाशित किया है, उनके चरणारविन्दों में मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं न भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति)

हृदयस्पर्शिनी

देवताभक्ति की तरह गुरुभक्ति भी विद्या प्राप्ति[1] का अन्तरङ्ग साधन है। कहा भी है—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः'[2] ॥

इतना बताकर गुरुपरम्परा को प्रणाम कर रहे हैं। पद, वाक्य और प्रमाण के रहस्य को जानने वाले अर्थात् पदों की शक्ति और वाक्यों की तात्पर्यमर्यादा के अनुसार प्रमाणों को जानने वाले (पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ) अथवा पद-वाक्य और अनुमानादि को जानने वाले दीपकस्वरूप अर्थात् बिना आयास के ही सर्वार्थप्रकाशक जिन गुरुचरणों ने वेद के रहस्य को प्रकट किया है, उन्हें मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

यद्वाक्सूर्यांशुसंपातप्रणष्टध्वान्तकल्मषः ।
प्रणम्य तान् गुरून्, वक्ष्ये, ब्रह्मविद्याविनिश्चयम् ॥३॥

यदिति—**जिनकी वाणी स्वरूप रविरश्मियों के संस्पर्श से मेरे अज्ञानरूप पापराशि का ध्वंस हो गया है, उन गुरुचरणों में प्रणाम कर मैं ब्रह्मविद्या के निश्चायक न्याय को बता रहा हूँ ॥ ३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सामान्यतया आचार्यपरम्परा को प्रणाम करके विशेषतया अपने गुरु को प्रणाम करते हुए अपने उद्देश्य की प्रतिज्ञा करते हैं--जिसके वाक्यरूप रविकिरणों के सम्पर्क से मेरे अज्ञानरूप पापराशि का नाश हो गया, उस श्री गुरु को प्रणाम कर मैं ब्रह्मविद्या का निश्चय कराने वाले एक विशेष न्याय को बताऊँगा ॥ ३ ॥

आत्मलाभात्परो नान्यो, लाभः कश्चन विद्यते ।
यदर्था वेदवादाश्च, स्मार्ताश्चापि तु याः क्रियाः ॥४॥

आत्मेति—**संसार में आत्म लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। जिसे प्राप्त करने के लिये ही सम्पूर्ण वेदवाद और स्मृतिप्रतिपादित क्रियाएँ (कर्मकाण्ड) हैं ॥ ४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ब्रह्मविद्या का विनिश्चय किसलिये बताया जायगा ? उत्तर यही होगा कि आत्मलाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। जिसके लिये समस्त वेदवचन हैं और समस्त स्मार्तवचन हैं, और जो वेद-स्मृतिविदित कर्म-परक वचन हैं, वे भी चित्तशुद्धिपरम्परया आत्मलाभ के लिये ही हैं ॥ ४ ॥

आत्मार्थोऽपि हि यो लाभः, सुखायेष्टो विपर्ययः ।
आत्मलाभः परः प्रोक्तो, नित्यत्वाद्ब्रह्मवेदिभिः ॥५॥ ①

आत्मार्थ इति—**संसार में जिस लाभ (स्त्री-पुत्र-धन-गृह-आदि) को सुख का कारण समझा जाता है, वह भी सब आत्मा के लिये ही होता है। वे ही सुखसाधनीभूत पदार्थ, किसी समय, किसी-किसी के लिये दुःखप्रद भी हो जाते हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञ विद्वानों ने आत्मलाभ को परम लाभ कहा है, क्योंकि वह नित्य सुखमय है ॥ ५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पुत्र आदि के लाभ से आत्मलाभ श्रेष्ठ रहने पर भी पुत्रादि का परित्याग करना आवश्यक होने के कारण आत्मलाभ के उपाय का आश्रय करना उचित नहीं है, क्योंकि वह (पुत्रादिकों का आश्रय करना) भी आत्म-सुख में हेतु है—इस प्रकार की आशंका होती है, किन्तु उसका समाधान यही है कि संसार में सुख के लिये जिस

१. 'शास्त्रज्ञोऽपि स्वातंत्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्'—(मुं. उ. १।१।१२) भाष्ये तथा 'असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि-मूर्खवदेव उपेक्षणीयः—(गीताभाष्ये १३।२)

२. (श्वे. उ. ६।२३)

पुत्र-धनादिविषयक लाभ को अभीष्ट समझा जाता है, वह भी आत्मसुख के लिये ही है। इस पर भी पुनः शंका हो सकती है कि यदि पुत्र-धनादि के लाभ से ही आत्मसुख की प्राप्ति हो जाती है तो आत्मलाभार्थ आत्मज्ञान के लिये इच्छा क्यों रखनी चाहिये ? क्योंकि आत्मसुख दोनों में समान ही है। इस शंका का समाधान यह होगा कि संसार में पुत्र-धन आदि का लाभ, जो सुख का हेतु माना गया है, दुःख का हेतु भी हो जाया करता है, कदाचित् किसी के दुःख का हेतु उसका पुत्र ही बन जाता है। तस्मात् अन्यान्य लाभों की अपेक्षा आत्मलाभ ही परम श्रेष्ठ है। इसलिये सर्वसंगपरित्याग करके भी आत्मज्ञान का ही सम्पादन करना चाहिये। उसके नित्य होने से उसमें विपर्यय की आशंका होने का प्रश्न ही नहीं है। इसलिये ब्रह्मवेत्ताओं ने आत्मलाभ को परम लाभ कहा है। श्रुति भी कह रही है—'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् ~~सर्वस्मात्~~ सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति'[1] इति ॥ ५ ॥

स्वयं लब्धस्वभावत्वाल्लाभस्तस्य न चान्यतः ।
अन्यापेक्षस्तु यो लाभः सोऽन्यदृष्टिसमुद्भवः ॥६॥

स्वयमिति—**वह आत्मा तो स्वाभाविक रूप से नित्य प्राप्त ही है। उसको प्राप्त करने के लिये किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अन्य सांसारिक (लौकिक) साधन से आत्मलाभ की प्राप्ति नहीं होती। जिस लाभ की प्राप्ति में किसी अन्य साधन की अपेक्षा रहती है, उस लाभ की उत्पत्ति परापेक्ष (पराधीन) होती है। उस लौकिक अन्य (पर) साधन के न होने पर वह लौकिक लाभ भी क्षीण (नष्ट) हो जाता है, अतः वह लौकिक लाभ अनित्य है, किन्तु आत्मलाभ नित्य है, क्योंकि उसे किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, वह नित्य लब्ध (प्राप्त) ही है ॥ ६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मसुख के लाभ की पूर्वोक्त नित्यता को सिद्ध कर रहे हैं—वह आत्मलाभ, किसी अन्य के द्वारा प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह नित्यप्राप्तस्वरूप है अर्थात् वह किसी साधन (उपाय) से साध्य (प्राप्य) होने वाला नहीं है। जो लाभ अन्य की अपेक्षा रखता है, वह अन्य साधनों से उत्पन्न होने वाला होता है। उन अन्य साधनों का अभाव रहने पर उसका भी अभाव हो जाता है। अतः वह पुत्र-धन आदि से होने वाला सुखलाभ अनित्य है ॥६॥

अन्यदृष्टिस्त्वविद्या स्यात्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
ज्ञानेनैव तु सोऽपि स्याद्विरोधित्वान्न कर्मणा ॥७॥

अन्यदृष्टिरिति—**अनात्मा (जड़ पदार्थों) में आत्मदृष्टि अर्थात् अन्यदृष्टि को ही अविद्या कहते हैं, और उस अविद्या के विनाश को मोक्ष कहते हैं। उस मोक्ष की प्राप्ति (अविद्या का विनाश) ज्ञान से ही हो सकता है, कर्म से नहीं, क्योंकि वह ज्ञान ही 'अज्ञान' का विरोधी है ॥ ७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त श्लोक में अन्यापेक्ष लाभ को अन्यदृष्टिसमुद्भव कहा है। अर्थात् अनात्मलाभ अन्यदृष्टि-समुद्भव है। परन्तु यह 'अन्यदृष्टि' क्या है ? और अन्यदृष्टिसमुद्भव होने से अन्य पुत्रादि लाभ के अनित्य होने में क्या हानि है ? इस शंका के समाधान में कहते हैं कि 'अन्यस्मिन् अनात्मनि दृष्टिः प्रतीतिः यस्याः सा अन्यदृष्टिः'—अनात्मविषयक प्रतीति जिससे होती है, वह अविद्या ही यहाँ पर 'अन्यदृष्टि' शब्द से विवक्षित है। अर्थात् अनात्मा में आत्मदृष्टि रखना ही 'अन्यदृष्टि' है। ततश्च पुत्र-धनादि की प्राप्ति में ही जिस लाभ की प्रतीति होती है, वह अविद्याकृत भ्रान्ति के कारण होती है। वह लाभ की प्रतीति, स्वप्न के तुल्य है, उससे नित्य आत्मसुख की हानि होगी। तथाच अविद्या की निवृत्ति हुए बिना आत्मस्वरूप के नित्य सुख का लाभ होना संभव नहीं। अतः अविद्यानाश को ही मोक्ष कहा जाता है। अर्थात् नित्य निरतिशय परमानन्दाविर्भाव, जो अविद्या के नाश से ही होता है,

१. (बृ० उ० १।४।८)

① तथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते (छा.८.१), ब्रह्मविदाप्नोति परं (तै २.१) इत्यादीनां एकवाक्यता...
② पू.प - शब्दभेदात् अर्थभेदः, शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं - इति न्यायात् प्राप्ते।

वह अविद्यानाशरूपी मोक्ष, 'ज्ञान' से ही हो सकता है; 'कर्म' से नहीं, क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है; कर्म नहीं। तस्मात् सर्वकर्मपरित्याग करके आत्मज्ञान का संपादन करे ॥ ७ ॥

कर्मकार्यस्त्वनित्यः स्यादविद्याकामकारणः ।
प्रमाणं वेद एवात्र, ज्ञानस्याधिगमे स्मृतः ॥८॥

कर्मेति—कर्म से उत्पन्न होनेवाला फल (कर्मकार्य) अनित्य होता है, अविद्याजनित कामना ही उसकी कारण होती है। इस ज्ञान की प्राप्ति (अधिगम) में वेद को ही प्रमाण माना गया है ॥ ८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

विरोध न रहने से कार्यसहित अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष, कर्म के द्वारा भले ही न हो, तथापि स्वर्गप्राप्ति के समान कर्म के द्वारा नित्य पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी, तब ज्ञान की क्या आवश्यकता? इस शंका का समाधान यह है कि कर्म का फल अनित्य होता है, क्योंकि अविद्याजन्य कामना (इच्छा) ही उसमें हेतु है। ज्ञानसाध्य फल ही नित्य होता है, इसमें वेद ही प्रमाण हैं। तथाहि—'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते[1]', 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्[2]', 'तरति शोकमात्मवित्[3]' इत्यादि वेदवाक्यों को ही विद्वानों ने कर्मसाध्य के अनित्य होने में तथा ज्ञानसाध्य मोक्ष के नित्य होने में प्रमाण माना है ॥ ८ ॥

① **ज्ञानैकार्थपरत्वात्तु वाक्यमेकं ततो विदुः ।** ब्र.सू. १.१.४
एकत्वं ह्यात्मनो ज्ञेयं, वाक्यार्थप्रतिपत्तितः ॥९॥ तत्तु समन्वयात्

ज्ञानेति—वह वेद वस्तुतः एकवाक्य ही है, क्योंकि उसका, 'ज्ञान' ही एकमात्र फल है। उस एकवाक्य [महावाक्य] के अवान्तरवाक्य और महावाक्य के अर्थज्ञान से आत्मा की एकता ही जाननी चाहिये। अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

किंच—सम्पूर्ण वेद, अध्ययन-विधि से उपात्त होने के कारण उसका अपुरुषार्थ में पर्यवसान न होने से, परमपुरुषार्थ में ही पर्यवसान कहना होगा। तब सम्पूर्ण वेद को आत्मैक्यज्ञानपरक समझना होगा, जिससे उसका महातात्पर्य 'कर्म' में नहीं हो सकेगा। वाक्यप्रमाणकोविद लोग वेद को एकवाक्यरूप मानते हैं, क्योंकि ज्ञान ही उसका एकमात्र प्रयोजन है। वेद के 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि अवान्तर वाक्यार्थप्रतिपत्ति द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से आत्मा का एकत्व ही ज्ञेय है अर्थात् ब्रह्मैकत्व ज्ञेय है। क्योंकि आत्मतत्त्वज्ञान ही परम पुरुषार्थ का हेतु है। कर्मकाण्ड भी तत्त्वज्ञान के लिये अपेक्षित चित्तशुद्धि में हेतुभूत कर्मविधान द्वारा परम्परया परमपुरुषार्थ के साधन के रूप में स्वीकृत होता है। उस कारण एकार्थ में ही पर्यवसान होने से वेदवाक्य को एक ही वाक्य मानना युक्तियुक्त है ॥ ९ ॥

② **वाच्यभेदात्तु तद्भेदः, कल्प्यो वाच्योऽपि तच्छ्रुतेः ।**
त्रयं त्वेतत्ततः प्रोक्तं, रूपं नाम च कर्म च ॥१०॥

वाच्यभेदादिति—वाच्य (अर्थ) के भेद से शब्द (वाचक) भेद होता है, और शब्दभेद से वाच्यभेद की कल्पना की जाती है। अतएव भगवती श्रुति ने समस्त प्रपञ्च को नाम, रूप और कर्म त्रयरूप कहा है ॥ १० ॥

१. (छां. उ. ८।१।६)
२. (तै. उ. २।१)
३. (छां. उ. ७।१।३)

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहें कि 'आत्मा', 'ब्रह्म' आदि शब्द एक-दूसरे के पर्याय न होने के कारण उनके वाच्य 'आत्मा' और 'ब्रह्म' में अभेद नहीं हो सकता, अर्थात् 'आत्मा' और 'ब्रह्म' दोनों में एकत्व (ऐक्य) ज्ञान का होना उपपन्न नहीं हो सकता। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वाच्यों के भेद से शब्दभेद और शब्दभेद से वाच्यभेद की कल्पना करने पर ही वाच्यभूत जीव-ब्रह्म का भेद होने पर तद्वाचक दोनों शब्दों का अपर्यायत्व सिद्ध होता है। तथा अपर्यायत्व के सिद्ध होने पर वाच्यरूप जीव-ब्रह्म का भेद सिद्ध हो पाता है। अतः अन्योन्याश्रय (इतरेतराश्रय) दोष उपस्थित होता है। अभिप्राय यह है कि स्वरूपतः (स्वरूप से) भेद की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। इस पर प्रश्नकर्ता ने पुनः प्रश्न किया कि यदि भेद के अप्रामाणिक होने से एकत्व ज्ञान को उपपन्न कहो तो भेद भी प्रमाणसिद्ध है। क्योंकि "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म[१]" इस श्रुति ने उस आत्मा के अतिरिक्त (भिन्न) रूप, नाम और कर्म भी बताये हैं। अतः अनेकत्व (भेद) ही वेदार्थ है।

उस पर सिद्धान्ती, भेदवाद का खण्डन कर एकत्व को सिद्ध कर रहा है—वह कहता है कि 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इस श्रुति में समस्त शब्दविशेष का वाङ्मात्रत्व, रूपविशेष का चक्षुर्मात्रत्व, और कर्मविशेष का शरीरमात्रत्व बताया गया है। ये तीनों एक दूसरे से कल्पित हैं अर्थात् परस्परसापेक्षसिद्धि वाले हैं। इसलिये ये तीनों असत् हैं। भेद अन्योन्याश्रयदोष से ग्रस्त होने के कारण उस (भेद) को वस्तुतः जानना शक्य नहीं। अतः उसमें प्रामाणिकता नहीं है, तथापि कथञ्चित् लोकव्यवहारसिद्ध जो मिथ्या भेद है, उसीका केवल अनुवाद मात्र श्रुति ने वैराग्य पैदा करने के लिये किया है। अतः अद्वैत ज्ञान के होने में कोई विरोध नहीं है। अथवा—सम्पूर्ण वेद को एकार्थज्ञानपरक होने मात्र से एकवाक्य कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि अपुनरुक्त शब्दभेद के कारण अर्थभेद की प्रतीति हो रही है। ऐसी शंका यदि कोई करे तो सिद्धान्ती कहता है कि शंका करने वाले की शंका करना उचित है, तथापि उन अपुनरुक्त शब्दों का तात्पर्य अर्थभेद में नहीं है। क्योंकि भेद (द्वैत) तो प्रमाणों से, युक्तियों से बाधित हो चुका है। वाच्यभेद के प्रामाणिक रहनेपर उसमें तात्पर्य रखने वाले शब्दों के भेद से अनेक वाक्य सिद्ध हुआ करते हैं। वाच्यभेद भी वाचक-शब्दभेद के श्रवण से कल्प्य है, अन्यथा वाच्यभेद को सिद्ध करने का अन्य कोई प्रकार नहीं है। अर्थतत्त्व का निश्चय करना शब्द के अधीन नहीं होता, क्योंकि आरोपित विषय में भी शब्दभेद (भिन्न शब्द) दिखाई पड़ते हैं तथा शब्द-निश्चय करना भी अर्थ के अधीन नहीं है, क्योंकि एक ही पुरुष व्यक्ति में पिता, भ्राता, मातुल, जामाता, पितृव्य इत्यादि उपाधिभेदों से अपुनरुक्त शब्दभेद दिखाई देते हैं। उक्त उदाहरण में प्रतियोग्युपाधिभेद के विना वस्तु का भेद नहीं हुआ है। तथाच अनादि अविद्या से कल्पित अनेक उपाधियों के भेद से युक्त अनेक कर्त्रादि कारक भेद का अनुवाद कर, ज्ञान के लिये अपेक्षित अन्तःकरणशुद्धि के साधनभूत कर्मविधिपरक होने से कर्मकाण्ड और आत्मतत्त्व-ज्ञानकाण्ड के वाक्यों की एकवाक्यता उपपन्न हो जाती है। और निरतिशयानन्द तथा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप फल की इच्छा सभी को स्वाभाविक रूप से रहती है। उस इच्छा की पूर्ति का उपाय एकमात्र आत्मतत्त्वज्ञान ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः अविद्या के समान अवस्थारूप उपाधि के भेद से अधिकारी का भेद और प्रयोग का भेद उपपन्न हो जाता है। एवंच एकपुरुषापेक्षित एकमात्र परमपुरुषार्थ के एकमात्र साधन का प्रकाशक होने से वेद की एकवाक्यता (वेद को एक महावाक्य) कहना उचित ही है। इस रीति से द्वैत के अविद्याकल्पित होने में युक्ति बताकर अब प्रमाण भी बताते हैं। जबकि इस प्रपञ्च के आकारभेद का निरूपण नहीं किया है, उस कारण यह जो सम्पूर्ण दृश्य नाम, रूप और कर्म है, इन तीनों को सामूहिक रूप में (राशि के रूप में) श्रुति ने कह दिया है। और हेतु बताते हुए तत्तद्विशेषों का प्रविलापन कर अर्थात् भेद का निराकरण कर उसे सामान्य रूप से इनका त्रित्व बता कर ये तीनों (यह त्रय) एकमात्र 'सत्' आत्मा ही है, इस प्रकार अन्त में यह स्पष्ट बताया है कि यह एकमात्र सत्स्वरूप आत्मा ही है, ये तीन नहीं हैं और यह सम्पूर्ण जगत् एक आत्मस्वरूप ही है, इसमें तात्त्विक भेद नहीं है ॥१०॥

असदेतत्त्रयं *तस्मादन्योन्येन हि कल्पितम्।
कृतो †वर्णो यथा शब्दाच्छ्रुतोऽन्यत्र धिया बहिः ॥११॥

१. (बृ. उ. १।६।१)

* कस्मा—पाठान्तरम्। † रुपां०—पाठान्तरम्।

असदिति—ये तीनों (नाम, रूप, कर्म) कल्पित (मिथ्या) हैं, क्योंकि इन तीनों की कल्पना, परस्पर एक दूसरे से की जाती है। जैसे शब्द के द्वारा श्रुत तथा बुद्धिपूर्वक बाहर भित्ती आदि पर लिखे हुए वर्ण मिथ्या होते हैं ॥ ११ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में सम्पूर्ण प्रपञ्च को समग्र रूप से 'नाम, रूप, और कर्म'—इस प्रकार त्रिविध बताया। इन तीनों की परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से कल्पना की जाती है, उस कारण ये मिथ्या हैं। जिस प्रकार शब्द द्वारा सुने गये वर्ण अर्थात् इन्द्रादि रूपविशेष सहस्राक्ष, वज्रबाहुत्व आदि की अपनी बुद्धि से कल्पना कर बाहर भित्ति आदि पर काढ़े हुए वर्ण की तरह कल्पित मिथ्या होते हैं। निष्कर्ष यह है कि जब हम चित्र में किसी देवता आदि का (सहस्राक्ष-वज्रबाहु वाला) रूपविशेष देखते हैं, वैसा ही वास्तविक रूप इन्द्र का नहीं रहता है। अतः शब्द, मिथ्या अर्थ को बताता है ॥ ११ ॥

दृष्टं चापि यथा रूपं बुद्धेः शब्दाय कल्पते ।
एवमेतज्जगत्सर्वं भ्रान्तिबुद्धिविकल्पितम् ॥१२॥

दृष्टमिति—जिस प्रकार चित्र में किसी देवता आदि का रूप देखते हैं, तब वह देखा हुआ (दृष्ट) रूप, 'यह राम, कृष्ण' आदि देवता का ज्ञान (बुद्धि) उत्पन्न कराता है, और वह ज्ञान शब्दव्यवहार का कारण बन जाता है, किन्तु वह कल्पनाजनित होने के कारण मिथ्या ही है। उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् भ्रान्त बुद्धि के द्वारा ही कल्पित हैं, अतः भ्रमजनित होने के कारण मिथ्या ही है ॥ १२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

शब्द से मिथ्या अर्थकल्पना को बताकर अब मिथ्या अर्थ से शब्दकल्पना को बताते हैं। किसी भित्ति पर या कपड़े पर चित्रित किये गये देवता रूप को देखने से संस्कृत हुई बुद्धि में ठीक उसी तरह वह रूप समा जाता है और तदनुसार शब्दव्यवहार किया जाता है। उसी तरह यह सम्पूर्ण जगत् भ्रान्त बुद्धि से कल्पित हुआ है। जैसे भ्रान्त बुद्धि से (मिथ्या ज्ञान से) शुक्ति में रजत की कल्पना की जाती है, वैसे ही आत्मा में विविध नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् की भ्रान्त बुद्धि से (मिथ्या ज्ञान से) कल्पना की गई है, वस्तुतः वह 'सत्' नहीं है ॥ १२ ॥

असदेतत्ततो युक्तं, *संविन्मात्रं न कल्पितम् ।
वेदश्चापि स एवाद्यो, वेद्यं चान्यत्तु कल्पितम् ॥१३॥

असदिति—अतः इस प्रपञ्च को मिथ्या कहना उचित ही है। केवल सत्-चित् स्वरूप आत्मा ही ऐसा है, जो कल्पित नहीं है। उसी तरह पूर्वसिद्ध आत्मा ही वेद है जो ज्ञान का हेतुभूत है। और वही वेद्य (ज्ञेय) है, उसके अतिरिक्त सभी कल्पित है। अतः सब मिथ्या है। ज्ञान के हेतुभूत श्रुति (वेद) और आचार्य भी आत्मस्वरूप ही हैं। क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अनात्म (जड़) पदार्थों में अर्थ को प्रकट करने की शक्ति नहीं होती ॥ १३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जगत् को मिथ्या सिद्ध कर देने पर यही कहना होगा कि सभी यदि कल्पित हैं तो बौद्धों के शून्यवाद में और सभी को कल्पित कहने में अन्तर ही क्या रहा ? इस शंका के उत्तर में बता रहे हैं कि बिना अधिष्ठान (निरधिष्ठान) कल्पना नहीं होती। समस्त कल्पनाओं के करने योग्य अधिष्ठान सच्चिन्मात्र (प्रत्यक् तत्त्व) है, वह सब का साक्षी होने से समस्त कल्पनाओं के पूर्व से ही सिद्ध है, अतः वही एकमात्र कल्पित नहीं है। किन्तु पुनः शंका होती है कि आत्मतत्त्वज्ञान के हेतुभूत वेद और आचार्य भी कल्पित नहीं है, तब सच्चिन्मात्र को ही अकल्पित कैसे कहा गया ? सच्चित्स्वरूप आत्मा कल्पित नहीं और पूर्वसिद्ध आत्मा ही वेद और वेद्य भी है। वही श्रुति तथा आचार्य के रूप में माया के द्वारा प्रकट किया जाता है क्योंकि अर्थप्रकाशन की शक्ति का होना जड़ पदार्थ में कभी संभव नहीं। अग्नि की प्रकाशन शक्ति से भिन्न कोई अन्य (अपर) प्रकाशनशक्ति दीपक की नहीं हुआ करती। आत्मतत्त्व ही एकमात्र वेद्य है, वही पूर्वसिद्ध है। उसके अतिरिक्त जो भी विशेष है, वह सभी कल्पित है। तथाच कल्पित विशेष का अनुगत

* सच्चिन्मात्रं०—पाठान्तरम् ।

① स चक्षुर्दर्शनाय, पश्यन् चक्षुः इत्यादि श्रुतिभ्यो ज्ञायते एकैवात्मा स्वप्रकाशकप्रकाशरूपचक्षुरादि-
कारणरूपेण स्वप्ने भासते। सर्वं सन् सर्वं पश्यति इति च श्रुतेः। ② भ्रान्तियुक्तत्वात् आत्म-
नामो, तेनोत्पन्ना ज्ञानादिरूपा क्रिया यस्य सः बुद्धिकल्पितमर्थं प्राप्नोति तेन च व्यवहरति।

होने के कारण आत्मा ही बोधक है और समस्त कल्पनाओं के अपवाद (बाध) की अवधि होने के कारण वह आत्मा ही बोध्य है, यह समझना चाहिये ॥ १३ ॥

येन वेत्ति स वेदः स्यात्स्वप्ने सर्वं तु मायया ।
येन पश्यति तच्चक्षुः, शृणोति श्रोत्रमुच्यते ॥१४॥

येनेति—**स्वप्नावस्था में पदार्थों का ज्ञान जिसके द्वारा होता है, उसे वेद (आत्मा) कहते हैं। उस स्वप्न में जो वेद्य (ज्ञेय) है, वह भी माया से कल्पित है, उसे देखने वाला (स्वप्नद्रष्टा) वह आत्मा ही है। उस समय जिसके द्वारा वह आत्मा (जीव) देखता है, उसे चक्षु कहते हैं और जिसके द्वारा वह सुनता है, उसे श्रोत्र कहते हैं ॥ १४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसी कथन को स्वप्न का दृष्टान्त देकर समझाते हैं—वही पूर्वसिद्ध आत्मा, आद्य (वेद) और वेद्य है।[1] स्वप्नावस्था में जिसके द्वारा समस्त स्वाप्न पदार्थों का ज्ञान होता है, वही वेद है। स्वप्न में चिदात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भासक नहीं है। उस समय आदित्यादि ज्योतियों का उपरम रहता है। यह आत्मा तो स्वयं ज्योतिःस्वरूप[2] है। उस स्वप्नावस्था में जो भी कुछ है वह सब माया के कारण वेद्य है। अतः वह आत्मा भी वेद्य है। स्वप्न में अवकाश न रहने से कोई बाह्य विषय नहीं रहता। तथाच (आत्मा की) स्वसाक्ष्यभूत मायाकृत उपाधि के भेद से युक्त हुआ वह आत्मा ही अपने से (आत्मना) वेद्य होता है। और उसमें अनुस्यूत चिद्रूप से वेदनरूप भी होता है, इस प्रकार 'वेद्य-वेदितृभाव' मायिक है। स्वप्नावस्था में चक्षुरादि इन्द्रियों का उपरम होने से स्वप्नगत आत्मा, जिससे रूप देखता है, वही चक्षु है ऐसा समझना चाहिये। तथा जिसके द्वारा सुनता है, वह श्रोत्र कहलाता है ॥ १४ ॥

येन स्वप्नगतो वक्ति, सा वाग्घ्राणं तथैव च ।
रसनस्पर्शने चैव, मनश्चान्यत्तथेन्द्रियम् ॥१५॥ ①

येनेति—**जिसके द्वारा स्वप्न में बोलता है, वह वाणी है, और जिससे सूँघता है, वह घ्राण कहलाता है। इसी प्रकार रसना, त्वचा और मनरूप अन्य इन्द्रियों को भी समझना चाहिये ॥ १५ ॥**

कल्प्योपाधिभिरेवैतद्भिन्नं ज्ञानमनेकधा ।
आधिभेदाद्यथा भेदो, मणेरेकस्य जायते ॥१६॥

कल्प्येति—**जिस प्रकार नील-पीत आदि उपाधियों के भेद से एक ही मणि में भेद की प्रतीति होने लगती है, उसी प्रकार स्वप्नकल्पित चक्षु-श्रोत्रादि विभिन्न उपाधियों के कारण यह एक ही 'ज्ञान' चाक्षुष ज्ञान, श्रावण ज्ञान आदि अनेक प्रकार के भेदों को प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

एकरूप चैतन्य अर्थात् एक ही ज्ञान वेदादिरूप से अर्थात् वेद्य-वेदक-चक्षुरादि रूप से अनेक प्रकार के भेदों को कैसे प्राप्त होता है? स्वप्न-कल्पित अनेक उपाधियों के कारण यह एक ही ज्ञान अनेक प्रकार के भेदों को प्राप्त हो जाता है। जैसे नील-पीतादि उपाधियों के भेद से एक ही स्फटिकमणि में अनेक भेदों की प्रतीति होती है। वस्तुतः ज्ञान एक ही है, किन्तु चक्षुःश्रोत्रादि विभिन्न उपाधियों के कारण चाक्षुष ज्ञान, श्रावण ज्ञान आदि विभिन्न रूप से व्यवहार किया जाता है ॥ १६ ॥

जाग्रतश्च *तथा भेदो, ज्ञानस्यास्य विकल्पितः ।
बुद्धिस्थं व्याकरोत्यर्थं, भ्रान्त्या तृष्णोद्भवक्रियः ॥१७॥ ②

---

१. (बृ. उ. ४।३।९)
२. (बृ. उ. ४।३।९)
* यथा०—पाठान्तरम् ।

जाग्रत इति—जिस प्रकार स्वप्न में कल्पित उपाधियों के कारण एक ही ज्ञान के अनेक भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के ज्ञान का भेद भी आरोपित है, जिसमें अज्ञानवश कामनाजनित क्रिया की प्रतीति होती है, और यह जीव (आत्मा) बुद्धि में स्थित विषय को आत्मगत (अपना) समझ कर व्यवहार करता रहता है ॥ १७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जैसे स्वप्न में कल्पित अनेक उपाधियों के कारण निर्भेद ज्ञान समस्त व्यवहार के योग्य रहता है, उसी प्रकार जागरित में भी उसकी अशेष व्यवहारास्पदता उपपन्न है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था के चिद्रूप ज्ञान का भेद भी आरोपित है। अज्ञान से आवृत आत्मा प्रथमतः बुद्धि की कल्पना करता है, तब बुद्धि के आवरण को धारण करता है और अविवेक के कारण भ्रान्त होकर बुद्धिस्थित अर्थ (पदार्थ) को स्वात्मगत समझ बैठता है, उस कारण तदनुसार व्यवहार करने लगता है अर्थात् भ्रमप्रयुक्त तृष्णादि (इच्छा) से उत्पन्न हानोपादानव्यवहाररूप क्रिया करता है। तात्पर्य यह है कि अविद्या के कारण उपस्थापित अन्तःकरण, परिणामावस्था को अवभासित करता हुआ अविवेक के कारण अनेकरूप प्रपञ्च की अपने में कल्पना करता हुआ व्यवहार करता रहता है ॥ १७ ॥

स्वप्ने तद्वत्प्रबोधे यो, बहिश्चान्तस्तथैव च ।
आलेख्याध्ययने यद्वत्तदन्योन्यधियो* द्भवम् ॥१८॥

स्वप्न इति—जिस प्रकार स्वप्न में व्यवहार होता है, उसी प्रकार जाग्रत् में भी होता है। तथा स्वप्न में जैसे आन्तर-बहिर्भाव की कल्पना होती है, वैसे ही जाग्रत् में भी आन्तर-बहिर्भाव की कल्पना हुआ करती है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में किसी कागज़ आदि पर क–ख–ग आदि वर्ण लिखे जाते हैं, उसी तरह उन वर्णों को पढ़ा जाता है अर्थात् पढ़ पाना, लिखने पर निर्भर है और लिखना पढ़ने वाले के पढ़ने पर (बोलने वाले के बोलने पर) निर्भर है। अतः वे दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के ज्ञान द्वारा कल्पित होने के कारण मिथ्या हैं। वस्तुतः 'वर्ण' नित्य और विभु हैं। उनको पत्रादि पर लिखना अथवा पढना संभव नहीं है। तथापि विभु वर्ण को रेखाओं के रूप में पत्र आदि पर लिखते ही हैं और उसे देख कर पढते भी हैं ॥ १८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जिस प्रकार स्वप्न में व्यवहार होता है, वैसे ही जाग्रत में भी होता है। इसी तरह स्वप्न के समान जाग्रत् में भी अन्तर्बहिर्भाव की कल्पना की जाती है। अर्थात् अन्तर्बहिर्भाव से प्रकट होने वाला व्यवहार स्वप्नवत् कल्पित है। उसी में अन्य दृष्टान्त बताते हैं—जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित्त के भीतर कल्पना किये जाने वाले और बाहर इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने वाले दोनों प्रकार के पदार्थ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी दोनों प्रकार के पदार्थ मिथ्या हैं। लोक में जिस समय क, ख आदि वर्ण पत्र पर लिखे जाते हैं, उस समय उन वर्णों की अपेक्षा से उन्हें पढ़ा जाता है और उनके पाठ की अपेक्षा से लिखा जाता है। अतः वे परस्पर के ज्ञान द्वारा कल्पित होने के कारण मिथ्या हैं, क्योंकि वस्तुतः वर्ण विभु और नित्य हैं। उन निरवयव वर्णों को पत्रादि पर लिखना या पढ़ना संभव नहीं है। तो भी विभु वर्ण को रेखा के रूप में पत्रादि पर लिखते ही हैं और उसे देखकर पढ़ते भी हैं ॥ १८ ॥

यदाऽयं कल्पयेद्भेदं, तत्कामः सन् यथाक्रतुः ।
यत्कामस्तत्क्रतुर्भूत्वा, कृतं यस्तत्प्रपद्यते ॥१९॥

यदेति—यह जीवात्मा जिस समय भेद की कल्पना करता है, बस समय वैसी कामना वाला होकर वैसा ही संकल्प करता है। इस प्रकार कामना के अनुसार ही संकल्प करके अपने अनुष्ठित कर्म का फल पाता है ॥ १९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

बुद्धिनिष्ठ अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए "भ्रान्त्या तृष्णोद्भवक्रियः" (श्लो. १७) के द्वारा उक्त अर्थ को अधिक स्पष्ट कर रहे हैं—जिसे यह आत्मा पूर्वभ्रान्तिसंस्कारवशात् बुद्धि से आवृत्त हुआ अविद्या के कारण

* द्भवः—पाठान्तरम् ।

भेद की कल्पना करता है, उस समय अध्यस्त विषय के प्रति उसके शोभन होने के कारण इच्छुक होता है और इच्छुक होने के कारण वैसा संकल्प करने लगता है। अर्थात् 'मैं इसे प्राप्त करूँगा' इस प्रकार अध्यवसायरूप संकल्प करता है। एवंच जैसी कामना, तदनुकूल संकल्प और तदनुसार कर्म, ततश्च तदनुरूप फल को प्राप्त करता है। अर्थात् कामना-संकल्प-कर्म-फल इस रीति से अन्योन्य की अपेक्षा से हेतु-फल के रूप में कल्पित संसार का अनुभव करता रहता है। श्रुति भी कह रही है—"अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तथा क्रतुर्भवति, यथा क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते[१]।" ॥ १९ ॥

अविद्याप्रभवं सर्वमसत्तस्मादिदं जगत् ।
तद्वता दृश्यते यस्मात्सुषुप्ते न च गृह्यते ॥२०॥

अविद्येति—**यह सम्पूर्ण जगत् अविद्या से उत्पन्न हुआ है, उस कारण वह मिथ्या है। क्योंकि वह अविद्यावान् पुरुष को ही दिखाई देता है, और सुषुप्ति में उसकी प्रतीति भी नहीं होती ॥ २० ॥**

विद्याऽविद्ये श्रुतिप्रोक्ते, एकत्वान्यधियौ हि नः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, शास्त्रे विद्या विधीयते ॥२१॥

विद्येति—**भगवती श्रुति आत्मैक्यज्ञान को ही 'ज्ञान' और भेदज्ञान को ही 'अज्ञान' शब्द से हमें बताती है। अज्ञान (अविद्या) के समान ज्ञान (विद्या) का अनुभव सर्वसाधारण लोगों को नहीं होता है। ज्ञान (विद्या) का प्रतिपादन शास्त्र में ही किया गया है। अतः सर्वथा प्रयत्नपूर्वक शास्त्र के अध्ययन में अपने को तत्पर रखना चाहिये ॥ २१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जगत् की हेतुभूत अविद्या का स्वरूप क्या है? और उसकी निवर्तक विद्या का स्वरूप क्या है? तथा उस विद्या और अविद्या को कौन जानता है? उत्तर यह है कि 'एकत्वधी' विद्या है और 'अन्यधी' अविद्या है। अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्व बुद्धि को विद्या कहते हैं और उनकी भेदबुद्धि को अविद्या कहते हैं। यही उनका स्वरूप है। विद्या और अविद्या के स्वरूप को श्रुति ने बताया है। "अथ योऽन्यां देवताम्[२]" इस श्रुति ने भेद-धी (भेदबुद्धि) को अविद्या कहा है। लोकानुभवसिद्ध भेद के अनुवादरूप में यह बताया गया है—"किमु तद्ब्रह्मावेत्[३]" इस प्रकार आक्षेप कर "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि[४]" यह अप्रसिद्धार्थबोधक श्रुति प्रमाणभूत है। इसने भी एकत्वज्ञान को ही विद्या बताया है। अज्ञान के समान ज्ञान का सर्वसाधारण को अनुभव नहीं है। इस कारण शास्त्र प्रयत्नपूर्वक अध्यारोप और अपवाद के द्वारा विद्या (ज्ञान) का प्रतिपादन करता है। अतः मुमुक्षु को सर्वदा शास्त्रतत्पर रहना चाहिये ॥ २१ ॥

चित्ते ह्यादर्शवद्यस्माच्छुद्धे विद्या प्रकाशते ।
यमैर्नित्यैश्च *यज्ञैश्च, तपोभिस्तस्य शोधनम् ॥२२॥

चित्त इति—**जिस प्रकार दर्पण में मुख आदि का प्रकाश, दर्पण की शुद्धता (निर्मलता) पर निर्भर होता है, उसी प्रकार चित्त की शुद्धता (निर्मलता) रहने पर ही उसमें ज्ञान का प्रकाश होता है, अन्यथा नहीं। अतः यम, नियम, यज्ञ और तप के द्वार चित्त की शुद्धि करनी चाहिये ॥ २२ ॥**

१. (बृ. उ. ४।४।७ माध्यंदिन. पाठ.), 'तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति' इति काण्व पाठः (बृ. उ. ४।४।५)
२. (बृ. उ. १।४।१०)
३. (बृ. उ. १।४।९)
४. (बृ. उ. १।४।१०)
* नियमैस्तपो०—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

यदि शास्त्र अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक विद्या को बताता है, तो सभी लोग शास्त्र के प्रति प्रवृत्त क्यों नहीं होते ? तथा प्रवृत्त होने पर भी उन्हें विद्या की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? इत्यादि शंकाओं का उत्तर एक ही है कि **'चित्त की शुद्धि न होने से'** प्रवृत्ति नहीं होती और यथाकथंचित् प्रवृत्ति हो भी जाय तो भी विद्या की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये चित्तशुद्धि करनी चाहिये। ज्ञान का प्रकाश, दर्पण के समान शुद्ध चित्त में ही पड़ता है। यम, नियम, यज्ञ, और तप के द्वारा चित्त की शुद्धि करनी चाहिये। अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि को 'यम' कहते हैं। नित्य शौच आदि को 'नियम' कहते हैं। स्वाश्रमविहित धर्म को 'यज्ञ' कहते हैं। ईश्वरसाक्षात्कार कराने वाले साधनों को 'तप' कहते हैं। इनके अनुष्ठान से चित्त को निर्मल बनाया जा सकता है॥ २२॥

शारीरादितपः कुर्यात्तद्विशुद्धयर्थमुत्तमम्।
मनआदिसमाधानं, तत्तद्देहविशोषणम् ॥२३॥

शारीरादीति—**चित्त को निर्मल (शुद्ध) बनाने के लिये शारीरादि (कायिक-वाचिक-मानसिक) उत्तम तप करना चाहिये। मन और बाह्येन्द्रियों को निश्चल करना चाहिये। तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करते हुए शरीर को कृश करना चाहिये॥ २३॥**

हृदयस्पर्शिनी

अन्तःकरण (चित्त-मन) की शुद्धि (निर्मलता) के लिये शास्त्रविहित पद्धति (उत्तम प्रकार) से शारीरिक (कायिक), मानसिक और वाचिक तप करना चाहिये। तथा मन और इन्द्रियों को निश्चल (समाधान=निश्चलता) एवं भिन्न-भिन्न ऋतुओं में शीतोष्णादि को सहन करते हुए शरीर को कृश करना चाहिये। भगवान् ने शारीरिक तप का स्वरूप बताया है—"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥" उसी प्रकार वाचिक (वाङ्मय) तप का स्वरूप—"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥" तथा मानसिक (मानस) तप का स्वरूप—"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते[1]॥" इति। 'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ब्रह्मज्ञानियों की पूजा, बाहर और भीतर की शुद्धि, कर्तव्य कर्म में एवं साधुजनों के विषय में सर्वत्र मन, वचन, और देह के व्यापारों की एकरूपता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है।' 'उद्वेग न करने वाला, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य और स्वाध्याय का अभ्यास वाङ्मय तप कहलाता है।' 'मन की प्रसन्नता, सौम्यत्व, ध्यानपरायणता, मन का निग्रह और अन्तःकरण की शुद्धि—यह सब मानस तप कहलाता है॥' इन तीनों तपों का सात्त्विकता के साथ अनुष्ठान करना चाहिये, राजस-तामसरूप में नहीं। सात्त्विक तप का स्वरूप यह है—"श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥"—'जिनका एकाग्र चित्त है और जिनकी कर्मफलों में स्पृहा नहीं है, ऐसे पुरुषों द्वारा श्रद्धा से किये गये तीन प्रकार के तप को मुनि लोग सात्त्विक तप कहते हैं।[2]' ॥ २३॥

"मनसश्चेन्द्रियाणां च, ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः, स धर्मः पर उच्यते" ॥२४॥

मनस इति—**मनु ने मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को 'परम तप' बताया है। उसे समस्त धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट बताया है और उसी को परम धर्म कहा है॥ २४॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार आरादुपकारक[3] तप को बताकर श्रवण आदि में संनिपत्योपकारक तप के अनुष्ठानार्थ स्मृति-वाक्य को उपस्थित कर रहे हैं—"मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः। तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर

१. (भ. गी. १७।१४–१७)
२. (भ. गी. १७।१७)
३. आरादुपकारक और संनिपत्योपकारक—ये पूर्व मीमांसा शास्त्र में अंगों की पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं। 'यानि अंगानि साक्षात्

उच्यते[1] ॥" मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को ही परम तप कहते हैं। वह समस्त धर्मों से उत्कृष्ट है और उसी को परम धर्म कहते हैं। श्रुत्युक्त वस्तु में मनन द्वारा चित्त की स्थिरता को ही ऐकाग्र्य (एकाग्रता) कहते हैं। उसकी अवश्यकर्तव्यता के बोधनार्थ 'तज्ज्यायः' कहकर उसकी प्रशंसा की गई है ॥ २४ ॥

दृष्टं जागरितं विद्यात्स्मृतं स्वप्नं तदेव तु ।
सुषुप्तं तदभावं च, स्वमात्मानं परं पदम् ॥२५॥

दृष्टमिति—**बाह्य इन्द्रियों से जो दिखाई देता है, उ से जाग्रत् समझना चाहिये, इसी को स्मरण किये जाने पर उसे स्वप्न कहना चाहिये, और उसके अभाव को सुषुप्ति कहते हैं। उक्त तीनों अवस्थाओं के साक्षीस्वरूप आत्मा को परमपद (सत्य-ज्ञानादिलक्षण) 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह समझना चाहिये ॥ २५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उक्त साधनों से निर्मलचित्त (शुद्धचित्त) हुआ मुमुक्षु, श्रवणादि में तत्पर होकर तीनों अवस्थाओं से उनके साक्षी को पृथक् समझ कर वेदान्तवाक्य से अपने को ब्रह्मरूप समझे। बाह्य इन्द्रियों से जो कुछ देखा जाता है अर्थात् बाह्यार्थ की उपलब्धि की जाती है, उसे जागरित (जाग्रत्) अवस्था समझो। वही; जो 'दृष्ट' शब्द से वाच्य है, उसीको स्मरण किये जानेपर स्वप्न कहते हैं, अर्थात् संस्कारवशात् निद्रा-दशा में जिसका भान होता है, उसे स्वप्न समझो। और उस दृष्ट तथा स्मृत का अभाव जिसमें हो, उसे सुषुप्त समझो। इस प्रकार तीनों दृश्यों को पृथक् कर उस (दृश्य) के साक्षी स्वयं स्वरूपभूत आत्मा को ही परम पद अर्थात् सत्यज्ञानादिलक्षण परब्रह्म समझो अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ—ऐसा समझो ॥ २५ ॥

सुषु*प्ताख्यं तमोऽज्ञानं, बीजं स्वप्नप्रबोधयोः ।
स्वात्मबोधप्रदग्धं स्याद्बीजं दग्धं यथाऽभवम् ॥२६॥

सुषुप्ताख्यमिति—**सुषुप्तिसंज्ञक तम को ही अज्ञान कहते हैं। वही स्वप्न और जाग्रत् (प्रबोध) का मूल कारण है। उसका आत्मज्ञान (स्वात्मबोध) के द्वारा जब दाह हो जाता है, तब जले हुए बीज के समान वह फलोत्पादक नहीं होता ॥ २६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अवस्थात्रय के हेतुभूत अज्ञान के रहते तद्विविक्ततया प्रत्यगात्मा में ब्रह्मत्व कैसे उपपन्न हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सुषुप्तिसंज्ञक जो तम है, वही अज्ञान है। वह स्वप्न और जाग्रत् का मूल अर्थात् उपादान (बीज) कारण है। आत्मज्ञानरूप अग्नि से उस अज्ञानरूप बीज का जब दाह हो जाता है, तब वह दग्ध हुए बीज के समान फल को पैदा नहीं कर पाता। अज्ञान में 'तम' को विशेषण कहने से अज्ञान की भावरूपता बताई गई है। भावरूप होनेपर ही उसमें बीजत्व उपपन्न हो सकता है। जैसे दग्ध बीज अभव अर्थात् भवशून्य यानी कार्योत्पादक नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञानाग्नि से दग्ध हुआ ज्ञान पुनः अवस्थाप्ररोहकर नहीं होता, उस कारण प्रत्यगात्मा का ब्रह्मत्व कथन उचित ही है ॥ २६ ॥

परंपरया वा विहितफलसाधनयागशरीरं निष्पाद्य तद्द्वारा तदुत्पत्त्यपूर्वोपयोगीनि,—तानि सन्निपत्योपकारकाणि अङ्गानि। सन्निपत्य—द्रव्यादिद्वारेण यागशरीरघटकीभूय, उपकारकाणि यागापूर्वोपयोगीनीत्यर्थः। और 'आत्मसमवेतापूर्वजनकानि आरादुपकारकाणि अङ्गानि। आरात्—दूरे स्थित्वा यागशरीरमप्राप्येति यावत्, उपकारकाणि स्वापूर्वद्वारा यागापूर्वोपयोगीनीत्यर्थः।

अत्र सन्निपत्य = साक्षात्, आरात् = परम्परया।

१. (मोक्ष धर्म २५०।४, वन प. २६०।२५)

* प्त्या०—पाठान्तरम्।

तदेवैकं त्रिधा ज्ञेयं, मायाबीजं पुनः क्रमात् ।
मायाव्यात्माऽविकारोऽपि, बहुधैको जलार्कवत् ॥२७॥

तदेवेति—**उस एक मायाबीज (अज्ञान) को ही सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के क्रम से त्रिविध (तीन प्रकार का) समझना चाहिये । यद्यपि माया (अविद्या) का आश्रयभूत 'आत्मा' तो निर्विकार है, तथापि जल में प्रतिबिम्बित हुए सूर्य के समान वह एक होता हुआ भी अनेक-सा प्रतीत होता है ॥ २७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अज्ञान (माया) को अवस्थाओं का बीज कहा गया था, उसी का उपपादन करते हुए बता रहे हैं कि अज्ञान की निवृत्ति से ही सम्पूर्ण संसाररूप उपाधि की निवृत्ति हो जाती है, उसकी निवृत्ति के लिए अन्य कोई यत्न समर्थ नहीं है । यह एक मायाबीज ही जागरित अवस्था में विश्व-वैश्वानररूप से, स्वप्नावस्था में तैजस-हिरण्यगर्भरूप से, सुषुप्त अवस्था में प्राज्ञ-अव्याकृतरूप से त्रिधा होता है । किन्तु वेदान्तवाक्य के श्रवणादि अनुष्ठानक्रम से उत्पन्न ब्रह्मात्मसाक्षात्कार से उस मायाबीज (अज्ञान) की सम्पूर्णतया (अशेषतया) निवृत्ति हो जाती है । तथाच तम (अज्ञान-माया) के दाह से ही स्वप्नादि अवस्थाओं का दाह हो जाता है, उनके दाह के लिए पृथक् प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती । क्योंकि ये स्वप्नादि अवस्थाएँ तमोमात्र (तमःस्वरूप) ही तो हैं । अतः तम की निवृत्ति से उनकी निवृत्ति होना उचित ही है । यथोक्त तम स्वयं स्वतन्त्र न होने से उसे आश्रय की अपेक्षा रहती है और कूटस्थ, असङ्ग, अद्वितीय आत्मा को वह अपना आश्रय बनाता है । आत्मा के स्वभाव (स्वरूप) को देखने से उसके साथ तम का संसर्ग न रहने पर भी तम का कोई अन्य आश्रय न होने से उस आत्मा में ही वह आश्रित रहता है । अतः आत्मा कूटस्थ, अद्वितीय रहने पर भी तम के सम्बन्ध के कारण ही तत्तत्पात्रस्थित जल के सम्बन्ध से सूर्य के तुल्य वह मचल, अनेक-सा प्रतीत होता है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म एक ही है, अनेक नहीं है, तथापि अनादि अनिर्वाच्य अज्ञान के सम्बन्ध से वह अन्यथा ही प्रतीत होता है । 'मायावी' कहकर यह सूचित किया है कि वह (आत्मा) मायाशब्दवाच्य अज्ञान का आश्रय है ॥ २७ ॥

बीजं चैकं यथा भिन्नं, प्राणस्वप्नादिभिस्तथा ।
स्वप्नजाग्रच्छरीरेषु, तद्वच्चात्मा जलेन्दुवत् ॥२८॥

बीजमिति—**जिस प्रकार एक ही कारणरूपा (बीजरूपा) माया अव्याकृत (प्राण), स्वप्न और जाग्रत् आदि अवस्थाओं के रूप में भिन्न-भिन्न हो जाती है, उसी प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान स्वप्न और जाग्रत् आदि शरीरों में एक ही आत्मा समष्टि, व्यष्टि के भेद से तैजस, हिरण्यगर्भ एवं वैश्वानरादि भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशित होता है ॥२८॥**

हृदयस्पर्शिनी

श्लोक में 'प्राण' शब्द से अव्याकृत अवस्था बताई गयी है और 'स्वप्नादिभिः' से जाग्रदवस्था, मूर्छावस्था गृहीत की गई है । जिस प्रकार एक ही अविद्या, माया आदि संज्ञाओं से कहा जानेवाला बीज, अर्थात् एक ही कारणरूप माया स्वप्न एवं जाग्रदादि अवस्थाओं के रूप में भेद को प्राप्त हो रही है, वैसे ही जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान स्वप्न एवं जाग्रदादि शरीरों (मोहकल्पित समष्टि-व्यष्टि स्थूल-सूक्ष्म शरीरों) में एक ही आत्मा (चिदाभास) भिन्न प्रतीत होता है, अर्थात् उस समय उन शरीरों का अधिष्ठानभूत चिदात्मा उपाधिगत आभास की तरह अविवेक के कारण भिन्न-सा प्रतीत होता है । अर्थात् तैजस-हिरण्यगर्भ, एवं विश्व-वैश्वानर आदि भेदरूप से प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥

मायाहस्तिनमारुह्य, मायाव्येको यथा व्रजेत् ।
आगच्छंस्तद्वदेवात्मा, प्राणस्वप्नादिगोचरः* ॥२९॥

* गोऽचलः—पाठान्तरम् ।

मायेति—जिस प्रकार कोई मायावी (जादूगर) अपनी माया (जादू) से निर्मित किये हुए हाथी पर सवार होकर किसी दूसरे देश में जाकर पुनः अपने देश में वापस आता है, ऐसा दर्शकों को दिखाई देता है, उसी प्रकार सुषुप्ति एवं स्वप्नादि अवस्थाओं में आत्मा आता-जाता हुआ प्रतीत होता है, तथापि अचल मायावी के समान वह आत्मा अचल (कूटस्थ) ही है—यह समझना चाहिये ॥ २९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

उस पर शंका होती है कि माया (मोह) कल्पित उपाधियों में आत्मा का बहुत्व (अनेकत्व) यदि लक्षित होता है तो उसमें व्यापार भी (व्यापारवत्त्व भी) लक्षित होगा, तब उसे कूटस्थ कैसे कहा जायगा ? उक्त शंका का समाधान यह है कि जिस प्रकार कोई मायावी (जादूगर) अपने निर्माण किये हुए मायिक हाथी पर आरूढ़ होकर किसी दूसरे देश में जाय और पुनः अपने अभीष्ट देश में आ जाय, इस प्रकार गमनागमन करता हुआ-सा भासित होता रहता है, तथापि वास्तव में वह अचल ही है। उसी प्रकार प्राण (सुषुप्ति) एवं स्वप्नादि अवस्थाओं में आता-जाता हुआ लक्षित होनेपर भी वस्तुतः वह (आत्मा) कूटस्थ ही है ॥ २९ ॥

न हस्ती न तदारूढो, मायाव्यन्यो यथा स्थितः ।
न प्राणादि न तद्द्रष्टा, तथा ज्ञोऽन्यः सदादृशिः ॥३०॥

न हस्तीति—जिस प्रकार मायावी की माया से निर्मित हाथी या उस पर सवार हुआ माया मे निर्मित पुरुष केवल दिखाई मात्र देता है, वस्तुतः न हाथी है और न उस पर सवार हुआ कोई पुरुष ही है, उन दोनों से भिन्न वह मायावी (जादूगर) ही केवल है। उसी प्रकार अव्याकृतादि (प्राण-स्वप्नादि) अवस्था और उनका साक्षी ये दोनों ही वस्तुतः नहीं हैं, केवल नित्यज्ञानस्वरूप वह आत्मा ही है, जो उनसे भिन्न है ॥ ३० ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक में आत्मा के प्राणादि उपाधिसम्बन्ध को मानकर कहा गया था किन्तु अब वह उपाधिसम्बन्ध भी उसे वस्तुतः नहीं है, यह बता रहे हैं। जिस प्रकार गज (हाथी) या उसपर आरूढ हुआ पुरुष—ये दोनों नहीं हैं, अपितु उससे भिन्न मायावी ही है। उसी प्रकार अव्याकृतादि अवस्था और उनका साक्षी ये दोनों नहीं हैं, अपितु नित्य-ज्ञानस्वरूप कूटस्थ आत्मा, उनसे भिन्न ही है ॥ ३० ॥

अबद्धचक्षुषो नास्ति, माया मायाविनोऽपि वा ।
बद्धाक्षस्यैव सा मायाऽमायाव्येव ततो भवेत् ॥३१॥

अबद्धेति—जादूगर (मायावी) के द्वारा जिस दर्शक की दृष्टि नहीं बाँधी गयी है, उस दर्शक पुरुष की दृष्टि मायावी की माया से प्रभावित नहीं है और मायावी की दृष्टि में भी उसका अभाव है अर्थात् उस जादूगर की बुद्धि में भी उस पुरुष की अस्तित्व ही नहीं है। उसकी माया का प्रभाव तो उन्हीं दर्शकों पर है, जिनकी दृष्टि को उसने अपनी जादू (माया) से बाँध दिया है। अतः आत्मा अमायावी (माया से उपलक्षित उसका आधारमात्र) ही है ॥ ३१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

वस्तुतः प्राणादि उपाधियों का संबन्ध न रहने पर भी माया का संबन्ध तो अपरिहार्य ही है, ऐसा यदि कोई कहे तो उसका उत्तर यह होगा—जिसके नेत्र बँधे हुए नहीं है, उस (लौकिक) पुरुष की दृष्टि में जिस प्रकार माया नहीं है, उसी प्रकार मायावी की दृष्टि में भी चक्षुर्बन्ध न होने से माया का अभाव ही है, अर्थात् माया नहीं है। 'मायाविनोऽपि' यहां 'अपि' शब्द से यह सूचित किया गया है कि अवस्तुत्व का निश्चय होने से वह मोहित नहीं होता, इस प्रकार व्यतिरेक के द्वारा बताया। अब अन्वय के द्वारा भी बताते हैं—जिसकी आँख बँधी हुई है, उसी के लिये वह माया भयहेतु अर्थात् हाथी आदि के रूप में भासती है। वह माया तो केवल उसी की दृष्टि में है, जिसके नेत्र बँधे हुए हैं। अतः यह आत्मा अमायावी है, अर्थात् माया से उपलक्षित उसका आधारमात्र ही है। माया से अनावृत चित्स्वभाव,

मायावी के रूप में लक्षित रहता हुआ भी उसके साथ माया का कोई संबंध नहीं रहता। क्योंकि माया तो व्यामोह को पैदा करती है। अर्थात् व्यामोह की हेतु रहती है। वह आत्मा में कैसे रह सकेगी? क्योंकि आत्मा तो 'अहं परब्रह्म अस्मि' इस रूप में प्रकाशमान् है, अतः प्रकाश और व्यामोह की हेतुभूत माया इन दोनों से विरोध रखने से बाले आत्मा में नहीं रह सकती। तथाच ज्ञान की अवस्था में कदाचित् प्राणादि आकारों का ग्रहण करनेवाली माया को देखता हुआ भी वह अज्ञान अवस्था के समान मोहित नहीं होता, किन्तु सुषुप्त के समान निर्विकार ही रहता है ॥ ३१ ॥

*साक्षादेव स विज्ञेयः, साक्षादात्मेति च श्रुतेः।
भिद्यते हृदयग्रन्थिर्न चेदित्यादितः श्रुतेः ॥३२॥

साक्षादिति—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म', "य आत्मा सर्वान्तरः"—यह साक्षात् आत्मा है, इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार उस आत्मा को ही साक्षात् ब्रह्म समझना चाहिये। 'उसको जान लेने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है', 'यदि उसे नहीं जाना तो महती हानि है' इत्यादि श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है ॥ ३२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तस्मात् साक्षात् ब्रह्मात्मज्ञान से यह अमायावी माया और उसके कार्य और उसके कार्यसम्बन्ध से मुक्त हो जाता है, अतः मुमुक्षु को श्रुतिसिद्ध आत्मा पर ही श्रद्धा रखनी चाहिये। "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः"[1]—वह साक्षात् आत्मा है इत्यादि श्रुति के अनुसार उस आत्मा को ही साक्षात् ब्रह्म समझना चाहिए। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"[2]—उसको जान लेने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, "न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः"[3]—यदि उसे न जाना तो बड़ी हानि है, इत्यादि श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है। वह आत्मा, समस्त विकारों का साक्षी और कूटस्थ है। वह 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"[4] है। आत्म-विज्ञान में ही लाभ है, और अविज्ञान में हानि है। 'आदि' शब्द से अन्यान्य श्रुतियों को भी समझ लेना चाहिए, जैसे "एकधैवानुद्रष्टव्यम्"[5], "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"[6]। जो इसमें नाना के तुल्य देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। एवंच आत्मा का अपरोक्षज्ञान ही परमार्थज्ञान है और उसी से मोक्ष होता है ॥ ३२ ॥

अशब्दादित्वतो नास्य, ग्रहणं चेन्द्रियैर्भवेत्।
सुखादिभ्यस्तथाऽन्यत्वाद्बुद्धया वाऽपि कथं भवेत् ॥३३॥

अशब्दादीति—अशब्दादिरूप होने के कारण इसका इन्द्रियों से भी ग्रहण नहीं हो सकता और सुखादि से भिन्न होने के कारण बुद्धि से भी इसका किस प्रकार ग्रहण हो सकता है? बाह्य तथा अन्तः दोनों करणों (इन्द्रियों से) जबकि आत्मा ग्राह्य नहीं हो सकता है तो उसका साक्षात् विज्ञान कैसे होगा? इस प्रकार पूर्व श्लोक से बताये गये साक्षात् आत्मविज्ञान पर आक्षेप किया गया है ॥ ३३ ॥

अदृश्योऽपि यथा राहुश्चन्द्रे बिम्बं यथाऽम्भसि।
सर्वगोऽपि तथैवाऽऽत्मा, बुद्धावेव स गृह्यते ॥३४॥

अदृश्योऽपीति—यद्यपि राहु अदृश्य है तथापि चन्द्रमा में और जल में उसके प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता ही है, उसी प्रकार सर्वव्यापक रहते हुए भी आत्मा का बुद्धि में ग्रहण होता ही है ॥ ३४ ॥

१. (बृ. उ. ३।४।१)
२. (मुं. उ. २।२।८)
३. (के. उ. १३)
४. (बृ. उ. ३।९।२७)
५. (बृ. उ. ४।४।२०)
६. (बृ. उ. ४।४।१९)
* साक्षाद्देवः—पाठान्तरम्।

हृदयस्पर्शिनी

उक्त आक्षेप का परिहार कर रहे हैं—जिस प्रकार स्वरूप से अदृश्य होनेपर भी चन्द्रमण्डल में राहु का अथवा जल में चन्द्रबिम्ब का ग्रहण होता है, उसी प्रकार चक्षुराद्यगोचर वह परमात्मा सर्वव्यापक होनेपर भी 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से उत्पन्न हुई बुद्धि में ही प्रतिबिम्बित होता है, और उसका (आत्मा का) ग्रहण होता हैं। उस बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से उसका स्वतः स्फुरणात्मक ही ग्रहण होता है, विषयरूप में उसका ग्रहण नहीं होता। शास्त्रैकगम्य रहने पर भी उसका प्रत्यक्ष प्रमाण, राहु के दृष्टान्त से बताया गया है। सर्वत्र सबके सन्निहित भासमान रहने पर भी यथावत् उसका स्फुरण नहीं होता, तथापि उपाधिविशेष के रहने पर यथावत् स्फुरण में प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया गया है ॥ ३४ ॥

भानोर्बिम्बं यथा चौष्ण्यं, जले दृष्टं न चाऽम्भसः।
बुद्धौ बोधो न तद्धर्मस्तथैव स्याद्विधर्मतः ॥३५॥

भानोरिति—**जल में दृश्यमान सूर्यबिम्ब और, उसकी उष्णता, जल के धर्म नहीं हैं, उसी प्रकार बुद्धि में प्रकाशमान 'ज्ञान' भी बुद्धि का धर्म नहीं है, क्योंकि बुद्धि, उसके विपरीत धर्मवाली हैं, अर्थात् जड़ है ॥ ३५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि बुद्धि में बोधरूप आत्मा का ग्रहण होता है तो वह बोध तो बुद्धि का धर्म होगा, इस शंका का निरास एक दृष्टान्त देकर कर रहे हैं—जिस प्रकार जल में दिखाई देनेवाला सूर्य का बिम्ब और उष्णता सूर्य के ही हैं, जल के धर्म नहीं कहलाते, क्योंकि जल का धर्म (स्वभाव) तो शैत्य (शीतलता) होता है। उसी तरह बुद्धि में स्फुरित (प्रकाशित) होनेवाला बोध (ज्ञान) बुद्धि का धर्म नहीं है। क्योंकि बुद्धि उससे विपरीत धर्मवाली है अर्थात् जाड्यधर्मवाली (जड़) है ॥ ३५ ॥

चक्षुर्युक्ता धियो वृत्तिर्या तां पश्यन्नलुप्तदृक्।
दृष्टेर्द्रष्टा भवेदात्मा, श्रुतेः श्रोता तथा *भवेत् ॥३६॥

चक्षुरिति—**यह जीवात्मा, नेत्रेन्द्रिय से युक्त हुई बुद्धि की वृत्ति को देखता रहता है, इस कारण, वह 'अलुप्तदृक्' कहलाता है। इस प्रकार वह आत्मा, 'दृष्टि' का द्रष्टा और 'श्रवण' का श्रोता समझा जाता है ॥ ३६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

केवल शास्त्रीय बुद्धि में ही चिद्धातु परमात्मा स्फुरित नहीं होता, किन्तु लौकिक विषयाकार बुद्धिवृत्ति में भी वह आत्मा स्वतः अपरोक्ष होता हुआ साक्षी के रूप में स्फुरित होता रहता है। चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से रूपाकार हुई बुद्धिवृत्ति को प्रकाशित करने के कारण यह आत्मा अकुण्ठितज्ञानशक्ति होता हुआ दृष्टि का द्रष्टा और श्रवण का श्रोता माना जाता है ॥ ३६ ॥

केवलां मनसो वृत्तिं, पश्यन् मन्ता मतेरजः।
विज्ञाताऽलुप्तशक्तित्वात्तथा शास्त्रं न हीत्यतः ॥३७॥

केवलामिति—**वह अजन्मा विकाररहित आत्मा केवल मन की वृत्ति को देखता है, उस कारण उसे मति का मनन करनेवाला और उसका विज्ञाता कहते हैं, क्योंकि उसकी चैतन्यशक्ति अकुण्ठित है। इसी बात को 'विज्ञाता के विज्ञान का लोप नहीं होता है'—यह श्रुतिवचन बता रहा है ॥ ३७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

बाह्येन्द्रिय की अपेक्षा किये बिना ही यह आत्मा, धीवृत्ति का साक्षी होता है। अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों के माध्यम से बाहर प्रवृत्त हुए बिना ही भीतर ही भीतर विषयाकार होनेवाली बुद्धिवृत्ति (मनोवृत्ति) को देखने के

* श्रुतेः—पाठान्तरम्।

कारण वह अज (विकाररहित) है। और मति (बुद्धि) का मनन करनेवाला एवं उसका विज्ञाता है, क्योंकि वह अलुप्त चिच्छक्ति से युक्त अर्थात् अकुण्ठित चैतन्यशक्ति से युक्त है। इस विषय में "नहि द्रष्टुर्दृष्टेः"[1] से आरंभ कर "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते"[1] यह श्रुति भी है। श्लोक में 'नहीत्यतः' यहां पर 'एतत्' के अर्थ में 'अतः' शब्द है। क्योंकि 'तसिल्' प्रत्यय सार्वविभक्तिक माना गया है। कुछ लोग सप्तमी के अर्थ में इसे कहते हैं। दृष्टि के द्रष्टा होने में "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरः"[2] यह श्रुति भी है॥ ३७॥

ध्यायतीत्यविकारित्वं तथा लेलायतीत्यपि।
अत्र स्तेनेति शुद्धत्वं *तथाऽनन्वागतश्रुतेः॥३८॥

ध्यायतीति—'ध्यायतीव लेलायतीव'[3]—आत्मा मानो ध्यान करता है, वह मानो चेष्टा करता है, इन श्रुति वचनों से आत्मा का अविकारित्व स्पष्ट होता है। तथा इस अवस्था में चोर 'अचोर' हो जाता है 'वह पुण्य से रहित है, पाप से रहित है'—इत्यादि श्रुतियों से उसका शुद्धत्व स्पष्ट प्रतीत होता है॥ ३८॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में द्रष्टृत्वादि के व्यपदेश से विकारित्व, अशुद्धत्व की प्रसक्ति होगी, ऐसी शंका करने पर उत्तर देते हैं—श्रुति में 'इव' शब्द का प्रयोग करने से ध्यान और चलन में आभासत्व बताया गया है। अर्थात् 'आत्मा मानो ध्यान करता है', 'वह मानो चेष्टा करता है'[3] इन श्रुतियों से आत्मा का अविकारित्व सिद्ध होता है। तथा "अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा"[4]—इस अवस्था में चोर, चोरी न करनेवाला हो जाता है, बालघाती भी बालहत्या न करनेवाला हो जाता है, एवं "अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन"[5]—वह पुण्य से रहित है, पाप से रहित है—इत्यादि श्रुतियों से उसका शुद्धत्व सिद्ध होता है॥ ३८॥

शक्त्यलोपात्सुषुप्ते ज्ञस्तथा बोधेऽविकारतः।
ज्ञेयस्यैव विशेषस्तु यत्र वेति श्रुतेर्वचः॥३९॥

शक्त्यलोपादिति—सुषुप्ति अवस्था में उसकी शक्ति का लोप न होने से वह (आत्मा) ज्ञान स्वरूप है। विशेष भाव तो केवल 'ज्ञेय' में ही है। इसके सम्बन्ध में "जहाँ अन्य-सा होता है, वहाँ अन्य 'अन्य' को देखता है"-इत्यादि श्रुति वचन प्रमाण है॥ ३९॥

हृदयस्पर्शिनी

जबकि सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव रहता है और जाग्रत् तथा स्वप्न में ज्ञान का अस्तित्व रहता है, तब आत्मा को अविकारी कैसे कहा जाय? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

सुषुप्ति अवस्था में शक्ति का लोप न होने के कारण आत्मा ज्ञान(ज्ञ)स्वरूप है[6]। उसी प्रकार बोध दशा (जाग्रत् और स्वप्न अवस्था) में भी वह ज्ञानस्वरूप है क्योंकि वह निरवयव होने से उसमें विकार अनुपपन्न है। विशेष-भाव तो केवल ज्ञेय में ही है। तीनों अवस्थाओं में यदि आत्मा निर्विशेष चिद्रूप है, तो 'न अज्ञासिषम्'—मैंने नहीं जाना, यह सुषुप्ति परामर्श कैसे होता है? और बोध अवस्था में 'जानामि'—मैं जानता हूँ, यह अनुभव कैसे होता है? इन

१. (बृ. उ. ४।३।२३–३०)
२. (बृ. उ. ३।४।२)
३. (बृ. उ. ४।३।७)
४. (बृ. उ. ४।३।२२)
५. (बृ. उ. ४।३।२२)
६. 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति'—(बृ. उ. ४।३।२३–३०)
* गतं श्रुतेः—पाठान्तरम्।

प्रश्नों का समाधान यह है कि विषय का उपरम और विषय का अनुपरम ही उसमें कारण है। पूर्वोक्त परामर्श और अनुभव दोनों स्वरूपनिबन्धन नहीं हैं। बृहदारण्यक श्रुति ने भी इसका समर्थन किया है[1] ॥ ३९ ॥

व्यवधानाद्धि पारोक्ष्यं, लोकदृष्टेरनात्मनः।
दृष्टेरात्मस्वरूपत्वात्प्रत्यक्षं ब्रह्म *तत्स्मृतम् ॥४०॥

व्यवधानादिति—घट-पटादि अनात्म (जड़) पदार्थों को ग्रहण करने वाली चक्षुरादि लौकिक दृष्टि है। वह दृष्टि देश-काल आदि से व्यवहित होने के कारण 'परोक्ष' है। और आत्मस्वरूपभूता ज्ञानदृष्टि अलौकिक है। यह दृष्टि स्वयं आत्मस्वरूपा होने से ब्रह्मज्ञानी विद्वान् 'ब्रह्म' को प्रत्यक्ष बताते हैं। अर्थात् आत्मा और ब्रह्म में अभेद होने से (भेद न रहने से) 'ब्रह्म' सर्वदा ही प्रत्यक्ष है ॥ ४० ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार 'आत्मा नित्य और चैतन्यस्वरूप होने से नित्य अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) और निर्विकार है', यह बताया गया है, उसी को विस्तृत रूप से अब आगे तीन श्लोकों में बता रहे हैं—अनात्मरूप घट-पटादि विषय को ग्रहण करनेवाली चक्षुरादि लोकदृष्टि, देश-काल आदि से व्यवहित (सन्निकृष्ट न) होने के कारण परोक्ष है, किन्तु स्वयं दृष्टि आत्मस्वरूपा है। इस कारण आत्मा में दृष्टि का व्यवधान नहीं है। आत्मा तो ब्रह्मरूप ही है। वह ब्रह्म तो स्वतः ही सदा प्रत्यक्ष है, ऐसा ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं। अभिप्राय यह है—लौकिक और अलौकिक दो प्रकार की दृष्टि होती है। चक्षुरादि इन्द्रियों से होनेवाली दृष्टि (ज्ञान) लौकिक है, और आत्मस्वरूपभूता ज्ञानदृष्टि अलौकिक है। चक्षुरादि इन्द्रिय से उसके विषय कहलानेवाले घट-पटादि में देश-काल आदि का व्यवधान रहता है, इसलिये वह परोक्ष दृष्टि है, किन्तु आत्मा और ब्रह्म में अभेद रहने से ब्रह्म सर्वदा प्रत्यक्ष है। वह दृष्टि भी आत्मस्वरूपा है। अतः उसे परोक्ष नहीं कहा जाता ॥ ४० ॥

न हि दीपान्तरापेक्षा, यद्वद्दीपप्रकाशने।
बोधस्यात्मस्वरूपत्वान्न बोधोऽन्यस्तथेष्यते ॥४१॥

नहीति—जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिये अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही 'बोध' आत्मस्वरूप होने के कारण उसे भी अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य बोध की अपेक्षा नहीं होती है ॥ ४१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

स्वरूपप्रकाश अनन्यापेक्ष होता है, इसे दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—जिस प्रकार किसी दीपक को प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता (अपेक्षा) नहीं रहती, उसी प्रकार बोध (ज्ञान) आत्मस्वरूप होने के कारण उसे भी अपने को प्रकाशित करने में किसी दूसरे बोध (ज्ञान) की अपेक्षा नहीं होती ॥ ४१ ॥

विषयत्वं विकारित्वं, नानात्वं वा न ह्रीष्यते।
न तु हेयो नाप्युपादेय, आत्मा नान्येन वा ततः ॥४२॥

विषयत्वमिति—इस प्रकार आत्मा (ज्ञान) की अपरोक्षता को स्पष्ट करके उसके अविकारित्व और निर्विशेषता को बता रहे हैं—आत्मा का विषयत्व, विकारित्व और नानात्व का भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस कारण आत्मा अपने अथवा किसी अन्य के द्वारा ग्राह्य या त्याज्य भी नहीं है ॥ ४२ ॥

सबाह्याभ्यन्तरोऽजीर्णो, जन्ममृत्युजरातिगः।
अहमात्मेति यो वेत्ति, कुतो न्वेव बिभेति सः ॥४३॥

---

१. 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्'—(बृ. उ. ४।३।३१) तथा
'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्'—(बृ. उ. ४।५।१५)

* यत्स्मृतम्—पाठान्तरम्।

स बाह्ये ति—**जो यह जान लेता है कि 'मैं बाहर, भीतर विद्यमान हूँ, मैं जीर्ण-शीर्ण नहीं हूँ, मैं जन्म-मृत्यु तथा वार्धक्य से रहित हूँ, ऐसा मैं ही आत्मा हूँ', तब वह किसी से क्यों डर सकता है ? ॥ ४३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की निर्विकारता कैसे हो सकती है ? क्योंकि नरकपात आदि का भय होने से उसकी निवृत्ति के लिये धर्मानुष्ठान बताया गया है। पदार्थ के सम्यक् शोधन के द्वारा जो आत्मतत्त्व को जानता है, वह किससे भयभीत हो सकता है ? क्योंकि भय के हेतुभूत द्वितीय तो बाधित है। अर्थात् अज्ञानावस्था में ही भीति और तन्निवृत्त्यर्थ धर्मानुष्ठान होता है। ज्ञानावस्था में न भय है और न तन्निवृत्त्यर्थ धर्मानुष्ठान है। मैं बाहर-भीतर विद्यमान, प्राचीनता से रहित और जन्म, मृत्यु, जरा से शून्य आत्मा हूँ, ऐसा जो जानता है, उसे किसी से भय नहीं होता ॥ ४३ ॥

प्रागेवैतद्विधेः कर्म, वर्णित्वादेरपोहनात् ।
तदस्थूलादिशास्त्रेभ्यस्तत्त्वमेवेति निश्चयात् ॥४४॥

प्रागेवेति—**'आत्मा अस्थूल है, अनणु है, इस श्रुति के द्वारा कर्माधिकार की प्राप्ति में कारणभूत वर्णित्वादि का निराकरण (बाध) किया गया है, उस कारण और 'तत् त्वमसि' तुम वह (ब्रह्म) हो, इस महावाक्य के द्वारा अपने ब्रह्मत्व का निश्चय होने से पूर्व ही 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे'—इस श्रुतिवचन से बताया गया कर्मानुष्ठान आवश्यक है ॥ ४४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ज्ञानी के लिये भी वेदविहित अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान यावज्जीवन करने के लिये कहा गया है, और उसके न करनेपर प्रत्यवाय का भय ज्ञानी (विद्वान्) के लिये भी है, तत्परिहारार्थ ज्ञानी को भी अनुष्ठान करना ही होगा, इस आशंका का समाधान इस प्रकार होगा—ब्रह्मात्मरूप के प्रतिपादन के पूर्व ही अग्निहोत्रादि कर्म बताये गये हैं, उसके बाद नहीं, क्योंकि ब्रह्मात्मज्ञान से तो कर्मानुष्ठान के प्रयोजक वर्णित्व, आश्रमित्व आदि के अभिमान का बाध हो जाता है। यदि कहें कि वर्णाश्रमादि से युक्त अधिकारी को कर्मानुष्ठान का त्याग करना उचित नहीं है, किन्तु उसका समाधान यह है कि अस्थूलादि लक्षण वह ब्रह्म तू ही है, इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से निश्चय होने के कारण कर्मानुष्ठान के अधिकारी को 'अहं ब्रह्म' मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकार बोध (ज्ञान) हो जाने पर उसके लिये कर्मानुष्ठान नहीं है। क्योंकि कर्माधिकार की प्राप्ति में कारण तो वर्णाश्रमित्व है, उसका अस्थूलादि शास्त्र से अपोहन (बाध) हो जाता है। तब वह कर्मानुष्ठान का अधिकारी ही नहीं रहता। अतः जिसका जो अनधिकारी है, उसे उसके न करनेपर प्रत्यवाय का होना संभव ही नहीं है। एवंच ब्रह्मज्ञानी के लिये कर्मानुष्ठान प्राप्त ही नहीं है ॥ ४४ ॥

पूर्वदेहपरित्यागे, जात्यादीनां प्रहाणतः ।
देहस्यैव तु जात्यादिस्तस्याप्येवं ह्यनात्मता ॥४५॥

पूर्वदेहेति—**देह का त्याग होनेपर उसकी जाति आदि का भी त्याग हो जाता है। अतः ये जाति आदि देह के ही धर्म हैं। वे आत्मा के धर्म नहीं हैं, क्योंकि ये आगमापायी हैं। उसी तरह देह भी आगमापायी होने से वह भी अनात्मा है ॥ ४५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में वर्णाश्रमित्वादि की प्रतीति अध्यास के बल पर होती है। देह का परित्याग करने पर तत्सम्बद्ध जाति का भी परित्याग होता है। अतः जाति आदि आगमापायी हैं, इस कारण उन्हें आत्मा के धर्म नहीं कह सकते; वे जाति आदि तो देह के ही धर्म हैं। यदि देह को ही आत्मा कहें तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि देह भी आगमापायी होने से उसे भी आत्मा नहीं मान सकते। एवंच देह भी अनात्मस्वरूप ही है। देह को जो कर्माधिकार प्राप्त होता है, वह भी वर्णाश्रम के अनुरोध से ही है। अतः आत्मा में कर्माधिकार के हेतुभूत वर्णाश्रम के न होने से उसे स्वभावतः ही कर्मकर्तृत्व नहीं है ॥ ४५ ॥

ममाहं चेत्यतोऽविद्या, शरीरादिष्वनात्मसु ।
आत्मज्ञानेन हेया स्यादसुराणामिति श्रुतेः ॥४६॥

ममाहमिति—**अतः शरीरादि अनात्म पदार्थों में जो ममता और अहंता होती रहती है, उसी को अविद्या कहते हैं। उसका आत्मज्ञान के द्वारा (आत्मतत्त्वब्रह्मात्मानुसन्धान के द्वारा) बाध (नाश) करना चाहिये। इस प्रकार की देहात्मदृष्टि को आसुरी सम्पत्ति कहा है, उसकी निन्दा भगवती श्रुति ने की है ॥ ४६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

शरीरादि में आत्मा-आत्मीय होने का अभिमान तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है, उसे हेय (त्याज्य) कैसे कहा जाय ? इस आशंका का समाधान यह है कि देह के आगमापायी रहने से उसका अनात्मत्व तो निश्चित ही है। उस कारण शरीरादि अनात्माओं में जो ममता और अहंता का अभिमान है, वह मिथ्या प्रत्यय है, अर्थात् उसी का नाम अविद्या है, उसका आत्मतत्त्वब्रह्मात्मानुसन्धान (आत्मज्ञान) के द्वारा बाध करना चाहिये। देहात्मदृष्टि (ज्ञान) को आसुर ज्ञान कहा गया है, इसी कारण श्रुति ने उसकी निन्दा की है। इस ज्ञान को असुरों की उपनिषद् कहा गया है[1]। अतः देहात्मदर्शन को हेय समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

दशाहाशौचकार्याणां, पारिव्राज्ये निवर्तनम् ।
यथा ज्ञानस्य संप्राप्तौ, तद्वज्जात्यादिकर्मणाम् ॥४७॥

दशाहेति—**शास्त्रविधि के अनुसार संन्यास (पारिव्राज्य) ग्रहण करनेपर सपिण्डता का अभिमान नष्ट हो जाने से किसी सपिण्ड की अथवा उसीकी मृत्यु होने के कारण जो दशाह (दस दिन) के अशौचादि कार्य होते हैं, वे किसी को अथवा उस संन्यासी को नहीं करने पड़ते। उसी प्रकार आत्मज्ञान के होनेपर जाति आदि का अभिमान नष्ट हो जाने के कारण उस ज्ञानी पुरुष को कर्मानुष्ठान नहीं करना पड़ता ॥ ४७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

तत्त्वज्ञान के पश्चात् कोई कर्मानुष्ठान नहीं और न ही तत्प्रयोजक जाति आदि का सम्बन्ध आत्मा से है, इसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं—जिस प्रकार संन्यासाश्रम ग्रहण करने पर सपिण्डताभिमान के न होने से संन्यासी को अशौचादि प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मात्मज्ञान की प्राप्ति होने पर जात्यादि का अभिमान न रहने से विद्वान् को कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ४७ ॥

यत्कामस्तत्क्रतुर्भूत्वा, कृतं त्वज्ञः प्रपद्यते ।
यदा स्वात्मदृशः कामाः, प्रमुच्यन्तेऽमृतस्तदा ॥४८॥

यत्कामइति—**अज्ञानी पुरुष अपनी कामना (फल की इच्छा) के अनुसार ही सङ्कल्प करता है, तदनुरोधेन ही कर्म करके फल प्राप्त करता है, किन्तु जिस समय आत्मज्ञानी की समस्त कामनाएं समाप्त हो जाती हैं, उस समय वह अमर अर्थात् संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जब कि ब्रह्मात्मता के अज्ञान के कारण आत्मा के लिये यह संसार देहाध्यासनिबन्धक रहता है, उस कारण तत्त्वज्ञान होने से पूर्व कामादि से युक्त हुआ वह आत्मा धर्माधर्म के कारण संसरण करता रहता है, किन्तु ब्रह्मात्मज्ञान होने पर कामादि का अभाव हो जाने से वह मुक्त हो जाता है। अज्ञानी पुरुष तो जैसी कामना करता है, उसी प्रकार

---

१. 'असुराणां ह्येषोपनिषद्'—(छां उ. ८।८।५)

के संकल्प से युक्त होकर उसका फल पाता है। किन्तु जिस समय आत्मज्ञानी की समस्त कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, उस समय वह अमर (अमृत) हो जाता है। अर्थात् संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है[1] ॥ ४८ ॥

आत्मरूपविधेः कार्यं क्रियादिभ्यो निवर्तनम् ।
न साध्यं साधनं वाऽऽत्मा नित्यतृप्तः* स्मृतेर्मतः ॥४९॥

आत्मरूपेति—**आत्मा के स्वरूपप्रतिपादन का प्रयोजन—कर्म आदि से निवृत्त हो जाना ही है। 'आत्मा' न साध्य है और न साधन ही है। वह तो नित्यतृप्त है, ऐसा स्मृति ने कहा है ॥ ४९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

काम्य कर्म की निवृत्ति से मोक्ष होने पर भी उस काम्य कर्म की निवृत्ति ही कैसे हो सकेगी ? इस आशंका के होने पर कहते हैं कि यद्यपि क्रिया-कारक फल आदि से निवृत्त होना आत्मतत्त्वावबोध के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् कर्मादि से निवृत्त होना ही आत्मस्वरूप ज्ञान का फल है, तथापि उसका अन्तर्भाव, साध्य-साधन में से किसी एक में होने के कारण क्रियासंस्पर्शित्व तो बना ही रहेगा—यह शंका हो सकती है, किन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति[2]', 'नित्यतृप्तो निराश्रयः[3]' इत्यादि श्रौत-स्मार्त प्रमाणों से आत्मा की नित्यतृप्तता का बोध होता हैं। वह तो साध्य-साधन से विलक्षण है, अतः उसमें स्वभावतः क्रियादि का संस्पर्श नहीं है, उसमें जो स्पर्शादि प्रतीति होती है, वह अध्यासमूलक है, ऐसा निश्चय कर आत्मतत्त्वज्ञान के द्वारा ही क्रिया आदि का त्याग करना चाहिये ॥ ४९ ॥

उत्पाद्याप्यविकार्याणि, संस्कार्यं च क्रियाफलम् ।
नातोऽन्यत्कर्मणा कार्यं, त्यजेत्तस्मात्ससाधनम् ॥५०॥

उत्पाद्येति—**क्रिया (कर्म) का फल 'उत्पाद्य', 'आप्य', विकार्य' और 'संस्कार्य' के भेद से चार प्रकार का होता है। मुमुक्षु पुरुष को कर्म से कोई प्रयोजन नहीं है। अतः उसे चाहिये कि वह साधनसहित कर्म का त्याग करे ॥ ५० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मस्वरूपावस्थानलक्षण मोक्ष तो चतुर्विधा क्रिया और उसके फल से विलक्षण है। कर्म का फल उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य चार प्रकार का होता है। 'जैसे जुलाहा वस्त्र बनाता है', यहाँ 'बनाना' क्रिया का कर्मरूप वस्त्र 'उत्पाद्य' है, 'देवदत्त भात पकाता है', यहाँ 'पकाना' क्रिया का कर्मरूप भात 'विकार्य' है, 'रघुनाथ घर जाता है' यहाँ 'जाना' क्रिया का कर्मरूप घर 'आप्य' है, और 'यज्ञदत्त दर्पण स्वच्छ करता है', यहाँ 'स्वच्छ करना' क्रिया का कर्मरूप दर्पण 'संस्कार्य' है। किन्तु आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है। अतः वह किसी क्रिया का कर्म नहीं कहा जाता। अतः मुमुक्षु को मोक्ष के लिये किसी क्रियानुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि मोक्ष तो क्रिया और फल से विलक्षण है। अतः उसमें क्रिया का संभव नहीं है। इसलिये साधनसहित अर्थात् जाया, अपत्य, वित्त, शिखा यज्ञोपवीतादि साधनसहित विधिरूप कर्म का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि कृतक अनित्य होता है। और मोक्ष तो नित्य आत्मस्वरूप में अवस्थितिरूप है। अतः मुमुक्षु को कर्म से कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ५० ॥

तापान्तत्वादनित्यत्वादात्मार्थत्वाच्च या बहिः ।
संहृत्याऽऽत्मनि तां प्रीतिं, सत्यार्थी गुरुमाश्रयेत् ॥५१॥

---

१. 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति……………… ॥ (बृ. उ. ४।४।७)
२. (बृ. उ. ४।३।३२)
३. (भ. गी. ४।२०)
* तृप्तश्रुते—पाठान्तरम् ।

तापान्तत्वादिति— स्त्री-पुत्रादि बाह्य विषयों में जो प्रेम (प्रीति) है, वह परिणाम में दुःख (ताप) दायक होता है, वह प्रेम अनित्य है, वह आत्मार्थ यानी स्वार्थप्रयुक्त (अपने लिये) है। अतः उस प्रेम का (अनात्मविषयक प्रेम का) अपने आत्मा में उपसंहार कर सत्यार्थी (सत्य को चाहने वाला) पुरुष किसी ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु का आश्रय ले ॥ ५१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पुनः जिज्ञासा होती है कि साधन सहित कर्म के त्याग मात्र से ही मुक्ति हो जाती है किंवा उसके लिये कुछ और भी करना पड़ता है ? उस पर कहा गया है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये गुरूपसत्ति करनी चाहिये। अथवा इस तरह समझिये कि समस्त प्रीति (प्रेम) कर्मनिबन्धन होने से अनित्य है, अर्थात् बाह्य पुत्र-कलत्रादि विषयों में जो प्रीति है, वह परिणाम में दुःखरूप और स्वार्थप्रयुक्त है, इस कारण उस अनात्मविषयक प्रीति को अपनी आत्मा में उपसंहृत कर नित्य पुरुषार्थी, सत्यसंकल्प गुरु का आश्रय ले, इस प्रकार मुमुक्षु को शिक्षा दे रहे हैं ॥ ५१ ॥

शान्तं प्राज्ञं तथा मुक्तं, निष्क्रियं ब्रह्मणि स्थितम् ।
श्रुतेराचार्यवान्वेद, तद्विद्धीति स्मृतेस्तथा ॥५२॥

शान्तमिति—भगवती श्रुति—'आचार्यवान् पुरुष को ही ज्ञान होता है', तथा स्मृति—'उसे प्रणाम के द्वारा जानो'—के अनुसार मुमुक्षु जिज्ञासु पुरुष उस गुरु का आश्रय ले, जो शान्त, मेधावी, मुक्त, निष्क्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो ॥ ५२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

उपगन्तव्य गुरु कैसा होना चाहिये ? उसे बता रहे हैं—अक्षुब्ध (शान्त) चित्तवाला, मेधावी (प्राज्ञ), परित्यक्तबन्ध-सजातीयबन्ध से पुनः बद्ध न होने वाला अर्थात् मुक्त यानी निष्किञ्चन, ऐहिक और आमुष्मिक कार्य-प्रवृत्ति रहित (निष्क्रिय), ब्रह्म में स्थित अर्थात् स्व-स्वरूपानन्द का अनुभव होने से सर्वत्र उदासीन, ऐसे गुरु के समीप जाना चाहिये। क्योंकि श्रुति कहती है कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'[1]—आचार्यवान् पुरुष को ही ज्ञान होता है—तथा स्मृति "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः[2]" भी कह रही है कि उसे प्रणाम के द्वारा जानो ॥ ५२ ॥

स गुरुस्तारयेद्युक्तं, शिष्यं शिष्यगुणान्वितम् ।
ब्रह्मविद्याप्लवेनाशु, स्वान्तध्वान्तमहोदधिम् ॥५३॥

स गुरुरिति—शिष्य के पूर्वोक्त गुण जिसमें हो, उस समाहित चित्तवाले शिष्य को वह गुरु ब्रह्मविद्यारूप नौका के द्वारा उसके अन्तः करण में स्थित अज्ञानरूप (अविद्यारूप) महासमुद्र के पार कर दे ॥ ५३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वोक्त प्रमाण के अनुरोध से उक्त विशेषणों से विशिष्ट सद्गुरु के समीप पहुँचने पर होनेवाली निरतिशय फलप्राप्ति को बता रहे हैं—जिसका चित्त समाहित हो और भगवद्गीता में बताये हुए अमानित्वादि गुणों से युक्त तथा पूर्वोक्त 'प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय' के द्वारा बताये गये गुणों से युक्त हुए शिष्य को वह गुरु ब्रह्मविद्यारूप अल्प नौका के द्वारा अन्तःकरणरूप उपाधि से युक्त जीव को स्वरूपावरक विक्षेप शक्तिवाले अनादि अनिर्वाच्य, अज्ञान (संसार) समुद्र से तार दे ॥ ५३ ॥

दृष्टिः स्पृष्टिः श्रुतिर्घ्रातिर्मतिर्विज्ञातिरेव च ।
शक्तयोऽन्याश्च भिद्यन्ते, चिद्रूपत्वेऽप्युपाधिभिः ॥५४॥

१. (छां. उ. ६।१४।२)
२. (भ. गी. ४।३४)

दृष्टिरिति—दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, घ्राणन, मनन, विज्ञान तथा और भी अन्यान्य शक्तियाँ समान रूप से यद्यपि चिद्रूप ही हैं, तथापि भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण उन शक्तियों में भिन्नता उपलब्ध होती है ॥ ५४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

उक्त लक्षणों से सम्पन्न गुरु समाहितादि गुणों से युक्त हुए शिष्य को सम्यग् ज्ञान के द्वारा अनायास ही इस संसार-सागर से किस प्रकार से पार करावेगा? यह जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि वह प्रथमतः पदार्थविवेक करावे। उसके लिये पदार्थशुद्धि की अपेक्षा होती है। अतः उसे संक्षेपतः बता रहे हैं—दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, घ्राणन, मनन, विज्ञान तथा अन्यान्य शक्तियाँ यद्यपि अखण्डचिद्रूपा ही हैं, तथापि तत्तद् इन्द्रियद्वारक बुद्धिवृत्तिभेदरूप भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण उनमें भेद होता है। वह भेद वास्तविक नहीं है। अतः तत्तद् वृत्त्यंश का परित्याग कराते हुए समस्त वृत्तियों के साक्षी रूप से अनुगत प्रकाशस्वभाव आत्मा ही 'त्वं' पदार्थ है, यह ज्ञान उसे प्रथमतः करावे ॥ ५४ ॥

अपायोद्भूतिहीनाभिर्नित्यं दीप्यन् रविर्यथा।
सर्वदृक् सर्वगः* शुद्धः, सर्वं जानाति सर्वदा ॥५५॥

अपायेति—जैसे भगवान् भास्कर उत्पत्ति—विनाशशून्य अपनी रश्मियों [किरणों] द्वारा सर्वदा प्रकाश करते हुए स्थित रहता है, वैसे ही सर्वज्ञ-सर्व साक्षी शुद्धस्वरूप आत्मा स्व-स्वरूपभूता अपनी चिच्छक्ति से सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है ॥ ५५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

चिच्छक्तिभेद को उपाधिप्रयुक्त ही क्यों न माना जाय? अनुभवानुरोधेन उसे स्वरूपप्रयुक्त क्यों न माना जाय? परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर आत्मा को विकारी मानना पड़ेगा और कल्पनागौरव भी होगा। आत्मा तो अखण्डरूप है, उसकी अखण्डरूपता को दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं—जिस प्रकार सूर्य अकेला ही अपनी जन्म-विनाशशून्य रश्मियों के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता हुआ अविकृत रहता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी शुद्धस्वरूप आत्मा भी अपनी स्वरूपभूत चिच्छक्तियों के द्वारा अर्थात् तत्तद् बुद्धिवृत्तिरूप उपाधियों के भेद से भिन्न हुई चिच्छक्तियों के द्वारा समस्त पदार्थों को अच्छी तरह (विशेषरूप से) जानता है, और सर्वदा सामान्यरूप से भी सब देखता रहता है। जबकि सम्पूर्ण दृश्य का अधिष्ठान होने से वह पूर्णतः अव्यभिचारी है, तस्मात् वह शुद्ध अर्थात् निर्विकार है—ऐसा समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

अन्यदृष्टिः शरीरस्थस्तावन्मात्रो ह्यविद्यया।
जलेन्द्वाद्युपमाभिस्तु, तद्धर्मा च विभाव्यते ॥५६॥

अन्यदृष्टिरिति—शरीर में स्थित आत्मा, अनात्मदृष्टि (अन्यदृष्टि) सम्पन्न होने से, जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र, जल के चञ्चल रहने पर चञ्चल-सा दिखाई देता है, उसी तरह अविद्यावश देह (शरीर) में आत्मत्व का अध्यास होते रहने से आत्मा को देहधर्मों से युक्त और देह (शरीर) परिमाण का समझते हैं ॥ ५६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि आत्मा उक्त लक्षण से लक्षित है, तो वह संसार से ग्रस्त क्यों होता है और उसका परिच्छेदप्रतिभास क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अविद्या के कारण स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में ही उपलभ्यमान होने के कारण आत्मा शरीरपरिमाण मात्र समझा जाता है और शारीरिक धर्मों से युक्त जान पड़ता है, अर्थात् संसारी जान पड़ता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित हुआ चन्द्रमा, जल की चञ्चलता के कारण चञ्चल प्रतीत होता है, उसी प्रकार देह में आत्मत्व का अध्यास होने के कारण आत्मा, देह के धर्मों से युक्त और देहपरिमाण मात्र जान पड़ता है ॥ ५६ ॥

---

* सर्वज्ञः सर्वदृक०—पाठान्तरम्।

दृष्ट्वा बाह्यं निमील्याथ, स्मृत्वा तत्प्रविहाय च ।
***अथोन्मील्यात्मनो दृष्टिं ब्रह्म प्राप्नोत्यनध्वगः ॥५७॥**

दृष्ट्वेति—मुमुक्षु पुरुष जाग्रत् काल के बाह्य पदार्थों को देखता रहता है, तथापि उनकी ओर से अपनी दृष्टि को हटा लेता है, उन्हीं को स्वप्न में वासनामय पदार्थ के रूप से स्मरण करता है, तदनन्तर उस वासनामय पदार्थ का भी त्याग कर देता है, बाद में सुषुप्ति की कारणभूत (बीजभूत) अज्ञान रूप दृष्टि का भी त्याग कर देता है, तब उसके बाद आत्मा की ज्ञानप्रकाशरूप आत्मदृष्टि को खोलकर वह अर्चिरादि मार्ग से बिना गये ही ब्रह्म को पा लेता है ॥ ५७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार उपाधिपरामर्श हुए बिना आत्मा में भेद(संसार) आदि की उपलब्धि नहीं होती । और आत्मा की उपाधियों की स्वतन्त्र सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है । अविद्यामय होनेपर भी वह चिदात्मा नित्य शुद्ध एवं परिपूर्ण ही है, इस प्रकार अवान्तर वाक्यों के द्वारा अवधारित हुआ आत्मा ही सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्म है, इस प्रकार के महावाक्य से आचार्य के द्वारा आत्मतत्त्व को समझा हुआ मुमुक्षु जब यह जान लेता है कि समस्त दृश्य अवस्थात्रयात्मक ही है और उसका निरसन कर तत्साक्षीरूप में और तदधिष्ठान के रूप में अव्यभिचारी चिदेकरस ब्रह्म ही आत्मा है, ऐसा अनुभव जब उसे होने लगता है, तब वह मुक्त हो जाता है । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अनुसंधान करने का प्रकार बता रहे हैं—जाग्रत्-कालीन पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के कार्यात्मक समष्टि-व्यष्टिरूप समस्त बाह्य पदार्थों को देखकर (द्रष्टा और दृश्य यानी कारण और कार्य को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा देखकर) तत्पश्चात् उनकी ओर से दृष्टि हटाकर अर्थात् समस्त दृश्य (कार्य) द्रष्टामात्र यानी सम्पूर्ण कार्य को कारणरूप ही समझे । उसके बाद जाग्रत् काल के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों का कार्य यह स्वप्न है, अतः स्वप्नदर्शन एक स्मरण (स्मृति) मात्र है, ऐसा समझकर विश्व-वैश्वानर सहित स्थूल उपाधि को उस वासनामय लिङ्ग शरीर (सूक्ष्मभूत सहित सूक्ष्म-शरीर) में विलीन कर उस जाग्रत् प्रपञ्च को वासनामय स्वप्नमात्र ही समझे । तदनन्तर वासनासहित मन, प्राण, इन्द्रियसंघात (समुदाय) रूप लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर को भी उसके कारण में यानी पञ्चतन्मात्रा में विलीन कर दे, अर्थात् उस कार्यभूत सूक्ष्म शरीर को भी कारण (पंचतन्मात्रा) रूप ही समझे । इस प्रकार उत्पत्तिक्रम के विपरीत क्रम का अनुसरण करते हुए उस पञ्चतन्मात्रा को भी साभास अज्ञान से पृथक् न समझे, अर्थात् साभास अज्ञान में पञ्चतन्मात्राओं को विलीन कर दे । तदनन्तर सुषुप्ति में बीजरूप जो अज्ञानमात्र शेष रहा, उसे भी विवेक के द्वारा बाधित कर दे । वह अज्ञान न सत् है, न असत् है, न भिन्न है, न अभिन्न है, किसी प्रकार से भी उसको नहीं बताया जा सकता, अतः वह अन्ध पुरुष के द्वारा कल्पित अन्धकार के समान यत्किंचित् है, अनिर्वचनीय है, मिथ्या है, इस प्रकार के विवेक के द्वारा उस अज्ञान का भी बाध करे । तदनन्तर सभी अवस्थाओं का साक्षी बनकर रहने वाला सच्चिदानन्द मात्र मैं (आत्मा) हूँ, इस प्रकार ज्ञानप्रकाश रूप दृष्टि को खोले अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा को निरुपाधिक समझे, तब वह सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्म ही हो जाता है । अर्थात् उसे अर्चिरादि मार्ग से जाने की आवश्यकता नहीं रहती । क्योंकि ब्रह्म ही उसका आत्मा है, अतः उसकी ब्रह्मप्राप्ति अर्चिरादि मार्ग द्वारा गति के अधीन नहीं है ॥ ५७ ॥

प्राणाद्येवं त्रिकं हित्वा, तीर्णोऽज्ञानमहोदधिम् ।
स्वात्मस्थो निर्गुणः शुद्धो, बुद्धो मुक्तः स्वतो हि सः ॥५८॥

प्राणाद्येवमिति—इस तरह प्राणादि तीनों को अर्थात् प्राण, मन और बुद्धि रूप तीनों अन्तःकरणों को अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं को त्याग कर अज्ञानरूप महासागर को पार करता हुआ वह पुरुष स्वयं आत्मनिष्ठ, निर्गुण तथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप हो जाता है ॥ ५८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अनध्वग होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, इस कथन को ही और अधिक स्पष्ट करते हुए उसकी मुक्ति को निरुपचरित (पूर्णरूपसे) बता रहे हैं । अर्थात् वह उपासक की मुक्ति की तरह आपेक्षिक नहीं है । उपर्युक्त प्रकार

* अर्थान्मील्या०—पाठान्तरम् ।

से प्राण, मन और बुद्धि इन तीनों अन्तःकरणों अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को त्यागकर अज्ञान महासागर से उत्तीर्ण (पार) हुआ पुरुष अर्चिरादिमार्गस्थ न होकर स्वयं आत्मनिष्ठ होता है, तथा अपनी आत्मा में ही समस्त गुणों को विलीन कर देने से वह निर्गुण हो जाता है और निरुपाधिक हो जाने से शुद्ध होता है, अतः स्वभावतः ही बुद्ध और मुक्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि पदार्थविवेक द्वारा वाक्यार्थज्ञान होता है, उससे अज्ञान की निवृत्ति होती है, तब स्वतः ही मुक्त हो जाने से बिना अर्चिरादिगति के ही ब्रह्म को प्राप्त हुए उस ज्ञानी विद्वान् को पुनः प्रपञ्च में आना नहीं पड़ता ॥ ५८ ॥

अजोऽहं चामरोऽमृत्युरजरोऽभय एव च।
सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्ध, इति बुद्धो न जायते ॥५९॥

अजोऽहमिति—मैं जन्म रहित हूँ, अमर (ज्ञानरूप) हूँ, मृत्युरहित हूँ, जरारहित हूँ और भय से रहित हूँ तथा मैं सर्वज्ञ हूँ, सर्वसाक्षी और शुद्ध हूँ—इस प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ'—'अहं ब्रह्मास्मि' यह जाननेवाला अर्थात् अज्ञाननिद्रा से जगा हुआ पुरुष पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता, यानी उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ५९ ॥

पूर्वोक्तं यत्तमोबीजं, तन्नास्तीति विनिश्चयः।
तदभावे कुतो जन्म, ब्रह्मैकत्वं विजानतः ॥६०॥

पूर्वोक्तमिति—आत्मज्ञानी पुरुष निश्चित रूप से यह जानता है कि पूर्वोक्त सुषुप्ति रूप अज्ञान है ही नहीं। तब ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से सम्पन्न पुरुष की दृष्टि में अज्ञान का अभाव ही हो जाने से उसका पुनः जन्म कैसे हो सकेगा ? ॥ ६० ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रबुद्ध पुरुष के जन्म न लेने में हेतु यह है कि उस विद्वान् का यह निश्चय रहता है कि 'सुषुप्त्याख्यं तमोऽज्ञानम्' के द्वारा कहा गया जो सुषुप्तिरूप अज्ञान है, वह किसी भी काल में (तीनों कालों में) नहीं है। इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म का एकत्व समझनेवाले उस विद्वान् पुरुष की दृष्टि में अज्ञान का अभाव रहने से पुनः उसका जन्म कैसे हो सकेगा, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव रहता है। किसी भी काल में सत् वस्तु का ज्ञान होने मात्र से तिरोधान नहीं होता किन्तु ज्ञान का उदय होते ही इस अज्ञान का तो शुक्ति-रजत के समान तिरोधान हो जाता है ॥ ६० ॥

क्षीरात्सर्पिर्यथोद्धृत्य क्षिप्तं तस्मिन्न पूर्ववत्।
बुद्ध्यादेर्ज्ञस्तथाऽसत्यान्न देही पूर्ववद्भवेत् ॥६१॥

क्षीरादिति—जैसे दूध (क्षीर) से निकाला गया घृत (सर्पि) दूध में पुनः मिला देने पर भी पहले की तरह वह उसमें नहीं मिल पाता, वैसे ही असत्य बुद्धि आदि से 'ज्ञ' के रूप में पृथक् किया गया देही (आत्मा] पहले की तरह अविवेकी नहीं हो सकता ॥ ६१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले विद्वान् का भी व्यवहार पूर्ववत् ही देखने में आता है, ऐसी स्थिति में उसके द्वारा किये जानेवाले धर्म-अधर्म के कारण उसे पुनः शरीरग्रहण (संसारप्राप्ति) तो करना ही होगा, यह शंका हो सकती है, उसका उत्तर इस श्लोक के द्वारा दे रहे हैं—जिस प्रकार दूध से निकाला हुआ घृत (नवनीत) पुनः उसी निःसार किये गये दूध में मिलाये जाने पर भी पूर्ववत् नहीं मिल पाता, उसी प्रकार असत्य (मिथ्या) बुद्धि आदि के समुदाय से पृथक् किया हुआ आत्मा अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य से अपने को ब्रह्मरूप समझनेवाला वह विद्वान् पुनः देहद्वयसंघात (समुदाय) का अभिमान नहीं करता। अर्थात् पूर्ववत् वह अविवेकी नहीं होता है। अहंकारयुक्त पुरुष के किये कर्म ही उसके बन्धन के हेतु होते हैं, निरहंकारी पुरुष के कर्म बन्धक नहीं होते। भगवान् स्वयं कहते हैं—"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते"[1]।

1. (भ. गी. १८।१७)

जिस ब्रह्मज्ञानी का अन्तःकरण अहंभाव से रहित है और जिसकी बुद्धि धर्माधर्म संस्कार से रहित है, उसे पुण्य-पाप का बन्धन नहीं होता ॥ ६१ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं च, रसादेः पञ्चकात्परम् ।
स्यामदृश्यादिशास्त्रोक्तमहं ब्रह्मेति निर्भयः ॥६२॥

सत्यमिति—अदृश्यादि शास्त्र के द्वारा बताया हुआ, अन्नमयादि पञ्चकोशोंके परे स्थित, तथा सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप ब्रह्म मैं हूँ, यह जानकर आत्मज्ञानी पुरुष निर्भय हो जाता है ॥ ६२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पदार्थपरिशोधनपूर्वक महावाक्य से 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अनुभव करनेवाले ज्ञानी को पुनः संसारभय की आशंका नहीं रहती, इस उक्त अर्थ में "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन" इस श्रुति के अर्थ को 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' से बता रहे हैं। अदृश्यादि शास्त्र—"अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते" के द्वारा बताये गये और रसादि पञ्चक अर्थात् अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय इन पंचकोशों के पर, यानी आधारभूत "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस श्रुति से जिसका निर्देश किया गया है, उसी को 'अदृश्यादि शास्त्र' से गया है, वह सत्य ज्ञान एवं अनन्तरूप परब्रह्म 'मैं' हूँ, ऐसा समझकर पुरुष निर्भय हो जाता है ॥ ६२ ॥

यस्माद्भीताः प्रवर्तन्ते, वाङ्मनःपावकादयः ।
तदात्मानन्दतत्त्वज्ञो, न बिभेति कुतश्चन ॥६३॥

यस्मादिति—जिससे डरकर वाणी, मन तथा अग्नि आदि अपना-अपना काम करने में प्रवृत्त होते रहते हैं, उस आत्मानन्द के तत्त्व (रहस्य) को जानने वाला पुरुष कभी भी और किसी से भी भयभीत नहीं होता है ॥ ६३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

भयंकरों के लिये भी भयंकर ऐसे ब्रह्मात्मभूत हुए पुरुष को भय की शंका होने का भी अवकाश कहाँ? इस प्रकार ब्रह्मज्ञ के पूर्वोक्त संसाराभाव को पुनः बताकर उसे दृढ़ कर रहे हैं। 'जिससे भयभीत होकर वाणी, मन एवं अग्नि आदि अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं, उस आत्मानन्द के रहस्य को जानने वाला पुरुष किसी से भी भयभीत नहीं होता'। 'वाङ्मनः पावकादयः' के स्थान पर यदि 'वाय्विनौ पावकादयः' पाठ हो तो 'इन' का अर्थ सूर्य समझना चाहिए। और 'आदि' शब्द से इन्द्र,मृत्यु का ग्रहण करना चाहिए। तथाच श्रुतिः—"भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः"[1]। इसके भय से वायु चलता है, इसी के भय से सूर्य उदित होता है तथा इसी के भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है। "वाङ्मनःपावकादयः" पाठ में अध्यात्म वागादि हैं, और अधिदैव अग्नि आदि हैं। ये भी उसीके भय से प्रवृत्त होते हैं। तथाच श्रुतिः—"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति[2]"। यह मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रधान प्राण चलता है? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुई यह वाणी बोलते हैं? और कौन देव चक्षु तथा श्रोत्र को प्रेरित करता है? तथा कठश्रुति भी कह रही है :—

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः"[3] ॥

इस परमेश्वर के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ॥ ६३ ॥

१. (तै. उ. २।८), भागवत (३।२५।४१-४४) से तुलना कर सकते हैं।
२. (के. उ. १।१)
३. (कठ उ. २।३।३)

नामादिभ्यः परे भूम्नि, स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये ।
प्रणमेत्कं तदाऽऽत्मज्ञो, न कार्यं कर्मणा *तथा ॥६४॥

नामेति—वह ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसम्पन्नपुरुष यदि नाम आदि से अतीत, व्यापक, अद्वितीय स्वाराज्य में स्थित हो गया है तो वह किसे प्रणाम करेगा ? उस समय तो उस पुरुष को कर्म से कोई प्रयोजन ही नहीं होता ॥ ६४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

हरि, हर, हिरण्यगर्भ आदि बड़े-बड़े देवता, विद्वान् ब्रह्मज्ञानी के लिये भी प्रणम्य होते हैं। उनके अति-क्रमण का भय संभव रहने से उस ब्रह्मवित् के लिये कार्यशेष तो मानना ही होगा ?—ऐसा यदि कोई कहे तो उसपर कह रहे हैं कि ब्रह्मवित् यदि नामादि से अतीत, व्यापक, अद्वितीय स्वाराज्य में स्थित है तो वह किसको प्रणाम करेगा ? उस समय तो उसको कर्म से कोई प्रयोजन ही नहीं रहता; क्योंकि परिपक्वज्ञान होने से वह कृतकृत्य रहता है, अतः उसे किसी भी कर्म से कोई प्रयोजन नहीं होता। दूसरे के प्रति महद्भाव और अपने प्रति गौणीभाव रहने पर ही प्रणाम किया जाता है, किन्तु आत्मज्ञ विद्वान् तो प्रणम्यों का भी आत्मरूप है, जब सर्वत्र वही है, तो कौन छोटा और कौन बड़ा रहा ? सभी स्वस्वरूप हैं, अतः किसे प्रणाम करना होगा ? ॥ ६४ ॥

विराड्वैश्वानरो बाह्यः, स्मरन्नन्तः प्रजापतिः ।
प्रविलीने तु सर्वस्मिन्, प्राज्ञोऽव्याकृतमुच्यते ॥६५॥

विराडिति—वही आत्मा जाग्रदवस्था में बहिष्प्रज्ञ होने पर व्यष्टि और समष्टि के भेद से 'विराट्' और 'वैश्वानर', तथा स्वप्नावस्था में अन्तःकरण में स्मरण करने पर 'तैजस' और 'हिरण्यगर्भ', और सुषुप्तावस्था में सभी के लीन हो जाने पर 'प्राज्ञ' और 'अव्याकृत' कहलाता है ॥ ६५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यह भूमा (ब्रह्म), नाम, वाक्, मन आदि से लेकर प्राण तक जितने भी हैं, उन सबके परे है, यह कहा गया है[1]। ऐसी स्थिति में उस ब्रह्म को अद्वय कैसे कहें ? ये नाम आदि अवस्थात्रयरूप होने से अध्यस्त हैं, अतः मिथ्या हैं। उनका साक्षी तुरीय भूमा (ब्रह्म) तो अद्वय है, उसे बताने के लिए तीन अवस्थाओं को बताते हैं—वह आत्मतत्त्व ही जाग्रदवस्था में बहिष्प्रज्ञ होने पर व्यष्टि-समष्टि भेद से विराड् और वैश्वानर, स्वप्नावस्था में अन्तःकरण में स्मरण करने पर तैजस और हिरण्यगर्भ, तथा सुषुप्तावस्था में सबके लीन हो जाने पर प्राज्ञ और अव्याकृत कहा जाता है। अध्यात्म और अधिदैवत के अभेदाभिप्राय से विराट्-वैश्वानर अर्थात् विश्व-वैश्वानर कहा। बाह्य का अर्थ बहिःप्रज्ञ है। 'अन्तः स्मरन्' कहकर यह बताया है कि स्वप्न में वासनामय विषयों को देखनेवाला प्रजापति हिरण्यगर्भ तैजस है। अव्याकृत माया की उपाधि से युक्त ईश्वरतत्त्व को 'प्राज्ञ' कहा गया है ॥ ६५ ॥

वाचारम्भणमात्रत्वात्सुषुप्तादित्रिकं त्वसत् ।
सत्यो ज्ञश्चाहमित्येवं, सत्यसन्धो विमुच्यते ॥६६॥

वाचारम्भणेति—सुषुप्तादि तीनों अवस्थाएँ तो मिथ्या हैं, क्योंकि ये वाचारम्भण मात्र हैं। 'मैं (आत्मा) ही ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह जाननेवाला सत्यसन्ध मुमुक्षु पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ६६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अवस्थात्रयात्मक जगत् को मिथ्या समझकर उसकी साक्षीभूत वस्तु जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ, यह ज्ञान होनेपर मुक्त हो जाता है। वाणी से आरंभ होने के कारण सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थाएँ मिथ्या हैं', 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सत्य हूँ' इस प्रकार का ज्ञान होनेपर सत्यप्रतिज्ञ पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ६६ ॥

---

१. (के. उ. १।१–८)

* तदा—पाठान्तरम् ।

① नैषा मतिर्तर्केणापनेया । (क०) प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥1.2.9॥

भारूपत्वाद्यथा भानोर्नाहोरात्रे तथैव च ।
ज्ञानाज्ञाने न मे स्यातां चिद्रूपत्वाविशेषतः ॥६७॥

भारुपत्वादिति—जिस प्रकार सूर्य में दिन तथा रात्रि नहीं होती है, क्योंकि वह प्रकाशरूप है, इसी प्रकार चिद्रूपत्व की समानता होने से मुझ (आत्मा) में न ज्ञान है और न अज्ञान ही है ॥ ६७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मतत्त्व का ज्ञान न होने से अध्यस्त रहनेवाले संसार की निवृत्ति अधिष्ठानरूप आत्मतत्त्व के ज्ञान से हो जाती है। यह कहने से ज्ञान और अज्ञान को आत्मधर्म कहना होगा ?—इस आशंका का समाधान दृष्टान्त देकर कर रहे हैं—जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप होने के कारण सूर्य में दिन-रात का अभाव रहता है, उसी प्रकार चिद्रूपता की समानता होने से मुझ आत्मा में न ज्ञान है, न अज्ञान है। मैं तो ज्ञान-अज्ञान दोनों का ही साक्षी हूँ, और वे दोनों मेरे साक्ष्य है, अतः वे दोनों कल्पित हैं। कल्पित होने के कारण वे दोनों मेरे धर्म नहीं हैं ॥ ६७ ॥

① शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वाद्ब्रह्मैव स्यामहं सदा ।
ब्रह्मणो मे न हेयं स्याद्ग्राह्यं वेति च संस्मरेत् ॥६८॥

शास्त्रस्येति—शास्त्र का प्रामाण्य किसी प्रकार भी शङ्का करने के योग्य न होने से 'मैं सर्वदा ब्रह्मरूप ही हूँ'। अतः मुझ ब्रह्मस्वरूप के लिये 'न कुछ हेय (त्याज्य) है और न कुछ उपादेय (ग्राह्य) है'—यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये ॥ ६८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की निर्विशेषता शास्त्रप्रामाण्य से ही सिद्ध हैं, अतः कुतर्क से मन को दूषित नहीं करना चाहिए। शास्त्र का प्रामाण्य किसी प्रकार से भी शंका करने योग्य नहीं है, उसका प्रामाण्य निःशङ्क है। अतः 'मैं सर्वदा ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्मरूप हुए मेरे लिये न कुछ हेय है और न ग्राह्य है', यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए ॥ ६८ ॥

अहमेव च भूतेषु सर्वेष्वेको नभो यथा ।
मयि सर्वाणि भूतानि पश्यन्नेवं न जायते ॥६९॥

अहमिति—जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है, वैसे मैं ही समस्त भूतों में विद्यमान हूँ तथा समस्त भूत मुझमें विद्यमान हैं, ऐसी दृष्टि रखने वाला पुरुष पुनः कभी उत्पन्न नहीं होता अर्थात् जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ ६९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

वह ब्रह्मपरक शास्त्र कौन-सा है, और सर्वदा अहेय अनुपादेय ब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठा का फल क्या है ? ऐसी अपेक्षा होनेपर 'यस्तु सर्वाणि भूतानि'[1] इत्यादि मन्त्रार्थ को दे रहे हैं—मैं एकाकी ही आकाश के समान यच्चयावत् सम्पूर्ण भूतमात्र में विद्यमान हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतमात्र मुझमें स्थित हैं। इस प्रकार की दृष्टि (ज्ञान) होनेपर उस ज्ञानी को जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ६९ ॥

न बाह्यं मध्यतो वाऽन्तर्विद्यतेऽन्यत्स्वतः क्वचित् ।
अबाह्यान्तःश्रुतेः किञ्चित्तस्माच्छुद्धः स्वयंप्रभः ॥७९॥

न बाह्यमिति—बाहर, भीतर या मध्य में आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। इस तथ्य को भगवती श्रुति ने बताया है। इसलिये वह आत्मा शुद्ध और स्वयम्प्रकाश है ॥ ७० ॥

१. (ई. उ. ६) आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

● तु—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की अद्वितीय ब्रह्मरूपता में अर्थतः शास्त्र को बताकर अब उसकी निर्विशेष ब्रह्मरूपता में भी शास्त्र (श्रुति) बता रहे है—"तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः[१]" पूर्वोक्तगुणविशिष्ट यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्य से रहित) और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। इस श्रुति के कारण आत्मा से भिन्न उसके बाहर, भीतर या मध्य में अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। अतः वह शुद्ध और स्वयंप्रकाश है ॥ ७० ॥

नेति नेत्यादिशास्त्रेभ्यः, 'प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः' ।
अविज्ञातादिशास्त्राच्च, नैव ज्ञेयो ह्यतोऽन्यथा ॥७१॥

नेतीति—नेति-नेति इत्यादि शास्त्र से तथा अविज्ञातादि-शास्त्र से वह आत्मा प्रपञ्चशून्य एवं अद्वितीय है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी रीति से वह ज्ञेय नहीं है ॥ ७१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा की सर्वप्रपञ्चसंस्पर्शशून्यता को शास्त्रान्तरों के द्वारा भी बता रहे हैं—प्रपञ्च के निषेध द्वारा ही आत्मा को जानना चाहिए, विषय के रूप में या प्रपञ्च संसृष्ट के रूप में नहीं। 'आत्मा स्थूल नहीं है, सूक्ष्म शरीर भी नहीं है', इत्यादि शास्त्र से तथा 'वह स्वयं ज्ञात हुए बिना ही दूसरों का ज्ञाता है' इस श्रुति से आत्मा प्रपञ्चशून्य एवं अद्वितीय है, वह इससे भिन्न प्रकार से ज्ञेय नहीं है। नेति-नेति शास्त्र अर्थात् प्रपञ्चनिषेध शास्त्र को बृहदारण्यक में बताया है—'नेति नेति न ह्य तस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति'। 'नेति-नेति' यह ब्रह्म का संकेत हैं। 'नेति' 'नेति' से बढ़कर कोई उत्कृष्ट संकेत नहीं है। 'सत्य का सत्य' उसका नाम है[२]। उसी प्रकार गौड़पादकारिका में उसे प्रपञ्चोपशम अद्वयरूप बताया है[३]। केनोपनिषद् में कहा है कि 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'[४]—वह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से भी परे है। तथा उसी में पुनः बताया है 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः'[५]—ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है, उसी को ज्ञात है और जिसको है, वह उसे नहीं जानता है। बृहदारण्यक में कहा है 'अविज्ञातं विज्ञातृ'[६]—बुद्धि का अविषय होने के कारण विज्ञात नहीं है, किन्तु स्वयं विज्ञानस्वरूप होने से विज्ञाता है। इस प्रकार उसकी सर्वप्रपञ्चशून्यता स्पष्ट हो रही है ॥ ७१ ॥

सर्वस्यात्माऽहमेवेति, ब्रह्म चेद्विदितं परम् ।
स आत्मा सर्वभूतानामात्मा ह्येषामिति श्रुतेः ॥७२॥

सर्वस्येति—'मैं ही सबका आत्मा हूँ'—इस प्रकार से यदि ब्रह्म का ज्ञान हो जाय तो वह समस्त प्राणियों का 'आत्मा' हो जाता है। इस तथ्य को भगवती श्रुति ने बताया है ॥ ७२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

"तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः[७]"—इसलिये देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मतत्त्व को जानें—यह श्रुति बता रही है कि इस प्रकार अद्वयादि लक्षण आत्मा को जानने वालों की फलप्राप्ति में देवता लोग विघ्न पैदा करते हैं—यह शंका यदि कोई करे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'मैं ही सब का आत्मा

१. (बृ. उ. २।५।१९)
२. (बृ. उ. २।३।६)
३. (गौ. का. २।३५)
४. (के. उ. १।३)
५. (के. उ. २।३)
६. (बृ. उ. ३।८।११)
७. (बृ. उ. १।४।१०)

हूँ' इस प्रकार यदि परब्रह्म का ज्ञान हो जाय तो वह समस्त प्राणिमात्र का आत्मा हो जाता है। वह विद्वान् ब्रह्मज्ञानी देवताओं का भी आत्मा होने से उस विघ्नप्रतिपादक श्रुति को अविद्वद्विषयक समझना चाहिये। "तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति[1]"—उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है, यह बृहदारण्यक श्रुति बता रही है॥ ७२॥

जीवश्चेत्परमात्मानं, स्वात्मानं देवमञ्जसा।
देवो [वेदो] पास्यः स देवानां, पशुत्वाच्च निवर्तते॥७३॥

जीवश्चेदिति—यदि जीव अपने को परमात्मस्वरूप जानने लगता है, तो वह शीघ्र ही देवताओं का भी उपास्य हो जाता है और देवताओं के पशुत्व से निवृत्त होता है॥ ७३॥

हृदयस्पर्शिनी

उक्त साधनसम्पन्न ब्रह्मात्मज्ञानवान् विद्वान् अपनी जीवित अवस्था में ही देवताओं का भी उपास्य बन जाता है, अतः उसके प्रति देवपशुत्व की शंका भी नहीं की जा सकती अर्थात् देवताओं के पशुत्व से वह निवृत्त हो जाता है। अतः उसे किसी से भी भय नहीं रहता। इसी अभिप्राय को श्रुति ने भी बताया है—

"यदैव मनुष्यः पश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न तदा विजुगुप्सते[2]॥"

तथा तैत्तिरीय उपनिषद् ने भी बताया है कि "सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति[3]" उसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक ने भी कहा है कि "तमेवं विद्वानमृत इह भवति[4]"॥ ७३॥

अहमेव सदात्मज्ञः शून्यस्त्वन्यैर्यथाम्बरम्।
इत्येवं सत्यसन्धत्वादसद्धाता* न बध्यते॥७४॥

अहमिति—'मैं ही सत्स्वरूप चेतन आत्मा हूँ, तथा आकाश के समान अन्य पदार्थों से रहित हूँ'—इस प्रकार सत्यसन्ध होने के कारण असत्य का त्याग करने वाला पुरुष, चोर के समान बद्ध नहीं होता है॥ ७४॥

हृदयस्पर्शिनी

यह जो पीछे कहा था कि "सत्यसन्धो विमुच्यते" उसी को स्पष्ट कर रहे हैं—मैं ही 'सत्' स्वरूप चेतन आत्मा हूँ, और आकाश के तुल्य अन्य पदार्थों से रहित हूँ। इस प्रकार सत्यसन्ध होने के कारण असत्य का त्याग करने वाला पुरुष, चोर के समान बन्धन को प्राप्त नहीं होता, या उसका वध नहीं किया जाता। 'सदात्मज्ञः' में कर्मधारय समास 'सदात्मा चासौ ज्ञश्च—सदात्मज्ञः' करना चाहिये। इसका उदाहरण 'तत्सत्यं स आत्मा[5]' यह श्रुति है। 'अन्यैः शून्यः' कहकर वाचारंभण श्रुति के अर्थ को बताया है। 'यथाम्बरम्' से दृश्यसंसर्गशून्य होने के कारण शुद्ध रहने में दृष्टान्त बताया है। 'असद्धाता' से अनृताभिसन्धि से रहित होने के कारण अतस्कर के समान बन्धनार्थहीन रहता है। इसके उदाहरण में "स यथा तत्र न दाह्येतैतदात्म्यमिदं सर्वम्[6]" यह श्रुति है। अथवा 'असतः हाता'—असद्धाता अर्थात् कार्यसहित अज्ञान का नाशयिता अर्थ करना चाहिये॥ ७४॥

कृपणास्तेऽन्यथैवातो, विदुर्ब्रह्म परं हि ये।
स्वराड्योऽनन्यदृक् स्वस्थस्तस्य देवा असन्वशे॥७५॥

१. (बृ. उ. १।४।१०)
२. (कठ. उ. ४।५)
३. (तै. उ. १।५)
४. (तै. आ. ३।१।३)
५. (छा. उ. ६।८।७)
६. (छा. उ. ६।१६।३)
* ह्वानाद्य—पाठान्तरम्।

कृपणा इति— वे लोग कृपण (दीन) हैं, जो 'आत्मा' को 'ब्रह्म' से भिन्न समझते हैं, परन्तु जो लोग 'ब्रह्म' और 'आत्मा' दोनों में अभेद देखते हैं, वे स्वयंप्रकाश और आत्मनिष्ठ कहलाते हैं। सम्पूर्ण देवतागण भी उसके वशंगत रहते हैं ॥ ७५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार का ज्ञान न होने से अन्य प्राकृत लोग शोच्य रहते हैं, इसे दिखाते हुए "अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति[1]" इस श्रुति के अर्थ को बता रहे हैं—जो लोग परब्रह्म को आत्मा से भिन्न अर्थात् अनात्मरूप जानते हैं, वे कृपण यानी दीन (शोच्य) ही हैं। किन्तु जो अभेददर्शी है, वह कृपण नहीं है। वह स्वयंप्रकाश और आत्मनिष्ठ रहता है, सम्पूर्ण देवगण उसके अधीन रहते हैं। छान्दोग्य श्रुति बता रही है— 'एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति[2]' तथा "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"—इस प्रकार विशेषरूप से जानने वाला आत्मरत, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है, वह स्वराट् है, सम्पूर्ण लोकों में उसकी यथेच्छ गति होती है। 'आसम्' अर्थ में 'असन्' प्रयोग छान्दस है। "यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यात्। तस्य देवा असन् वशे" इस तैत्तिरीय आरण्यक के मन्त्र में 'असन्' प्रयोग हुआ है। जो इस प्रकार का ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्[3]' के अनुसार ब्रह्मात्मा को जानता है, देवता उस ब्रह्मनिष्ठ के वशवर्ती हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

हित्वा जात्यादिसम्बन्धा*न्वाचोऽन्याः सह कर्मभिः।
ओमित्येवं †स्वमात्मानं, सर्वं शुद्धं प्रपद्यथ ॥७६॥

हित्वेति—जाति आदि सम्बन्धों का तथा कर्मकलाप के सहित अन्य समस्त वाक्यों का त्याग करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधारभूत 'ॐ' शब्द से वाच्य जो शुद्ध आत्मा है, उसी के शरण में जाओ ॥ ७६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यथोक्त आत्मज्ञान से ही कृतकृत्यता हो पाती है, अतः मुमुक्षु को उसी के लिये यत्न करना चाहिये। जाति आदि सम्बन्ध तथा कर्मों के सहित अन्य समस्त वाक्यों का त्याग करके सर्वदा सब के आधारभूत ॐ शब्दवाच्य शुद्ध आत्मा के शरण जाओ। मुण्डक श्रुति कह रही है— "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः[4]।" "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्[5]"—जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणों के सहित मन ओत-प्रोत है, उस एक आत्मा को ही जानो, और सब बातों को छोड़ो, यही अमृत का सेतु (साधन) है। उस आत्मा का ॐ के रूप में ध्यान करो। इनके अतिरिक्त अन्य जो वाक्य हैं, वे सब अनात्मविषयक प्रवृत्तिपरक हैं। 'सर्वम्' का अर्थ सर्वाधारभूत और 'शुद्धम्' का अर्थ विविक्त अर्थात् निर्विशेष समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

सेतुं सर्वव्यवस्थानामहोरात्राविवर्जितम्।
तिर्यगूर्ध्वमधः सर्वं, सकृज्ज्योतिरनामयम् ॥७७॥

सेतुमिति—वह आत्मा वर्णाश्रमादि सभी मर्यादाओं का सेतु है, दिन-रात्रिरूप काल से भी परे है अर्थात् उसे काल का स्पर्श तक नहीं हो पाता। ऊपर-नीचे-पार्श्व भाग में यानी सभी ओर वह विद्यमान है। वही एक मात्र ज्योतिःस्वरूप और निर्दोष (अनामय) है ॥ ७७ ॥

* सम्बन्धं—पाठान्तरम्।   † सदात्मानं—पाठान्तरम्।

१. (छां. उ. ७।२५।२)
२. (छां. उ. ७।२५।२)
३. (तै. आ. ३।१३)
४. (मु. उ. २।२।५)
५. (मु. उ. २।२।६)

वह शरण्य (प्रतिपत्तव्य) आत्मा समस्त वर्णाश्रमादि मर्यादाओं का सेतु (विधारक) है। छान्दोग्य श्रुति बता रही है—"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतं सेतुमहोरात्रे तरतः .... सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः[1]" जो आत्मा है, वह इन लोकों के पारस्परिक असंघर्ष (असंभेद) के लिये इन्हें विशेषरूप से धारण करने वाला सेतु है। दिन और रात्रि (अहोरात्र) भी इस सेतु का अतिक्रमण नहीं कर पाते। इस सेतु को न जरा, न मृत्यु, न शोक और न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं। संपूर्ण पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापशून्य है। यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशस्वरूप है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्ति में यह आत्मरूप सेतु रात्रि-दिवसादि से रहित और ऊपर-नीचे, इधर-उधर सब ओर विद्यमान, एकमात्र ज्योतिःस्वरूप और अनामय (दोषरहित) है ॥ ७७ ॥

धर्माधर्मविनिर्मुक्तं, भूतभव्यात्कृताकृतात् ।
स्वमात्मानं परं विद्याद्विमुक्तं सर्वबन्धनैः ॥७८॥

धर्माधर्मेति—**धर्म और अधर्म से भी रहित (विनिर्मुक्त) तथा भूत-भविष्य और कार्य-कारण से भिन्न और सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त रहने वाले अपने आत्मा को जानना चाहिये ॥ ७८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वह शरण्य आत्मा, धर्माऽधर्म से शून्य, भूत-भविष्य और कार्य-कारण से भिन्न तथा सर्वविध समस्त बन्धनों से मुक्त है, ऐसा समझते रहना चाहिये। काठक श्रुति कह रही है—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद[2]।" जो धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक् तथा इस कार्य-कारणरूप प्रपञ्च से भी पृथक् है, और जो भूत एवं भविष्य से भी अन्य है—ऐसा आप जिसे देखते हैं, वही मुझे बताइये। इसी श्रुत्यर्थ को श्लोक के द्वारा बताया गया है। 'कृताऽकृतात्' का अर्थ कार्य-कारण से है ॥ ७८ ॥

अकुर्वन्सर्वकृच्छुद्धस्तिष्ठन्नत्येति धावतः ।
मायया सर्वशक्तित्वादजः सन् बहुधा मतः ॥७९॥

अकुर्वन्निति—**वह आत्मा कुछ न करता हुआ भी सब कुछ करता है, वह शुद्ध है, वह स्थित रहता हुआ भी तेजी से दौड़नेवाले मन से भी आगे निकल जाता है, वह अजन्मा रहने पर भी माया के कारण सर्वशक्तिसम्पन्न होने से उसको अनेक प्रकार का भी कहा गया है ॥ ७९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को कर्ता, भोक्ता आदि कहने के कारण उसे बन्धनों से सर्वथा मुक्त कैसे कह सकते हैं? यह शंका हो सकती है, किन्तु उसके कर्तृत्व श्रवण के साथ ही उसका अकर्तृत्व भी सुना जाता है, तब एक ही वस्तु में दो विरुद्ध स्वभावों का सम्बन्ध हो नहीं सकता, अतः कहना होगा कि स्वभाव से प्राप्त कर्तृत्वादिक तो मायामय है, और अकर्तृत्वादिक प्रमाणसिद्ध है, वह आत्मस्वभाव है, यही दोनों में अन्तर है, इसी को बताने वाली अर्थात् विरुद्धधर्मवादिनी श्रुतियाँ हैं। श्लोकगत 'अकुर्वन्' से 'अनेजदेकं मनसो जवीयः[3]' इस मन्त्रभाग के अर्थ को बताया गया है। उसी तरह 'शुद्धः' से 'शुद्धमपापविद्धम्' का अर्थ बताया है। 'तिष्ठन्' से 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्[4]' का अर्थ बताया है। 'अजः सन् बहुधा मतः' से 'अजायमानो बहुधा विजायते[5]' का अर्थ बताया है। उपर्युक्त सभी में 'मायया सर्वशक्तित्वात्' हेतु दिया है, अर्थात् माया के लिये कोई बात असंभव नहीं है, माया तो 'अघटितघटना-

१. (छां. उ. ८।४।१-२)
२. (कठ. उ. २।१४)
३. (ई. उ. ४।) नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
४. ~~(कठ. उ. २।१४)~~ (ई. उ. ४।)
५. (तै. आ. ३। १३)

पटीयसी' कहलाती है। निष्कर्ष यह है कि वह कुछ न करते हुए भी सब कुछ करनेवाला है, शुद्ध है, स्थित रहते हुए भी दौड़नेवाले मन आदि से आगे निकल जाता है, तथा माया के द्वारा सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण वह अजन्मा होते हुए भी अनेक प्रकार से माना जाता है। मन, प्राण आदि अत्यन्त वेगवान् हैं, इनसे अधिक वेगवान् संसार में अन्य कोई नहीं देखा गया है, किन्तु इस आत्मा का वेग उनसे भी कहीं अधिक है, वह उनका भी उल्लंघन कर जाता है। क्योंकि जहां कहीं मन, प्राण आदि पहुँचते हैं, वहां सर्वत्र पहले से ही आत्मचैतन्य अभिव्यक्त हुआ पाया जाता है। अतः आत्मा स्थिर स्थित रहता हुआ भी चलता हुआ-सा (गच्छतीव) प्रतीत होता है ॥ ७९ ॥

राजवत्साक्षिमात्रत्वात्सान्निध्याद्भ्रामको यथा।
भ्रामयञ्जगदात्माहं निष्क्रियोऽकारकोऽद्वयः ॥८०॥

राजवदिति—**चुम्बक जैसे अपने सान्निध्यमात्र से लोहखण्ड का परिभ्रामक होता है, वैसे ही समस्त जगत् को घुमाता हुआ भी मैं (आत्मा) राजा के समान साक्षिमात्र हूँ, अतः मैं निष्क्रिय, अकर्ता और अद्वितीय हूँ ॥ ८० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

निष्क्रिय में भी क्रियावान् का जो उपचार किया गया है, उसी को दृष्टान्त देकर बताया जा रहा है। जैसे चुम्बक अपनी सन्निधिमात्र से लोहखण्ड को नचा देता है, वैसे ही समस्त जगत् को परिभ्रमण कराता हुआ भी यह आत्मा राजा के समान साक्षिमात्र है, अतः वह मैं आत्मा, निष्क्रिय, कर्तृत्वरहित और अद्वितीय हूँ ॥ ८० ॥

निर्गुणं निष्क्रियं नित्यं निर्द्वन्द्वं यन्निरामयम्।
शुद्धं बुद्धं तथा मुक्तं, तद्ब्रह्मास्मीति धारयेत् ॥८१॥

निर्गुणमिति—**जो निर्गुण, निष्क्रिय, निर्द्वन्द्व, निरामय और शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप ब्रह्म है, वही 'मैं' हूँ—यह निश्चित रूप से समझना चाहिये ॥ ८१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जबकि आत्मा स्वयं (स्वतः) नित्य शुद्धस्वभाव का है और यह बात शास्त्र तथा न्याय से अवगत होती है, इस कारण उस आत्मा को उसी तरह जाना जाय' अन्यथा नहीं। जो निर्गुण, निष्क्रिय, निर्द्वन्द्व, निरामय एवं शुद्ध, बुद्ध,मुक्तस्वरूप ब्रह्म है, वही मैं हूं—ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिए। इन श्लोकों में यद्यपि पुनरुक्ति दृष्टिगोचर होती है, तथापि वह दोषावह नहीं है[1]। क्योंकि प्रतिपाद्य बहुत दुर्बोध है, उस कारण मुमुक्षु पर उपकार करने के लिए परम कारुणिक आचार्य कभी शास्त्र के द्वारा, कभी फल बताकर, कभी विद्वानों के अनुभवों को बताकर पुनः पुनः उसी बात को बताया करते हैं। 'भूयोऽपि पथ्यं वक्तव्यम्' यह नियम है ॥ ८१ ॥

बन्धं मोक्षं च सर्वं यत इदमुभयं, हेयमेकं द्वयं च
***ज्ञेयाज्ञेयाभ्यतीतं, परममधिगतं, तत्त्वमेकं विशुद्धम्।**
विज्ञायैतद्यथावच्छ्रुतिमुनिगदितं, शोकमोहावतीतः
सर्वज्ञः सर्वकृत्स्याद्भवभयरहितो, ब्राह्मणोऽवाप्तकृत्यः ॥८२॥

बन्धमिति—**बन्ध-मोक्ष और ये दोनों जिन कारणों (अज्ञान-ज्ञान) से उपलब्ध होते हैं, उनको भी तथा एक (कारण) और अनेक (कार्य) रूप विषयों को भी त्याज्य समझकर, तथा श्रुति और मुनियों के द्वारा प्रतिपादित जो समस्त ज्ञेय हैं, उससे भी अतीत (परे) एक विशुद्ध आत्मतत्त्व है, उसका सम्यक् अनुभव करके ब्रह्मज्ञानी पुरुष शोक-मोह से अतीत (वह सर्वज्ञ, सर्वकृत्, संसारभय से रहित) और कृत-कृत्य हो जाता है ॥ ८२ ॥**

१. "पौनरुक्त्यं न दोषोऽत्र शब्देनार्थेन वा भवेत्।
अभ्यासेन गरीयस्त्वमर्थस्य प्रतिपाद्यते ॥" [मानसोल्लास-८।४—इससे तुलना करिये।]

* ज्ञेयं

उक्त प्राकरणिक अर्थ का अनायास ज्ञान कराने के निमित्त संक्षेप में बता रहे हैं—बन्ध और मोक्ष कार्यवत् ज्ञान प्राप्त करके भव-भय से रहित होना चाहिए। प्रमातृत्व (ज्ञातृत्व), कर्तृत्वादि का प्रतिभास होते रहना ही 'बन्ध' है और ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहना ही 'मोक्ष' है। ये दोनों (बन्ध और मोक्ष) जिन हेतुओं (अज्ञान और ज्ञान) से होते हैं, उन्हें भी जानना चाहिए। अर्थात् बन्ध-मोक्ष और उनके कारणों को, उसी तरह एक अर्थात् कारण और द्वय यानी अनेक (कार्य) अर्थात् कार्य-कारणात्मक विषय को हेय (बाध्य) जानकर तथा श्रुति-मुनिगदित अर्थात् श्रुति-वाक्य के द्वारा गुरु (मुनि) ने जिसका उपदेश किया है और वेदान्तवाक्यों में उपलब्ध होनेवाले तथा समस्त ज्ञेय वर्ग से परे एक विशुद्ध परमतत्त्व है, उसे यथार्थरूप से अनुभव कर अर्थात् अनात्म पदार्थों से उसे पृथक् समझकर आत्मतत्त्व-निष्ठ होनेवाला मुमुक्षु शोक, मोह से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वकर्मा, संसारभय से रहित और कृत-कृत्य हो जाता है। इसी अभिप्राय को ईशावास्योपनिषद् ने भी बताया है[1]। सर्वात्मकता तो एकमात्र ब्रह्म में है, उसे जानकर कौन सर्वज्ञ नहीं होगा। उसी तरह अपनी आत्मा में समस्त को एक करनेवाला ही सर्वकृत् समझने योग्य होता है। श्रुति भी ऐसे मुक्त के विषय में बता रही है—'अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३मि[2]'। इस श्रुति में दीर्घता का प्रयोग गाने के लिये किया गया है। (अभ्यभवम् का अर्थ मैंने 'अपने स्वाधीन' कर लिया है।) भवभयरहित होने में 'न बिभेति कुतश्चन'[3] श्रुति प्रमाण है। उक्त पद्य में 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ मुख्य वृत्ति से ब्राह्मण ही समझना चाहिए। क्योंकि बृहदारण्यक श्रुति कह रही है—'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः[4]' और 'अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः[5]'। उक्त दो श्रुतियों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—अमौन और मौन का पूर्णतया संपादन करके ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है। तथा हे गार्गी! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है। मुमुक्षु की अवाप्तकृत्यता में यह श्रुति है—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चिता'[6]। इसी अभिप्राय को स्मृति भी कह रही है—'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत'[7]—ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्मस्वरूप से ही एक साथ सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त करता है। अन्य लोगों के समान क्रम से नहीं। समस्त कर्मफल उसे प्राप्त हुए रहते हैं॥ ८२॥

न स्वयं स्वस्य *नान्यश्च नान्यस्यात्मा च हेयगः।
उपादेयो न चाप्येवमिति सम्यङ्मतिः स्मृता ॥८३॥

न स्वयमिति—**स्वयं आत्मा न अपना हेय है और न उपादेय है, उसी तरह परमात्मा (अन्य) भी न अपना हेय है और न उपादेय है, इस प्रकार की निष्ठा को ही सम्यक् ज्ञान कहा गया है॥ ८३॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वोक्त आत्मज्ञानी की कृतकृत्यता को ही स्पष्ट कर रहे हैं—आत्मा (स्वयं) अपना हेय या उपादेय नहीं है, क्योंकि एक ही में कर्म-कर्तृत्व का होना संभव नहीं। और स्वरूप की स्थिति या नाश होने पर स्वविषय का हान (त्याग)-उपादान नहीं हो सकता। और उसी प्रकार अन्य (परमात्मा) भी अपना हेय या उपादेय नहीं है। क्योंकि अद्वैत रहने पर अन्य का अभाव ही है। उसी कारण वह उपादेय भी नहीं। उसी तरह अन्य के द्वारा भी यह उपादेय अथवा हेय नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मान्तर है ही नहीं। और अनात्मा तो बाधित ही है, और वह अचैतन्य भी है। इस प्रकार की निष्ठा को ही सम्यग् ज्ञान कहा गया है। तस्मात् इस प्रकार जाननेवाला कृत-कृत्य हो जाता है॥ ८३॥

* नान्यस्य नान्यश्चात्मा—पाठान्तरम्।

१. (ई. उ. ७) यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र कः मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
२. (तै. उ. ३।१०)
३. (तै. उ. २।९)
४. (बृ. उ. ३।५।१)
५. (बृ. उ. ३।८।१०)
६. (तै. उ. २।१)
७. (भ. गी. १५।२०)

आत्मप्रत्यायिका ह्येषा, सर्ववेदान्तगोचरा ।
ज्ञात्वैतां हि विमुच्यन्ते, सर्वसंसारबन्धनैः ॥८४॥

आत्मेति—समस्त वेदान्तशास्त्र के द्वारा निरूपित (प्रतिपादित) इस सम्यक् ज्ञान से आत्मा का अनुभव होता है। अतः इसे जानकर पुरुष सर्वविध भवबन्धनों से मुक्त होते हैं ॥ ८४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

कूटस्थ चैतन्यैकरस पूर्ण वस्तु का हान आदि संभव न रहने से अनायास ही 'परं ब्रह्मैवास्मि' मैं परब्रह्म ही हूँ यह ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि समस्त वेदान्तवाक्यों से प्रतिपादित यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का अनुभव कराने वाला है। यह स्वानुभवसिद्ध है। सर्व वेदान्तगोचर (विषय) होने से यह ज्ञान प्रामाणिक है—इस प्रकार का ज्ञान होनेपर पुरुष संसार के सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त अर्थात् कृत-कृत्य हो जाता है। भगवान् स्वयं कह रहे हैं—

"इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ। एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत"[1] ॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस तरह मेरे द्वारा कहा गया यह शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। इसे सद्गुरु की कृपा से भली-भाँति जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ ८४ ॥

*रहस्यं सर्ववेदानां, देवानां चापि †यत्परम् ।
पवित्रं परमं ह्येतत्तदेतत्संप्रकाशितम् ॥८५॥ आत्मिन प्रकरणे -८

रहस्यमिति—यह सम्यग्ज्ञान, सम्पूर्ण वेदों का गूढ़ रहस्य है, देवताओं को भी अतिप्रिय है, तथा यह सम्यक्-ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान परम पवित्र है, इसीलिये उसे अच्छी तरह प्रकाशित किया है ॥ ८५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब प्रकरणोक्त ज्ञान की प्रशंसा करते हुए उसकी उपादेयता को सुदृढ़ कर रहे हैं—वह समस्त श्रुतियों (वेदों) का गूढ़ रहस्य है अर्थात् उपदेश के बिना वह अविज्ञेय रहता है अर्थात् अवगत नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद[2]', 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति[3]'—यह श्रुति बता रही है। आचार्यवान् पुरुष ही 'सत्' को जानता है। सभी वेद उस पद का वर्णन करता है। 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः[4]। पूर्वकाल में इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था। क्योंकि यह सूक्ष्मधर्म, सुगमता से जानने योग्य नहीं है। यह विषय देवताओं के लिए भी रहस्यमय ही रहा है, यह ज्ञान परम पवित्र है। इसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि[5]', 'एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते[6]'। उस परावर (कारण-कार्यरूप) ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेनेपर इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं। जैसे कमलपत्र से जल का संबंध नहीं रहता तद्वत् ब्रह्मवित् के साथ पापकर्म का सम्बन्ध नहीं रहता। क्योंकि वह सम्यक् ज्ञान परमपुरुषार्थरूप है अर्थात् निरतिशयानन्द प्रकाशमय है। ऐसे उस परमपवित्र ज्ञान को इस प्रकरण में बताया गया है ॥ ८५ ॥

नैतद्देयमशान्ताय, रहस्यं ज्ञानमुत्तमम् ।
विरक्ताय प्रदातव्यं, शिष्यायानुगताय च ॥८६॥

नैतदिति—वेद का रहस्यभूत यह पवित्र उत्तम ज्ञान अशान्त चित्तवाले पुरुष को नहीं देना चाहिये। यह सम्यक्ज्ञान उसी शिष्य को देना चाहिये, जो विरक्त हो और अपना आज्ञापालक अनुगत हो ॥ ८६ ॥

* इदं रहस्यंवेदानां०—पाठान्तरम् । † दुर्लभम्०—पाठान्तरम् ।

१. (भ. गी. १५।२०)
२. (छां. उ. ६।१४।२)
३. (कठ उ. १।२।१५)
४. (कठ उ. १।१।२१)
५. (मुं. उ. २।२।८)
६. (छां. उ. ४।१४।३)

हृदयस्पर्शिनी

यह ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है, यह दुर्विज्ञेय होने से सभी कोई इसे पचा नहीं सकते अर्थात् यह दुर्धर है। अतः इस ज्ञान को धारण करने में समर्थ, विरक्त तथा अपने अनुगत शिष्य को ही देना चाहिए। अशान्त (चञ्चल) चित्त वाले व्यक्ति को नहीं देना चाहिए ॥ ८६ ॥

ददतश्चात्मनो ज्ञानं, निष्क्रयोऽन्यो न विद्यते।
***ज्ञानमिच्छंस्तरेत्तस्माद्युक्तः शिष्यगुणैः सदा ॥८७॥**

ददतश्चेति—आत्मज्ञान का उपदेश करनेवाले श्री सद्गुरु का ऋण चुकाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः जिज्ञासु पुरुष के लिये यह आवश्यक है कि शिष्य होने के लिये जो अपेक्षित गुण हैं, उन गुणों को वह अपनावे, और उपदेश पाकर इस भवसागर से पार हो जाय ॥ ८७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वोक्त प्रकार का परमपवित्र गोपनीय ज्ञान सुयोग्य शिष्य को देकर आचार्य स्वयं को उसी से कृतकृत्य समझ लेता है। अतः वह प्रलोभनादि से मोहित होकर जिस किसी को उस ज्ञान को देने के लिए प्रवृत्त नहीं होता है। उस कारण मुमुक्षु शिष्य को चाहिए कि वह अपने को अमानित्वादि[1]—शिष्यगुणों से युक्त बना ले, जिससे आचार्य उस शिष्य पर अनुग्रह कर कृपापूर्वक उसे विद्या प्रदान करे। आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले गुरु का ऋणापाकरण करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिए ज्ञान की इच्छा करनेवाला व्यक्ति सर्वदा शिष्य के गुणों से युक्त होकर इस संसारसागर से उत्तीर्ण हो जाय ॥ ८७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता, यस्मादन्यन्न विद्यते।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्यस्तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥८८॥

ज्ञानमिति—ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता सब कुछ वही (आत्मा) है, ये तीनों उससे भिन्न नहीं। तथा जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, उस परब्रह्म को मेरा नमस्कार है ॥ ८८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

गुरुभक्ति विद्याप्राप्ति में अन्तरङ्ग साधन है, यह सूचित करने के लिये प्रारंभ के समान उपसंहार में भी देवता तथा आचार्य को प्रणाम करना चाहिये, यह बता रहे हैं। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीनों जिससे पृथक् (भिन्न) नहीं हैं, तथा जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न है, उस ज्ञानरूप परब्रह्म को मेरा प्रमाण है ॥ ८८ ॥

विद्यया तारिताः स्मो यैर्जन्ममृत्युमहोदधिम्।
सर्वज्ञेभ्यो नमस्तेभ्यो, गुरुभ्योऽज्ञानसंकुलम् ॥८९॥

विद्ययेति—जिन सद्गुरुचरणों ने ज्ञानोपदेश के द्वारा इस अविद्यापूर्ण जन्म-मृत्युरूप महान् भवसागर से हमें तार दिया है, अर्थात् हमें उसके पार पहुंचा दिया है, उन सर्वज्ञ गुरुचरणों में हमारा प्रणाम है ॥ ८९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब आत्मविद्याप्रदायक गुरु को प्रणाम कर रहे हैं। जिसने ज्ञान के द्वारा हमें (हमारा) मिथ्याज्ञान-बहुल (अज्ञान पूर्ण) इस जन्म-मृत्युरूप संसार समुद्र से समुत्तीर्ण (उद्धार) करा दिया है, उस सर्वज्ञ गुरुदेव को सर्वदा हमारा प्रणाम है ॥ ८९ ॥

॥ इति सप्तदशं सम्यङ्मतिप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

* ज्ञानमिच्छन् भवेत्तस्मा०—पाठान्तरम्।

१. "अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥"—(भ. गी. १३।७)।

① वेदान्तवाक्यानि परोक्षज्ञानकराणि वेदवाक्यत्वात् स्वर्गकामादिवाक्यवत् । इति पूर्वपक्षः।
अपरोक्षज्ञानन्तु प्रसंख्यानेनेति चेन्न ॥

तत्त्वमसिप्रकरणम्*

① येनात्मना विलीयन्ते, उद्भवन्ति च वृत्तयः ।
नित्यावगतये तस्मै, नमो †धीप्रत्ययात्मने ॥१॥

येनेति—अन्तःकरण की वृत्तियाँ जिस आत्मचैतन्य से उत्पन्न होती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं, उस आत्मचैतन्य के लिए मेरा प्रणाम है। यह आत्मचैतन्य, बुद्धिवृत्तियों का अधिष्ठान और नित्यज्ञानस्वरूप है ॥१॥

हृदयस्पर्शिनी

आक्षेप—ब्रह्मात्मविषयक अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान, मोक्ष का साधन है, और वह वेदान्तवाक्यों से होता है, यह पूर्व-प्रकरण में कहा गया है। किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्तवाक्य भी स्वर्गकामादि वाक्यों के तुल्य ही परोक्षज्ञान ही कराते हैं, अपरोक्षज्ञान तो प्रसंख्यान से ही होता है। अतः प्रसंख्यान के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। **समाधान**—उनके कथन का निराकरण करने के लिये पूर्वकथित अपने सम्पूर्ण सिद्धान्त को वेदानुकूल एवं तर्कपूर्ण प्रतिपादन करने की इच्छा से प्रकारणान्तर का प्रारंभ करते हुए देवतानमस्कारात्मक मङ्गल करने के व्याज (बहाने) से अन्तःकरण की वृत्तियों के भाव-अभाव का साक्षी, कूटस्थ चिदेकतान (ज्ञानरूप) नित्य अपरोक्ष ब्रह्म है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तवाक्य 'ब्रह्म' का परोक्ष ज्ञान नहीं कराते हैं। वह अपरोक्ष ब्रह्म ही इस प्रकरण का प्रतिपाद्य है। जिस आत्मस्वरूप से अन्तःकरण की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, विलीन होती रहती हैं, उन बुद्धिवृत्तियों के अधिष्ठानभूत नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा को प्रणाम है। ये वृत्तियाँ साभास बुद्धि की परिणामरूप हैं ॥ १ ॥

प्रमथ्य वज्रोपमयुक्तिसंभृतैः श्रुतेररातीञ्शतशो ‡वचोऽसिभिः ।
ररक्ष वेदार्थनिधिं विशालधीः, नमो यतीन्द्राय गुरोर्गरीयसे ॥२॥

प्रमथ्येति—उन यतिराज परमगुरुचरणों (श्रीगौड़पादाचार्य) को मेरा प्रणाम है, जिन महान् मेधावी गुरुचरणों ने वज्रोपम अकाट्य युक्तियों से और खड्गरूप सैकड़ों वेदान्तवाक्यों से भगवती श्रुतिमाता के शत्रुओं का पराभव कर वेदार्थरूप निधि (कोष) की रक्षा की है ॥ २ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब अपने द्वारा प्रतिपादन किये जानेवाले अर्थ में मुमुक्षुओं का विश्वास उत्पन्न कराने हेतु स्वाचार्य के गुणों का वर्णन करते हुए सम्प्रदायशुद्धि को बता रहे हैं—जिस अप्रतिहत विशाल बुद्धिवाले ने वज्रतुल्य अभेद्य (अकाट्य) तर्कों से और खड्गरूप सैकडों (शतशः) वेदान्तवाक्यों द्वारा श्रुति (वेद) के शत्रुओं (अरातियों) का संहार कर वेदार्थरूप कोष (जो वेदान्तमञ्जूषा में रखा हुआ है, उस अद्वय ब्रह्मात्मतत्त्व रूप कोष) की सुरक्षा की है, उस यतिशिरोमणि परमगुरुदेव श्रीगौड़पादाचार्य को मेरा प्रणाम है ॥ २ ॥

नित्यमुक्तः सदेवास्मीत्येवं चेन्न भवेन्मतिः ।
किमर्थं श्रावयत्येवं, मातृवच्छ्रुतिरादृता§ ॥३॥

नित्यमिति—वेदान्तवाक्यों से 'मैं नित्यमुक्त सत् ही हूँ'—यह अपरोक्ष ज्ञान यदि नहीं होता, तो माँ के तुल्य हितकामना करनेवाली भगवती श्रुति, आदरपूर्वक उनको क्यों सुना रही है ? ॥ ३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार प्रणाम के व्याज (मिष) से प्रकरणार्थ और स्वसम्प्रदायशुद्धि को बताकर, अब 'तत्त्वमस्यादि-वाक्य' से ही आत्मा का अपरोक्षज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) होता है इस प्रकरणसिद्धान्त को कह रहे हैं। वेदान्तवाक्य से 'सदेवास्मि' मैं नित्यमुक्त सत् ही हूँ, यह अपरोक्ष ज्ञान यदि न होता, तो माता के समान पुत्रहितैषिणी श्रुति सिद्धवत् निर्देश के समान उसे आदर पूर्वक श्रवण ही क्यों कराती ? ॥ ३ ॥

* तत्त्वमति.—पाठान्तरम् ।
† धीप्रत्यगात्मने—पाठान्तरम् ।
‡ वचोबलैः —पाठान्तरम् ।
§ रादरात्—पाठान्तरम् ।

① अहं करोमीति ज्ञानं प्रामाणिकं प्रत्यक्षत्वात् घटज्ञानवत्। पूर्व
अहं ब्रह्मेति ज्ञानं — " — शास्त्रजन्यत्वात् स्वर्गज्ञानवत्। } लि विरुद्ध
अहं करोमीति ज्ञानं अप्रामाणिकं अज्ञानजन्यत्वात् रज्जुसर्पवत्। सत्प्रतिपक्ष

सिद्धादेवाहमित्यस्माद्युष्मद्धर्मो निषिध्यते ।
रज्ज्वामिवाहिधीर्युक्त्या, तत्त्वमित्यादिशासनैः ॥४॥

सिद्धादेवेति—रज्जु में भ्रमवश होनेवाली सर्पबुद्धि जैसे दूर हो जाती है, वैसे ही युक्तिपूर्वक 'तत् त्वम् असि'—तू वह ब्रह्म है—इत्यादि गुरूपदेश के द्वारा 'अहम्' पद का लक्ष्य जो आत्मा, उससे 'अहंकारादि' अनात्मधर्मों का निषेध किया जाता है ॥ ४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

नित्य अपरोक्षस्वभाव आत्मस्वरूप ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान वेदान्तवाक्यों से ही प्राप्त करने पर आरोपित अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार रज्जु पर आरोपित हुई सर्पबुद्धि निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार तर्कपूर्वक 'तू वह (ब्रह्म) है' इत्यादि वेदान्तवाक्योपदेशों से 'अहं' पद के लक्ष्य आत्मा से अहंकारादि अनात्मधर्मों का निषेध किया जाता है। अर्थात् 'अहम् ब्रह्मास्मि' इस अनुभव में 'अहं' शब्द से लक्षित, अपरोक्षतया स्वतःसिद्ध आत्मा में तत्-त्वम् पदार्थ का शोधन कर 'तत्त्वमसि' के उपदेश से युष्मद्धर्म (तू का धर्म) अहंकारादि पराक् अर्थ का निषेध किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि भ्रम से पारोक्ष्य सद्वयता के आकार का जो ग्रहण हुआ था, उसका विलापन कर आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है ॥ ४ ॥

शास्त्रप्रामाण्यतो ज्ञेया, धर्मादेरस्तिता यथा ।
विषापोहो यथा ध्यानाद्, *हृतिः स्यात्पाप्मनस्तथा ॥५॥

शास्त्रेति—शास्त्रप्रमाण के द्वारा 'धर्मादि' के अस्तित्व का जिस प्रकार ज्ञान होता है, तथा गारुडादि मन्त्र बीज के ध्यान (जप) से 'विष' की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न होनेवाले तत्त्वज्ञान से 'अज्ञान' रूप पाप की निवृत्ति होती है ॥ ५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अनर्थनिवृत्ति को दो दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं, अथवा नित्य अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है और उसका अवगम (ज्ञान) अनर्थनिवृत्ति का कारण है, इसे यथाक्रम दो दृष्टान्तों से सिद्ध करते हैं—जिस प्रकार शास्त्रप्रमाण से धर्मादि के अस्तित्व का ज्ञान होता है, अथवा गारुडादि मन्त्रबीज के स्मरण से सद्यः (तत्काल) विषनिवृत्ति होती है, उसी प्रकार वेदान्तवाक्य से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से अज्ञानरूप पाप का विनाश होता है। ब्रह्म ही आत्मा के रूप में विद्यमान है, उसकी अस्तिता (विद्यमानता) में 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य'[1], 'तत्त्वमसि'[2] इत्यादि शास्त्रप्रामाण्य से समझनी चाहिये। उस 'सत्संज्ञक' देवता ने ईक्षण किया, मैं इस जीवात्मा के रूप से इन तीनों देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ। वह जो यह अणिमा है, तद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो! 'वही तू है', तब आरुणि के इस प्रकार कहने पर श्वेतकेतु बोला—'भगवन्! मुझे पुनः समझाइये। तब आरुणि ने कहा—'अच्छा सौम्य! ॥ ५ ॥

① **सद्ब्रह्माहं करोमीति, प्रत्ययावात्मसाक्षिकौ ।**
तयोरज्ञानजस्यैव, त्यागो युक्ततरो मतः ॥६॥

सदिति—'मैं सत्स्वरूप ब्रह्म हूँ' और 'मैं करता हूँ' ये दोनों ही ज्ञान 'आत्मा' के साक्षित्व में होते हैं। इन दोनों ज्ञानों में से 'मैं करता हूँ'—यह जो अज्ञान से होनेवाला प्रत्यय है, उसी का त्याग अधिक उचित माना जाता है ॥ ६ ॥

---

* निवृत्तिः पा. —पाठान्तरम् ।

१. (छां. उ. ६।३।२) 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

२. (छां. उ. ६।८।७) 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्यय (ज्ञान) की तरह 'अहं करोमि' यह प्रत्यय भी हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध है, इस प्रकार विरोध रहने से 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्यय की प्रतिष्ठा कैसे हो सकेगी? अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्यय से 'अहं करोमि' प्रत्यय का ही बाध होता है, यह कैसे समझा जाय? अतः नियामक हेतु देकर उत्तर दे रहे हैं—'मैं सत्स्वरूप ब्रह्म हूँ, 'मैं करता हूँ' ये दोनों ही ज्ञान आत्मा के साक्षित्व में होते हैं। उनमें से 'अहं करोमि' यह ज्ञान (प्रत्यय) 'अज्ञान' से उत्पन्न हुआ है। अतः उसी का त्याग करना अधिक सयुक्तिक कहा जाता है। 'युक्ततरो मतः' यहाँ पर 'तरप्' प्रत्यय है, उससे यह अर्थ प्रतीत हुआ कि जैसे पूर्वप्रवृत्त यागविनियोजक श्रुति से पश्चात्प्रवृत्त लिङ्गादि अप्राप्त होने पर भी बाधित हो जाते हैं। अथवा प्रकृति से विकृति में पूर्व ही अतिदिष्ट हुए अंगों का पश्चात् उपस्थित किये गये विकृतिगत विशेषोपदेश से बाध किया जाता है, इस प्रकार उचित रहने पर भी बाध्य-बाधक भाव में पूर्वापरीभाव का नियम नहीं है। किन्तु यहाँ तो नियम है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रत्यय से ही 'अहं करोमि' प्रत्यय का बाध किया जाता है॥ ६॥

सदस्मीति प्रमाणोत्था धीरन्या तन्निभोद्भवा।
प्रत्यक्षादिनिभा वाऽपि बाध्यते दिग्भ्रमादिवत्॥७॥

सदस्मीति—'मैं सत्स्वरूप हूँ'—यह जो ज्ञान है, वह 'प्रमाण' से उत्पन्न हुआ है। किन्तु 'मैं करता हूँ'—यह ज्ञान, किसी प्रमाण से जनित नहीं है, अर्थात् यह ज्ञान, प्रमाणाभाव से जनित है। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष से प्रतीत होनेवाला 'दिग्-विभ्रम', आप्तवाक्य से निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार 'मैं करता हूँ'—यह ज्ञान प्रत्यक्षवत् सत्य प्रतीत होने पर भी श्रुतिप्रमाणजनित 'आत्मज्ञान' से बाधित हो जाता है॥ ७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब प्रमाण से उत्पन्न होने वाला और अज्ञान से उत्पन्न होने वाला प्रत्यय कौन-सा है? 'तत्त्वमसि' इस निर्दुष्ट वाक्यप्रमाण से उत्पन्न हुआ 'मैं सत्स्वरूप हूँ' यह ज्ञान है और इससे भिन्न 'अहं कर्ता' यह ज्ञान, प्रमाणाभास-जनित है। क्योंकि अविवेकादि दोष से वह युक्त है। अतः प्रत्यक्षादिवत् होने पर भी वह दिग्भ्रमादि के समान बाधित हो जाता है। जैसे प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाला भ्रम आप्तवाक्य से दूर हो जाता है, वैसे ही 'अहं करोमि' मैं करता हूँ, यह ज्ञान यद्यपि प्रत्यक्षवत् सत्य प्रतीत होता है, तथापि श्रुतिप्रमाण से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से उसका बाध हो जाता है॥ ७॥

***कर्ता भोक्तेति यच्छास्त्रं, लोकबुद्ध्यनुवादि तत्।**
सदस्मीति श्रुतेर्जाता, †बाध्यतेऽन्यैतयैव धीः॥८॥

कुर्विति—'धर्मं चर', 'सत्यं वद'—धर्म का अनुष्ठान करो, 'सत्य भाषण करो', 'स हि कर्ता', 'भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'—वह कर्ता है, भोक्ता है, ये शास्त्रवाक्य तो लोकबुद्धि के अनुवादक हैं। इसलिए 'मैं सत् हूँ' इस श्रुतिवचन से उत्पन्न होनेवाली बुद्धि के द्वारा पूर्वोक्त कर्तृत्व भोक्तृत्व बुद्धि का बाध हो जाता है॥ ८॥

हृदयस्पर्शिनी

'ब्रह्मास्मि' ज्ञान की तरह कर्तृत्वादिबुद्धि भी शास्त्रसिद्ध है, क्योंकि "सत्यं वद। धर्मं चर[1]", "स हि कर्ता[2]" "भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः[3]" इत्यादि वचनों से उसकी शास्त्रसिद्धता स्पष्ट है। जब कि दोनों ज्ञानों की शास्त्रसिद्धता समान है, तब कर्तृत्वादिबुद्धि का बाध कैसे होगा? जो शास्त्रानभिज्ञ रहते हैं तथा शास्त्र के ज्ञाताओं की संगति से जो हीन रहते हैं, उनमें ही 'मैं कर्ता, भोक्ता हूँ' यह बुद्धि रहती है, अतः 'कुरु'=करो इत्यादि शास्त्र, लोकसिद्ध अर्थ का अनुवाद मात्र

* कुरु० —पाठान्तरम्।   † बाध्यतेऽन्या तयैव० —पाठान्तरम्।

१. (तै. उ. १।११)   २. (बृ. उ. ४।३।१०)

३. (कठ. उ. ३।४)

P= Ekadashi ① इयं नियोगार्थ अप्रतिपन्नत्वात् ज्योतिष्टोमवत् ।

करता है, वह अनधिगत अर्थ का बोधक नहीं होता। किन्तु 'सदस्मि' मैं सत् हूँ, यह बुद्धि अनन्यसिद्ध अर्थ की श्रुति से उत्पन्न हुई है। अतः 'सदस्मि' श्रुति से उत्पन्न 'ब्रह्मास्मि' बुद्धि निरवकाश है, और अनुवादक वाक्य से उत्पन्न 'कर्ता, भोक्ता' बुद्धि सावकाश है। इसलिये निरवकाश से सावकाश का बाध होना ही उचित है। अर्थात् 'धर्मानुष्ठान करो' 'आत्मा भोक्ता है' यह शास्त्र तो लोकबुद्धि का अनुवादक है। इस कारण 'मैं सत् हूँ' इस श्रुति से उत्पन्न होने वाली बुद्धि से लोकबुद्धि के अनुवादक शास्त्र का बाध हो जाता है ॥ ८ ॥

सदेव त्वमसीत्युक्ते, नात्मनो मुक्तता स्थिरा ।
प्रवर्तते प्रसंख्यानमतो युक्त्याऽनुचिन्तयेत् ॥९॥

सदेवेति—'त्वं सदेव असि'—तू सत् ही है—इस उपदेश के श्रवणमात्र से 'आत्मा' की मुक्ति का स्थिर निश्चय नहीं है। इस उपदेश से तो प्रसंख्यान (मनन-निदिध्यासन) में प्रवृत्ति होती है। अतः उस उपदेश का युक्तिपूर्वक सतत, मनन-निदिध्यासन करते रहना चाहिए ॥ ९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तत्त्वमस्यादि वाक्य से ही आत्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। 'तू सत् ही है' ऐसा कहने पर तो आत्मा की मुक्ति निश्चितरूप से नहीं होती, इससे तो प्रसंख्यान अर्थात् शब्दावृत्ति (वाक्य का अनुचिन्तन) की प्रवृत्ति होती है। अतः उस अनुचिन्तन का युक्तिपूर्वक निरन्तर चिन्तन (विचार) करते रहना चाहिये। अर्थात् 'त्वं तदेव' इस वाक्य से ही निर्विचिकित्स ब्रह्मात्मप्रतिपत्ति होती है ॥ ९ ॥

सकृदुक्तं न गृह्णाति, वाक्यार्थज्ञोऽपि यो भवेत् ।
अपेक्षतेऽत एवान्यदवोचाम द्वयं हि तत् ॥१०॥

सकृदिति—जो पुरुष वाक्य के अर्थ को नहीं जानता, वह एक बार के सुनने मात्र उसे ग्रहण नहीं कर पाता, उसे अन्य सहायक साधनों की आवश्यकता होती है। अतएव हमने पूर्व श्लोक में वाक्यानुचिन्तन और युक्तिपूर्वक विचार इन दो साधनों को बताया था ॥ १० ॥

हृदयस्पर्शिनी

जो व्यक्ति 'सदस्मि' वाक्य के अर्थ को नहीं जानता, उसके न जानने में कारण वाक्य का असामर्थ्य नहीं, अपितु अवान्तरवाक्यार्थ के ज्ञान न हो पाने से वह नहीं जानता। क्योंकि पदार्थज्ञान के बिना वाक्यार्थज्ञान नहीं हो सकता, इस आशंका के उत्तर में कहा गया है कि जो व्यक्ति अवान्तर वाक्य से तदर्थभूत पदार्थ को भी जानता है, उसे भी 'तत्त्वमसि' वाक्य के एक बार कहने मात्र से वाक्यार्थज्ञान नहीं हो पाता। इसीलिये वह महावाक्य, स्वार्थबोध कराने के लिये अन्य सहकारी कारण की अपेक्षा रखता है। अतएव पूर्वश्लोक में वाक्यानुचिन्तन और युक्तिपूर्वक विचार ये दो सहकारी कारण बताये गये हैं ॥ १० ॥

① नियोगोऽप्रतिपन्नत्वात्कर्मणां स यथा भवेत् ।
अविरुद्धो भवेत्ताद्विद्यावत्संवेद्यता दृढा ॥११॥

नियोग इति—जब तक ज्ञान की परिपक्वता नहीं हो पाती है, तब तक निजस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। अतः उन व्यक्तियों के लिए कर्म करने की जो आज्ञा दी गयी है, वह भी विरुद्ध नहीं है, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के पूर्व उसके लिए कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है ॥ ११ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में विधि की उपलब्धि तो है नहीं। ब्रह्मात्मभाव की स्वतः सिद्धि हो जाने से मुमुक्षु के लिये नियोग (विधान) भी उपपन्न नहीं हो रहा है। इस आशंका पर यह समाधान दे रहे हैं कि जब तक ज्ञान दृढ़ नहीं रहता, तबतक स्वरूपसाक्षात्कार न हो सकने के कारण उस मुमुक्षु के लिये कर्मों का नियोग (विधि) भी विरुद्ध नहीं है। निष्कर्ष यह है कि आत्मसाक्षात्कार से पूर्व उसके लिये वैदिक कर्म की विधि उचित ही है ॥ ११ ॥

चेष्टितं च *यतो मिथ्या, स्वच्छन्दः प्रतिपद्यते ।
प्रसङ्ख्यानमतः कार्यं, यावदात्माऽनुभूयते ॥१२॥

चेष्टितमिति—स्वेच्छाचारी पुरुष को भी यदि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो सकता है, तो यम-नियमादि साधनों का अनुष्ठान जो बताया गया है, वह व्यर्थ ही रहेगा । अतः यह समझना चाहिए कि जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो तबतक प्रसंख्यान (वाक्यानुचिन्तन) का अभ्यास आवश्यक ही है ॥ १२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

बिना विधि (यम-नियमादि) के अर्थात् स्वेच्छा से वाक्यार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, तो अनुष्ठान किये हुए यम-नियमादि साधन व्यर्थ कहलायेंगे । अतः जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो, तब तक प्रसंख्यान का अभ्यास नियोगवशात् करना ही चाहिये ॥ १२ ॥

सदस्मीति च विज्ञानमक्षजो बाधते ध्रुवम् ।
शब्दोत्थं दृढसंस्कारो, दोषैश्चाकृष्यते बहिः ॥१३॥

सदिति—प्रसंख्यानका अभ्यास इसलिए भी आवश्यक है कि 'मैं सत्स्वरूप हूँ' इस शब्दजनित ज्ञान का इन्द्रिय-जनित दृढ़ संस्कार के द्वारा अभिभूत हो जाना निश्चित है । जब वह शब्दजनित ज्ञान अभिभूत हो जाता है, तब रागादि दोष उस मुमुक्षु को बहिर्मुख कर देते हैं ॥ १३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इसके अतिरिक्त 'मैं सत्स्वरूप हूँ' इस शब्दजनित ज्ञान को इन्द्रियजनित कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप दृढ़ संस्कार का निश्चय पराभूत (अभिभूत) भी कर सकता है । क्योंकि दृढ़ संस्कार के कारण वह इन्द्रियजन्य ज्ञान (अक्षज ज्ञान), शब्दजनित ज्ञान से प्रबल है । और रागादि दोष मुमुक्षु को बहिर्मुख भी कर दिया करते हैं । अतः प्रसंख्यान का अभ्यास दोषनिवृत्त्यर्थ करना उचित ही है ॥ १३ ॥

श्रुतानुमानजन्मानौ, सामान्यविषयौ यतः ।
प्रत्ययावक्षजोऽवश्यं, विशेषार्थो निवारयेत् ॥१४॥

श्रुतेति—शब्द और अनुमान प्रमाण से होनेवाला ज्ञान, सामान्य विषय को अपना विषय बनाता है । अतः विशेषविषयक प्रत्यक्ष, पूर्वोक्त ज्ञानों का बाध अवश्य कर सकता है ॥ १४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अक्षज ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) चिरनिरूढ़वासनाघटित (दृढ़संस्कारनिश्चय) होने मात्र से ही प्रबल नहीं है, अपितु विशेषविषयक होने से भी उसकी प्रबलता है । शब्दजनित ज्ञान और अनुमानजनित ज्ञान, सामान्यविषयविषयक होते हैं । अतः विशेषविषयक प्रत्यक्ष, उनको अवश्य बाधित कर देगा । श्रुत (शब्द) से तथा अनुमान (लिङ्गज्ञान) से होनेवाले ज्ञानों में विप्रलिप्सा (वंचना, प्रतारणा) एवं भ्रान्ति की भी संभावना हो सकती है, तथा वह ज्ञान उपायान्तर से भी हो सकता है । किन्तु प्रत्यक्ष में यह सब कुछ न हो सकने से वह, उनसे प्रबल समझा जाता है । किंच—'अग्नि' शब्द को श्रवण कर अथवा धूम को देखकर होने वाला अग्निज्ञान, सामान्य ज्ञान (अग्निसामान्य का ज्ञान) होता है, किन्तु अग्नि के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर होने वाला अग्निज्ञान, विशेष-ज्ञान (अग्निविशेष का ज्ञान) कहलाता है । विशेषज्ञान, सामान्यज्ञान से प्रबल कहा जाता है । अतः 'मैं देह हूँ'—यह प्रत्यक्ष ज्ञान, 'मैं सत्स्वरूप हूँ'—इस शब्दजनित ज्ञान का बाधक कहा जा सकता है ॥ १४ ॥

वाक्यार्थप्रत्ययी कश्चिन्निर्दुःखो नोपलभ्यते ।
यदि वा दृश्यते कश्चिद्वाक्यार्थश्रुतिमात्रतः ॥१५॥

* तथा—पाठान्तरम् ।

निर्दुःखोऽतीतदेहेषु, कृतभावोऽनुमीयते ।
चर्या नोऽशास्त्रसंवेद्या, स्यादनिष्टं तथा सति ॥१६॥

वाक्यार्थप्रत्ययीति—केवल वाक्यार्थ का ज्ञान रखने वाला कोई पुरुष, दुःख से रहित भी नहीं दीखता, और यदि कदाचित् कोई पुरुष, वाक्यार्थ श्रवण करने मात्र से ही दुःखरहित दिखाई देता भी हो ··· ॥ १५ ॥

निर्दुःख इति—तो पूर्व-पूर्वतर जन्मों में उस पुरुष ने प्रसंख्यान (वाक्यार्थानुचिन्तन) का अभ्यास अवश्य किया होगा, यह अनुमान किया जाता है। अन्यथा संन्यास धर्म का आचरण करना शास्त्र नहीं बताता, और उसके न बताने पर महान् अनिष्ट होता ॥ १६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि वाक्यार्थज्ञान होने मात्र से किसी को कृतकृत्य हुआ देखा जाय, तो प्रसंख्यान की कल्पना करना ही व्यर्थ होगा, किन्तु वैसा कृतकृत्य हुआ कोई दिखाई नहीं देता। अतः प्रसंख्यान आवश्यक है। वाक्यार्थश्रवणमात्र से ही यदि कोई दुःखहीन दिखाई देता है तो उसने पूर्वजन्म में प्रसंख्यान का अभ्यास किया होगा, ऐसा अनुमान होता है। वामदेवादि महात्मा वाक्यार्थज्ञानमात्र से ही कृतकृत्य हो चुके हैं। अतः कार्य से कारण का अनुमान कर लेना चाहिये। यदि ऐसा न माना जाय तो हमारा संन्यासधर्माचरण (परमहंसाश्रमाचार) अशास्त्रसंवेद्य (शास्त्रविहित नहीं) होगा। और वैसा होने पर महान् अनिष्ट होगा अर्थात् संन्यास (यति) आश्रमचर्या का परित्याग करने पर भी आरूढ-पतितता नहीं हो सकेगी, यह अनिष्ट प्रसंग होगा। क्योंकि संन्यासी यदि संन्यासचर्या का परित्याग करता है तो वह 'आरूढपतित' कहा जाता है। "तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे"[1], "तद्धास्य विजज्ञौ"[2] ॥ १५-१६ ॥

सदसीति फलं चोक्त्वा, विधेयं साधनं यतः ।
न तदन्यत्प्रसङ्ख्यानात्प्रसिद्धार्थमिहेष्यते ॥१७॥

सदिति—क्योंकि 'तू सत् स्वरूप है' यह फल निर्देश करके उसके साधन का विधान कर्तव्य है। अतः प्रथमतः वेदान्तवाक्य का उपदेश किया जाता है। वेदान्तप्रसिद्ध अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'प्रसंख्यान' से पृथक् कोई अन्य साधन नहीं है ॥ १७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रसंख्यानविधिपक्ष में सिद्धब्रह्म के उपदेश करने का फल क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि 'त्वं सद्ब्रह्मासि' 'तू सत्स्वरूप ब्रह्म है'। यह फल बताकर उसके साधन का विधान करना है—यही कारण है कि सर्वत्र फल बताकर पश्चात् उसका साधन बताया जाता है। अतः ब्रह्मात्मैक्य की इच्छा रखने वाला प्रसंख्यान करे—इस प्रकार से यह विधि सार्थक होती है। इसीलिये प्रथमतः वेदान्तवाक्य का उपदेश किया जाता है। तथा वेदान्त-प्रसिद्ध अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रसंख्यान से भिन्न और कोई साधन उपयुक्त नहीं है। उपदेश का यह क्रम होता है कि प्रथमतः फल बताकर पश्चात् साधन बताना। अतः वेदान्तसम्प्रदाय में जो महावाक्योपदेश का क्रम है, वह फल निर्देश के लिये है। उसके पश्चात् प्रसंख्यानरूप साधन अवश्य कर्तव्य है। प्रसंख्यान से भिन्न अग्निहोत्रादि कर्म इसके उपयुक्त नहीं हैं, वे तो केवल चित्तशुद्धि के साधन हैं। यही कारण है कि अग्निहोत्रादि, ज्योतिष्टोमादि कर्मों का ब्रह्मभाव के लिये विधान नहीं किया गया है। अर्थात् ज्योतिष्टोमादि कर्मों में सिद्धब्रह्म को अभिव्यञ्जन करने की सामर्थ्य नहीं है ॥ १७ ॥

तस्मादनुभवायैव, प्रसंचक्षीत यत्नतः ।
त्यजन्साधनतत्साध्यविरुद्धं शमनादिमान् ॥१८॥

---

१. (बृ. उ. १।४।१०)
२. (छां. उ. ६।७।६, ६।१६।३)

तस्मादिति—इसलिए शमादिषट्कसम्पत्तिमान् पुरुष को 'प्रसंख्यान' से निष्पन्न होनेवाले ब्रह्मात्मैक्य के विरुद्ध जो कर्मनिष्ठता है, उसका त्याग करके आत्मस्वरूप के अनुभवार्थ प्रयत्नपूर्वक प्रसंख्यान का ही अभ्यास करना चाहिए ॥ १८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अतः शम-दमादि से सम्पन्न व्यक्ति को, प्रसंख्यानरूप साधन और उससे होने वाले ब्रह्मात्मैक्यरूप साध्य के विरोधी कर्मनिष्ठत्व का त्याग कर आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्नपूर्वक प्रसंख्यान का ही अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् प्रसंख्यानरूप साधन और तत्साध्य (फल) आत्मैक्यसाक्षात्कार इन दोनों का विरोधी जो कर्मनिष्ठत्व है, उसका त्याग करे। यह सब वही कर सकता है, जो शम-दम-उपरति आदि षड्गुणों से युक्त होता है ॥ १८ ॥

नैतदेवं रहस्यानां, नेति नेत्यवसानतः।
क्रियासाध्यं पुरा श्राव्यं, न मोक्षो नित्यसिद्धतः ॥१९॥

नैतदिति—उपर्युक्त पूर्व पक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्ती का कहना है कि तुम जैसा समझ रहे हो, वैसी बात नहीं है, क्योंकि उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य, दृश्य पदार्थों के निषेध की अवधि जहाँ समाप्त हो जाता है, उस 'परब्रह्म' में है। अतः प्रसंख्यान-विधि में उनका तात्पर्य नहीं है। क्रिया (कर्म) से साध्य होनेवाले फल को वेद के पूर्वकाण्ड ने बता दिया है। 'मोक्ष' तो नित्य सिद्ध फल है। अतः उसे क्रियासाध्य नहीं कह सकते ॥ १९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार पूर्वपक्ष करने पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—आप जैसा कह रहे हैं वैसी बात नहीं है, क्योंकि उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य का पर्यवसान दृश्य का निषेध करते हुए उसके अवधिभूत परब्रह्म में होता है, प्रसंख्यान विधि में नहीं। जो फल, क्रिया (कर्म) से प्राप्य होने वाला है, उसका उल्लेख वेद के पूर्वकाण्ड में किया गया है, वहीं वह सुनाई देता है। उपनिषदों में उसका उल्लेख नहीं है। मोक्ष तो नित्यसिद्ध है, उसकी प्राप्ति कर्मानुष्ठान से नहीं हो सकती। पूर्वपक्षी बतावे कि वेदान्तवाक्यों में प्रसंख्यान का साक्षात् विधान है या वर्तमानोपदेश होने से फलवचनानुपपत्त्या विधान की कल्पना की जाती है? प्रथम पक्ष का स्वीकार करना उचित न होगा क्योंकि रहस्यभूत उपनिषद्वाक्यों की विध्यर्थता तो हो नहीं सकती, उन वेदान्तवाक्यों के द्वारा दृश्य का निषेध करते-करते निषेधावधिभूत ब्रह्मात्मस्वरूप में उन वाक्यों का पर्यवसान होता है। द्वितीय पक्ष इसलिये उचित न होगा, जो क्रियासाध्य फल है, वह पुरा (पूर्व) काण्ड में श्राव्य है, उपनिषदों में नहीं। उपनिषदों में श्रूयमाण मोक्ष, क्रियासाध्य नहीं है, क्योंकि वह तो नित्यसिद्ध है, नित्यसिद्ध होने से वह साध्य नहीं है ॥ १९ ॥

पुत्रदुःखं यथाध्यस्तं, पित्राऽदुःखे स्व आत्मनि।
***अहंकर्त्रा तथाऽध्यस्तो, नित्यादुःखे स्व आत्मनि ॥२०॥**

पुत्रेति—जिस प्रकार पिता के द्वारा अपने दुःखरहित आत्मा में पुत्र के दुःख का आरोप कर लिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने दुःखरहित आत्मा में 'मैं कर्ता हूँ' यह आरोप (अध्यास) कर लेता है ॥ २० ॥

हृदयस्पर्शिनी

तत्त्वमस्यादि वाक्य, अपरोक्ष, अद्वितीय ब्रह्मात्मज्ञान द्वारा उस अज्ञान की और उसके द्वारा अध्यस्त हुए दुःखित्वादि संसार की निवृत्ति कराता है, यह बताने के लिये अज्ञान से अध्यस्त दुःखादि के विषय में दृष्टान्त बता रहे हैं—जिस प्रकार पिता अपने ज्वरादिदुःखरहित आत्मा में पुत्र के दुःख का आरोप कर लेता है, उसी प्रकार यह मानव प्राणी अपने नित्य दुःखरहित अर्थात् सर्वदा दुःखादिसंसाररहित अपने स्वरूपभूत निरुपाधिक आत्मा में 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा अध्यास करता रहता है। क्योंकि इसने अपने स्वरूपभूत आत्मा को साभास अन्तःकरण से अविविक्त समझ लिया है। अर्थात् अविवेकलक्षण अविद्या से उसे दुःखादिधर्मवाला मान लिया है। इस पद्य में आनन्दगिरि ने 'अहं कर्त्रा' पाठ लिया है, अतः 'स्वे आत्मनि' दुःखादिः, जोड़ लेना चाहिये। रामतीर्थ ने 'अहं कर्ता' पाठ रखा है।

* अहं कर्ता० —पाठान्तरम्।

आत्मा तो सदा ही दुःखशून्य है, वह दुःखादि का साक्षी है, परिशुद्ध है, ऐसा रहने पर भी अविवेक (अज्ञान) के कारण दुःखादि उसमें कल्पित किये जाते हैं ॥ २० ॥

सोऽध्यासो नेति नेतीति, प्राप्तवत्प्रतिषिध्यते ।
भूयोऽध्यासविधिः कश्चित्कुतश्चिन्नोपपद्यते ॥२१॥

स इति—प्राप्त हुई वस्तु के समान उस अध्यास का 'यह स्थूल देह आत्मा नहीं है, यह सूक्ष्म देह भी आत्मा नहीं है'—इस प्रकार 'नेति-नेति' श्रुति से निषेध किया जाता है। इस परिस्थिति में किसी प्रकार के अध्यास के लिए पुनः विधि करना किसी तरह भी उपपन्न नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अपरोक्ष ब्रह्मात्मा में अज्ञान से प्राप्त हुए अध्यास की ब्रह्मात्मविषयक विज्ञान से अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक निवृत्ति की जाती है। तात्पर्य यह है कि आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, यह ज्ञान न रहने से अध्यस्त हुआ संसार, उसके स्वरूप का ज्ञान होते ही, जो ज्ञान 'नेति नेति' और 'तत्त्वमसि' शास्त्र से उत्पन्न हुआ है, उससे निवृत्त होता है। तब आत्मा की समस्त क्रियाओं के अधिकार की निवृत्ति हो जाने से सुषुप्ति के समान पुनः अध्यासबीज के न होने से कृतकृत्य होने वाले उसे प्रसंख्यान विधि का अवसर ही नहीं है। 'प्राप्तवत्' यहाँ पर 'वति' प्रयोग करने से वस्तुवृत्त्या प्राप्ति का अभाव रहने से आरोपितत्व दृढ़ किया गया है। उस अध्यास को प्राप्त हुई वस्तु के समान यह स्थूल देह आत्मा नहीं है, यह सूक्ष्म देह आत्मा नहीं है, इस क्रम से निषेध किया जाता है—ऐसी अवस्था में पुनः किसी प्रकार के अध्यास के लिये विधि करना तो किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं है ॥ २१ ॥

आत्मनीह यथाऽध्यासः, प्रतिषेधस्तथैव च ।
मलाध्यासनिषेधौ खे, क्रियेते च यथाऽबुधैः ॥२२॥

आत्मनीति—जिस प्रकार आत्मा में देह और उसके जरामरणादि धर्म का अध्यास और प्रतिषेध होता है तथा जिस प्रकार प्राकृत अज्ञानी लोग इन्द्रियों के अविषयभूत आकाश में मलिनता का आरोप और निषेध करते हैं, उसी प्रकार अविषयभूत प्रत्यगात्मा ब्रह्म में भी संसार का अध्यास और निषेध किया जा सकता है ॥ २२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

किन्तु यह शंका हो सकती है कि सामने उपस्थित विषयभूत शुक्तिका आदि में रजतादि का अध्यास होता देखा जाता है, किन्तु अविषयभूत प्रत्यगात्मा ब्रह्म में विषय के दुःखित्वादि धर्म का अध्यास कैसे हो सकता है? यह शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार देहातिरिक्त आत्मवादी नैयायिकों के मतानुसार आत्मा में देह और उसके जरा-मरणादि धर्मों का अध्यास और प्रतिषेध होता है, अथवा जिस प्रकार अज्ञानी लोग इन्द्रियों के अविषयभूत आकाश में मलिनता का आरोप एवं निषेध करते हैं, उसी प्रकार अविषयभूत प्रत्यगात्मा ब्रह्म में भी संसार का अध्यास और निषेध हो सकता है। मूल पद्य में 'यथाऽध्यासः' के स्थान पर यदि 'तथाऽध्यासः' पाठ उपलब्ध हो तो वहाँ पूर्वार्द्ध का दार्ष्टान्त और उत्तरार्ध का दृष्टान्तपरक अर्थ करना चाहिये। अध्यास में अधिष्ठानस्वरूप का स्फुरणमात्र अपेक्षित रहता है। उसका विषयत्वेन स्फुरण अपेक्षित नहीं होता। स्वप्रकाश आत्मा में वह स्वतः सिद्ध है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ २२ ॥

प्राप्तश्चेत्प्रतिषिध्येत, मोक्षोऽनित्यो भवेद्ध्रुवम् ।
अतोऽप्राप्तनिषेधोऽयं, दिव्यग्निचयनादिवत् ॥२३॥

प्राप्तेति—आत्मा में प्राप्त हुए बन्ध का प्रतिषेध यदि माना जाय तो उसका मोक्ष अवश्य ही अनित्य सिद्ध होगा। इसलिए आकाश में अग्निचयनादि के प्रतिषेध के समान इसे अप्राप्त बन्ध का प्रतिषेध कहना चाहिए ॥ २३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि आत्मा में प्राप्त हुए बन्ध का प्रतिषेध माना जाय तो संसारबन्धनिवृत्तिरूप जो मोक्ष है, वह आगन्तुक हो जाने से अनित्य सिद्ध होगा, यह निश्चित है। अतः आकाश में अग्निचयनादि के प्रतिषेध के समान यह अप्राप्तबन्ध का

प्रतिषेध है। तात्पर्य यह है कि यदि प्राप्त बन्ध का प्रतिषेध किया जायगा, तो सादि होने के कारण मोक्ष की अनित्यता का प्रसंग उपस्थित होगा। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्राप्त वस्तु का ही प्रतिषेध किया जाता हो। 'नान्तरिक्षे न दिवि अग्निश्चेतव्यः' इससे अन्तरिक्ष और आकाश में अप्राप्त अग्निचयन का ही प्रतिषेध किया जाता है। उसी प्रकार आकाश में नीलिमा, रज्जु में सर्प, तथा शुक्ति में रजत भी अप्राप्त हैं। अतः आत्मा में भी अप्राप्त बन्ध की ही निवृत्ति की जाती है। उस कारण आत्मा की नित्य मुक्तरूपता सिद्ध होती है। सबका निष्कर्ष यह है कि संसार यदि प्रमाणसिद्ध हो तो प्राप्तवत् प्रतिषेध हो सकता है, उससे मोक्ष को अनित्य कहना होगा। परमार्थवृत्ति से (वस्तुतः) आत्मगत बन्ध की परमार्थतः (वास्तविक) ही निवृत्ति कहने पर उस आत्मा में अवस्थान्तर की आपत्ति होगी, जिससे उसे विकारी कहना होगा और विकारी होने से उसे अनित्य भी अवश्य मानना होगा। तथा अनादि भावरूप बन्ध को पारमार्थिक कहने पर उसकी निवृत्ति असंभव ही रहेगी। यदि बन्ध को सादि कहें तो वह आत्मा के द्वारा अपने आप ही कृत होने से पुनः उसमें निवृत्तसजातीय (निवृत्त हुए के तुल्य) दूसरे बन्ध की उत्पत्ति होगी, जिससे मोक्ष की अनित्यता अवश्य ही प्रसक्त होगी। अतः बन्ध को आविद्यक ही अवश्य मानना चाहिये। और उस आविद्यक बन्ध की निवृत्ति तो ज्ञान से ही हो जायगी, इसलिये प्रसंख्यान निरर्थक है—इस अभिप्राय से उपसंहार कर रहे हैं कि यह अप्राप्तनिषेध है। जैसे—"नान्तरिक्षे न दिव्याग्निश्चेतव्यः"[1]—कहकर पृथिवी के तुल्य अन्तरिक्षादि में अग्निचयन का आरोप करने से अप्राप्त का ही प्रतिषेध किया जा रहा है। उसी तरह संसारबन्ध से रहित आत्मा में उसका आरोप और निषेध किये जा रहे हैं ॥ २३ ॥

संभाव्यो गोचरे शब्दः प्रत्ययो वा न चान्यथा ।
न संभाव्यो तदात्मत्वादहंकर्तुस्तथैव च ॥२४॥

संभाव्य इति—**शब्द से तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण से होनेवाला ज्ञान, किसी विषय का ही हो सकता है। वह अन्यथा अर्थात् निर्विषयक नहीं होगा। इसलिए ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अहंकर्ता (प्रमाता) को ब्रह्मविषयक ज्ञान, शब्द से अथवा प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से होना असम्भव है। क्योंकि 'ब्रह्म' तो किसी का विषय नहीं है ॥ २४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा में बन्ध के सम्बन्ध का बोधक प्रमाण न होने से भी उस आत्मा का बन्ध वास्तविक नहीं है। क्योंकि आत्मा के बन्ध के सम्बन्ध का बोधक प्रमाण 'शब्द' होगा या कोई 'अन्य प्रमाण' होगा? अर्थात् शब्दजन्य ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिजनित ज्ञान, किसी न किसी विषय के ही आश्रय से हो सकते हैं, विषयरहित नहीं हो सकते। किन्तु 'ब्रह्म' किसी का विषय नहीं है। शब्द की प्रवृत्ति के हेतु (निमित्त) भूत जाति, गुण, क्रिया आदि का अभाव होने के कारण उसमें शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जिससे 'यह आत्मा संसारी है'—ऐसा बोध शब्द से हो पायेगा। रूपादि से रहित (हीन) होने के कारण उसे बाह्य इन्द्रियों का भी विषय नहीं कहा जा सकता। किसी अनुमापक लिङ्गविशेष के न होने के कारण उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। अवयवरहित (निरवयव) होने के कारण वह उपमानप्रमाण का भी विषय नहीं हो सकता। अविकारी (विकारशून्य) होने से उसे अर्थापत्तिप्रमाणगम्य भी नहीं कह सकते। और भावरूप होने से उसे अनुपलब्धिप्रमाण का भी विषय नहीं कहा जायगा। अतः परिशेषात् प्रतीतिमात्र वह रहता है, इसलिये उसमें बन्धसंबंध प्रमाणसिद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त 'प्रमाता' जो अहंकर्ता है, वह भी 'ब्रह्म' में ही अध्यस्त है। अतः अपने अधिष्ठानरूप 'ब्रह्म' को वह विषयरूप से नहीं जान सकता। तात्पर्य यह है कि शब्दज्ञान तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान, विषय में ही हो सकते हैं, अन्यथा अर्थात् अविषय में नहीं हो सकते। अतः ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अहंकर्ता (प्रमाता) को ब्रह्मविषयक शब्द या प्रत्यक्षादि अन्य ज्ञान का होना संभव ही नहीं है। क्योंकि ब्रह्म तो विषय होने योग्य ही नहीं है। आत्मा का ज्ञान, शब्द से या अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकता। क्योंकि वे सभी आत्मरूप ही हैं। चिदात्मा का स्वरूप उनसे पृथक् नहीं है ॥ २४ ॥

---

१. (तै० सं० ५।२।७) अयमभिप्रायः—प्रसक्तमेव सर्वत्र निषेध्यं भवति, नाऽप्रसक्तम्। यत्तु क्वचिदप्रसक्तस्यापि निषेधो दृश्यते, यथा—"नान्तरिक्षे न दिवि" इत्यत्र, तत्र गत्यन्तराभावः। वस्तुतः तत्रापि निषेधपरत्वं नास्ति, अर्थवादोऽयं रुक्मोपधानस्य,—"रुक्ममुपदधाति" इत्यनेन एकवाक्यत्वात्। तस्माद्यथा कथंचन तत्स्तुतावेव तात्पर्यम्। अत्र तु द्वैतनिषेधपरत्वमिति वैषम्यम्। तदिहापि प्रसक्तद्वैतप्रपंचनिषेधपरत्वं युक्तं, नाऽप्रसक्तेश्वरनामात्वनिषेधपरत्वमिति ॥

अहंकर्त्रात्मनि न्यस्तं, चैतन्ये कर्तृतादि यत् ।
नेति नेतीति तत्सर्वं, साहंकर्त्रा निषिध्यते ॥२५॥

अहमिति—चैतन्यस्वरूप आत्मा में अहंकर्ता (साभास अन्तःकरण) के द्वारा जिन कर्तृत्वादि का आरोप किया जाता है, उन सबका अहंकर्ता के सहित 'नेति-नेति' श्रुति से क्रमशः निषेध किया जाता है ॥ २५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तस्मात् अध्यस्त का ही निषेध कहना चाहिये। चैतन्यस्वरूप आत्मा में अहंकर्ता (साभास अन्तःकरण के साथ अविवेक रहने से) ने जिन कर्तृत्वादि का आरोप किया है, उन सबका अहंकर्ता के सहित 'नेति नेति' के द्वारा निषेध किया गया है ॥ २५ ॥

उपलब्धिः स्वयंज्योतिर्दृशिः प्रत्यक्सदक्रियः* ।
साक्षात्सर्वान्तरः साक्षी, चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः ॥२६॥

उपलब्धिरिति—यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयम्प्रकाश है, चित्स्वरूप है, प्रत्यक्, सत्, एवं अक्रिय है। वह साक्षात् सर्वान्तर्यामी, सभी का द्रष्टा, प्रकाशक, नित्य, निर्गुण और अद्वितीय है ॥ २६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि शास्त्र के द्वारा अध्यस्त का ही निषेध किया जाता है तो आत्मस्वरूप की उपलब्धि कैसे होगी ? उसपर कहते हैं कि आत्मा को अनुपलब्धिस्वरूप मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उसके विपरीत 'साक्षात्' इत्यादि उत्तरार्ध में सूत्रित श्रुतियाँ प्रमाणरूप में उपस्थित रहने से 'आत्मा' स्वप्रकाश ही है अर्थात् स्वतःसिद्ध ही है, उसके ज्ञानार्थ प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयंप्रकाश है, चित्स्वरूप है, प्रत्यक्, सत् और अक्रिय है। वह साक्षात् अन्तर्यामी, सर्वद्रष्टा, प्रकाशक, नित्य, निर्गुण और अद्वितीय है ॥ २६ ॥

सन्निधौ सर्वदा तस्य, स्यात्तदाभोऽभिमानकृत् ।
आत्मात्मीयं द्वयं चातः, स्यादहंममगोचरः ॥२७॥

सन्निधाविति—सर्वदा उस चेतन की सन्निधि में रहने से अहंकार भी उसी के समान चेतन-सा प्रतीत होता है। अतएव अहं-ममविषयक आत्मभाव और आत्मीयभाव दोनों होने लगते हैं ॥ २७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा-आत्मीय ये दोनों अहं और मम प्रत्यय के गोचर (विषय) हुआ करते हैं, यह तो प्रसिद्ध ही है। अतः आत्मा को स्वतःसिद्ध कैसे कहा जाय ? इस आशंका का समाधान यह होगा कि उपाधिवशात् व्यवहार में वैसी प्रसिद्धि है, वस्तुतः तो आत्मा स्वतःसिद्ध ही है। अहंकार का काम है अभिमान करना। वह चिदात्मा की सन्निधि में सर्वदा रहता है, उस कारण उसी के समान चैतन्य प्रकाश से युक्त होने से चेतन-सा अर्थात् चेतनाकार-सा ज्ञात होता है, उसी कारण आत्मभाव और आत्मीयभाव अर्थात् 'अहं' 'मम'—'मैं और मेरा'—यह व्यवहार चलता रहता है। एवंच मैं और मेरा यह व्यवहार, साभास अन्तःकरण और उसकी वृत्ति से अतिरिक्त आत्मा है, इस प्रकार के ज्ञान के न होने से चलता है। अतः आत्मा स्वभावतः स्वतःसिद्ध है ॥ २७ ॥

जातिकर्मादिमत्त्वाद्धि, तस्मिञ्शब्दास्त्वहंकृति ।
न कश्चिद्वर्तते शब्दस्तदभावात्स्व आत्मनि ॥२८॥

जातीति—जाति और कर्म आदि 'अहंकार' में ही हुआ करते हैं। अतः उसी में (अहंकार में ही) शब्द-प्रवृत्ति होती है। किन्तु आत्मा में जाति-कर्म आदि का अभाव रहने से उसमें (आत्मा में) शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती ॥ २८ ॥

---

* सदाक्रियः—पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

तथापि 'शब्द' का प्रमेय होनेसे 'आत्मा' को स्वत:सिद्ध नहीं कह सकते। अर्थात् अहम्प्रत्यय जो होता है, वह आत्मविषयक न होकर अन्यविषयक है। इसी प्रकरण के २४ वे श्लोक 'संभाव्यो गोचरे शब्दः' से आत्मा को प्रत्यय का अविषय होना बताया गया है। अब इस श्लोक से बता रहे हैं कि वह 'शब्द' का भी विषय नहीं होता, 'शब्द' का विषय भी कोई अन्य ही होता है। जाति, कर्म आदि शब्दों की प्रवृत्ति होने में निमित्त 'साभास अहंकार' है, अत: 'शब्द' का विषय साभास अहंकार है अर्थात् आभास-विशिष्ट अहंकार है। एवंच शब्द का प्रमेय विशिष्ट रहने पर भी केवल शुद्ध आत्मा, शब्द का विषय न होने से वह (आत्मा) स्वत:सिद्ध है। उस निरुपाधिक आत्मा में कोई भी शब्द, प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि जाति, कर्मादि शब्दों की प्रवृत्ति में निमित्त तो साभास अन्त:करण अर्थात् विशिष्ट अन्त:करण (अहंकार) होता है। अत: आत्मा, किसी शब्द के द्वारा सिद्ध नहीं है, अपितु स्वत:सिद्ध है ॥ २८ ॥

आभासो यत्र तत्रैव, शब्दाः प्रत्यग्दृशि स्थिताः ।
लक्षयेयुर्न साक्षात्तमभिदध्युः कथंचन ॥२९॥

आभास इति—'आत्मा' को किसी शब्द के द्वारा नहीं बताया जा सकता, क्योंकि वह अनिर्देश्य है। तब वेदान्तवाक्य भी उसको कैसे बता पायेंगे ? क्योंकि वे वाक्य भी शब्दरूप ही हैं। इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि जहाँ अहंकारादि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्फुरित होता है, वहीं पर रहनेवाले आत्मादि शब्द उस प्रत्यगात्मा को लक्षित कराते हैं। वे शब्द किसी भी प्रकार से उसका साक्षात् प्रतिपादन नहीं करते ॥ २९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त कथनानुसार तो स्वरूपभूत शुद्ध केवल आत्मा में प्रवृत्तिनिमित्त जाति आदि के अभाव के कारण किसी शब्द की प्रवृत्ति न होने से तो वेदान्तवाक्य भी उसका बोध नहीं करा पायेंगे। क्योंकि वेदान्तवाक्य भी शब्दरूप ही हैं। ऐसी स्थिति में उस आत्मा को वेदान्तवेद्य या औपनिषद कैसे कह सकते हैं ? इसका समाधान यह है कि जब अहंकारादि में आभास अर्थात् चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्फुरित होता है, तब वह प्रतिबिम्बित आत्मा (चेतन्य) और अन्त:करण दोनों एकाकार (अविविक्त, अपृथक्) हुए से ज्ञात होते हैं। उसी को लोग 'आत्मा' शब्द से कहा करते हैं। अर्थात् आत्मादि शब्द उसी के वाचक होते हैं और प्रत्यक्तया भासमान जो 'दृशि' अर्थात् शुद्ध आत्मा है, उसे वे आत्मादि शब्द लक्षणा के द्वारा ज्ञापित करते हैं, उसे साक्षात् अभिधा से नहीं बताते। अत: आत्मा को औपनिषद कहने में कोई विरोध नहीं है ॥ २९ ॥

(३७ मे । १४२ २८

न ह्यजात्यादिमान्कश्चिदर्थः शब्दैर्निरूप्यते ॥३०॥

नेति—क्योंकि जाति आदि से रहित किसी भी पदार्थ को शब्द नहीं बता सकते ॥ ३० ॥

हृदयस्पर्शिनी

क्योंकि किसी भी जाति आदि से शून्य (रहित) वस्तु का शब्द से प्रतिपादन नहीं किया जा सकता ॥ ३० ॥

आत्माभासो यथाहंकृदात्मशब्दैस्तथोच्यते ।
उल्मुकादौ यथाग्न्यर्थाः, परार्थत्वान्न चाञ्जसा ॥३१॥

आत्मेति—आत्मा के समान 'अहंकार' की प्रतीति जैसे होती है, उसी तरह 'आत्मा' आदि शब्दों के द्वारा उसको बताया भी जाता है। अग्नि के कार्यरूप 'दाह' आदि का प्रयोग जैसे 'उल्मुक' (अंगार) में किया जाता है। क्योंकि वे दाह आदि परार्थ (अन्यार्थक) हैं, अत: उनका प्रयोग उल्मुक आदि में साक्षात् नहीं किया जाता ॥ ३१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा यदि अहंकार से अतिरिक्त हो तो लक्षणा के द्वारा वेदान्तवाक्य उसको बता पायेंगे, तब अहंकार में आत्मशब्द का प्रयोग लोग कैसे कर सकते हैं ? लक्षणा से भी जहाँ शब्द का तात्पर्य होता है, वहीं शब्द का अर्थ माना जाता है। जिस प्रकार अहंकार आत्मा के तुल्य प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मादि शब्दों के द्वारा उसका प्रतिपादन भी

किया जाता है। जिस प्रकार उल्मुक आदि में अग्नि के दाहादि कार्य का प्रयोग किया जाता है। जिस समय खूब तपे हुए लोहे से त्वचा का स्पर्श होने पर दाह होता है, तो 'लोहे ने जला दिया' ऐसा लोग कहा करते हैं किन्तु यदि विचार करें तो मानना होगा कि जलाना लोहे का धर्म (काम) नहीं है, किन्तु व्यवहार के समय लोहे में अग्नि के धर्म का आरोप करते हैं। वैसेही आत्मवत् प्रतीत होनेवाले अहंकार में आत्मत्व का आरोप होता है और उसे ही आत्मा शब्द से कहने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्माभास से युक्त अहंकार आदि में वर्तमान शब्द, उसके साक्षी को लक्षित करते हैं, साक्षात् नहीं बताते हैं। जैसे 'उल्मुकं दहति' 'अयो दहति'—इत्यादि प्रयोगों में उल्मुकादि शब्दों का प्रयोग साक्षात् अग्नि में नहीं होता है, उनका अर्थ तो अंगार आदि है। तथापि दाह को अनुपपत्ति के कारण उनका 'अग्नि' अर्थ मान लिया जाता है। उसी तरह लक्षणा के द्वारा अहं, आत्मा आदि शब्द, ब्रह्मात्मप्रतिपत्त्यर्थक होते हैं ॥ ३१ ॥

मुखादन्यो मुखाभासो, यथाऽऽदर्शानुकारतः ।
आभासान्मुखमप्येवमादर्शाननुवर्तनात् ॥३२॥

मुखादिति—**जिस प्रकार मुख का 'प्रतिबिम्ब' दर्पण का अनुवर्ती होने के कारण मुख से पृथक् है, उसी प्रकार 'मुख' भी दर्पण का अनुवर्ती न होने के कारण अपने 'प्रतिबिम्ब' से भिन्न ही रहता है ॥ ३२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वोक्त २९ वें श्लोक में सिद्धान्ती ने 'आभास' का अंगीकार किया है। भेदविपर्यासविशिष्टरूप से भासित होने वाला वह अहंकार, पारमार्थिक है या अपारमार्थिक है ? ऐसा सन्देह होने पर सिद्धान्त बताते हैं कि वह परमार्थतः नहीं है, उसमें दृष्टान्त बता रहे हैं—जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण का अनुवर्तन करने के कारण मुख से भिन्न होता है, वैसे ही दर्पण का अनुवर्तन न करने के कारण मुख भी अपने प्रतिबिम्ब से भिन्न ही है। तथा बिम्ब की चेष्टा के बिना भी प्रतिबिम्ब की चेष्टा हो सकेगी, क्योंकि आभास से मुख भी अन्य ही है। वह आदर्श (दर्पण) के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधायी नहीं है। उसकी सत्ता का स्फुरण आदर्शनिरपेक्ष होता है। इसलिये वह (मुख) आदर्शाननुवर्ति है। तथाच आदर्श में प्रतिबिम्बित हुए ग्रीवास्थ मुख का आदर्शस्थतावैशिष्ट्य से भासमान होना ही 'आभास' कहा जाता है। वह आभास सत्य नहीं है, क्योंकि आदर्श, मुख से वियुक्त होने पर अथवा तिर्यक् निरीक्षण करने पर उस आदर्श में नहीं दिखाई पड़ता। उसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) प्रतिभास होता है। अतः आभास को अनिर्वचनीय ही कहा जाता है। तस्मात् उस आभास से मुख अन्य ही है ॥ ३२ ॥

अहंकृत्यात्मनिर्भासो, मुखाभासवदिष्यते ।
मुखवत्स्मृत आत्माऽन्योऽविविक्तौ तौ तथैव च ॥३३॥

अहमिति—**अहंकार में आत्मा का जो प्रतिबिम्ब है, वह मुख के प्रतिबिम्ब के ही तुल्य है, और उस प्रतिबिम्ब से भिन्न जो आत्मा है, वह मुख के तुल्य बताया गया है। एवञ्च मुख और मुखाभास के समान ही वे परस्पर भिन्न हैं ॥ ३३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अहंकार में आत्मा का प्रतिबिम्ब (चेतनावत्त्व का अवभास) मुख के प्रतिबिम्ब के तुल्य है और उससे भिन्न आत्मा, मुख के तुल्य बताया गया है। उन मुख और मुखाभास के समान ही वे प्रातिभासिक दृष्टि से परस्पर भिन्न हैं। वस्तुतः आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतः भेद वस्तुतः नहीं है। आत्मा, आत्माभास तथा मुख और मुखाभास वास्तव में अविविक्त हैं अर्थात् परमार्थतः भेदरहित हैं। 'च' कार से आभासाश्रय अन्तःकरण भी उस से विविक्त नहीं है ॥ ३३ ॥

संसारी च स इत्येक, आभासो यस्त्वहंकृतिः ।
वस्तुच्छाया स्मृतेरन्यन्माधुर्यादि च कारणम् ॥३४॥

संसारीति—**कुछ विद्वान्, आत्मा के आभासरूप अहंकार को (चिदाभास को) ही 'संसारी जीव' कहते हैं। स्मृतिवचन के अनुसार छाया भी भावरूप पदार्थ (वस्तु) है तथा उसके वस्तुरूप होने में माधुर्य, शीतलता भी कारण हैं ॥ ३४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अनादि अविद्या और उसके कार्यभूत अहंकारादि में प्रतिबिम्बित हुआ चिन्मात्र ही चिदात्मस्वरूप है, उसी को उपाधिस्थतारूप वैशिष्ट्य के अध्यास के कारण संसारी कहते हैं, इस प्रकार अपना मत बताकर, उसे ही दृढ़ करने के लिये मतान्तर बता रहे हैं। हमने अहंकार में जिस आभास को पृथक् बताया है, उसी को कुछ लोग 'संसारी' कहते हैं। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आभास तो अवस्तुरूप है, उसे बन्ध-मोक्ष का भागी मानकर संसारी कैसे कहा जा सकता है? उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि 'आभास' शब्द से 'चिच्छाया' अभिप्रेत है। और वह वस्तुरूप है, अवस्तु नहीं है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है। स्मृति ने भी 'नाक्रमेत् कामतश्छायां गुर्वादेः'[1] कहकर बताया है कि जानबूझकर गुरु आदि की छाया का अतिक्रमण न करे। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी कहा है—

'देवर्त्विक्स्नातकाचार्यराज्ञां छायां परस्त्रियः।
नाक्रमेद्रक्तविण्मूत्रष्ठीवनोद्वर्तनादिकम्[2] ॥'

देवता, ऋत्विज्, स्नातक, आचार्य, राजा, परस्त्री की छाया, रक्त, विष्ठा, मूत्र, थूंक, उद्वर्तनादि को न लाँघे—इस प्रकार छाया के अतिक्रमण का निषेध किया है। इससे स्पष्ट है कि 'छाया' वस्तुरूप है, अवस्तु नहीं है। यदि छाया वस्तुरूप न होती तो उसका अतिक्रमण करने पर कोई दोष नहीं हो सकता था। उसी प्रकार छाया के वस्तु होने में एक अन्य कारण माधुर्यादि भी है। ग्रीष्म से संतप्त होने पर छाया में बैठे हुए मनुष्यादि प्राणी का मुख, मधुर दिखाई देता है, तथा उसे शीतलता का अनुभव होता है, इस से भी छाया का वस्तुत्व स्पष्ट होता है ॥ ३४ ॥

ज्ञैकदेशो विकारो वा, तदभासाश्रयः परे।
अहंकर्तैव संसारी, स्वतन्त्र इति केचन ॥३५॥

ज्ञैकदेश इति—**कुछ विद्वान् परमात्मा के एक देश को ही संसारी जीव कहते हैं। कुछ लोग उसके विकार को संसारी जीव कहते हैं। कुछ लोग चिदाभासविशिष्ट अहंकार को और कुछ लोग स्वतन्त्र आत्मा को ही संसारी जीव कहते हैं ॥ ३५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पुनः एकदेशियों के तीन मतों को बता रहे हैं—**कुछ लोग** चित्-सत्-आनन्दरूप **'परमात्मा के एक देश' को 'संसारी'** कहते हैं, क्योंकि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"[3] यह स्मृति कह रही है। **कुछ लोग** अग्निविस्फुलिंग का दृष्टान्त देकर उस परमात्मा के **'विकार' को** 'संसारी' कहते हैं।[4] कुछ लोग चिदाभास के आश्रय को अर्थात् **चिदात्माभासविशिष्ट अहंकार** (साभास अन्तःकरण) **को ही** 'संसारी' कहते हैं।[5] भाट्टमत के अनुसार अहम् अर्थात् अहंकार ही 'संसारी' है, जो स्वतन्त्र है, परमात्मा का अंशादिरूप नहीं है ॥ ३५ ॥

अहंकारादिसंतानः संसारी नान्वयी *पृथक्।
इत्येवं सौगता आहुस्तत्र न्याया विचार्यताम् ॥३६॥

अहंकारेति—**बौद्ध विद्वान् कहते हैं कि अहंकारादि क्षणिकविज्ञानसन्तति ही संसारी जीव है, उसमें कोई अन्वयी नहीं है। किन्तु इन सब मतों में कौन-सा मत न्यायोचित है, उसका विचार करना चाहिए ॥ ३६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अहंकारेति—बौद्धमत के अनुसार अहंकारादि क्षणिकविज्ञानसन्तति (अविरल उदित होते रहने से जो विच्छिन्न नहीं है) अर्थात् क्षणिकज्ञानधारा ही संसारी है, उनसे पृथक् कोई एक अन्वयी (सबसे सम्बन्ध रखने वाला),

---

* क्वचित्—पाठान्तरम्।
१. (मनु. स्मृ. ४।१३०)
२. (या. स्मृ. आचा. अध्या. ६।१५२)
३. (भग. गी. १५।७)
४. (बृ. उ. २।१।२०) माध्यन्दिन पाठ के अनुसार। काण्व पाठ के अनुसार "सर्वाणि भूतानिव्युच्चरन्ति" इति।
५. "तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा"—(छां. उ. ६।८।२)

जो विज्ञानों की उत्पत्ति-विनाशों का द्रष्टा हो, ऐसा कोई नहीं है, यह सौगतों (बौद्धों) का कथन है। इन उक्त पक्षों में वस्तुविषय की दृष्टि से तथा विरोध की दृष्टि से विकल्प और समुच्चय का असंभव रहने के कारण किसी एक पक्ष की उपादेयता अथवा हमारे कथन के अनुसार अहंकारादिगत आभास का अविद्या के कारण विवेक न हो पाने से ब्रह्म ही संसारी है, इन सब मतों में कौनसा न्याययुक्त है, इसका विचार करना चाहिए ॥ ३६ ॥

संसारिणां कथा त्वास्तां, प्रकृतं त्वधुनोच्यते ।
मुखाभासो य आदर्शे, धर्मो नान्यतरस्य सः ।
द्वयोरेकस्य चेद्धर्मो, *वियुक्तोऽन्यतरे भवेत् ॥३७॥

संसारिणामिति—संसारियों की बात तो यहीं रहने दें। प्रस्तुत विषय को (आभास के सम्बन्ध में) बताते हैं। दर्पण में मुख का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह 'दर्पण और मुख' इन दोनों में से किसी एक का धर्म नहीं है। यदि (वह) दोनों में से किसी एक का धर्म होता तो अन्य के न रहने पर भी वह हो सकता था ॥ ३७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रसंगप्राप्त संसारियों की चिन्ता को यहीं पर त्यागकर प्रकृत आभासनिरूपण की प्रतिज्ञा कर रहे हैं—यहीं से प्रतिपक्षी के मत का खण्डन आरंभ कर रहे हैं—दर्पण में मुख का जो प्रतिबिम्ब (आभास) दिखाई देता है, (1) क्या वह मुख और आदर्श दोनों में से किसी एक का धर्म है, (2) या मुख का ही धर्म है, (3) अथवा दोनों का ही धर्म है, (4) या दोनों से भिन्न कोई वस्त्वन्तर है? इतने पक्ष (विकल्प) उपस्थित होने पर 'धर्मो नान्यतरस्य सः' से प्रथम पक्ष का खण्डन कर रहे हैं—वह प्रतिबिम्ब, दर्पण और मुख इन दोनों में से किसी एक का धर्म नहीं है। यदि वह दोनों में से किसी एक का (अन्यतर का) धर्म होता तो अन्यतर के अभाव में भी वह प्रतिबिम्ब पड़ सकता था, किन्तु ऐसा होता नहीं। दर्पण या मुख दोनों में से किसी एक का भी अभाव रहने पर मुखाभास की प्रतीति नहीं होती। इस कारण वह मुखाभास (प्रतिबिम्ब) अन्यतर (किसी एक का) धर्म नहीं है ॥ ३७ ॥

मुखेन व्यपदेशात्स, मुखस्यैवेति चेन्मतम् ।
नादर्शानुविधानाच्च, मुखे †सत्यविभावतः ॥३८॥

मुखेनेति—यदि यह कहें कि मुख के द्वारा उसका उल्लेख होने के कारण वह 'मुख' का ही धर्म है किन्तु यह कहना उचित न होगा, क्योंकि वह दर्पण का अनुवर्ती है। दर्पण के न रहने पर मुख के रहते हुए भी वह (प्रतिबिम्ब) नहीं दीखता ॥ ३८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'मुखेन व्यपदेशात् स मुखस्यैवेति चेन्मतम्' से द्वितीय पक्ष को उपस्थित कर 'नादर्शानुविधानाच्च' से उसका खण्डन करते हैं। उसका (आभास-प्रतिबिम्ब का) मुख के द्वारा उल्लेख होना यदि माना जाता हो तो उसे (प्रतिबिम्ब को) मुख का ही धर्म कहते, किन्तु वैसा कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि वह (प्रतिबिम्ब) दर्पण का अनुवर्ती है, और दर्पण के अभाव में मुख के रहते हुए भी वह दृष्टिगत नहीं हो पाता है ॥ ३८ ॥

द्वयोरेवेति चेत्तन्न, द्वयोरेवाप्यदर्शनात् ।
अदृश्यस्य सतो दृष्टिः, स्याद्राहोश्चन्द्रसूर्ययोः ॥३९॥

द्वयोरिति—यदि उसे दोनों का धर्म कहें तो भी ठीक न होगा, क्योंकि दोनों के रहने अथवा न रहने पर भी वह नहीं दिखाई देता। यदि उसे दोनों से भिन्न सत्य वस्तु कहें तो जिस प्रकार पूर्वसिद्ध राहु की प्रतीति, सूर्य और चन्द्रमा के अस्तित्व में ही होती है, उसी प्रकार अदृश्य किन्तु विद्यमान प्रतिबिम्ब की प्रतीति मुख और दर्पण का संयोग होने पर ही होती है ॥ ३९ ॥

---

* वियुक्तेऽन्य०—पाठान्तरम् ।   † सत्यप्यभावतः । सत्यप्यभासतः—पाठौ ।

हृदयस्पर्शिनी

'द्वयोरेवेति चेत्'— यदि कहें कि वह (प्रतिबिम्ब) दोनों का धर्म है—इस तृतीय पक्ष का 'तन्न' से खण्डन करते हैं। उसे दोनों का धर्म नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों के रहने अथवा न रहने में भी उसे देखा नहीं जाता। मुख और दर्पण में से किसी भी एक के अभाव में तो मुखाभास की प्रतीति न होना स्पष्ट ही है, किन्तु यदि उसे उनके संयोग का ही धर्म माना जाय तो भी उनका किसी प्रकार भी संयोग होने पर उसकी प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है। इसलिये उसे उनके संयोग का भी धर्म नहीं कह सकते। अतः प्रतिबिम्ब को दोनों का धर्म नहीं कह सकते। यदि यह कहें कि 'वह (आभास) इन दोनों से भिन्न सत्य वस्तु है' इस चतुर्थ पक्ष की आशंका को दृष्टान्त के द्वारा उपस्थित करते हैं—'अदृश्यस्य सतो दृष्टिः'। जिस प्रकार पूर्वसिद्ध राहु की प्रतीति, सूर्य और चन्द्रमा की विद्यमानता में ही होती है, उसी प्रकार अदृश्य किन्तु विद्यमान प्रतिबिम्ब की प्रतीति मुख और दर्पण का संयोग होने पर ही होती है ॥ ३९ ॥

राहोः प्रागेव वस्तुत्वं, सिद्धं शास्त्रप्रमाणतः ।
छायापक्षे त्ववस्तुत्वं, तस्य स्यात्पूर्वयुक्तितः ॥४०॥

राहोरिति—उपर्युक्त आशंका उचित नहीं है, क्योंकि राहु की विद्यमानता तो चन्द्रग्रहणादि के पूर्व भी शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है, किन्तु जो लोग पृथिवी आदि की छाया को ही राहु कहते हैं, उनके अनुसार तो उसका (राहु का) अवस्तुत्व उपर्युक्त युक्ति से ही सिद्ध हो जाता है ॥ ४० ॥

हृदयस्पर्शिनी

उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में वैषम्य है। क्योंकि सैंहिकेय राहु की वस्तुता तो चन्द्रग्रहण के पूर्व से ही ज्योतिःशास्त्रप्रमाण से अथवा पुराणादि शास्त्र प्रमाण से निश्चित है, वैसा यहाँ पर किसी प्रमाण से प्रतिबिम्ब की वस्तुता का निश्चय नहीं है। अर्थात् मुख-दर्पण के सम्बन्ध से पूर्व या अनन्तर मुखप्रतिबिम्ब की तद्व्यतिरिक्त वस्तुता किसी प्रमाण से कहीं पर भी संभावित नहीं हुई है। इस प्रकार राहु की वस्तुता को मानकर दार्ष्टान्तिक में अनुगुणता का अभाव (अननुगुणता) बताया गया है। किन्तु अब उस राहु में भी वस्तुता नहीं है अतः प्रतिबिम्ब को वस्तुसिद्ध करने में उस अवस्तुभूत राहु का दृष्टान्त देना उचित नहीं है, यह बता रहे हैं। कुछ लोग पृथिवी की छाया को ही राहु कहते हैं, उनके मतानुसार उस राहु का अवस्तुत्व ही निश्चित है। "मुखाभासो य आदर्शे" इस ३७ वें श्लोक (पद्य) में उक्त युक्ति को यहाँ भी लगाया जा सकता है। ॥ ४० ॥

छायाक्रान्तेर्निषेधोऽयं, न तु वस्तुत्वसाधकः ।
न ह्यर्थान्तरनिष्ठं सद्वाक्यमर्थान्तरं वदेत् ॥४१॥

छायेति—गुरु आदि पूज्य लोगों की छाया के अतिक्रमण का निषेध स्मृति ने किया है। वह निषेध भी उसके वस्तुत्व को सिद्ध नहीं करता है, क्योंकि कोई भी वाक्य किसी एक अर्थ में स्थित होकर अन्य अर्थ को नहीं बताता है ॥ ४१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहें कि इसी प्रकरण के ३४ वें श्लोक 'वस्तुच्छाया स्मृतेः'—छाया को वस्तुतासिद्धि में स्मृति का प्रमाण बताया है कि 'गुरु आदि की छाया का अतिक्रमण न करें'। किन्तु यह छायातिक्रमण का निषेध भी उसके वस्तुत्व का साधक नहीं है। यदि उसे वस्तुत्व का साधक कहा जाय तो सोचना होगा कि वह साक्षात् उसका साधक है, या अर्थात् साधक है। उक्त निषेधवाक्य को वस्तुत्वसाधक साक्षात् नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही वाक्य को उभयार्थ मानने पर वाक्यभेद होगा। 'एकस्य वाक्यस्य उभयार्थत्वे वाक्यभेदः'। अतः किसी एक अर्थ में स्थित हुआ वाक्य, अन्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। अब उसे अर्थात् वस्तुत्वसाधक कहें तो यह द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि निषेध तो (1) 'प्राप्तिमात्रसापेक्ष' रहता है, अतः निषेध्यविषय में वस्तुत्व के न रहने से निषेध की अनुपपत्ति होने में कोई नियामक नहीं है। अतः छायालंघनप्रतिषेधपरक वाक्य छाया की वस्तुता को नहीं बता रहा है ॥ ४१ ॥

(1) प्रतियोगिसत्त्वसापेक्ष ।

माधुर्यादि च यत्कार्यमुष्णद्रव्याद्यसेवनात् ।
छायाया न स्वदृष्टत्वादपामेव च दर्शनात् ॥४२॥

माधुर्येति—उष्ण द्रव्य आदि का सेवन न करने के कारण छाया के माधुर्य आदि कार्य की प्रतीति हुआ करती है, क्योंकि सन्तप्त शिला की छाया में माधुर्य की प्रतीति नहीं होती। माधुर्य की प्रतीति तो केवल जल में ही होती है ॥ ४२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यह जो कहा था कि छाया के माधुर्यादि कार्य को देखने से अर्थक्रियाकारिता के कारण छाया की वस्तुता सिद्ध होती है, किन्तु वह भी अन्यथासिद्ध ही है। क्योंकि छाया में बैठे हुए व्यक्ति को छाया का जो माधुर्यादि कार्य दिखाई देता है, वह भी उष्ण द्रव्यादि का सेवन न करने के कारण है । हेतुभूत छाया का वह माधुर्यादि कार्य नहीं है। क्योंकि अत्यन्त प्रतप्त शिला की छाया में माधुर्य का अनुभव नहीं होता है, केवल जल में ही मधुरता की प्रतीति होती है। उसमें कभी व्यभिचार नहीं होता है एवंच छाया में बैठे हुए व्यक्ति को आतप-संसर्ग न रहने के कारण और जल की स्वाभाविक मधुरता की अभिव्यक्ति के कारण छाया में ही मधुरता का भ्रम होने लगता है ॥ ४२ ॥

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामाभासासत्त्वमेव च ॥४३॥

आत्मेति—जिस प्रकार मुख, उसका आभास और उसका आश्रय ये तीन विभक्त भासित होते हैं, उसी तरह आत्मा, उसका आभास और उसका आश्रय भी हुआ करता है। किन्तु वस्तुतः आभास की असत्ता (अवास्तविकता) तो शास्त्र और युक्ति से सिद्ध ही है ॥ ४३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जिस प्रकार मुख, मुख का आभास, और मुखका आश्रय ये तीनों व्यवहार में पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार आत्मा, आत्मा का आभास और आत्मा का आश्रय ये तीनों भी परस्पर विलक्षण प्रतीत होते हैं। किन्तु परमार्थदृष्टि से नहीं, यह सब व्यावहारिक दृष्टि से है। वस्तुतः तो शास्त्र तथा युक्तियों के द्वारा तो आभास की असत्ता (सत्ता का अभाव) ही सिद्ध होती है। 'आत्मा' तो त्वम् पद से लक्ष्य, चित् धातु है। वह अनादि अविद्या के कार्य में प्रतिबिम्बित रहने से तदुपाधिस्थत्ववैशिष्ट्य जो जीवत्व है, वही 'आभास' है। अविद्या और उसकी कार्यरूप उपाधि ही 'आश्रय' है—यह 'त्वम्' पद का अर्थ बताया गया। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव[1]", "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते[2]", "अनीशया शोचति मुह्यमानः[3]" तथा "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मैकं रूपं बहुधा यः करोति[4]" इत्यादि श्रुतियों से और नित्य सिद्ध साक्षी आत्मा में बुद्ध्यादि एवं आगमापायी विषयान्तरस्वरूप दृश्य का अध्यास हुए बिना उसका स्फुरण और सत्ता ही उपपन्न नहीं हो पाती, इस युक्ति से एकमात्र प्रत्यगात्मा की ही सत्ता सिद्ध होती है। आभास आदि की सत्ता नहीं सिद्ध हो रही है, वास्तव में आभास और उसके आश्रय की सत्ता का अभाव ही निश्चित होता है ॥ ४३ ॥

न दृशेरविकारित्वादाभासस्याप्यवस्तुतः ।
नाचितित्वादहंकर्तुः कस्य संसारिता भवेत् ॥४४॥

नेति—अविकारी होने के कारण चैतन्यैकरस आत्मा में संसारित्व नहीं है, आभास तो अवस्तुरूप है, इसलिए उसे भी संसारी नहीं कहा जा सकता उसी तरह अहङ्कर्ता, जड़ (अचेतन) होने के कारण उसे भी संसारी नहीं कह सकते। ऐसी स्थिति में यह कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसारित्व किसका कहा जाय ? ॥ ४४ ॥

१. (बृ. उ. २।५।१९ तथा कठ. उ. ५।९।१०)
२. (बृ. उ. २।५।१९ तथा ऋ. सं. ६।४७।१७, जैमि० उ. ब्रा. १।४४।१)
३. (मुं. उ. ३।१।२, श्वे. उ. ४।७)
४. (कठ. उ. ५।१२)

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त कथन के अनुसार तुम्हारे मत में संसार और मोक्ष का कोई आश्रय न रहने से उनकी अनुपपत्ति ही रही। क्योंकि आत्मा या उसका अभास या उसका आश्रय, ये सम्मिलित होकर अथवा इनमें से कोई एक भी संसार आदि का आश्रय नहीं कहा जा सकता। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिलक्षण विकाररूप उपचय को ही संसार कहते हैं। और उसके आत्यन्तिक अपचय को मोक्ष कहते हैं। तथाच क्रमशः उन दोनों से संबन्ध रखने वाला विकारी कहा जायगा। ऐसी स्थिति में चैतन्यैकरस दृशि में संसारिता नहीं बन सकेगी, क्योंकि वह तो अविकारी (कूटस्थ) है। उसी तरह आभास में संसारिता नहीं बन सकेगी, क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से उसके अवस्तु होने का निश्चय हो चुका है, अतः जो वस्तु ही नहीं है अर्थात् शून्य है, उसमें किसी प्रकार का अतिशय होना संभव ही नहीं है। आभास के आश्रयरूप अहंकर्ता अर्थात् अहंकार में भी जडता (अचितित्व) होने से संसारिता नहीं बन सकेगी। ज्ञातृत्व-सुख-दुःखादि-भोक्तृत्वलक्षण संसार की जडाश्रयता संभव नहीं है। अतः तुम्हारे मत में किसकी संसारिता होगी या मोक्ष होगा? कहना होगा कि किसी का नहीं, तब अनुभवविरोध होगा। अभिप्राय यह है कि अविकारी होने के कारण साक्षी का संसारित्व नहीं होगा, आभास अवस्तुरूप होने के कारण संसारी नहीं होगा, और अहंकार जड़ होने से संसारी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसारित्व किसका कहा जाय? ॥ ४४ ॥

अविद्यामात्र एवातः, संसारोऽस्त्वविवेकतः।
कूटस्थेनात्मना नित्यमात्मवानात्मनोव सः ॥४५॥

अविद्येति—**इसलिए केवल अविद्यामात्र (भ्रान्तिमात्र) ही संसार है। आत्मस्वरूप का विवेक न होने के कारण वह अविद्या, कूटस्थ आत्मा की सत्ता से स्वयं अपने को ही सत्तावान् समझती रहती है, और यह समझती हुई ही वह सर्वदा आत्मा में (उसके धर्मरूप में) अवभासित होती है। अर्थात् यह अविद्यारूप संसार, आत्मा में अवभासित होता रहता है ॥ ४५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि संसार और मोक्ष का कोई आश्रय ही नहीं बन सकता तो वास्तविक संसार और मोक्ष किसी के लिये भी नहीं है, ऐसा क्यों न कहा जाय? इस आशंका का समाधान यह है कि अविद्यामात्र ही संसार है, वह स्वप्न के समान भ्रान्तिमात्र है। आत्मस्वरूप का ज्ञान न होने के कारण संसार उसमें अध्यस्त होता है। अतः कूटस्थ आत्मा की सत्ता से सत्तावान् होकर सर्वदा आत्मा में उसके धर्मरूप से प्रतिभासित होता है। संसार अवस्तुभूत है तथापि आत्मा में अपरोक्षतया (प्रत्यक्षतया) सत् रूप से भासित होता है, इसप्रकार भासित होने में निमित्त यही है कि वह आत्मा में अध्यस्त है, अतः आत्मा की सत्ता से वह भी सत्तावान्-सा प्रतीत होता है ॥ ४५ ॥

रज्जुसर्पो यथा रज्ज्वा, सात्मकः प्राग्विवेकतः।
अवस्तुसन्नपि ह्येष, कूटस्थेनात्मना तथा ॥४६॥

रज्जुसर्प इति—**विवेक के पूर्व रज्जु में प्रतीयमान सर्प, रज्जु की सत्ता से जिस प्रकार सत्तावान् प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह संसार (अविद्या) अवस्तुरूप होने पर भी कूटस्थ आत्मा की सत्ता से सत्तावान् प्रतीत होता रहता है ॥ ४६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उक्त कथन को दृष्टान्त से स्पष्ट कर रहे हैं। जिस प्रकार विवेक के पूर्व रज्जु में प्रतीत होनेवाला सर्प, रज्जु की सत्ता से सत्तावान् होता है, उसी प्रकार संसार अवस्तुरूप रहने पर भी वह कूटस्थ आत्मा की सत्ता से सत्तावान् प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥

आत्माभासाश्रयश्चात्मा, प्रत्ययैः सर्वविकारवान्।
सुखी दुःखी च संसारी, नित्य एवेति केचन ॥४७॥

आत्मेति—आत्मा ही आत्माभास (जीवत्व) का आश्रय है। वही अपने धर्मभूत प्रत्ययों के कारण विकारवान् (विकारी) तथा सुखी, दुःखी और संसारी प्रतीत होता है। तथापि कोई वादी उसे नित्य ही कहा करते हैं ॥ ४७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

एक अन्य मत से कल्पनालाघव प्रदर्शित करते हुए शंका करते हैं—आत्मा ही आत्माभास (जीव) का आश्रय है। अतः वही अपने धर्मभूत प्रत्ययों के कारण विकारी तथा सुखी, दुःखी और संसारी होता है। तथापि कतिपय वादीगण उसे 'नित्य ही' कहते हैं। क्योंकि तरंगादिकों से समुद्र के विकारी होने पर भी उसमें स्थैर्य (स्थिरता) दृष्टिगत होती ही है। अतः आभास और तदाश्रयात्मना भेदकल्पना करने में गौरव होता है। इसलिये आत्मा ही संसारी है, यह कल्पना क्षुद्र होगी, ऐसा कुछ लोगों का कथन है ॥ ४७ ॥

आत्माभासापरिज्ञानाद्याथात्म्येन विमोहिताः ।
अहंकर्तारमात्मेति मन्यन्ते ते निरागमाः ॥४८॥

आत्मेति—आत्मा और आत्माभास का ठीक-ठीक ज्ञान न होने से जो लोग मोह से ग्रस्त रहते हैं, तथा अहङ्कार को ही आत्मा मानते हैं, वे लोग शास्त्रबाह्य हैं अर्थात् उन्हें शास्त्र के रहस्य का ज्ञान नहीं है ॥ ४८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इसी प्रकरण के 'संभाव्यो गोचरे शब्दः' (१८।२४ वें) श्लोक से यह बताया था कि आत्मा को संसारी कहने में कोई प्रमाण नहीं है, उसे नहीं भूलना चाहिये। अतः एकदेशियों की कल्पना केवल उत्प्रेक्षामूलक ही है, प्रमाणमूलक नहीं है। जो लोग आत्मा और आत्माभास का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मोहग्रस्त हो रहे हैं और अहंकार को ही आत्मा समझ रहे हैं, वे शास्त्रबाह्य हैं, अर्थात् आगमरहस्यपरिचयशून्य हैं। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्[1]", "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च[2]", "कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव[3], "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः[4]", इत्यादि नित्यशुद्धत्वादिपरक श्रुतिसंदर्भ को तथा "अनीशया शोचति मुह्यमानः[5]", "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः[6]", "अनृतेन हि प्रत्यूढाः[7]" इत्यादि श्रुतिसन्दर्भ को जिन लोगों नहीं देखा है, वे आत्मा और आत्माभास में विवेक न कर पाने के कारण, अविद्या से संसारी प्रतीत होनेवाले अहंकार को ही अपनी कल्पना से आत्मा समझते हैं ॥ ४८ ॥

संसारो वस्तुसंस्तेषां, कर्तृभोक्तृत्वलक्षणः ।
आत्माभासाश्रयाज्ञानात्, संसरन्त्यविवेकतः ॥४९॥

संसार इति—उनकी दृष्टि में कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार भी वस्तुतः सत् है। तथा आत्मा और आत्माभास तथा आभास का आश्रय इनका ज्ञान न रहने से अविवेक के कारण वे जन्म-मृत्युरूप संसार को प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

उन मोहग्रस्त लोगों के मत में कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार भी परमार्थतः सत् है, तथा च "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः[8]" इस स्मृति के अनुसार संसार अविनाशी है, अतः उनके मत में मोक्ष की असिद्धि है।

१. (श्वे. उ. ६।१९)
२. (श्वे. उ. ६।११)
३. (बृ. उ. ४।५।१३)
४. (बृ. उ. ४।३।९)
५. (मुं. उ. ३।१।२, श्वे. उ. ४।७)
६. (मुं. उ. १।२।८, कठ. उ. २।५)
७. (छां. उ. ८।३।२)
८. (भ. गी. २।१६)

यदि मोक्ष की अप्राप्ति के भय से संसार को वे भी अवस्तुरूप कहें तो हमारे मत को ही उन्होंने मान लिया, यही कहना होगा। किन्तु मोहग्रस्त होने के कारण आत्मा, आभास और आभास के आश्रय का ज्ञान न होने के कारण वे अविवेक के अधीन होकर जन्म-मृत्यु रूप संसार को प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४९ ॥

चैतन्याभासता बुद्धेरात्मनस्तत्स्वरूपता ।
स्याच्चेत्तं ज्ञानशब्दैश्च, वेदः शास्तीति युज्यते ॥५०॥

चैतन्येति—बुद्धि में चैतन्य का आभास और आत्मा का चित्स्वरूपत्व माना जाता है। चैतन्य तो आत्मा का स्वरूप है, धर्म नहीं है। अचेतन बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह चैतन्यधर्मवती प्रतीत होती है। इसलिए यह उचित ही कहा जाता है कि वेद ज्ञानशब्दों के द्वारा उसका (आत्मा का) उपदेश करते हैं। केवल आत्मा अथवा बुद्धि में शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा निर्धर्मक है और बुद्धि जड़ है। अतः बुद्धि में आत्मा का आभास माना जाता है। अतः चिदाभासविशिष्ट बुद्धि ही वेद के उपदेश को ग्रहण करती है। उसी के द्वारा लक्षणा से वेद आत्मा का बोध कराते हैं ॥ ५० ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्व श्लोक के द्वारा यह बताया गया कि आत्मा, आभास, और आश्रय इनका विवेक न होने से बन्ध होता है और उनका विवेक होनेपर मोक्ष होता है। अब यह बता रहे हैं कि आभास का स्वीकार करने पर एक अन्य लाभ होगा। 'चेतन्य' आत्मा का धर्म नहीं है, वह तो उसका स्वरूप ही है। किन्तु 'बुद्धि' जड़ है। उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह चैतन्यधर्मवती अवगत होती है। यदि बुद्धि में आत्मा का आभास न स्वीकार किया जाय, तो केवल आत्मा या बुद्धि में शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'आत्मा' निर्धर्मक और 'बुद्धि' जड़ है। अतः चिदाभासविशिष्ट बुद्धि ही वेद के उपदेश को ग्रहण करती है। और उसी के द्वारा लक्षणा से वेदवाक्य, आत्मा का ज्ञान कराता है। अतः आभास का अपलाप नहीं किया जा सकता। इस कारण बुद्धि (अन्तःकरण) की चैतन्याभास्यता और आत्मा की चैतन्यस्वरूपता मानने पर ही वेद, आत्मा को ज्ञान, सत्य, अनन्त, आनन्द आदि शब्दों से बता पाता है। प्रकाशस्वभाव वस्तु जहाँ प्रतिबिम्बित होती है, वहाँ उसके प्रतिबिम्बित होने में प्रकाशाभासोदय ही हेतु होता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित सविता, उसी तरह बुद्धि में जब चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, तब उसमें चित्प्रकाशोदय ही हेतु होता है। तभी तो साभास बुद्धि में गृहीत सम्बन्ध के कारण ज्ञानादि शब्दों के द्वारा वेद, आत्मा को लक्षणा की सहायता से बोधन कर पाता है, अन्यथा निर्धर्मक आत्मा में शब्दप्रवृत्ति हो ही नहीं पायेगी, तब वह वेदान्तवेद्य भी कैसे कहा जायगा ? अन्य कोई प्रमाण भी उसे नहीं बता पाता, उस स्थिति में आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः आभास को स्वीकार करना ही होगा ॥ ५० ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थौ यौ, भिन्नावेकाश्रयौ यथा ।
करोति गच्छतीत्यादौ, दृष्टौ लोकप्रसिद्धितः ॥५१॥

प्रकृतीति—प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी उनका आश्रय एक ही रहता है, उसी प्रकार लोकप्रसिद्धि के अनुसार करोति, गच्छति इत्यादि में भी भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, किन्तु उनका आश्रय एक ही है ॥ ५१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आभास के स्वीकार करने पर यद्यपि आत्मा में वेद की प्रवृत्ति का होना उपपन्न हो जाता है, तथापि उसमें 'जानाति' आदि शब्दों की प्रवृत्ति न हो पायेगी, तब व्यवहार ही नहीं चल सकेगा। अथवा 'ज्ञान' शब्द की व्युत्पत्ति करने पर आत्मा में उसकी मुख्यवृत्तिता तो संभव हो ही जाती है, अतः उसे साभास बुद्धिवाचक बताकर आत्मा में लक्षणा से उसकी वृत्ति की कल्पना क्यों की जा रही है ? ऐसी शंका उपस्थित कर, उसका समाधान दे रहे हैं। जैसे—'देवदत्तो गच्छति' इस वाक्य के 'गच्छति' पद में दो अंश हैं, एक 'गम्' और दूसरा 'ति'। इनमें 'गम्' धातु प्रकृति है, उसका अर्थ गमन क्रिया है। तथा 'ति' प्रत्यय कर्तृत्व को सूचित करता है। इस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ भिन्न रहने पर भी उन दोनों का आश्रय एकमात्र देवदत्त है। इसी प्रकार 'जानाति' 'करोति' आदि में भी एकमात्र 'आत्मा' को ही आश्रय समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

① भावप्रत्यया । निष्पन्ना सिद्धावस्था भावः, तच्च विकारमात्रं । तच्च आत्मनि (का) संभाव्यते पूर्वपक्षः । तन्निराकरोति । अर्थात् धात्वर्थमात्रवाचकः ।

मानयोर्द्वयाश्रयत्वं च, लोके दृष्टं स्मृतौ तथा ।
जानात्यर्थेषु को हेतुर्द्व्याश्रयत्वे निगद्यताम् ॥५२॥

नानयोरिति—लोकव्यवहार और व्याकरणस्मृति में भी प्रकृति-प्रत्ययों का द्वयाश्रयत्व (दो आश्रय) नहीं देखा गया, तब 'जानाति' पदार्थ के दो आश्रयवाला होने में ही क्या हेतु हो सकता है ? उसे बताओ ॥ ५२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ दोनों का एकाश्रयत्व जैसे दृष्ट है, वैसे ही क्वचित् भिन्नाश्रयत्व भी क्यों नहीं हो सकेगा ? उत्तर यही है कि लोकव्यवहार में तथा व्याकरण-स्मृति में भी प्रकृति-प्रत्ययों का द्वयाश्रयत्व (दो आश्रय) नहीं दिखाई देते । अतः 'जानाति' पदार्थ के दो आश्रय मानने में ही कौन हेतु है ? उसे बताओ ॥ ५२ ॥

आत्माभासस्तु तिङ्वाच्यो, धात्वर्थश्च धियः क्रिया ।
उभयं चाविवेकेन, जानातीत्युच्यते मृषा ॥५३॥

आत्माभास इति—आत्मा का आभास 'तिङ्' प्रत्यय का वाच्य है तथा धातु का अर्थ 'बुद्धि की क्रिया' है । ये दोनों प्रकृति और प्रत्यय, आत्मा और आत्माभास के अविवेक के कारण 'जानाति' के रूप में एक आश्रयवाले कहे जाते हैं, किन्तु वह मिथ्या है ॥ ५३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रश्नकर्ता पूछता है कि प्रकृति-प्रत्यय के एकाश्रयत्वमात्र का निषेध कर रहे हो या परमार्थतः उनका एकाश्रयत्व नहीं है, यह बता रहे हो ? सिद्धान्ती उत्तर देता है कि 'जानाति' 'करोति' आदि पदों में बुद्धिगत आत्मा का आभास, 'तिङ्' प्रत्यय का वाच्य है, तथा 'धातु' का अर्थ (प्रकृत्यर्थ), बुद्धि की वृत्तिरूपा क्रिया है । तथाच आत्माभास और बुद्धि ये दोनों (प्रकृति-प्रत्यय) आत्मा और आत्माभास के अविवेक के कारण मिथ्या ही—'जानाति' इत्यादि रूप से एक आश्रय वाले कहे जाते हैं । सिद्धान्ती के कहने का तात्पर्य यह है कि तुम जो एकमात्र आत्मा को 'जानाति, करोति' आदि पदों के अर्थों का आश्रय बताते हो, वह अध्यास के कारण है, वास्तव में नहीं है । क्योंकि 'बुद्धिवृत्ति' क्रियारूप है और 'बुद्धिगत चिदाभास' प्रत्ययरूप है, उन दोनों में अविवेकवशात् आत्मत्व का अध्यास होने से ही आत्मा को 'जानाति' आदि का आश्रय कहा जाता है[1] ॥ ५३ ॥

न बुद्धेरवबोधोऽस्ति, नात्मनो विद्यते क्रिया ।
अतो नान्यतरस्यापि, जानातीति च युज्यते ॥५४॥

न बुद्धेरिति—क्योंकि बुद्धि में 'बोध' (ज्ञान) नहीं है और आत्मा में क्रिया (कर्म) नहीं है । अतः दोनों में से किसी के लिए भी 'जानाति' यह प्रयोग करना उचित नहीं कहा जा सकता ॥ ५४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

द्वितीय विकल्प का उत्तर यह है कि ठीक-ठीक विचार करने पर ज्ञात होता है कि क्रियावाली बुद्धि का अवबोध (चित्प्रकाश) नहीं है, तथा अवबोधस्वभाव आत्मा की क्रिया नहीं है । अतः दोनों में से किसी के लिये भी 'जानाति, अवगच्छति' आदि कहना उचित नहीं है । तथाच लोकव्यवहार तो प्रतीति के बल पर चलता है, अतः 'जानाति' आदि में आरोपित ऐक्यविषयता समझ लेने से लोकविरोध भी नहीं और स्मृतिविरोध भी नहीं होता है ॥ ५४ ॥

नाऽप्यतो भावशब्देन, ज्ञप्तिरित्यपि युज्यते ।
न ह्यात्मा विक्रियामात्रो* नित्य आत्मेति शासनात् ॥५५॥

* मात्रं—पाठान्तरम् ।

१. तुलना कीजिये—(तै. उ. वार्तिक २।१।९०-९४, गद्य प्र. वाक्य ७६-८५ ।)

① करणव्युत्पत्या शक्यते।
② कर्मवाच्यत्वेन आशङ्क्यते।
③ कर्मकर्तृविरोधात्।

नापीति—इसीलिए 'ज्ञप्तिः ज्ञानम्' इस भावव्युत्पत्ति के द्वारा भी आत्मा के अर्थ में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'आत्मा नित्य है'—यह उपदेश श्रुति ने दिया है। अतः आत्मा को विकारमात्र नहीं कहा जा सकता ॥ ५५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'ज्ञ' की व्युत्पत्ति 'जानातीति ज्ञः' अर्थात् जो जानता है—ज्ञान का कर्ता है, वह 'ज्ञ' है—ऐसी कर्तृव्युत्पत्ति (कर्तृवाच्य व्युत्पत्ति) करके 'आत्मा' के लिये 'जानाति' पद का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि 'आत्मा' निर्धर्मक है। तथा 'जानाति' पद का प्रयोग 'बुद्धि' के लिये भी नहीं कर सकते, क्योंकि 'बुद्धि' जड़ है। और बुद्धि तथा आत्मा मिलकर भी 'जानाति' आदि क्रिया के कर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि तम और आलोक (अंधकार और प्रकाश) के समान जड़ और अजड़ (चेतन) का ऐक्य नहीं हो सकता। और न ही दोनों में से किसी एक की सन्निधि के कारण अन्यतर में उभयाश्रयता संगत हो पाती है, क्योंकि अध्यास के बिना सन्निधि नहीं देखी जाती। उसी प्रकार 'ज्ञप्तिः ज्ञानम्' इस भावव्युत्पत्ति (भाववाच्यव्युत्पत्ति) के द्वारा भी 'आत्मा' के लिये 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। क्योंकि 'भाव' शब्द धात्वर्थमात्र का वाचक होता है। अतः यदि आत्मा को भाववाचक शब्द का वाच्य कहा जाय तो निश्चय ही उसे क्रियात्मक मानना होगा, क्रियात्मक होने से उसे विकारी कहना होगा, और विकारी होने पर वह 'अनित्य' होगा। किन्तु 'आत्मा' को तो नित्य माना जाता है, इसीलिये उसे निर्विकार कहा जाता है। अतः उसे भाव शब्द का वाच्य नहीं कह सकते। एवं च 'भाव' शब्द धात्वर्थसामान्य का वाचक होने से 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस व्युत्पत्ति से भी 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग आत्मा में संगत नहीं होता। क्योंकि क्रियामात्र रहने पर पारतंत्र्य होने से अनित्यता का प्रसंग प्राप्त होगा, वह तो ठीक न होगा, क्योंकि [1]श्रुति ने 'आत्मा' को नित्य बताया है, वह विकारमात्र नहीं है ॥ ५५ ॥

> ① न बुद्धेर्बुद्धिवाच्यत्वं, करणं न ह्यकर्तृकम्।
> ② नापि ज्ञायत इत्येवं, कर्मशब्दैर्निरुच्यते* ॥५६॥

नेति—'बुध्यते अनया इति बुद्धिः'—ऐसी करणवाच्य व्युत्पत्ति के द्वारा भी 'आत्मा' के अर्थ में बुद्धि (ज्ञान) शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि 'करण' कभी भी कर्ता के बिना नहीं होता। अतः 'बुद्धि' शब्द का वाच्य 'बुद्धि' ही है, 'आत्मा' नहीं। उसी तरह 'ज्ञायते इति ज्ञानम्'—इस कर्मवाच्य व्युत्पत्ति के द्वारा भी 'आत्मा' को नहीं बताया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं अपना 'कर्म' बने, यह सम्भव नहीं है ॥ ५६ ॥ ③

हृदयस्पर्शिनी

जैसे 'जानातीति ज्ञः' इस कर्तृव्युत्पत्ति से और 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस भावव्युत्पत्ति से भी ज्ञान शब्द का वाच्य आत्मा नहीं होता, वैसे ही 'ज्ञायते अनेन' इस करणव्युत्पत्ति से और 'ज्ञायते इति ज्ञानम्' इस कर्मव्युत्पत्ति से भी ज्ञान शब्द का वाच्य आत्मा नहीं हो सकता। 'बुध्यते अनया इति बुद्धिः' इस करण व्युत्पत्ति से बुद्धि शब्द का वाच्य आत्मा नहीं है। किन्तु बुद्धि ही वाच्य है। क्योंकि कर्ता के बिना करण नहीं होता। तथा 'ज्ञायते इति ज्ञानम्' इस कर्मव्युत्पत्ति के द्वारा भी आत्मा का निरूपण नहीं किया जा सकता। बुद्धि शब्द, ज्ञान का पर्याय है। अतः 'बुध्यते अनया' अथवा 'ज्ञायते अनया'—इसके द्वारा जाना जाता है इसलिये वह ज्ञान है—ऐसी करणव्युत्पत्ति करें तो उसका कोई कर्ता होना चाहिये। किन्तु ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसका करण आत्मा हो सके। अतः करणवाच्य 'बुद्धि' या 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग भी केवल अन्तःकरण के लिये ही हो सकता है। यदि 'ज्ञायते इति ज्ञानम्'—जाना जाता है, इसलिये ज्ञान है—ऐसी कर्मव्युत्पत्ति करें तो स्वयं हो अपना कर्म बने—ऐसा संभव नहीं है। इसलिये 'आत्मा' कर्मव्युत्पत्ति का भी विषय नहीं हो सकता। यदि 'ज्ञायते अस्मिन् इति ज्ञानम्'—इसमें जाना जाता है, इसलिये वह ज्ञान है—ऐसी अधिकरण व्युत्पत्ति करें तो ज्ञात घटादि के अधिकरण भूतलादि में भी 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग होगा। यदि कहें कि ज्ञातृत्व होते हुए ज्ञेयाधार होने पर ही 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग हो सकता है तो जिस प्रकार भूतलादि में जड़ होने के कारण ज्ञातृत्व नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में कोई धर्म न होने के कारण ज्ञातृत्व का अभाव है ॥ ५६ ॥

---

* निरूप्यते०—पाठान्तरम्। 1. (कठ. उ. २।१८, ३।११, मुं. उ. १।६, नृ. उ. ९)

न येषामेक एवात्मा, निर्दुःखोऽविक्रियः सदा ।
तेषां स्याच्छब्दवाच्यत्वं, ज्ञेयत्वं चात्मनः सदा ॥५७॥

नेति—जिनके मत में 'आत्मा' एक है, सर्वदा ही निर्दुःख और निर्विकार है, उनके अनुसार आत्मा का शब्दवाच्यत्व और ज्ञेयत्व होना कदापि सम्भव नहीं है ॥ ५७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार मुख्यवृत्ति से 'आत्मा' ज्ञानादि शब्दों का वाच्य नहीं है, यह कहने पर यदि कहें कि यह तो तुम्हारे मत में भी होगा, तो उसका इष्टापत्ति के द्वारा परिहार करते हैं। जिनके मत में सर्वदा एक ही निर्दुःख और निर्विकार आत्मा है, उनके सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का शब्दवाच्य होना और ज्ञेय होना कभी संभव नहीं है। अथवा आत्मा में बताये गये मुख्य शब्दप्रवृत्ति के अभाव को ही व्यतिरेक के द्वारा बता रहे हैं—जिनके मत में एक ही अर्थात् यथानिर्दिष्ट आत्मा नहीं है, उनके मत में वह शब्द से वाच्य और ज्ञेय सर्वदा हो सकता है। क्योंकि वहाँ कर्त्रादि व्युत्पत्तियों का संभव है। किन्तु श्रौत एकात्मवाद में उसका संभव नहीं है ॥ ५७ ॥

यदाऽहंकर्तुरात्मत्वं, तदा शब्दार्थमुख्यता ।
नाशनायादिमत्वात्तु, श्रुतौ तस्यात्मतेष्यते ॥५८॥

यदेति—जब अहङ्कार को 'आत्मा' माना जाय, तभी शब्दार्थ की मुख्यता हो सकती है। किन्तु वह भूख-प्यास से युक्त है। इसलिए श्रुति के द्वारा उसका आत्मत्व नहीं माना जाता ॥ ५८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहें कि शब्दार्थ की मुख्यता के लिये आत्मा को सविकार ही मान लिया जाय, इस आशंका का उत्तर दे रहे हैं कि शब्दार्थ की मुख्यता तो तभी हो सकती है, जब अहंकार को आत्मा माना जाय। वह अहंकार तो क्षुधा-पिपासादि से युक्त है। अतः उसे श्रुति ने 'आत्मा' शब्द से नहीं कहा। 'अहं कर्ता' इस प्रकार अभिमन्यमान आकार को आत्मा कहा ही नहीं जा सकता। क्योंकि श्रुति[1] ने तो उसे अशनाया आदि से परे बताया है। अतः ज्ञान आदि शब्दों की आत्मा में साक्षात् प्रवृत्ति नहीं होती, इसीलिये आभास द्वारा उनकी प्रवृत्ति बताई गई है ॥ ५८ ॥

हन्त तर्हि न मुख्यार्थो, नापि गौणः कथंचन ।
जानातीत्यादिशब्दस्य, गतिर्वाच्या तथापि तु ॥५९॥

हन्तेति—हे भगवन्! तब तो 'जानाति' आदि शब्द का मुख्यार्थ या गौणार्थ कुछ भी सम्भव नहीं है, तथापि उसकी कोई न कोई गति तो बतानी ही होगी ॥ ५९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

शब्द के मुख्यार्थ के अभाव में गौण अर्थ भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् जानाति आदि शब्दों की आत्मा में और अन्यत्र भी मुख्यता यदि संभव नहीं है तो अन्य वृत्ति से भी आत्मा में उसकी प्रवृत्ति अनुपपन्न ही होगी। क्योंकि जो अमुख्य है उसका अन्यत्र उपचार भी संभव नहीं होता है। अतः जानाति आदि शब्द का मुख्यार्थ या गौणार्थ कुछ भी संभव नहीं है, तथापि उसकी कोई गति तो बतानी ही चाहिये ॥ ५९ ॥

शब्दानामयथार्थत्वे, वेदस्याप्यप्रमाणता ।
सा च नेष्टा ततो ग्राह्या, गतिरस्य प्रसिद्धितः ॥६०॥

शब्दानामिति—इस प्रकार शब्दों की अयथार्थता स्वीकार करने पर वेद को अप्रामाण्य प्राप्त होगा, किन्तु वह अभीष्ट नहीं है। अतः लोकप्रसिद्धि के माध्यम से ही उनकी गति समझनी चाहिए। अर्थात् लोकव्यवहार में जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध हो, वही उस शब्द का वाच्य समझना चाहिए ॥ ६० ॥ (1) लोकवेदाधिकरण - मीमांसा

१. (बृ. उ. ३।५।१)

हृदयस्पर्शिनी

यदि जानाति आदि लौकिक शब्दों की कोई गति नहीं बताई जायगी तो केवल लौकिक शब्दों की ही अप्रमाणता नहीं होगी अपितु वेद की भी अप्रमाणता सिद्ध होगी। वैदिक शब्द भी लोकसिद्ध व्युत्पत्ति की ही अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार वेद का अप्रामाण्य तो किसी को अभीष्ट नहीं है। आत्मा के विषय में तो वेद का ही प्रमाण्य सभी को अभीष्ट है। अतः वेदप्रामाण्यांगीकार के लोभ से ही इन लौकिक शब्दों की गति बतानी ही होगी। एवंच लोकप्रसिद्धि से ही उन शब्दों की गति स्वीकार करनी चाहिये। अर्थात् लोकव्यवहार में जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है, उसी को उसका अर्थ मानना चाहिये ॥ ६० ॥

प्रसिद्धिर्मूढलोकस्य यदि ग्राह्या निरात्मता।
लोकायतिकसिद्धान्तः *स चानिष्टः प्रसज्यते ॥६१॥

प्रसिद्धिरिति—यदि मूर्ख लोगों की प्रसिद्धि का स्वीकार करते हैं, तो लोकायतिक (नास्तिक) के देहात्मवाद का सिद्धान्त प्रसक्त होगा, जो किसी को अभीष्ट नहीं है ॥ ६१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वपक्षवादी ने जो ऊपर कहा कि 'जानाति' आदि शब्दों की गति को लोकप्रसिद्धि से ही समझनी चाहिये। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि लौकिक शब्दों की गति जानने के लिये प्राकृत पुरुषों की प्रसिद्धि का स्वीकार किया जाय, या पाणिनि आदि अभियुक्त (विद्वान्) की प्रसिद्धि को माना जाय? उनमें प्रथम प्रसिद्धि का खण्डन करते हैं—यदि प्राकृत (मूर्ख) पुरुषों की प्रसिद्धि को मानते हैं तो देहात्मप्रसिद्धि का भी अभ्युपगम हो जाने से नास्तिकों के अनात्मवाद का सिद्धान्त प्रसक्त होता है। किन्तु वह किसी को अभीष्ट नहीं है। क्योंकि अज्ञानी लोग तो देहादि को ही आत्मा मानते हैं ॥ ६१ ॥

अभियुक्तप्रसिद्धिश्चेत्पूर्ववद्बुद्धिविवेकता।
गतिशून्यं न वेदोऽयं, प्रमाणं संवदत्युत ॥६२॥

अभियुक्तेति—यदि अभियुक्तों (पण्डितों) के प्रसिद्ध व्यवहार का ग्रहण करते हैं, तो आत्मा और बुद्धि में किसका ज्ञातृत्व है? यह विवेक करना कठिन है। प्रमाणभूत वेद भी गतिशून्य के समान आत्मा के ज्ञातृत्व का अनुवाद नहीं कर सकता ॥ ६२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

द्वितीय पक्ष का अनुवाद करके उसका भी उत्तर दे रहे हैं—यदि पाणिनि आदि विद्वानों की प्रसिद्धि का स्वीकार करते हैं तो पूर्ववत् (आत्मा और बुद्धि इनमें से किसका ज्ञातृत्व है इस बात का) विवेक करना कठिन है, क्योंकि पूर्वोक्त दोषों की प्रसक्ति होगी। यदि कहें कि गतिशून्य के समान आत्मा के ज्ञातृत्व का अनुवाद वेद करेगा, तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि वेद प्रमाण हैं, अतः प्रमाणभूत वेद आत्मा के ज्ञातृत्व का गतिशून्य के समान अनुवाद नहीं कर सकता ॥ ६२ ॥

†आदर्शमुखसामान्यं मुखस्येष्टं हि मानवैः।
मुखस्य प्रतिबिम्बो हि मुखाकारेण दृश्यते ॥६३॥

आदर्श इति—शीशे में प्रतिफलित हुए मुख के साथ अपने ग्रीवास्थ मुख की समानता समझते हैं। मुख के प्रतिबिम्ब को ही अपने मुख के रूप में देखते हैं ॥ ६३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

लौकिक 'जानाति' आदि शब्दों की गति लगाने की पद्धति को बता रहे हैं। चिदात्मा में ही 'जानाति' आदि शब्दों का औपाधिक प्रयोग संभव हो सकता है, उसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं। लोग दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख के साथ ग्रीवास्थ मुखबिम्ब की समानता (एकता) समझते हैं, किन्तु वहाँ मुख का प्रतिबिम्ब ही मुख के रूप में देखा

* सा चानिष्टा० —पाठान्तरम्। † आदर्श० —पाठान्तरम्।

आता है। तात्पर्य यह है कि आदर्श में जो मुख का प्रतिबिम्ब देखते हैं, वह औपाधिक है और वह ग्रीवास्य मुख से सर्वथा भिन्न है। तथापि उससे एकता (समानता) होने के कारण लोगों को 'यह मेरा मुख है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी प्रकार यद्यपि आत्मा और आत्माभास परस्पर भिन्न हैं, तथापि उनका विवेक न होने के कारण साधारण लोगों को 'आत्माभास' में ही आत्मत्व का भ्रम होता है, जिससे वे लोग आत्मा में उसके कर्तृत्वादि का आरोप करते रहते हैं ॥ ६३ ॥

यत्र यस्यावभासस्तु, तयोरेवाविवेकतः ।
जानातीति क्रियां सर्वो, लोको वक्ति स्वभावतः ॥६४॥

यत्रेति—जिसमें जिसका अवभास होता है, उन दोनों पदार्थों के अविवेक से ही सब लोग स्वाभाविक रूप से 'जानाति' आदि क्रिया का प्रयोग किया करते हैं ॥ ६४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जैसे कल्पित मुख और वास्तविक मुख दोनों के परस्पर अविवेक से 'मलिनं मुखं, अल्पं मुखं, वक्रं मुखं' आदि औपाधिक व्यवहार होते हैं, उसी तरह आत्मा में भी ज्ञातृत्वादि व्यपदेश (व्यवहार) उपाधि-निबन्धन ही है। अर्थात् चिदाभास की उपाधिरूप बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्मों का आत्मा में आरोप किया जाता है ॥ ६४ ॥

बुद्धेः कर्तृत्वमध्यस्य, जानातीति ज्ञ उच्यते ।
तथा चैतन्यमध्यस्य, ज्ञत्वं बुद्धेरिहोच्यते ॥६५॥

बुद्धेरिति—बुद्धि के कर्तृत्व का आत्मा में अध्यास (आरोप) करके ही 'आत्मा जानता है'—यह कहा जाता है, और बुद्धि में चैतन्य का अध्यास (आरोप) करके उसका 'ज्ञत्व' (ज्ञानवत्त्व) कहा जाता है ॥ ६५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अवभास, आभास, प्रतिबिम्बभाव ये सभी समानार्थक हैं। इनके द्वारा आत्मा-अनात्मा के अन्योन्य धर्माध्यास से 'जानाति' आदि शब्दों का व्यवहार होता रहता है। बुद्धि और आत्मा का परस्पर तादात्म्याध्यास होने पर अन्योन्य धर्मों का संकर होने से 'आत्मा जानाति', 'अहं जानामि' आदि व्यवहार होते हैं। आत्मा तो चेतन है और बुद्धि जड़ है। आत्मा में जड़ बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्म का आरोप करके उसे 'जानाति' शब्द द्वारा 'ज्ञ' कहा जाता है। उसी तरह बुद्धि में आत्मचैतन्य का अध्यास (आरोप) होता है, इस कारण उसे भी 'ज्ञ' कहा जाता है ॥ ६५ ॥

स्वरूपं चात्मनो ज्ञानं, नित्यं ज्योतिःश्रुतेर्यतः ।
न बुद्धया क्रियते तस्मान्नात्मनाऽन्येन वा सदा ॥६६॥

स्वरूपमिति—'ज्ञान' आत्मा का स्वरूप है। इसलिये वह नित्य है। क्योंकि श्रुति ने उसे (आत्मा को) स्वयंज्योति कहा है। अतः बुद्धि के द्वारा आत्मा में 'ज्ञान' को उत्पन्न नहीं किया जाता, और उसी तरह आत्माके द्वारा अथवा अन्य किसी इन्द्रिय आदि के द्वारा भी उसको उत्पन्न नहीं किया जाता ॥ ६६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहें कि बुद्धि आदि के द्वारा तो आत्मा में ज्ञान उत्पन्न किया जाता है, तब यह कैसे कह रहे हैं कि आत्मचैतन्य का बुद्धि में आरोप (अध्यास) किया जाता है? इसका समाधान यह है कि बृहदारण्यक श्रुति[1] ने बताया है—'ज्ञान' आत्मा का स्वरूप है। इसी को बताने वाली अन्यान्य श्रुतियाँ[2] भी हैं। अतः ज्ञान नित्य है। इससे यह प्रतीत होता है कि बुद्धि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जाता। तथा आत्मा या अन्य किसी चक्षुरादि के द्वारा भी उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ६६ ॥

१. "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः"—(बृ. उ. ४।४।१६)

२. "आत्मैवास्य ज्योतिः"—(बृ. उ. ४।३।६), "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः"—(बृ. उ. ४।३।९), "साक्षी चेता—(श्वे. उ. ६।११)

देहेऽहंप्रत्ययो यद्वज्जानातीति च लौकिकाः ।
वदन्ति ज्ञानकर्तृत्वं, तद्वद्बुद्धेस्तथात्मनः ॥६७॥

देह इति—बुद्धि और आत्मा दोनों में दोनों का परस्पर अध्यास होता है, उस कारण ज्ञातृत्वादि व्यवहार होता रहता है। एक दृष्टान्त से यह समझ में आ सकता है—जिस प्रकार प्राकृत पुरुषों को देह (शरीर) में 'अहम्' प्रत्यय होता है, उसके होने से ही वे पुरुष अपने को मोटा, दुबला, गोरा, सांवला, काला, रोगी, स्वस्थ आदि समझते रहते हैं। उसी प्रकार लौकिक पुरुष 'बुद्धि' में आत्मत्व का अध्यास करके 'जानाति' शब्द से बुद्धि में ज्ञानकर्तृत्व का प्रदर्शन करते हैं और बुद्धि के कर्तृत्व का 'आत्मा' में आरोप करके उसे ज्ञानाश्रय कहा करते हैं ॥ ६७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

बुद्धि और आत्मा के अन्योन्यधर्माध्यास से ही ज्ञातृत्व, कर्तृत्वादि व्यवहार होता है, यह बता चुके हैं। उसी में दृष्टान्त दे रहे हैं—जैसे घट आदि का रूपादिमत्त्वेन व्यवहार होता है, वैसे ही यह देह अहम्प्रत्यय के योग्य न होते हुए भी उसमें चेतना का अध्यास करके साधारण लोग देह में ही अहम्प्रत्यय करते हैं, और उसी के कारण वे अपने को कृश, स्थूल, गौर, श्याम, रोगी, निरोग आदि समझते हैं। उसी प्रकार बुद्धि जड़ होने से उसमें ज्ञातृत्व की योग्यता न रहने पर भी, चिदाभास की व्याप्ति के कारण ज्ञातृत्व का आरोप किया जाता है और 'जानामि' कहकर ज्ञानकर्तृत्व प्रदर्शित करते हैं। उसी प्रकार बुद्धि के कर्तृत्व का आत्मा में आरोप कर आत्मा को भी ज्ञानाश्रय कह देते हैं। वस्तुतः आत्मा तो अविकारी (विकाररहित) है और चित्त (बुद्धि) विकारी (विकार सहित) है, किन्तु साधारण लोगों को उन दोनों में विवेक न हो पाने से वे लोग आत्मा को ही विकारी समझते हैं और कहते भी हैं। तात्पर्य यह है कि शास्त्रसंस्कार से रहित लोग 'देवदत्तो जानाति मनुते' इस प्रकार देह को ही ज्ञाता समझते हैं। वैसे ही बुद्धि में ज्ञानकर्तृत्व (बुद्धि ज्ञान की कर्त्री है, ऐसा) कहते हैं और आत्मा को ज्ञान का आश्रय तथा विकारवान् (विकारी) कहते हैं ॥ ६७ ॥

बौद्धैस्तु प्रत्ययैरेवं, क्रियमाणैश्च चित्प्रभैः ।
मोहिताः क्रियते ज्ञानमित्याहुस्तार्किका जनाः ॥६८॥

बौद्धैरिति—चेतन के समान प्रतीत होने वाली बुद्धि से प्रत्यय (वृत्तिविशेष) उत्पन्न होते रहते हैं। उन उत्पद्यमान प्रत्ययों से मोहित हुए तार्किक (नैयायिक) लोग आत्मा से 'ज्ञान' का उत्पन्न होना समझने लगते हैं। आत्मा तो नित्य ज्ञानस्वरूप ही है। चिदाभासविशिष्ट बुद्धि से वृत्तिज्ञानों की उत्पत्ति होती है। किन्तु तार्किक लोग इस रहस्य को नहीं समझ पाते ॥ ६८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पुनरपि शंका होती है कि तार्किक लोग ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश को देखकर आत्मा के द्वारा ज्ञान का किया जाना (उत्पन्न होना) बताते हैं, तब ज्ञान को नित्य समझकर उसे आत्मस्वरूप कैसे कहा जाय ? समाधान यह है कि चेतन के तुल्य प्रतीयमान बुद्धि के उत्पद्यमान प्रत्ययों से मोहित हुए तार्किक लोग 'ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा कहते हैं। आत्मा तो नित्यज्ञानस्वरूप है। जब बुद्धि में आत्मा का प्रकाश पड़ता है, तब वह चेतन के समान प्रतीत होने लगती है और उसी से घटाकार-पटाकार ज्ञान जैसे वृत्तियों (ज्ञानों) की उत्पत्ति होती रहती है। बुद्धि और आत्मा के परस्पराध्यास से ही यह सब खेल होता है। किन्तु तार्किक लोग (नैयायिक गण) ऐसा न मानकर उस वृत्तिज्ञान को आत्मकर्तृक ही समझते हैं। वे यह नहीं सोच पाते कि यदि आत्मा में कर्तृत्वादि विकार माना जायगा तो आत्मा को अनित्य कहना पड़ेगा। अतः इन तार्किकों को अध्यास से मोहित हुए ही समझना चाहिये। कर्तृत्वादि धर्म तो चिदाभासविशिष्ट बुद्धि के ही हैं। जिस प्रकार एक ही अखण्ड आकाश घटादि से नाना प्रतीत होता है, उसी प्रकार बुद्धिरूप उपाधि के कारण (अनेकविध वृत्तिज्ञान के कारण) एक ही नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा विभिन्न-सा जान पड़ता है ॥ ६८ ॥

तस्माज्ज्ञाभासबुद्धीनामविवेकात्प्रवर्तिताः ।
जानातीत्यादिशब्दश्च, प्रत्ययो यश्च तत्स्मृतिः ॥६९॥

तस्मादिति—अतः यह निश्चित रूप से समझना होगा कि 'चेतन' (ज्ञ), चिदाभास, और बुद्धि इन तीनों का विवेक न हो पाने से ही 'जानाति' इत्यादि शब्द, तद्विषयक ज्ञान, और उसकी स्मृति हुआ करती हैं ॥ ६९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इसलिये चेतन, चिदाभास, बुद्धि इन तीनों के अविवेक के कारण ही 'जानाति' आदि शब्द, तद्विषयक ज्ञान, और उसकी स्मृति की प्रवृत्ति हुई है। आत्मा की जो कूटस्थता है, वह प्रमाण से सिद्ध है। किन्तु उसका विकारित्व प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जब कि ज्ञान में आत्मस्वरूपता का श्रवण होता है, अतः वह तो नित्य ही है। उसे किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता। बुद्धिसंसर्ग हुए बिना आत्मा में ज्ञातृत्व की उपलब्धि नहीं हो पाती, क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञातृत्व की उपलब्धि नहीं होती है। बुद्धि की उपलब्धि भी आत्मा से भिन्न आकार में नहीं होती। इस कारण आत्मा, बुद्धि, तत्स्थ आभास. इन तीनों का विवेकग्रह न होने से यथाप्रसिद्ध बुद्धि और आत्मा के व्यावहारिक एकत्व का ग्रहण कर 'जानाति' आदि शब्दों का व्यवहार उपपन्न होता है। कोई भी अन्य आलम्बन परमार्थतः मुख्य नहीं है ॥ ६९ ॥

आदर्शानुविधायित्वं, छायाया अस्यते मुखे ।
बुद्धिधर्मानुकारित्वं, ज्ञाभासस्य तथेष्यते ॥७०॥

आदर्शेति—मुखाभास में दर्पण का अनुविधायित्व रहता है और उसका मुख में आरोप करते हैं, वैसे ही बुद्धि के धर्मों का अनुकरण करने वाला जो चिदाभास है, उसका चेतन में आरोप किया जाता है ॥ ७० ॥

हृदयस्पर्शिनी

ज्ञ, आभास और बुद्धि के अविवेक से जो समस्त व्यवहार चलता है, वह पारमार्थिक नहीं है, इसे दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—जिस प्रकार छाया में (मुखाभास अर्थात् प्रतिबिम्ब में) दर्पण का अनुवर्तन रहता है, उसी का मुख में आरोप किया जाता है। उसी प्रकार बुद्धि के धर्मों का अनुकरण करने वाले अध्यस्त चिदाभास को भी चेतन में अध्यस्त मानकर व्यवहार किया जाता है ॥ ७० ॥

बुद्धेस्तु प्रत्ययास्तस्मादात्माभासेन दीपिताः ।
ग्राहका इव भासन्ते, दहन्तीवोल्मुकादयः ॥७१॥

बुद्धेरिति—अग्नि से व्याप्त हुआ अंगार, दाहक के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार चिदाभास से प्रकाशित होने वाले बुद्धि के प्रत्यय, प्रकाशकर्ता के रूप में जान पड़ते हैं ॥ ७१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जिस प्रकार उल्मुक (जलती हुई लकड़ी, अंगार) आदि अग्नि से व्याप्त होने के कारण जलाते हुए से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार चिदाभास के द्वारा प्रकाशित हुए बुद्धि के परिणामरूप प्रत्यय प्रकाशकर्ता की तरह प्रतीत होते हैं ॥ ७१ ॥

स्वयमेवावभास्यन्ते, ग्राहकाः स्वयमेव च ।
इत्येवं ग्राहकास्तित्वं, प्रतिषेधन्ति सौगताः ॥७२॥

स्वयमिति—ग्राहक (ज्ञान) स्वयं ही प्रकाशित होते हैं और वे स्वयं ही प्रकाशरूप हैं—यह कहनेवाले बौद्ध विद्वान् प्रत्यय (ज्ञान) के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकाशक के अस्तित्व (सत्ता) का निषेध करते हैं ॥ ७२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आभास से विविक्त (पृथक्) पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान न होने से जैसे तार्किकों को व्यामोह होकर वे 'ज्ञानं क्रियते' कहते हैं, उसी प्रकार बौद्धों को भी 'बुद्धि से व्यतिरिक्त (पृथक्) अन्य कोई ग्राहक नहीं है', इस प्रकार का व्यामोह

ही है। ग्राहक (प्रत्यय=ज्ञान) स्वयंप्रकाश होता हैं अर्थात् ज्ञानमात्र स्वयं प्रकाशित होते हैं और वे स्वयं भी प्रकाशरूप हैं, ऐसा बौद्ध कहते हैं और वे प्रत्यय (विज्ञान) से भिन्न किसी अन्य प्रकाशक (ग्राहक) की सत्ता का निषेध करते हैं।। ७२ ॥

यद्येवं नान्यदृश्यास्ते, किं तद्वारणमुच्यताम् ।
भावाभावौ हि तेषां यौ, नान्यग्राह्यौ सता यदि ॥७३॥

यदीति—**बौद्ध विद्वान् यदि ऐसा कहते हैं कि वे प्रत्यय (विज्ञान) समूह किसी अन्य के दृश्य नहीं हैं, तो यह बताओ कि उसका निवारण कैसे किया जाय ? उसके उत्तर में कहते हैं कि उन प्रत्ययों के उत्पत्ति और विनाश यदि किसी अन्य स्वतःसिद्ध साक्षी से ग्राह्य नहीं हैं तो भी उन्हें चिदाभास से ग्राह्य समझने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ७३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्ययों (ज्ञानों) के ग्राहक के रूपमें किसी अन्य स्थिर पदार्थ को न मानकर प्रत्यय (ज्ञान) को ही ग्राह्य और ग्राहक के आकार में बौद्ध मानते हैं, तो उनका मत अनुभवानुसारी होने से आभास का अभ्युपगम न करने में उनका निराकरण किस प्रकार करना चाहिये ? इस आशय से अपने यूथ्य से पूछते हैं—यदि बौद्ध लोग यह कहते हैं कि प्रत्यय (ज्ञान) किसी अन्य के दृश्य नहीं हैं, तो उनके इस कथन का किस प्रकार से निषेध किया जाय ? ऐसा पूछने पर यूथ्य ने उत्तर दिया कि उन प्रत्ययों के जो भाव और अभाव (उत्पत्ति और विनाश) हैं, वे यद्यपि किसी अन्य स्वतःसिद्ध साक्षी से सर्वदा ग्राह्य नहीं होते, तथापि जिसमें प्रत्ययों के भावाभाव होते हैं, उनका ग्राहक 'सोऽहम्' इस प्रत्यभिज्ञान के बल से अन्वयी स्थायी आत्मा सिद्ध हो जाता है, तो आभासकी कल्पना करने की क्या आवश्यकता ? अर्थात् उन्हें चिदाभास से ग्राह्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ७३ ॥

अन्वयी ग्राहकस्तेषामित्येतदपि तत्समम् ।
***अचितित्वस्य तुल्यत्वादन्यस्मिन् ग्राहके सति ॥७४॥**

अन्वयीति—**उन ग्राह्यों का ग्राहक यदि किसी स्थायी को माना जाय तो वह भी उन ग्राह्य प्रत्ययों के समान जड़ ही होगा, क्योंकि उस स्थायी ग्राहक का कोई अन्य ग्राहक रहने पर उसका जड़त्व (अचेतनत्व) भी उन प्रत्ययों के समान ही है ॥ ७४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार स्वयूथ्य के द्वारा कहे जानेपर सिद्धान्ती सोचता है कि इतने मात्र उत्तर से बौद्धमत का निवारण होना शक्य नहीं है, अतः पूर्वोक्त उत्तर में दोषप्रदर्शन कर रहे हैं। प्रत्यभिज्ञा के बलपर किसी स्थायी ग्राहक को सिद्ध करने पर भी उन प्रत्ययों के तुल्य वह भी जड़ ही कहा जायगा, क्योंकि उसका कोई अन्य ग्राहक होनेपर उसका अचेतनत्व भी प्रत्ययों के समान ही होगा। बौद्धलोग विषय और उसके ग्राहक दोनों को ही विज्ञानरूप मानते हैं। उनके इस मतका खण्डन करते हुए यह बताया जा रहा है कि जो लोग केवल बुद्धि और कूटस्थ चेतन की ही सत्ता स्वीकार करते हैं, उनका मत भी समीचीन नहीं है। बुद्धि के प्रत्ययों को ग्रहण करनेवाली वस्तु या तो स्वयंप्रकाश होगी या परप्रकाश्य होगी। यदि वह परप्रकाश्य है तो जड़ होने के कारण वह प्रत्ययों का प्रकाशन नहीं कर सकती, और यदि किसी प्रकार उसमें ऐसा सामर्थ्य माना भी जाय, तो यह प्रश्न होगा कि जिससे वह प्रकाशित होती है, वह वस्तु परप्रकाश्य है या स्वयंप्रकाश ? यदि उसे भी परप्रकाश्य कहें तो अनवस्था दोष उपस्थित होता है। और यदि स्वयंप्रकाश कहते हैं तो साक्षी चेतन की सत्ता सिद्ध होती है। इस श्लोक में परप्रकाश्य वस्तु के प्रकाशक का खण्डन करने के बाद उन लोगों के मत का खण्डन करते हैं, जो साक्षी चेतन की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, किन्तु चिदाभास को मानने की आवश्यकता नहीं समझते ॥ ७४ ॥

अध्यक्षस्य समीपे तु सिद्धिः स्यादिति चेन्मतम् ।
नाध्यक्षेऽनुपकारित्वादन्यत्रापि प्रसङ्गतः ॥७५॥

* अचित्त्वस्यापि तु० —पाठान्तरम् ।

अध्यक्षस्येति—यदि यह कहें कि साक्षी चेतन के सन्निध रहने मात्र से प्रत्ययों का प्रकाशन हो जायगा, चिदाभास की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि अध्यक्ष में अर्थात् निर्विकार कूटस्थ साक्षी में उपकारित्व की सम्भावना नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें उपकारित्व को मानने पर अन्यत्र लोष्ठकाष्ठादि में भी प्रत्ययप्रकाशकत्व मानना होगा, क्योंकि साक्षी की सन्निधि तो सर्वत्र समान ही है।। ७५ ।।

हृदयस्पर्शिनी

यदि यह कहें कि स्वप्रकाश साक्षी के न रहने पर प्रत्ययों का भावाभाव (उत्पत्ति-विनाश) नहीं हो पायेगा, तो साक्षी के सान्निध्यमात्र से ही प्रत्ययों का भावाभाव (प्रकाशनादि) का होना उपपन्न हो जायगा, तब आभास (चिदाभास) को मानने की क्या आवश्यकता? किन्तु यह शंका उचित नहीं प्रतीत हो रही है। क्योंकि निर्विकार कूटस्थ साक्षी में किसी प्रकार के उपकारकत्व की संभावना नहीं हो सकती। यदि हठात् उसमें उपकारकत्व धर्म को स्वीकार करें तो उसकी सन्निधि सभी के साथ समान रहने से काष्ठ-लोष्ठादि में भी प्रत्ययप्रकाशन का सामर्थ्य मानना होगा ।। ७५ ।।

अर्थी दुःखी च यः श्रोता,स त्वध्यक्षोऽथवेतरः ।
अध्यक्षस्य च दुःखित्वमर्थित्वं च न ते मतम् ।।७६।।

अर्थीति—इसी प्रसंग में एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि मुमुक्षु, जो अर्थी कहलाता है, वह संसार के दुःखों से दुःखी हुआ जो गुरूपदेश का श्रोता है, वह कौन है? क्या वह बुद्धि है? साक्षी है? अथवा कोई अन्य है? तुम्हें अध्यक्ष का यानी साक्षी का दुःखित्व और मुमुक्षुत्व तो मान्य नहीं है ।। ७६ ।।

दयस्पर्शिनी

आभास के न मानने पर बौद्ध मत की समानता के दोष का परिहार नहीं हो सकेगा, यह कहने पर शास्त्रीय बन्ध-मोक्ष व्यवहार भी नहीं हो पायगा। मोक्ष की इच्छा करने वाला और सांसारिक दुःखों से दुःखी हुआ जो गुरूपदेश का श्रोता है, वह कौन है? जो श्रोता है, वही अध्यक्ष है या उससे अन्य और कोई है? प्रथम कल्प (पक्ष) में तुम्हारे निरनुग्रहाध्यक्षवादी सिद्धान्त का भंग हो जायगा, अर्थात् तुम्हें साक्षी का दुःखित्व और मुमुक्षत्व तो स्वीकार है नहीं। आत्माभास का अंगीकार न करने वाले तुम्हारे मत में द्वार न होने से अविद्यातत्कार्य सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होगी, उसके बिना मोक्षार्थित्व भी सिद्ध नहीं होगा, अर्थात् आभास के स्वीकार करने का प्रसंग प्राप्त होगा ।। ७६ ।।

कर्ताध्यक्षः सदस्मीति, नैव सद्ग्रहमर्हति ।
सदेवासीति मिथ्योक्तिः, श्रुतेरपि न युज्यते ।।७७।।

कर्तेति—'मैं कर्ता और साक्षी सत् हूँ'—यह कहने से 'आत्मा' का, 'सत्' शब्द से निर्दिष्ट जो 'ब्रह्म' है, उस रूप से ग्रहण नहीं हो सकता, और 'तू सत् ही है'—इस वेदवचन को तो मिथ्या कहना भी उचित नहीं है। इसलिये शुद्ध चेतन में कर्तृत्व, दुःखित्व तथा अर्थित्वादि विकारी धर्मों का होना संभव नहीं हो सकता ।। ७७ ।।

हृदयस्पर्शिनी

द्वितीय कल्प को दूषित करते हैं—'मैं कर्ता और साक्षी सत् हूँ' ऐसा स्वीकार करने से आत्मा का 'सत्' शब्द से निर्दिष्ट हुए ब्रह्मरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। और 'तू सत् ही है' यह श्रुतिवाक्य भी मिथ्या नहीं माना जा सकता। अतः शुद्ध चेतन में कर्तृत्व, दुःखित्व एवं अर्थित्वादि विकारी धर्मों का होना असंभव है। क्योंकि एक ही वस्तु एक साथ 'कर्ता' और 'साक्षी' नहीं होती है। ये दोनों धर्म परस्परविरुद्ध हैं। एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्मों का एक साथ रहना संभव नहीं है। कर्ता कर्तृत्वधर्म से युक्त होने से विकारी होता है, किन्तु साक्षी कर्तृत्वादि धर्म से रहित होता है ।। ७७ ।।

अविविच्योभयं वक्ति, श्रुतिश्चेत्स्याद्ग्रहस्तथा ।
अस्मदस्तु विविच्यैव, त्वमेवेति वदेद्यदि ।
प्रत्ययान्वयिनिष्ठत्वमुक्तदोषः प्रसज्यते ।।७८।।

अविविच्येति—आत्मा और अहङ्कार दोनों का विवेक न करके यदि श्रुति ऐसा कहती है तो उक्त वाक्य के अर्थ का ग्रहण हो सकता है, और यदि अहमर्थ (शुद्ध चेतन) से अहंकार का विवेक करके उसके विषय में 'तत् त्वमसि तू वह (ब्रह्म) है, इस प्रकार श्रुति, यदि ब्रह्म का अहङ्कारनिष्ठत्व बताती है तो उक्त दोष (मिथ्याभावण का दोष) का प्रसङ्ग प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

चिदाभास के अनभ्युपगमपक्ष में बन्ध-मोक्ष की अनुपपत्ति बताकर अपने पक्ष में उसकी उपपत्ति बताते हैं। यदि श्रुति, आत्मा और अहंकार दोनों का विवेक न करके ऐसा कहती है, तब तो इस वाक्य के अर्थ का ग्रहण हो सकता है। 'तत्त्वमसि' तू ब्रह्म है—इस प्रकार का श्रुति का कथन चिदाभास के द्वारा आत्मा और अहंकार का अविवेक होने पर ही सार्थक हो सकता है। क्योंकि संसारदुःख से दुःखी हुआ अहंकार ही मोक्ष की इच्छा कर सकता है और आत्मज्ञान द्वारा उसी का मोक्ष होना संभव हो सकता है। यदि अहमर्थ (शुद्ध चेतन) से अहंकार का विवेक कर उसके विषय में 'तू वह (ब्रह्म) है' इस प्रकार ब्रह्म का अहंकारनिष्ठत्व श्रुति ने बताया हो तो उपर्युक्त मिथ्या भाषण का दोष आता है। तात्पर्य यह है कि यदि 'आत्मा' शब्द से अहंकार को मानकर उसे ब्रह्मरूप कहते हैं तो श्रुति को मिथ्या कहना पड़ेगा। अतः श्रुति का यह 'तत्त्वमसि' उपदेश उसी के लिये है, जिसने अध्यास के द्वारा अविवेकवशात् अहंकार के दुःखित्वादि का आत्मा में आरोप किया है। अर्थात् सांख्य का कहना है कि अहंकार को ही श्रोता मान लिया जाय तो आत्माभास के स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? उसपर कहते हैं कि यदि श्रुतिवाक्य प्रत्यक्चैतन्य से अहंकार को, पाते से गन्ने के समान पृथक् करके केवल अहंकार को 'तू ही ब्रह्म है' इस प्रकार श्रुतिद्वारा आचार्य यदि कहें, तब तो 'तत्त्वमसि' श्रुति के अहंकारनिष्ठ होने से मिथ्यावादित्व का दोष प्रसक्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं ॥ ७८ ॥

त्वमित्यप्यक्षनिष्ठश्चेदहमध्यक्षयोः कथम् ।
सम्बन्धो वाच्य एवात्र, येन त्वमिति लक्षयेत् ॥७९॥

त्वमिति—'त्वम्' पद अहङ्कार का वाचक होने पर भी उसे साक्षीपरक भी यदि स्वीकार कर लिया जाय तो यह बताना होगा कि साक्षी और अहङ्कार का सम्बन्ध किस प्रकार का है, जिससे कि 'त्वम्' पद 'साक्षी' को लक्षित कर सकेगा ॥ ७९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अहङ्कर्तृविषयक 'त्वं' शब्द से अध्यक्ष (साक्षी) लक्ष्यमाण होने से यह अहङ्कर्तृविषयक उपदेश तो अध्यक्ष (साक्षी) में ही पर्यवसित होगा, आभास को मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का समाधान कर रहे हैं—यदि यह कहें कि 'त्वं' यह पद अहंकारवाचक होकर अध्यक्ष को बोधित करता है, तथापि अहंकार और अध्यक्ष दोनों के सम्बन्धग्रह के बिना वाक्यार्थबोध का होना संभव नहीं। अहं और अध्यक्ष का सम्बन्ध तो बताना ही होगा। जिस संबंध से त्वं-पद अध्यक्ष को लक्षित कर सके; वह सम्बन्ध कैसे उपपन्न होगा ? अतः सम्बन्ध बताना आवश्यक है ॥ ७९ ॥

द्रष्टृदृश्यत्वसम्बन्धो , यद्यध्यक्षेऽक्रिये कथम् ॥८०॥

द्रष्टृति—यदि दोनों का 'द्रष्टृ-दृश्यत्व' सम्बन्ध कहा जाय तो साक्षी में उस सम्बन्ध का ग्रहण कैसे होगा ? क्योंकि वह अक्रिय है ॥ ८० ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस पर यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'हाँ, सम्बन्ध है', तो उसकी शंका को दूर करते हैं। यदि अहंकार और अध्यक्ष (साक्षी) का द्रष्टृ-दृश्यत्वरूप सम्बन्ध कहें तो वह भी संभव नहीं है। क्योंकि साक्षी (अध्यक्ष) तो विकाररहित (निर्विकार) है, उस कारण उसमें सम्बन्धग्रहणकर्तृत्वरूप धर्म (विकार) नहीं रह सकता। तथा अहंकार जड़ हैं, उस कारण वह भी उस सम्बन्ध का ग्रहण नहीं कर सकता। अतः उक्त सम्बन्ध अनुपपन्न है ॥ ८० ॥

*अक्रियत्वेऽपि तादात्म्यमध्यक्षस्य भवेद्यदि ।
आत्माध्यक्षो ममास्तीति सम्बन्धाग्रहणे न धीः ॥८१॥

अक्रियत्वे इति—**यदि यह कहें कि साक्षी चेतन (अध्यक्ष) के अक्रिय होने पर भी उसका अहङ्कार के साथ तादात्म्य का उपदेश श्रुति करती है, तो सम्बन्ध का ग्रहण न होने पर 'मेरा आत्मा साक्षी है'—यह बुद्धि भी नहीं होगी ॥ ८१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वोक्त रीति के अनुसार सम्बन्धग्रहण भले ही न हो, अर्थात् सम्बन्धग्रहण का कर्तृत्वरूप विकार साक्षी में न रहने पर भी अहंकार के साथ साक्षी के तादात्म्यसम्बन्ध का उपदेश तो श्रुति ने किया ही है। अतः सम्बन्ध का ग्रहण यदि नहीं मानेंगे तो 'मेरा आत्मा साक्षी है, यह बुद्धि कैसे उपपन्न हो सकेगी ? जैसे लोकव्यवहार में 'घटस्य शौक्ल्यम्'-घट की शुक्लता कहने पर घट और शुक्लता का सम्बन्ध यदि न जाना जाय तो दोनों के तादात्म्य का ज्ञान होना संभव नहीं, वैसे ही 'ममात्मा अध्यक्षः अस्ति'—मेरा आत्मा साक्षी है, यहाँ पर भी अपना और आत्मा दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान हुए बिना दोनों में तादात्म्य बुद्धि कैसे हो पायेगी ॥ ८१ ॥

सम्बन्धग्रहणं शास्त्रादिति चेन्मन्यसे न हि ।
पूर्वोक्ताः †स्युस्त्रिधा दोषा, ग्रहो वा स्यान्ममेति च ॥८२॥

सम्बन्धेति—**यदि यह कहें कि उनके सम्बन्ध का ज्ञान तो शास्त्र से ही हो जायगा, तो पूर्वोक्त तीन दोष (१-अहंकार जड़ है, २-साक्षी निर्विकार है, ३-जड़ के प्रति श्रुति का बोधकत्व सिद्ध नहीं होना) प्राप्त होंगे। तथा उसका ग्रहण भी 'मेरा आत्मा साक्षी है' इस प्रकार से ही हो सकेगा, यानी 'मैं साक्षी हूँ' ऐसा नहीं हो सकता ॥ ८२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहें कि दोनों के (अहंकार और साक्षी) के सम्बन्ध का ज्ञान "एष म आत्मान्तर्हृदये अणीयान्"[1], "एष म आत्मान्तर्हृदये एतद्ब्रह्म"[2] इस शास्त्र से ही हो जायगा, तो पूर्वोक्त तीन दोष उपस्थित होंगे। (१) अहंकार तो जड़ है, अतः उससे सम्बन्ध का ग्रहण नहीं किया जा सकता। (२) आत्मा (साक्षी) निर्विकार है, इस कारण वह भी सम्बन्ध का ग्रहण नहीं कर सकता। (३) जड़ (अहंकार) के प्रति श्रुति का बोधन करना (बोधक होना) संभव नहीं। यदि कथंचित् सम्बन्धग्रहण की कल्पना कर भी लें तो भी तादात्म्याध्यास को न मानने के कारण 'एष म आत्मान्तर्हृदये अणीयान् ······· एतद् ब्रह्म"—यह मेरा सूक्ष्म आत्मा हृदय के अन्तर्गत है, यह ब्रह्म है,—इस श्रुति वाक्य में 'मेरा आत्मा' ऐसा पद होने के कारण 'मैं साक्षी हूँ' यह ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु 'मेरा आत्मा साक्षी है' इस प्रकार ही हो सकता है। श्लोक गत 'च' से प्रतीत होता है कि 'ममाध्यक्षः अस्ति' यह ग्रहण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अहंकार तो जड़ है ॥ ८२ ॥

अदृशिर्दृशिरूपेण, भाति बुद्धिर्यदा तदा ।
प्रत्यया अपि तस्याः स्युस्तप्तायोविस्फुलिङ्गवत् ॥८३॥

अदृशिरिति—**चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से जब अचेतन बुद्धि भी चेतन के समान प्रकाशयुक्त होती है, तो तप्त हुए लोहे के विस्फुलिङ्गों के समान उसकी वृत्तियाँ भी चेतनरूप हो जाती हैं ॥ ८३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का परपक्ष में सम्बन्ध ही नहीं बन सकता, यह बताकर अब अपने पक्ष में मिथ्या तादात्म्यसम्बन्ध की उपपत्ति को बताते हैं, क्योंकि जड़ (अचेतन) बुद्धि, चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसके

१. (छा. उ. ३।१४।३)
२. (छा. उ. ३।१४।४)
* अक्रियस्वेऽपि०—पाठान्तरम्। † स्युस्त्रयो०—पाठान्तरम्।

(चेतन के) समान दृशिरूप से (प्रकाशयुक्त) भासित होती है। अतः अति सन्तप्त हुए लोहे के स्फुलिगों के (चिनगारियों के) समान उसकी (बुद्धि की) वृत्तियाँ भी चेतनरूप हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि दाह करना अग्नि का कार्य है, किन्तु जिस समय अयःपिण्ड में अग्नि का तादात्म्य हो जाता है, तब 'अयो दहति'—लोहा जलाता है, ऐसा कहते हैं। उसी प्रकार चिदाभास से व्याप्त हुई बुद्धि की जो वृत्तियाँ हैं, उनमें जो ज्ञानकर्तृत्व है, वह चिदाभास का ही धर्म है, बुद्धि में तो अविवेक के कारण उसका आरोप मात्र किया जाता है ॥ ८३ ॥

आभासस्तदभावश्च, दृशेः सीम्नो न चान्यथा।
लोकस्य युक्तितः स्यातां, तद्ग्रहश्च तथा सति ॥८४॥

आभास इति—**समस्त वस्तुओं की अवधि 'आत्मा' ही है। उस अवधिभूत आत्मा के प्रति लोक का आभास तथा अभाव का होना युक्ति से सिद्ध हो सकता है, उसकी सिद्धि अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में ही 'मैं हूँ' इस प्रकार 'आत्मा' का ग्रहण हो सकता है ॥ ८४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस पक्ष में लौकिक-वैदिक व्यवहार की सिद्धि भी सहज उपपन्न हो पाती है। सबके अवधिभूत चिदात्मा (दृशि) से ही लोक का आभास तथा उसका अभाव (प्रत्यय और उसका अभाव) युक्ति से सिद्ध हो सकता है, उसे सिद्ध करने का अन्य कोई प्रकार नहीं है। तथा इस अवस्था में ही 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा का ग्रहण हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि 'आत्मा' समस्त वस्तुओं की परमावधि है, क्योंकि समस्त वस्तुओं का निषेध कर देने पर एकमात्र आत्मा ही शेष रह जाता है। और उसका निषेध भी नहीं किया जा सकता। लोक का आभास तथा उसका अभाव बुद्धिवृत्तिरूप है, किन्तु वे बुद्धिवृत्तियाँ न तो जड़ बुद्धि की ही विषय हो सकती हैं और न निर्विकार आत्मा की ही विषय हो सकती हैं। अतः उनकी सिद्धि के लिये चिदाभास को स्वीकार करना ही होगा। उसीके द्वारा आत्मा, बुद्धि-वृत्तियों का साक्षी होता है, और उसी से 'अहमस्मि'—मैं हूँ—इस प्रकार विशेषरूप से आत्मसत्ता का ग्रहण होता है ॥ ८४ ॥

नन्वेवं दृशिसंक्रान्तिरयःपिण्डेऽग्निवद्भवेत्।
मुखाभासवदित्येतदादर्शे तन्निराकृतम् ॥८५॥

नन्विति—**पूर्वपक्षी का कहना है कि इस प्रकार लोहे के गोले में अग्नि के समान बुद्धि में आत्मा का प्रवेश (संक्रमण) सिद्ध होता है। उस पर सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। शीशे में मुख के प्रतिबिम्ब के समान अर्थात् बुद्धि में आत्मा का जो आभास पड़ता है उसके समान—यह दृष्टान्त बताया है। इस दृष्टान्त के द्वारा पूर्वपक्षी के कथन का निराकरण कर दिया गया है ॥ ८५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'प्रतप्त लोहपिण्ड में अग्निस्फुलिङ्ग के समान' इस दृष्टान्त के बताने से आत्मा के विकारी होने की शंका होती है कि बुद्धि (अहंकार) में आत्मा का प्रवेश (सङ्क्रमण) सिद्ध होता है। अर्थात् तप्त लोहपिण्ड में अग्नि का जैसे प्रवेश होता है, वैसे ही बुद्धि में दृशिसङ्क्रान्तिरूप विकार (आत्मा का संक्रमण=प्रवेशरूप विकार) होगा। तब सिद्धान्ती ने उत्तरार्ध के द्वारा उत्तर दिया कि आदर्श (दर्पण) में मुखाभास (मुखप्रतिबिम्ब) के समान बुद्धि में आत्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) पड़ता है। अर्थात् आदर्श में प्रतिबिम्बित मुख, आदर्शस्थत्वेन रूपेण मिथ्या है, उसी प्रकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ आत्मा का प्रतिबिम्ब, बुद्धिधर्मत्वेन रूपेण मिथ्या है, इस तरह शंका का निराकरण हो जाता है। अतः आत्मा के विकारी होने की शंका नहीं करनी चाहिये ॥ ८५ ॥

कृष्णायो लोहिताभासमित्येतद्दृष्टमुच्यते।
दृष्टदार्ष्टान्ततुल्यत्वं, न तु सर्वात्मना क्वचित् ॥८६॥

कृष्णेति—**काले लोहे में लाल वर्ण का आभास होता है। इसलिये वह केवल दृष्टान्त मात्र है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की सर्वथा (पूर्ण रूप से) समानता नहीं हुआ करती ॥ ८६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि सिद्धान्ती के कथनानुसार आत्मा विकारी नहीं है, तो सन्तप्त लोहपिण्ड के विस्फुलिंग का दृष्टान्त क्यों बताया गया है ? वे तो विकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, अतः यह दृष्टान्त तो दार्ष्टान्तिक के अनुरूप नहीं हुआ। उत्तर में यह कहा जा रहा है कि कृष्णवर्ण के लोहे का लोहितवर्ण (लाल रंग) आभास मात्र है, अतः यह केवल दृष्टान्तमात्र है। जड़ बुद्धि में भी चैतन्य का आभास मात्र है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की सर्वथा (पूर्णरूप में) समानता कभी नहीं हुआ करती। अन्यथा अप्रकाशरूप मुख के लिये चन्द्र का दृष्टान्त ही नहीं दिया जायगा, किन्तु दिया जाता है, अतः आंशिक समानता ही विवक्षित होती है ॥ ८६ ॥

तथैव चेतनाभासं, चित्तं चैतन्यवद्भवेत् ।
मुखाभासो यथाऽऽदर्शे, आभासश्चोदितो मृषा ॥८७॥

तथैवेति—**उसी प्रकार चिदाभासविशिष्ट चित्त चैतन्यवत् प्रतीत होता है तथा जिस प्रकार शीशे में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार उस चिदाभास को मिथ्या (असत्य) ही बताया गया है ॥ ८७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

दृष्टान्त में विवक्षित अंश बताकर दार्ष्टान्तिक में भी उस प्रकार के अंश का प्रदर्शन करते हैं। जिसमें चेतना का आभासमात्र है, ऐसा जो चेतनाभास चित्त (बुद्धि) है, वह चैतन्य की तरह अर्थात् चेतन के तुल्य हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि चिदाभासविशिष्ट चित्त चैतन्यवत् प्रतीत होने लगता है। जिस प्रकार दर्पण में मुखाभास विकृत है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। उपाधिस्थ के रूप में आभास दिखाई देता है, अतः वह मृषा (मिथ्या) है। चिदाभास को मिथ्या बता ही चुके हैं ॥ ८७ ॥

चित्तं चेतनमित्येतच्छास्त्रयुक्तिविवर्जितम् ।
देहस्यापि प्रसङ्गः स्याच्चक्षुरादेस्तथैव च ॥८८॥

चित्तमिति—**'चित्त' को चेतन बताना शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध है। चित्त को चेतन कहने पर तो देह और चक्षुरादि इन्द्रियों को भी चेतन कहा जा सकेगा, किन्तु वह अभीष्ट नहीं है ॥ ८८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि चिदाभास की व्याप्ति से चित्त को चेतन के तुल्य क्यों माना जाता है ? उसे (चित्त को) ही स्वतः चेतन मानने में क्या आपत्ति है। इसका उत्तर यह कि है उसे स्वतः (स्वयं) चेतन मानने में न कोई प्रमाण है, और न कोई न्याय ही है। अर्थात् चित्त को ही चेतन कहना शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध है। क्योंकि चित्त तो अन्य-दृश्य होने से उत्पत्ति-विनाशशील है। चेतनता को चित्त का ही स्वभाव माना जाय तो चक्षुरादि इन्द्रियों को भी चेतन कहना पड़ेगा। इस प्रकार अतिप्रसंग होगा, जो दुष्परिहर होगा ॥ ८८ ॥

तदप्यस्त्विति चेत्तन्न, लोकायतिकसङ्गतेः ।
न च धीर्दृशिरस्मीति, यद्याभासे न चेतसि ॥८९॥

तदिति—**देहेन्द्रियादि को चेतन समझना तो अनुचित होगा। अन्यथा चार्वाक मत का अंगीकार किया समझा जायगा। यदि चित्त में चिदाभास का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो 'मैं चेतन हूँ'—यह बुद्धि (प्रतीति) न हो सकेगी ॥ ८९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि इष्टापत्ति कहे तो वह उचित न होगी। क्योंकि जड़ चित्त को ही चेतन कहने पर चार्वाक के अवैदिक सिद्धान्त को मान लिया-सा होगा। चित्त में चिदाभास को यदि न माने तो किसी द्वार (माध्यम) के न होने से 'अहं

ब्रह्मास्मि'—मैं चेतन (ब्रह्म) हूं, यह आगन्तुकवाक्यजन्य ऐक्यज्ञान नहीं हो सकेगा। अर्थात् चित्त में चिदाभास की सत्ता यदि न हो तो 'मैं दृशि (आत्मा) ब्रह्म हूँ', यह बुद्धि (ज्ञान) नहीं होगी। केवल चित्त तो जड़ है और चिन्मात्र (आत्मा) कूटस्थ है ॥ ८९ ॥

सदस्मीति धियोऽभावे, व्यर्थं स्यात्तत्त्वमस्यपि।
युष्मदस्मद्विभागज्ञे, स्यादर्थवदिदं वचः ॥९०॥

सदिति—**'मैं सत्स्वरूप हूँ' इस प्रकार की बुद्धि के अभाव में 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य भी व्यर्थ हो जायगा। यह महावाक्य तो युष्मत्पदवाच्य 'जड़ वस्तु' और अस्मत्पदलक्ष्य 'आत्मा' का विभाग (विवेक, भेद) समझने वाले पुरुष के लिये ही सार्थक हो सकता है ॥ ९० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान यदि न हो तो क्या हानि है ? इस प्रश्न के होनेपर यह उत्तर दिया है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान नहीं हुआ तो ऐक्यग्राहक 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य ही व्यर्थ (अप्रमाण) हो जायगा। यदि कहें कि वह वाक्य व्यर्थ हो जाय तो क्या क्षति है ? क्योंकि उस वाक्य के सभी श्रोताओं को तत्काल 'ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती दिखाई भी तो नहीं देती। इसका उत्तर यह है कि 'अधिकारिणः प्रमितिजनको वेदः' अधिकारियों को ज्ञान करानेवाला 'वेद' होता है' इस न्याय से सम्यक्पदार्थविज्ञान वाले का ही वाक्यार्थ बोध (वाक्यार्थ ज्ञान) में अधिकार होता है। अतः अनात्म पदवाच्य (युष्मत्पदवाच्य) जड़ वस्तु और आत्मा के भेद का ज्ञान रखने वाले पुरुष के प्रति ही यह वाक्य अर्थवत् (सार्थक) होता है, सभी के लिये (अनधिकारियों के लिये) यह वाक्य झटिति बोधक नहीं है ॥ ९० ॥

ममेदंप्रत्ययौ ज्ञेयौ, युष्मद्येव न संशयः।
अहमित्यस्मदीष्टः स्यादयमस्मीति चोभयोः ॥९१॥

ममेति—**जिन वस्तुओं के विषय में 'मम' (मेरा) और 'इदम्' (यह) ज्ञान होता है, उन्हें युष्मत्पदवाच्य ही समझना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है। तथा 'अहम्' (मैं) यह ज्ञान, अस्मत्पदवाच्य 'व्यावहारिक आत्मा' में होता है। उसी तरह 'यह' (देहादि) मैं हूँ'—यह ज्ञान, आत्मा और अनात्मा दोनों ही में हो सकता है ॥ ९१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उसी युष्मद्-अस्मत् के विवेक को बताते हैं। जिन पुत्रादि अनात्म पदार्थों में 'इदम्' 'मम' (यह-मेरा) यह ज्ञान (प्रत्यय) होता है, निःसन्देह उन्हें 'युष्मत्' पदवाच्य ही समझना चाहिये। पुत्रादि बाह्य पदार्थों का देहाध्यास-परंपरा से ही अस्मदर्थ में प्रवेश होता है। अतः बाह्यार्थ सम्बन्ध भी अनात्मधर्म ही है, यह उचित ही कहा गया है। 'अहम्' (मैं) यह ज्ञान, अस्मत्पदवाच्य व्यावहारिक आत्मा में (अहंकार में) माना जाता है। तथा 'यह (देहादि) मैं हूँ' ऐसा ज्ञान, आत्मा और अनात्मा दोनों में ही हो सकता है ॥ ९१ ॥

अन्योन्यापेक्षया तेषां, प्रधानगुणतेष्यते।
विशेषणविशेष्यत्वं, तथा ग्राह्यं हि युक्तितः ॥९२॥

अन्योन्येति—**इन आत्मविषयक और अनात्मविषयक ज्ञानों (प्रत्ययों) में एक-दूसरे की अपेक्षा से प्रधानता और अप्रधानता मानी जाती है। उसी प्रकार इनके विशेषण-विशेष्य भाव को भी युक्तिसहित समझना चाहिये ॥ ९२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मानात्मविषयक प्रत्ययों के संकीर्ण और असंकीर्णरूप विषयों को बताकर उक्त विवेक के लि गुण-प्रधान भाव से विशेषण-विशेष्यभाव को स्पष्ट करते हैं। इन आत्मविषयक और अनात्मविषयक प्रत्यय

में एक-दूसरे की अपेक्षा से प्रधानता और अप्रधानता मानी जाती है। इसी प्रकार युक्तिपूर्वक इनके विशेष्य-विशेषणभाव को भी समझना चाहिये ॥ ९२ ॥

ममेदं द्वयमप्येतन्मध्यमस्य विशेषणम्।
धनी गोमान्यथा तद्वद्देहोऽहंकर्तुरेव च ॥९३॥

ममेति—**'मम' और 'इदम्'—ये दोनों पूर्व श्लोक (९१) के मध्य में निर्दिष्ट 'अहमर्थ' के विशेषण हैं। जिस प्रकार 'धनी' और 'गोमान्' इनमें 'धन' और 'गो' दोनों 'पुरुष' के विशेषण हैं, उसी प्रकार 'शरीर' भी 'अहंकार' का विशेषण है ॥ ९३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उक्त विशेष्य-विशेषणभाव का विवेचन करते हैं—'मम' और 'इदम्' ये दोनों पूर्व श्लोक (९१) के मध्य में निर्दिष्ट अहमर्थ के विशेषण हैं। जिस प्रकार 'धनी' तथा 'गायवाला' इनमें 'धन' और 'गो' पुरुष के विशेषण हैं, उसी प्रकार शरीर, अहंकार का विशेषण है। श्लोक ९२ और ९३ में यह आशय व्यक्त किया गया है कि जिन लोगों को आत्मा और अनात्मा (देहादि) के भेद का ज्ञान रहता है, वे लोग बाह्य पदार्थों की अपेक्षा उत्तरोत्तर आभ्यन्तर पदार्थों को प्रधान मानते हैं। अतः जिस प्रकार धन के कारण मनुष्य को धनी तथा गौ के कारण गायवाला कहते हैं और ये शब्द उसके विशेषण होते हैं, उसी प्रकार 'मम' 'इदम्' आदि समस्त प्रत्यय 'आत्मा' के विशेषण हैं। यहाँ प्रधान को विशेष्य और अप्रधान को विशेषण समझना चाहिए। 'आत्मा' सभी की अपेक्षा प्रधान और आन्तरतम है। इसलिए वही सबका विशेष्य है ॥ ९३ ॥

बुद्ध्यारूढं सदा सर्वं, साहंकर्त्रा च साक्षिणः।
तस्मात्सर्वावभासो ज्ञः, किञ्चिदप्यस्पृशन्सदा ॥९४॥

बुद्ध्येति—**बुद्धिवृत्ति के विषयभूत सभी पदार्थ और उसी प्रकार 'अहंकार' के सहित सूक्ष्म विषय, ये सभी 'साक्षी आत्मा' के विशेषण हैं। अतः 'आत्मा' उनमें से किसी का भी स्पर्श नहीं करता, तथापि सबको प्रकाशित करता रहता हैं। क्योंकि वह (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है ॥ ९४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

समस्त पदार्थ बुद्धिवृत्ति के विषय हैं। वे अहंकार के सहित सबके साक्षी, अतिसूक्ष्म आत्मा के विशेषण हैं। अतः आत्मा किसी को भी स्पर्श न करता हुआ सर्वदा सबको प्रकाशित करता हुआ ज्ञानस्वरूप है ॥ ९४ ॥

प्रतिलोममिदं सर्वं, यथोक्तं लोकबुद्धितः।
अविवेकधियामस्ति, नास्ति सर्वं विवेकिनाम् ॥९५॥

प्रतिलोममिति—**साधारण लोगों की बुद्धि के अनुसार पूर्व बताया हुआ सम्पूर्ण विशेषण-विशेष्य भाव विपरीत (प्रतिलोम) है। वास्तव में वह विशेषण-विशेष्य भाव का क्रम विवेकरहित पुरुषों की दृष्टि से होता है, किन्तु विवेकी पुरुषों की दृष्टि में वह सब नहीं है ॥ ९५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यह उक्त मार्ग विवेकी लोगों का है। किन्तु अविवेकियों का उसके विपरीत है। अर्थात् उक्त विशेष्य-विशेषणभाव लौकिक व्यवहार में विपरीत दिखाई देता है। वास्तव में यह विशेष्य-विशेषणादि क्रम विवेकहीन पुरुषों की दृष्टि से है। निष्कर्ष यह है कि यह विशेष्य-विशेषणभाव उन्हीं की दृष्टि से है, जो आत्मा और अनात्मा दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, और आत्मा की अपेक्षा अनात्मा को प्रधान समझते हैं। किन्तु तत्त्वज्ञों की दृष्टि में तो आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। इस कारण यह विशेष्य-विशेषणभाव भी नहीं है। संसारी पुरुष तो

① जो 'तत्' पद का अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार है —
② 'त्वं' पद का अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार है — |

शरीरादि अनात्मा को ही प्रधान समझते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि में आत्मा ही अनात्मा का विशेषण है। अतः अध्यारोपापवादन्याय से यथाप्रतीति सत्ता को लेकर विवेकियों की आत्मविषयक बुद्धि कराने के लिये विशेषण-विशेष्यादि प्रबन्ध कल्पना की गई है ॥ ९५ ॥

अन्वयव्यतिरेकौ हि, पदार्थस्य पदस्य च।
स्यादेतदहमित्यत्र, युक्तिरेवावधारणे ॥९६॥

अन्वयेति—**आत्मानात्मरूप पदार्थ तथा पद के अन्वय-व्यतिरेक, ये 'अहम्' इस वस्तु की अवधारणा (निश्चय) करने में युक्ति मात्र हैं ॥ ९६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पद-पदार्थ के अन्वय-व्यतिरेक से ही सर्वसंसारविनिर्मुक्त आत्मा का ज्ञान हो ही जायगा, तब वाक्य की क्या आवश्यकता? पदार्थ का अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार है—आत्मपदार्थ सबका द्रष्टा (साक्षी) है, वह कभी भी दृश्य अथवा साक्ष्य नहीं होता, क्योंकि वह अलुप्तप्रकाशसन्मात्र होने से स्वयंप्रकाश है। अतः अन्याश्रय न होने से कभी भी और किसी का भी विशेषण होकर वह नहीं रहता। तथा अहंकार से लेकर उनके अपने विषयों तक सब साक्ष्य (साक्षीभास्य) हैं, उनका प्रकाश अन्याधीन होने से अन्याश्रय है अर्थात् अन्याश्रित है। इसलिए अप्रधान होने के कारण वह अहंकारादि विषयान्तपदार्थ सर्वदा आत्मा का विशेषण होकर ही रहता है। तस्मात् अनागमापायी वह दृगात्मरूप (आत्मा) शुक्ति के समान सत्य है। और उससे विपरीत जो भी अतिरिक्त पदार्थ है, वह सभी रजत के समान असत्य हैं और अनृत, जड़, परिच्छिन्न, पराधीन, पराक् अर्थ से व्यावृत्त (भिन्न) सत्य, ज्ञान, अनन्त, प्रत्यक्, आनन्दरूप 'आत्मा' है, इस प्रकार से पराक् और प्रत्यक् का विवेचन करना ही पदार्थ का अन्वय-व्यतिरेक कहा जाता है। [तत्] पद का अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार है—आत्मा, चैतन्य, प्रज्ञान, ब्रह्म, सत् आदि पद, कर्ता आदि उपपदों से रहित रहते हैं, तब वे शुद्ध आत्मा के बोधक होते हैं। इसीलिए किसी के विशेषण न होने से वे तद्विशिष्ट किसी अन्य वस्तु का ज्ञान (बोध) नहीं करा सकते। क्योंकि विशिष्ट का बोधन कराने की सामर्थ्य उन शब्दों में नहीं है। किन्तु कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, गन्ता, कृश, स्थूल—ये शब्द (पद) देहेन्द्रियादिविशिष्ट आत्मा के बोधक हुआ करते हैं, शुद्ध आत्मा के बोधक नहीं होते हैं। क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग, अन्य के अधीन क्रिया आदि की उपरागदशा में ही हुआ करता है। इस प्रकार के विवेचन को ही पद का अन्वय-व्यतिरेक कहा करते हैं। इस रीति से पद और उसके अर्थों के अन्वय-व्यतिरेक को समझ लेने से ही आत्मज्ञान सहज हो सकता है, तब वाक्य की क्या आवश्यकता है?

इस प्रकार पद या पदार्थ का जो अन्वय-व्यतिरेक है, वह तो अस्मदर्थ विषय के अवधारण करने में युक्तिरूप ही है, अर्थात् विवेकावधारण का उपायमात्र है; वाक्यार्थ की एकता में, पदार्थ की एकता में उसका व्यापार नहीं है। तस्मात् इतने विवेक से आत्मा का देहादि से वैलक्षण्य का अवधारण हो जाने पर भी 'मैं कौन हूँ' यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जिज्ञासित स्वरूपविशेष का समर्पक है, अतः उसकी अपेक्षा तो अवश्य ही करनी होगी ॥ ९६ ॥

नाद्राक्षमहमित्यस्मिन्सुषुप्तेऽन्यन्मनागपि।
न वारयति दृष्टिं स्वां, प्रत्ययं तु निषेधति ॥९७॥

नाद्राक्षमिति—**इस सुषुप्ति की स्थिति में 'अन्यत् मनागपि अहम् नाऽद्राक्षम्'—मैंने कुछ भी अन्य वस्तु नहीं देखी—यह जो अनुभव है, वह अपनी दृष्टि का निषेध नहीं कर रहा है, वह केवल प्रत्यय का ही निषेध करता है, अर्थात् प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयात्मक त्रिपुटी का ही निषेध करता है ॥ ९७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

तीन अवस्थाएँ परस्पर व्यभिचारी हैं, किन्तु चैतन्यात्मा कदापि व्यभिचारी नहीं है, इस प्रकार प्रकारान्तर से आत्मानात्म-विवेक को बताते हैं। इस सुषुप्त में (इस आत्मा में) या इस सुषुप्ति अवस्था में 'आत्मस्वरूप के

अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी मैंने नहीं देखा' ऐसा परामर्श करनेवाला मनुष्य, अपनी दृष्टि (चैतन्य) का निषेध नहीं करता। किन्तु केवल प्रत्यय का निषेध करता है। 'प्रतीयते इति प्रत्ययः' इस व्युत्पत्ति से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय रूप सभी विशेष का ग्रहण किया जाता है। तस्मात् परस्परव्यभिचारिता होने से दृष्ट, नष्ट स्वभाववाली मिथ्याभूत अवस्थाओं से भिन्न अव्यभिचारी, चिद्रूप, साक्षी, सत्य आत्मा है, यह विवेक सिद्ध होता है ॥ ९७ ॥

स्वयंज्योतिर्न हि द्रष्टुरित्येवं संविदोऽस्तिताम् ।
कौटस्थ्यं च तथा तस्याः, प्रत्ययस्य तु लुप्तताम् ॥
स्वयमेवाब्रवीच्छास्त्रं, प्रत्ययावगती पृथक् ॥९८॥

स्वयमिति—इस अवस्था में 'यह पुरुष स्वयंप्रकाश है', उसी तरह 'द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता'—ये श्रुति वचन स्वयं ही उस अवस्था में चैतन्य के अस्तित्व और कौटस्थ्य (कूटस्थता) और उसके प्रत्यय के लोप को बताते हैं। इसलिये 'प्रत्यय' और 'ज्ञान' परस्पर भिन्न हैं ॥ ९८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

ऊपर निर्दिष्ट किये गये अन्वय-व्यतिरेक शास्त्रसम्मत हैं, केवल अपनी बुद्धि का कल्पनाविलास मात्र नहीं है, यह विश्वास दिलाने के लिये शास्त्र बताते हैं। "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः"[1] "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"[2] ये शास्त्रवाक्य बता रहे हैं कि इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है तथा द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता। इस प्रकार चेतना के सद्भाव (अस्तिता) को और उसकी कूटस्थता (निर्विकारता) को श्रुति ने बताया है। तथा प्रत्यय (प्रमाण-प्रमाता-प्रमेय) की लुप्तता (लोप) अर्थात् असत्ता को "न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तम्"[3]—इत्यादि शास्त्र ने स्वयं ही बताया है। अतः प्रत्यय और अवगति (ज्ञान) पृथक् (असंकीर्ण) हैं, शास्त्र ने ही इनका विवेचन किया है ॥ ९८ ॥

एवं विज्ञातवाक्यार्थे* श्रुतिलोकप्रसिद्धितः ।
श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह, श्रोतुर्मोहापनुत्तये ॥९९॥

एवमिति—इस प्रकार श्रुतिवचन और लोकप्रसिद्धि अर्थात् 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा वाक्यार्थ का जिसे ज्ञान हो गया हो, उसी पुरुष के मोह (अज्ञान) की निवृत्ति के लिये श्रुति 'तत्त्वमसि' का उपदेश करती है ॥ ९९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार अवान्तरवाक्यकृत युष्मदस्मद् विवेक को उपपत्ति से बताकर, पदार्थतत्व का ज्ञान जिसे हो चुका है, ऐसे पुरुष में ही यह महावाक्य सफल विज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार श्रुति और लोक की प्रसिद्धि से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जिसे अवान्तर वाक्यार्थ का ज्ञान हो गया हैं, उस पुरुष के मोह की निवृत्ति के लिये (सकार्य अविद्या की निवृत्ति के लिये) महावाक्यात्मिका 'तत्त्वमसि' श्रुति 'तू ब्रह्म है' ऐसा उपदेश करती है ॥ ९९ ॥

ब्रह्मा दाशरथेर्यद्वदुक्त्यैवापानुदत्तमः ।
तस्य विष्णुत्वसंबोधे, न यत्नान्तरमूचिवान् ॥१००॥

ब्रह्मेति—जिस तरह ब्रह्मदेव ने 'हे राम ! तुम विष्णु हो'—इस वाक्य को कह कर ही दशरथकुमार राम का 'अज्ञान' दूर कर दिया था। ब्रह्मा जी को उन्हें 'विष्णु' होने का बोध कराने में किसी अन्य प्रयत्न का आश्रय नहीं करना पड़ा ॥ १०० ॥

---

१. (बृ. उ. ४।३।९, १४)
२. (बृ. उ. ४।३।२३)
३. (बृ. उ. ४।३।२३-३०)
* वाक्यार्थे—इति नै. सि. ४।२४ पाठः ।

① चतुर्विधेषु अप्रामाण्यबीजेषु प्रथमस्य [विपर्ययरूपस्य] निराकरणं भाति। 220 तमे पृष्ठे चतुर्थी द्रष्टव्यः॥

हृदयस्पर्शिनी

वाक्यश्रवणमात्र से मोह के अपोहन में पुराणसिद्ध दृष्टान्त को बता रहे हैं। दाशरथी राम ने देवकार्य संपादन करने के लिये मनुष्यावतार के अभिनय द्वारा संकल्प पूर्वक अपने माहात्म्य का आच्छादन जो किया था, उसे ही यहाँ पर अज्ञान (तमस्) शब्द से कहा गया है। क्योंकि परमेश्वर को संमोह होना संभव नहीं है। संक्षेपशारीरक में कहा गया है—

"संकल्पपूर्वकमभूद् रघुनन्दनस्य, नाहं विजान इति कंचन कालमेतत्।
ब्रह्मोपदेशमुपलभ्य निमित्तमात्रं, तच्चोत्ससर्ज स कृते सति देवकार्ये"॥

ब्रह्मदेव ने 'हे राम! तुम विष्णु हो, केवल दशरथपुत्र नहीं हो।' इस वाक्य के द्वारा ही दशरथकुमार राम का अज्ञान निवृत्त कर दिया था। ब्रह्मा ने उनके विष्णुत्व का बोध कराने में उक्त वाक्यार्थ का उपदेश करने के अतिरिक्त कोई अन्य प्रयत्न नहीं किया था॥ १००॥

अहंशब्दस्य निष्ठा या, ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि।
सैवोक्ता सदसीत्येवं, फलं तत्र विमुक्तता॥१०१॥

अहमिति—**उसी प्रकार 'अहम्' शब्द की जो निष्ठा है, उसी का 'तू सत्स्वरूप है'—इस वाक्य के द्वारा उपदेश किया गया है और उसका फल 'मोक्ष' है॥ १०१॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसी प्रकार पराक् (बाह्य) अर्थों से व्यावृत्त निरुपाधिक ज्योतिःस्वरूप, साक्षिस्वप्रकाशस्वभाव प्रत्यगात्मा में 'अहं' शब्द की जो निष्ठा है, अर्थात् 'अहं' शब्द से जो स्वयंप्रकाश सर्वसाक्षी परब्रह्म लक्षित होता है, उसी निष्ठा का 'त्वं तदसि' 'अहं तत् ब्रह्मास्मि' इस वाक्य के द्वारा उपदेश किया गया है। उससे विमुक्तता अर्थात् मोह का अपोह-रूप फल प्राप्त होता है। अथवा इसी को एक अन्य प्रकार से भी बताया जा सकता है। तथाहि—दाशरथी राम को विष्णुत्व के उपदेशमात्र से 'विष्णुरहमस्मि'—मैं विष्णु हूँ—इस प्रकार का बोध तत्काल हो सकता है, क्योंकि वह दाशरथी राम महान् महिमा से सम्पन्न है। किन्तु आज के जो लोग हैं; जो कर्ता, भोक्ता आदि प्रत्यक्ष की तरह अनुभव में आनेवाले परन्तु वस्तुतः मिथ्या प्रत्यय से ग्रसित हैं; उनको ब्रह्मोपदेशमात्र से 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार का निर्विचिकित्स ज्ञान होना कैसे संभव हो सकता है? यह शंका हो सकती है। किन्तु त्वं-पदार्थ का शोधन जिसने कर लिया है, ऐसे पुरुष को ही अर्थात् जो अपने को कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का साक्षीमात्र समझता है, जिसे अहं आदि शब्द लक्षणा के द्वारा बताते हैं, उसी के लिये यह ब्रह्मत्वोपदेश है, अन्य के लिये नहीं, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है॥ १०१॥

① **श्रुतमात्रेण चेन्न स्यात्कार्यं तत्र भवेद् ध्रुवम्।**
व्यवहारात्पुरापीदृः, सद्भावः स्वयमात्मनः॥१०२॥

श्रुतमिति—**वाक्य के सुनने मात्र से यदि ज्ञान की उत्पत्ति न हो तो ज्ञानोत्पत्त्यर्थ उसे कार्य की आवश्यकता पड़ सकती है, किन्तु प्रत्यगात्मा की सत्ता तो वाक्योपदेशात्मक व्यवहार के पूर्व भी निश्चित रूप से है, यह सभी जानते हैं॥ १०२॥**

हृदयस्पर्शिनी

पद-पदार्थ का ज्ञान जिसे हो गया है, उसे वाक्य से ही 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान हो जाता है, किन्तु उस ज्ञान से यदि समूल संसार की निवृत्ति न मानी जाय तो वेदप्रामाण्य की सिद्धि के लिये उसे कार्यपरक ही मान लेना चाहिए। किन्तु यह कथन विद्वानों के अनुभव के विरुद्ध होने से उचित नहीं है, अथवा इस तरह से भी कह सकते हैं कि पदार्थतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किये हुए पुरुष को वाक्य से ही समूल संसारनिवृत्तिरूप फलात्मक ज्ञान हो ही जाता है, तब उस स्थिति में प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं श्रुति को कार्यपरक मानने का आग्रह करना व्यर्थ है। उक्त न्याय से

तृतीयबीजं निरस्यति। ② तृतीयबीजं निरस्यति। ③ अनुपपत्तिस्तु पूर्वेणैव निराकृतम्। A
No. 97.
अथवा अनुपपत्तिश्चेत् ● बहुयति १०५ तमे श्लोके॥

वाक्य के श्रवणमात्र से विज्ञानरूप उक्त फल न हो तो वहाँ कार्य की कल्पना अवश्य करनी होगी। अन्यथा अर्थवादादि-वाक्य के तुल्य स्वार्थ में उसका प्रामाण्य उपपन्न न हो सकेगा। यहाँ तो तत्क्षण ही फल का अनुभव होने से वैसी कल्पना की कोई आवश्यकता ही नहीं है। किंच यदि वाक्यश्रवण को सिद्ध ब्रह्मात्मज्ञानरूप तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रमाण न माना जाय तो उसका अप्रामाण्य चार प्रकार से होगा—(१) विपर्यासलक्षण, (२) निष्फलत्वलक्षण (३) संशय-लक्षण, (४) अनुपपत्तिलक्षण। उक्त चार प्रकारों में से प्रथम प्रकार के विपर्यासलक्षण अप्रामाण्य का खण्डन इस पद्य के उत्तरार्ध से किया गया है। अभिप्राय यह है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्योपदेश से पूर्व आत्मा की सत्ता है ही, क्योंकि कोई बाधक नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि' इस वाक्योपदेश के द्वारा उसके यथावस्थित अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर आत्मस्वरूप का ही जो ज्ञान होता है, वह शुक्ति-रजत के समान अप्रामाणिक नहीं हो सकता। क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभववाक्य से यथावस्थित आत्मस्वरूप का ही अनुभव होता रहता है॥ १०२॥

① अशनायादिनिर्मुक्त्यै, तत्काला जायते प्रमा।
② तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थे, त्रिषु कालेष्वसंशयः॥१०३॥

अशनायेति—किञ्च आप्तवाक्य के श्रवण से जो 'तत्त्वज्ञान' होता है, वह भी क्षुधा-पिपासारूप संसार की निवृत्ति का कारण होता है। उसी तरह 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य के अर्थ में कभी किसी काल में भी किसी को संदेह नहीं होता है॥ १०३॥

हृदयस्पर्शिनी

अप्रामाण्य का द्वितीय प्रकार भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवविरोध होता है। आप्तवाक्यश्रवण काल में ही होनेवाला तत्त्वज्ञान क्षुत्पिपासादिरूप संसार की निवृत्ति कराने में हेतु होता है। अतः वह निष्फल नहीं है। एवञ्च वाक्योपदेश के निष्फलत्वरूप अप्रामाण्य का भी खण्डन हो गया। क्योंकि विद्वानों का यह प्रत्यक्ष अनुभव है। इसी प्रकार तृतीय प्रकार के अप्रामाण्य का भी अनुभवविरोध होने से खण्डन करते हैं। क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य के अर्थ में किसी प्रकार का और कभी भी (तीनों कालों में) संशय नहीं है। अतः इसका संशयलक्षण अप्रामाण्य भी नहीं कहा जा सकता॥ १०३॥

प्रतिबन्धविहीनत्वात्स्वयं चानुभवात्मनः।
जायेतैव प्रमा तत्र, स्वात्मन्येव न संशयः॥१०४॥

प्रतिबन्धेति—किञ्च पदार्थों के अज्ञान रूप प्रतिबन्ध के न रहने से तथा स्वयं ज्ञान रूप होने के कारण आत्मा में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति भी हो जाती है, इस विषय में भी संशय नहीं है॥ १०४॥

हृदयस्पर्शिनी

पदार्थ का अज्ञान ही, वाक्यार्थज्ञान के होने में प्रतिबन्धक हुआ करता है। पदार्थ का अज्ञान न रहने पर अर्थात् पद-पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किये हुए पुरुष को वाक्यश्रवणकाल में ही आत्मविषयक प्रमाज्ञान (यथार्थ ज्ञान) हो ही जाता है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं है। अतः वाक्यार्थोपदेशमात्र से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होगी या नहीं, ऐसा संदेह नहीं करना चाहिये। उस कारण 'हुँ फट्' आदि शब्द की तरह अनुत्पत्तिलक्षण अप्रामाण्य भी नहीं कहा जा सकता॥ १०४॥

किं सदेवाहमस्मीति, किंवाऽन्यत्प्रतिपद्यते।
सदेव चेदहंशब्दः, सता मुख्यार्थ इष्यताम्॥१०५॥

किमिति—'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ को सुनकर 'मैं सत् ही हूँ' यह ज्ञान ही होता है, अथवा अन्य कोई ज्ञान होता है? यदि 'अहम्' शब्द 'सत्' से भिन्न नहीं है, तो 'सत्' के साथ ही उसका मुख्यार्थ जानना चाहिये॥ १०५॥

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार प्रमाणस्वरूपनिरूपण के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान का उपपादन करके अब प्रतिपत्तव्य (ज्ञातव्य) अर्थ के स्वरूपनिरूपण के द्वारा भी उसे बताना प्रारंभ कर रहे हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ का श्रवण करने के बाद 'अहमस्मि'–मैं सत् ही हूँ, ऐसा ज्ञान होता है, या अन्य कोई और ज्ञान होता है ? यदि 'अहम्' शब्द सत् ही है, तो सत् के साथ ही उसका मुख्य अर्थ समझना चाहिये। अर्थात् 'सत्' शब्द और 'अहम्' शब्द दोनों का एक ही अर्थ में पर्यवसान होने से 'एकात्मता' ही वाक्यार्थ है। 'संसर्ग' वाक्यार्थ नहीं है। इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि हो जाती है ॥ १०५ ॥

अन्यच्चेत् *सदहंग्राहप्रतिपत्तिर्मृषैव सा ।
तस्मान्मुख्यग्रहे नास्ति, वारणाऽवगतेरिह ॥१०६॥

अन्यदिति—यदि 'सत्' कोई अन्य वस्तु है, अर्थात् आत्मा से भिन्न वस्तु है, तो उसमें जो यह 'अहम्' इत्याकारक ज्ञान होता है, उसे मिथ्या ही कहना होगा। इसलिये इस वाक्य का मुख्यार्थ ग्रहण करने में यथार्थ ज्ञान का निषेध नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि "मैं सत् हूँ" इस वाक्य का मुख्यार्थ ग्रहण करने पर इस वाक्य की सार्थकता हो पाती है, अन्यथा नहीं ॥ १०६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि 'सत्', वस्तु, आत्मा से भिन्न कोई और है, तो उसमें यह 'अहंग्रहरूप जो प्रतिपत्ति' अर्थात् अहंज्ञान है, वह संपदादि ज्ञान के समान मृषा (मिथ्या) ही होगा, तब वाक्य को अप्रमाण ही कहना पड़ेगा। प्रमाण-प्रमेय के स्वभाव की पर्यालोचना करने पर प्रतीत होता है कि अपरोक्ष फलवत् आत्मतत्त्वज्ञान वाक्य से ही उत्पन्न होता है। अतः इस वाक्य का मुख्य अर्थ ग्रहण करने में यथार्थ ज्ञान का निषेध नहीं होता। अर्थात् 'मैं सत् हूँ' इस वाक्य का मुख्यार्थ ग्रहण करने पर ही उसकी सार्थकता है, अर्थात् यथार्थ अनुभव का निवारण नहीं होता। और वही संसार-दुःख से पीड़ित हुए मुमुक्षु के लिये अभीष्ट भी है ॥ १०६ ॥

प्रत्ययी प्रत्ययश्चैव, यदाभासौ तदर्थता ।
तयोरचितिमत्त्वाच्च, चैतन्ये कल्प्यते फलम् ॥१०७॥

प्रत्ययीति—'प्रत्ययी' (अन्तःकरण) और 'प्रत्यय' (उसकी वृत्तियाँ) जिनके आभास हैं, उसी के ये शेषभूत भी हैं। इन दोनों के जड़ (अचेतन) होने के कारण इस वाक्य का फल (तात्पर्य) चैतन्य आत्मा में ही समझा जाता है ॥ १०७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि यह कहें कि 'आत्मा' कूटस्थ होने के कारण ज्ञाता नहीं हो सकता, तब फलसम्बन्ध भी उपपन्न नहीं होगा। इस प्रकार आत्मज्ञानरूप यथार्थ ज्ञान का निवारण हो जायगा। किन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्ययी अर्थात् परिणामी अन्तःकरण और प्रत्यय अर्थात् उसकी वृत्तियाँ (परिणाम), जिस चिदात्मा के आभास हैं, उसी के ये शेषभूत भी हैं। इन दोनों के अचेतन (जड़) होने के कारण इस वाक्य का फल, चैतन्य आत्मा में ही माना जाता है। क्योंकि जड़ वस्तु फलस्वरूप अथवा फल का उपादान नहीं हो सकती। अतः अन्तःकरण और चिदाभास में फल संभव न होने के कारण निर्व्यापार होने पर भी उनके अधिष्ठानभूत चेतन आत्मा में ही उसका तात्पर्य प्रतीत होता है ॥ १०७ ॥

कूटस्थेऽपि फलं योग्यं, राजनीव जयादिकम् ।
†तदन्तात्मत्वहेतुभ्यां, क्रियायाः प्रत्ययस्य च ॥१०८॥

* ग्राहि०—पाठान्तरम् । † तदनात्म०—पाठान्तरम् ।

कूटस्थे इति—जिस प्रकार सेना के जय-पराजय का राजा पर आरोप किया जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण की 'अहम्' इत्याकारिका वृत्ति और चिदाभास 'अनात्मरूप' (जड़) होने से कूटस्थ आत्मा में ही फल समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

व्यापारशून्य का भी फल के साथ संबंध होने में दृष्टान्त बता रहे हैं। जिस प्रकार सेना के जय-पराजय का राजा पर आरोप किया जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण की अहमात्मिका वृत्ति और चिदाभास, ये दोनों अनात्मभूत जड़ होने के कारण कूटस्थ आत्मा में फल का संबंध समझना चाहिये। यहाँ यह शंका हो सकती है कि दृष्टान्त में तो स्व-स्वामिभावसम्बन्ध निमित्त हो सकता है, किन्तु प्रकृत में अध्यक्ष और अध्यक्ष्य में वैसा सम्बन्ध न दिखाई देने से उपर्युक्त दृष्टान्त कैसे संगत हो सकेगा? उक्त शंका के समाधान में कहा गया है कि यहाँ भी अधिष्ठान-अधिष्ठेयभावरूप सम्बन्ध, फलसम्बन्ध होने में हेतु हो सकता है। मूल में उक्त 'हेतुभ्यां' को 'हेतुत्वाभ्यां' ऐसा भावप्रधान समझना चाहिये। उसी तरह 'क्रिया' को 'अहमात्मिका वृत्ति' समझनी चाहिये। और 'प्रत्यय' शब्द से 'प्रत्यर्थमयति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अन्तःकरणसाभास' अर्थात् वृत्ति और वृत्तिमान् का साभास समझना चाहिए। उसी तरह आत्मत्वं च हेतुत्वं च आत्महेतुत्वे, तस्य=फलस्य न आत्महेतुत्वे, तदनात्मत्वहेतुत्वे ताभ्यां तदनात्मत्वहेतुत्वाभ्याम्। तथाच जड़भूत क्रिया और प्रत्यय, दोनों फलस्वरूप न होने से और फल के उपादन भी न होने से तद्व्यापारनिबन्धन फल, उसके अधिष्ठानरूप कूटस्थ के निर्व्यापार रहने पर भी उसी में होगा। अतः दृष्टान्त यहाँ पर संगत हो जाता है ॥ १०८ ॥

आदर्शस्तु यदाभासो, मुखाकारः स एव सः।
यथैवं प्रत्ययादर्शो, यदाभासस्तदा ह्यहम् ॥१०९॥

आदर्श इति—आदर्श (दर्पण) जिसके आभास से युक्त होता है, उसी का आकार भी प्रतीत होता है। जैसे जब दर्पण, मुख के आभास से युक्त होता है, तब उसमें ग्रीवास्थ मुख का आकार भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार अहंकार जिस चेतन के प्रतिबिम्ब द्वारा प्रकाशित होता है, वह 'परमात्मा' ही है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का फल चिदात्मा में होना योग्य ही है ॥ १०९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

शुद्ध आत्मा में प्रमातृत्व नहीं होने से ही यह कहा गया कि कूटस्थ में विशिष्ट प्रमातृकृत फल का उपचार किया जाता है। यह बात राजा के दृष्टान्त से बताई गई है। वस्तुतः स्वात्मा में अध्यस्त स्वोपाधि के व्यापार से चित्प्रतिबिम्ब में ही प्रमातृत्व रहता है। अतः प्रतिबिम्बभावनिबन्धन फलसम्बन्ध अविकृत चिदात्मा से ही होता है। इसे दृष्टान्त देकर बता रहे हैं—जैसे आदर्श (दर्पण) जिस मुख के आभास से विशिष्ट हुआ प्रतीत होता है, वही ग्रीवास्थ मुख का आकार भी होता है, उसी प्रकार अहंकार जिस चेतन के प्रतिबिम्ब द्वारा प्रकाशित है, वह परमात्मा ही है। अतः 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का फल चिदात्मा में होना उचित ही है ॥ १०९ ॥

इत्येवं प्रतिपत्तिः स्यात्सदस्मीति च नान्यथा।
तत्त्वमित्युपदेशोऽपि, द्वाराभावादनर्थकः ॥११०॥

इतीति—चिदाभास का जब स्वीकार करते हैं, तभी 'मैं सत्स्वरूप हूँ'—यह ज्ञान होना संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। चिदाभास के स्वीकार न करने पर कोई रहेगा ही नहीं, तब 'तू सत्स्वरूप है'—यह उपदेश ही व्यर्थ हो जायगा ॥ ११० ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस रीति से चिदाभास का स्वीकार करने पर ही 'मैं सत्स्वरूप हूँ' यह ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। क्योंकि आभास को न मानने पर किसी के न रहने से 'तू सत्स्वरूप है' यह उपदेश भी व्यर्थ हो जायगा ॥ ११० ॥

श्रोतुः स्यादुपदेशश्चेदर्थवत्त्वं *तथा भवेत् ।
अध्यक्षस्य न चेदिष्टं, श्रोतृत्वं कस्य तद्ब्रुवेत् ॥१११॥

श्रोतुरिति—उपदेश, श्रोता को किये जाने पर ही सार्थक हो सकता है। यदि कूटस्थ साक्षी आत्मा में श्रोतृत्व न स्वीकार किया जाय तो वह और किसका हो सकता है ? ॥ १११ ॥

अध्यक्षस्य समीपे स्याद्बुद्धेरेवेति चेन्मतम् ।
न तत्कृतोपकारोऽस्ति, काष्ठाद्यद्वन्न कल्प्यते ॥११२॥

अध्यक्षेति— यह कहें कि साक्षी के सन्निध रहने से 'बुद्धि' में ही श्रोतृत्व की कल्पना की जा सकती है किन्तु यह कथन उचित न होगा, क्योंकि जिस प्रकार काष्ठ के समीप रहने से 'बुद्धि' का कोई उपकार नहीं होता, उसी प्रकार 'साक्षी' के द्वारा भी कोई उपकार नहीं हो सकता ॥ ११२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अध्यक्ष के लिये उपदेश को न मानने पर भी उसकी (उपदेश की) व्यर्थता कैसे हो सकती है ? हम, साक्षी का सान्निध्य होने से बुद्धि में ही श्रोतृत्व कहेंगे। इस प्रकार शंका करने पर शंका करनेवाले से यह पूछ सकते हैं कि बुद्धि का श्रोतृत्व, क्या अध्यक्ष की सन्निधि की सत्तामात्र की अपेक्षा करता है ? या उसके द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा करता है ? प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं कि सन्निहित रहनेवाले अध्यक्ष के द्वारा किया गया उपकाररूप कोई अतिशय बुद्धि में नहीं दिखाई देता। जिस प्रकार काष्ठ आदि की सन्निधि से बुद्धि का कोई उपकार नहीं होता है, उसी प्रकार साक्षी के द्वारा भी बुद्धि का कोई उपकार नहीं होता है ॥ ११२ ॥

बुद्धौ चेत्तत्कृतः कश्चिन्नन्वेवं परिणामिता ।
आभासेऽपि च को दोषः, सति श्रुत्याद्यनुग्रहे ॥११३॥

बुद्धाविति—यदि यह कहें कि 'साक्षी' के द्वारा 'बुद्धि' में कोई विशेषता उत्पन्न हो जाती है, तो 'साक्षी' को परिणामी कहना होगा। अतः श्रुतिप्रमाण के अनुरोध से 'चिदाभास' के स्वीकारने में क्या हानि है ? ॥ ११३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

द्वितीय पक्ष में भी दोष देते हैं। यदि यह कहें कि साक्षी के द्वारा बुद्धि में कोई विशेषता उत्पन्न होती है, अतः आभास स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु ऐसा कहने पर अध्यक्ष को परिणामी कहना होगा। ऐसी परिस्थिति में[1] श्रुति प्रमाण का अवलम्ब कर 'चिदाभास' ही क्यों न माना जाय ? क्योंकि आभास पक्ष निर्दुष्ट है, अतः वही उपादेय है। अथवा अध्यक्ष की परिणामिता भी मान ली जाय तो भी श्रुतिप्रमाण से सिद्ध आभास को मान लेने में भी तुम्हारी कौन-सी हानि है ? ॥ ११३ ॥

आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिभत्ववत् ।
सर्पादिश्च तथाऽवोचमादर्शे च मुखत्ववत् ॥११४॥

आभासे इति—यदि यह कहें कि 'चिदाभास' को स्वीकार करने पर भी 'आत्मा' का परिणामित्व सिद्ध होता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रज्जु आदि की समानता से जैसे सर्प आदि की कल्पना की जाती है, उसी तरह तथा आदर्श (शीशे) में मुख के प्रतिबिम्ब के समान उसे मिथ्या बता चुके हैं ॥ ११४ ॥

---

१. 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'—(बृ. उ. २।५।१९ तथा कठ. उ. ५।९।१०) और 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्—(ब्रह्म बिन्दु उ. १२)

* तदा० —पाठान्तरम् ।

हृदयस्पर्शिनी

यदि यह कहें कि चिदाभास मानने पर भी आत्मा परिणामी सिद्ध होगा, तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि रज्जु के अज्ञान से कल्पित सर्प में रज्जु की समानता के तुल्य तथा अनिदंरूप रजत में इदमात्मकता के तुल्य चिदात्मा के अज्ञान से कल्पित बुद्धि आदि में चित्तुल्यता मिथ्या ही है। मूलगत 'च' से अभोक्तृस्वरूप आत्मा में भोक्तृत्व का आभास भी मृषा ही है, यह सूचित किया गया है। अर्थात् उसे दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान मिथ्या बता चुके हैं ॥ ११४ ॥

नाऽऽत्माभासत्वसिद्धिश्चेदात्मनो ग्रहणात्पृथक् ।
मुखाद्वेश्च पृथक्सिद्धिरिह त्वन्योन्यसंश्रयः ॥११५॥

नात्मेति—शुद्ध आत्मा के ग्रहण करने से आत्मा के आभास की पृथक् सिद्धि यदि नहीं होती हो तो अन्योन्याश्रय दोष की उपस्थिति होगी। परन्तु यहाँ दृष्टान्त में तो शीशे में पड़े हुए प्रतिबिम्ब से ग्रीवा पर स्थित मुख की स्थिति पृथक् ही है। इसलिये अन्योन्याश्रय दोष के उपस्थित होने की कोई संभावना नहीं है ॥ ११५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अहंकार को ही आत्मा समझनेवाला उसके चिन्निभत्व पर आक्षेप कर रहा है। केवल (शुद्ध) आत्मा का अवभास होते रहने से आत्मा के आभास की पृथक् सिद्धि न होगी, अर्थात् आभास के अवभास से ही यदि आत्मा का आभास कहा जाय तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा, तात्पर्य यह है कि अपनी-अपनी सिद्धि में एक दूसरे की अपेक्षा होगी। किन्तु दृष्टान्त में दर्पणगत प्रतिबिम्ब से ग्रीवास्थ मुख की सिद्धि पृथक् है, अतः दृष्टान्त विषम है। दृष्टान्त में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है ॥ ११५ ॥

अध्यक्षस्य पृथक्सिद्धावाभासस्य तदीयता ।
आभासस्य तदीयत्वे, ह्यध्यक्षव्यतिरिक्तता ॥११६॥

अध्यक्षस्येति—पूर्वपक्षी अन्योन्याश्रय दोष को स्पष्ट करते हुए कहता है कि साक्षी जब पृथक् सिद्ध रहेगा, तभी आभास का उससे सम्बन्ध हो पायगा; एवं आभास उसी का है, इस कारण साक्षी का पृथक्त्व सिद्ध हो पायेगा। यही अन्योन्याश्रय दोष का स्वरूप है ॥ ११६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वपक्षी अन्योन्याश्रय दोष को स्पष्ट कर रहा है। साक्षी (अध्यक्ष) के पृथक् सिद्ध होनेपर आभास का उससे सम्बन्ध; और आभास उसका है, इस कारण साक्षी का पृथक्त्व—इस प्रकार दोनों को परस्पर अपेक्षा रहने से अन्योन्याश्रय दोष होता है। अर्थात् अध्यक्ष की भेदप्रतीति होनेपर चिदाभास की सिद्धि और चिदाभास की सिद्धि होने-पर उससे अध्यक्ष की भेदसिद्धि होगी—यही अन्योन्याश्रय दोष का स्वरूप है। तथाच—'अहम्' के आकार में प्रतीयमान अहंकार ही चेतन आत्मा है ॥ ११६ ॥

नैवं स्वप्ने पृथक्सिद्धेः, प्रत्ययस्य दृशेस्तथा ।
रथादेस्तत्र शून्यत्वात्प्रत्ययस्याऽऽत्मना ग्रहः ॥११७॥

नैवमिति—उस पर सिद्धान्ती कहता है कि तुम्हारा कहना उचित नहीं प्रतीत हो रहा है, क्योंकि स्वप्न में आत्मा और अन्तःकरण की सिद्धि पृथक् पृथक् प्रतीत होती है। तथापि स्वप्न में रथ आदि का अभाव होने से रथादि का ज्ञान केवल चेतन आत्मा के द्वारा ग्रहण किया जाता है ॥ ११७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वपक्षी का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्था में अहंकारात्मक अन्तःकरण दृश्य रूप में ही व्यवस्थित हो चुका है। अतः आत्मा आभासनिरपेक्ष ही सिद्ध होता है। अतः उक्त दृष्टान्त को असंगत कहना

ठीक नहीं है। क्योंकि स्वप्न में भी आत्मा और अन्तःकरण की मुख और उसके प्रतिबिम्ब के समान परस्परनिरपेक्षता सिद्ध है। तथापि स्वप्नावस्था में रथादि का अभाव रहने से[1] उन रथादि का ज्ञान ही उस स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप आत्मा के द्वारा गृहित होता है। अर्थात् आत्मा से भिन्न अन्तःकरण तथा उसके विषयादि की सत्ता तो आत्मा के आश्रय से है, किन्तु आत्मा की सिद्धि के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है। अतः इनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। तथाच प्रत्ययसंवलनविनिर्मुक्त स्वप्रकाशतया भासमान आत्मा ही स्वप्न में विषयाकाराकारित प्रत्यय का साक्षी सिद्ध होता है। स्वप्न में 'प्रत्यय' ही ग्राह्य रहता है। क्योंकि अन्य विषय तो स्वप्न में रहते नहीं, अतः वासनात्मक अन्तःकरण ही आत्मा के अधीन रहने से उसी का ग्रहण होता है ॥ ११७ ॥

अवगत्या हि संव्याप्तः, प्रत्ययो विषयाकृतिः ।
जायते स यदाकारः, स बाह्यो विषयो मतः ॥११८॥

अवगत्येति—**अन्तःकरण की विषयाकार वृत्ति, आत्मचैतन्य के द्वारा व्याप्त होती है। वह वृत्ति जिस आकार की होती है, उसी को बाह्य विषय कहा जाता है ॥ ११८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

अन्तःकरण का साक्षी आत्मा ग्राह्य से भिन्न है, यह बताने के लिए ग्राह्य के स्वरूप को बता रहे हैं। पूर्व श्लोक के द्वारा स्वप्नावस्था में चिदात्मा का प्रत्यय से विवेक (भेद) बताया गया था, और अब जागरित अवस्था में भी उस भेद को बताते हैं। अन्तःकरण की विषयाकारावृत्ति आत्मचैतन्य द्वारा व्याप्त होती है, और वह जिस आकार की रहती है, वही बाह्य विषय माना जाता है। विषय के स्फुरण में यह क्रम हुआ करता है—प्रथमतः आत्माभास से युक्त हुई बुद्धि की वृत्ति इन्द्रियप्रणाली के द्वारा विषय के स्थान पर पहुँचती है। वहाँ पहुँचकर वह विषय को व्याप्त करके विषयाकार हो जाती है। इस प्रकार वह जिस-जिस विषय का आकार ग्रहण करती है, उसी का ज्ञान आत्म-चैतन्य के द्वारा हुआ करता है ॥ ११८ ॥

कर्मेप्सिततमत्वात्स, तद्वान् कार्ये नियुज्यते ।
आकारो यत्र चार्प्येत, करणं तदिहोच्यते ॥११९॥

कर्मेति—**वह विषय, कर्ता को ईप्सिततम रहने से 'कर्म' कहलाता है। उस कर्ता को उसकी इच्छा होती है, तब वह कार्य में नियुक्त (प्रवृत्त) होता है। उसी प्रकार जिस बुद्धिवृत्ति में विषय का आकार अर्पित होता है, उसे करण कहा जाता है ॥ ११९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सम्प्रति कर्म, करण, कर्ता ये तीनों साक्षी से पृथक् हैं, यह बता रहे हैं। विषय, कर्ता का अत्यन्त इष्ट होने से 'कर्म कहा जाता है। उसकी इच्छा से युक्त हुआ पुरुष कार्य में नियुक्त होता है, तथा जिस बुद्धिवृत्ति में विषय का आकार अर्पित होता है, वह करण कहलाता है। अर्थात् तत्तद्बाह्येन्द्रियविशेषिता तत्तदर्थाकारा बुद्धिवृत्ति, विषयप्रमिति (ज्ञान) के प्रति 'करण' कहलाती है ॥ ११९ ॥

यदाभासेन संव्याप्तः, *स ज्ञातेति निगद्यते ।
त्रयमेतद्विविच्याऽत्र, यो जानाति स आत्मवित् ॥१२०॥

यदेति—**जब अन्तःकरण चिदाभास से व्याप्त होता है, तब उसे ज्ञाता कहते हैं। एवंच ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का विवेक करके जो व्यक्ति साक्षी आत्मा को जानता है, उसी को आत्मज्ञानी कहते हैं ॥ १२० ॥**

---

१. "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति।" (बृ. उ. ४।३।१०)

* संज्ञाता०—पाठान्तरम्।

हृदयस्पर्शिनी

विषय और करण को बताकर अब कर्ता को बता रहे हैं—जब अन्तःकरण चिदाभास से व्याप्त होता है तब वह ज्ञाता कहलाता है। अर्थात् जब चित्प्रतिबिम्ब के आभास से संव्याप्त हुआ अहंकार परिणत होता है, तब उसे चिदात्मप्रतिबिम्ब 'ज्ञाता' कहा जाता है।

इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों का विवेचन करके जो साक्षी आत्मा को जानता है, वही आत्मवेत्ता है अर्थात् वह त्वंपद से लक्ष्य प्रत्यगात्मा का ज्ञानी कहलाता है। यही बात श्रीमद्भागवत में बताई गई है—

"एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥" (२।१०।९)

श्रीमद्भागवत में अनेक स्थानों पर अनेक ग्रन्थियाँ हैं, जिनका भेदन करना सर्वसाधारण का कार्य नहीं है। उन ग्रन्थियों में से ही यह श्लोक भी एक ग्रन्थिरूप ही है। इस श्लोक का अर्थ, पूर्व श्लोकार्थ के ज्ञान के अधीन है। अतः उसी की व्याख्या प्रथमतः करते हैं।

"योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः॥ (श्री. भा. २।१०।८)

जो यह आध्यात्मिक पुरुष, चक्षुरादि करणों (इन्द्रियों) का अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही यह आधिदैविक पुरुष सूर्य आदि है। यहाँ पर पुरुष (जीव) की उपाधि होने से इन्द्रियादि में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया गया है। क्योंकि "स वा पुरुषोऽन्नरसमयः"[1]—इत्यादि श्रुति बता रही है। जो यह अध्यात्म चक्षुरादि करण है, वही यह आधिदैविक चक्षुरादि का अधिष्ठाता सूर्यादि पुरुष कहा गया है। क्योंकि इन्द्रिय और उनका अधिष्ठान दोनों ही सूर्यादि के अंशरूप होने से एकरूप हैं। एक ही में आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों का जो भेद (विच्छेद), जिससे प्रतीत हो रहा है, वह जो चक्षुर्गोलकादि से उपलक्षित दृश्य देह है, उसे ही आधिभौतिक पुरुष कहा गया है। करण और उसके अधिष्ठाता दोनों के अभिन्न रहनेपर भी उनमें भेद प्रतीति करानेवाला यह गोलक ही है। क्योंकि अन्यत्र करण की स्थिति न होने से भेद का बोधन नहीं होता है। एवंच 'इन्द्रिय' आध्यात्मिक है, 'देवता' आधिदैविक है, और 'गोलक' आधिभौतिक है, विषय भी आधिभौतिक है। अभिप्राय यह है—जो नेत्र आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता सूर्य आदि के रूप में भी है, और जो नेत्र गोलक आदि से युक्त दृश्य देह है, वही उन दोनों को अलग-अलग करता है।

अब प्रकृत श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा कि इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाय तो दूसरे दो की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः इन तीनों से अलग रहकर जो इन तीनों को जानता है, वही सबका अधिष्ठान 'आश्रय' तत्त्व है। उसका आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं है॥ १२०॥

सम्यक्संशयमिथ्योक्ताः, प्रत्यया व्यभिचारिणः।
एकैवावगतिस्तेषु, भेदस्तु प्रत्ययार्पितः॥१२१॥

सम्यगिति—**विवेक का प्रकार यह है—प्रत्यय को ही सम्यक् (यथार्थ), संशय और मिथ्या शब्द से कहते हैं। ये त्रिविध प्रत्यय आगमापायी होने से व्यभिचारी हैं। किन्तु उनमें 'ज्ञान' एकरूप ही है, केवल प्रत्ययों का भेद किया हुआ है॥ १२१॥**

आधिभेदाद्यथा भेदो, मणेरवगतेस्तथा।
अशुद्धिः परिणामश्च, सर्वं प्रत्ययसंश्रयात्॥१२२॥

आधीति—**जिस प्रकार जपापुष्पादि उपाधियों के भेद से मणि में भेद प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त अशुद्धि और परिणाम, प्रत्यय (अहंकार एवं चिदाभास) के सम्बन्ध से होते हैं॥ १२२॥**

१. (तै. उ. २।१)

प्रथनं ग्रहणं सिद्धिः, प्रत्ययानामिहाऽन्यतः ।
आपरोक्ष्यात्तवेवोक्तमनुमानं प्रदीपवत् ॥१२३॥

प्रथनमिति—**व्यवहार दशा में प्रत्ययों की स्फूर्ति, ग्रहण और स्थिति, किसी अन्य अपरोक्ष स्वभाव वस्तु के कारण होती हैं। इस विषय में दीपक के समान कहकर अनुमान प्रमाण बताया गया है ॥ १२३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ग्राह्य, ग्रहण और ग्राहक से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न अवस्थाओं के विषयाकार प्रत्ययों का स्फुरण (प्रथन) है। और ग्रहण का अर्थ है उपादान या स्थिति अथवा व्यवहार तथा सिद्धि का अर्थ हैं स्वरूपलाभ। ये तीनों तभी हो पाते हैं, जब कोई अन्य अपरोक्षस्वभाव वस्तु कारण हो। जिस प्रकार घट-पटादि पदार्थ दीपक के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार जड़ होने के कारण बुद्धि की वृत्तियाँ भी किसी स्वयंप्रकाश वस्तु से प्रकाशित होनी चाहिये। जिससे वे प्रकाशित होती हैं, वही स्वयंप्रकाश आत्मा है। समस्त प्रत्यय उसीमें अध्यस्त हैं और उसी के अधीन उनकी सत्ता भी है। आत्मातिरिक्त समस्त वस्तु आगमापायी होने से अचित्स्वभाव है। यह बात अनुमान-प्रमाण से सिद्ध हो रही है। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा—"विमताः प्रत्ययाः स्वविलक्षणान्याधीनप्रथनग्रहणसिद्धिकाः अचित्स्वभावत्वात् प्रदीपवत्।" इस प्रकार तो सामान्य दृष्टानुमान से "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः[1]", "आत्मैवास्य ज्योतिः[2]", "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति[3]" इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध स्वप्रकाश आत्मा की संभावना सिद्ध होती है ॥ १२३ ॥

किमन्यद्ग्राहयेत्कश्चित्, प्रमाणेन तु केनचित् ।
विनैव तु प्रमाणेन, निवृत्त्याऽन्यस्य शेषतः ॥१२४॥

किमिति—**वह वादी समस्त अनात्म (जड़) पदार्थों का प्रतिषेध करके अवशिष्ट के रूप में आत्मा का ग्रहण करता है, तो वह किसी प्रमाण के द्वारा करता है अथवा किसी प्रमाण के बिना ही करता है? ॥ १२४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस प्रकार अनुमान प्रमाण द्वारा विधिमुख से आत्मा की सिद्धि बतायी है। अब जो लोग निषेधमुख से ही प्रमाण के द्वारा आत्मा की सिद्धि कहते हैं, विधिमुख से नहीं, उनके मत के निराकरणार्थ विकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं— मूल में प्रथम 'तु' शब्द 'एव' के अर्थ में है और द्वितीय 'तु' शब्द 'वा' के अर्थ में है। क्या निषेधमुखवादी अनात्म पदार्थों का निषेध करके अवशिष्टरूप से आत्मा का ग्रहण किसी प्रमाण के द्वारा कराता है, अथवा किसी प्रमाण के बिना ही अर्थात् अन्य की निवृत्ति होने के कारण परिशेषात् ही आत्मा की सिद्धि करता है? ॥ १२४ ॥

शब्देनैव प्रमाणेन, निवृत्तिश्चेदिहोच्यते ।
अध्यक्षस्या*प्रसिद्धत्वाच्छून्यतैव प्रसज्यते ॥१२५॥

शब्देनैवेति—**यदि केवल शब्द प्रमाण से ही अनात्म (जड़) वस्तु का प्रतिषेध कहते हैं तो साक्षी की प्रसिद्धि न होने से शून्यता की ही प्रसक्ति होती है ॥ १२५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

विधिमुख से ही प्रमाण की प्रवृत्ति होती है, इस प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर इष्टहानि स्पष्ट ही है, अतः द्वितीय पक्ष को लेकर कहते हैं—यदि केवल शब्दप्रमाण से ही अनात्म वस्तु की निवृत्ति (निषेध) कही जा

१. (बृ. उ. ४।३।९)
२. (बृ. उ. ४।३।६)
३. (कठ. उ. ५।१५, श्वे. उ. ६।१४, मुं. उ. २।२।१०)
* प्रसिद्धित्वा०—पाठान्तरम् ।

रही है, तो अध्यक्ष (साक्षी) का सद्भाव, अन्य किसी प्रमाण से प्रसिद्ध न होने के कारण परिशेष की असिद्धि है, तब शून्यता ही अवशिष्ट रहती है, आत्मा नहीं ॥ १२५ ॥

चेतनस्त्वं कथं देह, इति चेन्नाप्रसिद्धितः ।
चेतनस्याऽन्यतः सिद्धावेवं स्यादन्यहानतः ॥१२६॥

चेतन इति—तू चेतन आत्मा है, तब तुझे अचेतन देह कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् चेतन का अचेतन होना संभव नहीं है। किन्तु अभी किसी प्रमाण से चेतन तत्त्व की सिद्धि ही कहाँ हो पाई है ? अतः तुम्हारा उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। चेतन तत्त्व की किसी प्रमाण के द्वारा सिद्धि हो जाने पर ही अन्य अचेतन पदार्थों का निषेध करते-करते अवशिष्ट का निर्देश कर सकते हो ॥ १२६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

चेतन और अचेतन विरुद्ध स्वभाववाले हैं, इस कथन से अचेतन का बाध (अन्यनिवृत्ति) शब्द के द्वारा किया गया है। अतः अचेतन के विरुद्ध स्वभाववाला चेतन अवशिष्ट रह जाता है। इस रीति से शून्यता का प्रसंग नहीं होगा। निषेधमुखवादी के इस प्रकार कहने पर सिद्धान्ती उत्तर दे रहा है कि प्रतियोगीरूप धर्मी के सिद्ध होनेपर 'अयं, अयं न भवति' ऐसा तादात्म्यनिषेध करने से विरुद्धरूपता का उपदेश होना संभव हो सकता है, किन्तु अद्यापि चेतन पदार्थ पृथक् सिद्ध ही नहीं है। निषेधमुख से ही सिद्ध कर रहे हो, और उसके सिद्ध होने पर ही (अयं, अयं न भवति) इत्याकारक तादात्म्यनिषेध कर पाओगे, ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष होगा ॥ १२६ ॥

अध्यक्षः स्वयमस्त्येव, चेतनस्याऽपरोक्षतः ।
तुल्य एवं प्रबोधः स्यादन्यस्याऽसत्त्ववादिना ॥१२७॥

अध्यक्ष इति—पूर्व पक्षी कहता है कि चेतन तत्त्व तो अपरोक्ष ही है, अतः साक्षी स्वयं ही सिद्ध है।

उस पर सिद्धान्ती कहता है कि इस प्रकार तो बौद्ध विद्वान् भी शून्य को स्वयं सिद्ध ही बताते हैं। अतएव वे आत्मा को शून्यरूप ही मानते हैं ॥ १२७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस पर निषेधमुखवादी पुनः शंका करता है कि आत्मा अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है। वह तो स्वतः सिद्ध है। अर्थात् वह स्वतः अपरोक्ष है। तब सिद्धान्ती कहता है कि तुम्हारा यह कथन तो शून्यवादी बौद्ध के समान ही है, क्योंकि वह भी शून्य को स्वतः सिद्ध ही मानता है। अर्थात् जैसे वह प्रमाण के विना ही शून्य को स्वतः सिद्ध मानकर 'शून्यम् आत्मा' कहता है, जिससे प्रबोध (ज्ञान) रूप आत्मा सिद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार तुम्हारा कथन (चेतन अपरोक्ष होने के कारण साक्षी तो स्वयं सिद्ध ही है) भी बौद्धसमकक्ष ही है ॥ १२७ ॥

अहमज्ञासिषं चेदमिति लोकस्मृतेरिह ।
करणं कर्म कर्ता च, सिद्धास्त्वेकक्षणे किल ॥१२८॥

अहमिति—'मैं इसे जानता था'—इस प्रकार लोगों को स्मरण हुआ करता है। अतः लोकव्यवहार में करण, कर्म और कर्त्ता की एक क्षण में ही युगपत् सिद्धि हो जाती है। इस रीति से प्रमाता यानी आत्मा की सिद्धि बताई जा सकती है ॥ १२८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इसपर पूर्वपक्षी पुनः स्मृतिबल से स्वतः सिद्ध अध्यक्ष की सिद्धि की आशंका कर रहा है—वह कहता है कि अनुभूत विषय की ही स्मृति हुआ करती है—यह नियम है। लोकव्यवहार में कहते भी हैं कि 'अहमिदमज्ञासिषम्' 'मैं इसे जानता था'—इस स्मरणात्मक वाक्य में कर्ता, कर्म और करण की युगपत् प्रतीति होती है, अतः इसी से प्रमाता

चेतन (आत्मा) की स्वतः सिद्धि हो जाती है। क्योंकि उक्त स्मृति, अनुभव के बिना तो हो नहीं रही है, अतः करण, कर्म, कर्ता तीनों एक क्षण में ही पूर्व से सिद्ध ही हैं। एवंच अध्यक्ष स्वतः सिद्ध है ॥ १२८ ॥

प्रामाण्येऽपि स्मृतेः शैघ्र्याद्यौगपद्यं विभाव्यते ।
क्रमेण ग्रहणं पूर्वं, स्मृतेः पश्चात्तथैव च ॥१२९॥

प्रामाण्येति—**पूर्वपक्षी के इस कथन पर सिद्धान्ती कहता है कि स्मृति को प्रमाण मानने पर भी कर्ता, कर्म और करण का जो एक साथ अनुभव होना बता रहे हो, वह ठीक नहीं है, वस्तुतः उनके युगपत् अनुभव की प्रतीति तो शीघ्रता के कारण होती है। स्मृति के पूर्व जैसे क्रमशः अनुभव हुआ था, वैसे ही अनुभव के पश्चात् भी तदनुसार उनका स्मरण भी क्रमशः ही होगा ॥ १२९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की आशंका का निराकरण कर रहा है—पूर्वानुभव की गमक होने से स्मृति की प्रामाणिकता रहने पर भी वह युगपत् त्रितयसिद्धि की गमक नहीं है, क्योंकि पूर्व (अनुभवकाल) में कर्त्रादिकों का ग्रहण क्रमशः हुआ था, ठीक उसी प्रकार उत्तर काल में स्मृति होती है। अतः कर्त्ता, कर्म, करण की प्रतीति क्रमशः होती हुई भी वह इतनी शीघ्र होती है कि युगपत् हुई-सी लगती है, वस्तुतः वह यौगपद्य—प्रतीति मिथ्या ही है। कर्त्रादि त्रिक की एकस्मृत्यवभास्यता निश्चित होनेपर तो यौगपद्य कहा जा सकता है, किन्तु अभी तो उसका निश्चय ही नहीं हो पाया है। क्योंकि 'अहमिदं जानामि' यह शब्दप्रयोग तो क्रमशः किया जा रहा है। अतः ग्राह्य स्फुरण में ग्राहक और ग्रहण की आकारता का संभव न रहने से ग्राह्यस्फुरणकाल में अन्य दोनों का भान होना संभव नहीं है। उसी तरह ग्राहक के स्फुरणकाल में ग्राह्य का स्फुरण होना भी संभव नहीं है। परस्पर विरुद्ध आकारवाले दोनों का भी एक प्रमाणज्ञान में स्फुरण होना संभव नहीं। उसी तरह विषय के साथ एकाकार हुआ ज्ञान जब स्फुरित होता है, तब उसके स्फुरण से ज्ञातृस्फूर्ति होती है। इस प्रकार क्रम से ही ज्ञात्रादि की सिद्धि होती है, यह पहले समझना चाहिये। अतः कमलदलशतभेदन में यौगपद्याभिमान के समान युगपत् स्मृति का केवल अभिमानमात्र है। अतः जिस प्रकार स्मृति से पूर्व उनका क्रमशः ग्रहण होता था, उसी प्रकार उसके पश्चात् भी होगा। किन्तु शीघ्रता के कारण उसका अनुभव नहीं हो पाता ॥ १२९ ॥

अज्ञासिषमिदं मां चेत्यपेक्षा जायते ध्रुवम् ।
विशेषोऽपेक्ष्यते यत्र, तत्र नैवैककालता ॥१३०॥

अज्ञासिषमिति—**यौगपद्य न होने में एक अन्य कारण और भी है। 'अज्ञासिषमिदं मां च'—मैंने इसे और अपने को जाना, इस ज्ञान में क्रम (पौर्वापर्य) की अपेक्षा का होना निश्चित ही है। जहाँ विशेष की अपेक्षा होती है, वहाँ यौगपद्य का होना संभव नहीं होता ॥ १३० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

ज्ञात्रादि त्रिक के यौगपद्याभाव में एक अन्य कारण भी बताते हैं। 'अज्ञासिषमिदंमां च'—मैंने इसे और अपने को जाना—इस प्रकार के ज्ञान में निश्चित रूप से पौर्वापर्यरूप क्रम की अपेक्षा है, क्योंकि 'यह'—इदंवृत्ति का विषय है और 'अपने को'—अहंवृत्ति का विषय है। इस कारण उन दोनों का ज्ञान एक ही क्षण में एक साथ नहीं हो सकता। वस्तुतः जहाँ विशेष की अपेक्षा होती है, वहाँ एककालिकता नहीं हो सकती ॥ १३० ॥

आत्मनो ग्रहणे चाऽपि, त्रयाणामिह संभवात् ।
आत्मन्यासक्तकर्तृत्वं, न स्यात्करणकर्मणोः ॥१३१॥

आत्मन इति—**विषय के ग्रहण में जैसे त्रिपुटी (कर्ता-कर्म-करण) की अपेक्षा रहती है, उसी तरह प्रमाता (आत्मा), प्रमेय और प्रमा आदि प्रत्येक के ग्रहण में भी त्रिपुटी (कर्ता, कर्म और करण) की अपेक्षा रहती है, किन्तु आत्मा में चरितार्थ होनेवाला कर्तृत्व, 'करण और कर्म' की सिद्धि में कारण नहीं होता है ॥ १३१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

विषय और स्वरूप की दृष्टि से त्रिक स्मृति का यौगपद्य संभव न होने से कर्त्रादि की सिद्धि हो जाने मात्र से उनके ऐक्य का अनुमान नहीं किया जा सकता, यह बता चुके। अब कर्त्रादिकों का युगपत् अनुभवसाधन न होने से भी उनकी युगपत्सिद्धि की संभावना नहीं है, यह बता रहे हैं। जैसे विषय ग्रहण में कर्ता, कर्म, करण इन तीनों की अपेक्षा रहती है, उसी तरह कर्त्रादि प्रत्येक के ग्रहण में भी तीनों की अपेक्षा होती है। तथाच प्रमाता, प्रमेय प्रमाणज्ञान के ग्रहण में भी कर्त्रादि तीनों की अपेक्षा रहना संभव है। अन्यथा तत्तत्कर्त्रादिस्फुरण के बिना तत्तदर्थ के अनुभूत होने का नियम न हो पाने से कर्त्रादि की अनवस्था प्राप्त होगी। क्योंकि आत्मा में चरितार्थ होने वाला कर्तृत्व तो करण और कर्म की सिद्धि में कारण नहीं हो सकता। जो क्रिया के करने में स्वतन्त्र होता है, उसे कर्ता कहते हैं। वही सब कारकों का प्रयोक्ता माना जाता है। अतः उसकी सत्ता पहले होनी चाहिये, उसके पश्चात् अन्य कारकों की सत्ता रहेगी। अतः कर्ता, कर्म और करण की सत्ता एकसाथ सिद्ध नहीं हो सकती, उसमें क्रम का होना नितान्त आवश्यक है। एवंच कर्त्रादि त्रिक का युगपदनुभवसाधन करना कभी संभव ही नहीं है ॥ १२१ ॥

व्याप्तुमिष्टं च यत्कर्तुः, क्रियया कर्म तत्स्मृतम् ।
अतो हि कर्तृतन्त्रत्वं, तस्येष्टं नाऽन्यतन्त्रता ॥१३२॥

व्याप्तुमिति—कर्ता की क्रिया द्वारा व्याप्त करने के लिये जो इष्टतम होता है, उसे कर्म कहा गया है[1]। अतः उसका सकलकारकप्रयोक्ता स्वतन्त्र कर्ता के अधीन रहना ही इष्ट है। उससे भिन्न किसी अध्यक्ष के अधीन रहना इष्ट नहीं है ॥ १३२ ॥

शब्दाद्वाऽनुमितेर्वाऽपि, प्रमाणाद्वा ततोऽन्यतः ।
सिद्धिः सर्वपदार्थानां, स्यादज्ञं प्रति नाऽन्यथा ॥१३३॥

शब्दाद्वेति—इसलिये आत्मतत्त्व की सिद्धि विधिरूप से प्रवृत्त होने वाले शब्द प्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण से ही होना उचित है। क्योंकि समस्त पदार्थों की सिद्धि, शब्द अथवा अनुमान प्रमाण से ही होती है। इन प्रमाणों से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किसी वस्तु की सिद्धि तो अज्ञानियों के प्रति की जाती है ॥ १३३ ॥

अध्यक्षस्यापि सिद्धिः स्यात्प्रमाणेन विनैव वा ।
विना स्वस्य प्रसिद्धिस्तु, नाज्ञं प्रत्युपयुज्यते ॥१३४॥

अध्यक्षस्येति—भले ही जड़ वस्तुओं की सिद्धि प्रमाण से ही हो, किन्तु चेतन आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, अतः प्रमाण के बिना भी उसकी सिद्धि हो सकती है। क्योंकि प्रमाण के अधीन तो केवल जड़ वस्तुओं की सिद्धि है। अतएव ग्रंथकार ने विकल्प उपस्थित करके पूछा है कि अज्ञानी के प्रति साक्षी की सिद्धि भी किसी प्रमाण से ही होगी अथवा प्रमाण के बिना भी हो जायगी ? किन्तु प्रमाण रहित आत्मसिद्धि, अज्ञानी के उपयुक्त नहीं है। अर्थात् स्वरूपभूत चैतन्य की सिद्धि में प्रमाण की आवश्यकता न रहने पर उसके साक्षित्व की सिद्धि में तो प्रमाण की आवश्यकता है ही ॥१३४॥

तस्यैवाऽज्ञत्वमिष्टं चेज्ज्ञानत्वेऽन्या मतिर्भवेत् ।
अन्यस्यैवाऽज्ञतायां च, तद्विज्ञाने ध्रुवा भवेत् ॥१३५॥

तस्यैवाज्ञत्वमिति—अब अध्यक्ष के स्वरूप में भी विकल्प उपस्थित कर उसकी प्रमाणाधीन सिद्धि का प्रदर्शन करते हुए प्रथम पक्ष को बताते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा की अज्ञता (जड़ता) ही इष्ट हो तो उसके ज्ञानत्व (चेतनत्व) के विषय में किसी अन्य अर्थात् प्रमाणजनित मति की अपेक्षा होगी, किन्तु अज्ञता (जड़ता) तो जड़ (अचेतन) अहंकार आदि की ही होने से उस अध्यक्ष (आत्मतत्त्व) के विज्ञान में अन्य मति अर्थात् शास्त्र प्रमाण से ही निश्चित बुद्धि हो जायेगी। दोनों प्रकार से अध्यक्ष की सिद्धि, विधिमुख प्रमाणाधीन ही है ॥ १३५ ॥

---

१. 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'—(पा. सू. १।४।४९)

ज्ञातता स्वात्मलाभो वा, सिद्धिः स्यादन्यदेव वा ।
ज्ञातत्वेऽनन्तरोक्तौ द्वौ, पक्षौ संस्मर्तुमर्हसि ॥१३६॥

ज्ञाततेति—अध्यक्ष (साक्षी) सिद्ध स्वरूप है, उसकी सिद्धि के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अतः 'सिद्धि' शब्द से क्या विवक्षित है ? क्या 'सिद्धि' शब्द से ज्ञान अभिप्रेत है या स्वरूपलाभ ? अथवा कोई अन्य वस्तु ? यदि 'सिद्धि' शब्द से 'ज्ञान' अर्थ अभिप्रेत हो तो पूर्व श्लोक में कहे हुए ("तस्यैवाज्ञत्वमिष्टं चेत्") को दोनों पक्षों को याद रखना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त विकल्प दूषण आदि को देखने से प्रथम कल्प तो उचित नहीं है ॥ १३६ ॥

सिद्धिः स्यात्स्वात्मलाभश्चेद्यत्नस्तत्र निरर्थकः ।
सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्, स्वहेतुभ्यस्तु वस्तुनः ॥१३७॥

सिद्धिरिति—अब द्वितीय कल्प को दूषित कर रहे हैं—यदि 'सिद्धि' शब्द से स्वात्मलाभ अभिप्रेत हो तो उसके लिये प्रयत्न (प्रमातृ-प्रमाण प्रयास) करना व्यर्थ है, क्योंकि किसी भी वस्तु का अपने कारण से होना तो सर्वत्र लोकप्रसिद्ध है ॥ १३७ ॥

ज्ञानज्ञेयादिवादेऽतः, *सिद्धिर्ज्ञातत्वमुच्यते ।
अध्यक्षाध्यक्ष्ययोः सिद्धिर्ज्ञेयत्वं नाऽऽत्मलाभता ॥१३८॥

ज्ञानेति—अतः ज्ञान-ज्ञेयादिवाद में (ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता का विचार करने वालों के मत में) 'ज्ञातत्व' को ही 'सिद्धि' शब्द से कहा गया है। अतः अध्यक्ष्य और अध्यक्ष (साक्ष्य और साक्षी) का ज्ञेयत्व ही उनकी 'सिद्धि' है। स्वरूप लाभ का नाम 'सिद्धि' नहीं है। अर्थात् जड़ या चेतन की स्थिति को 'सिद्धि' नहीं कहते। अपितु प्रमाण के बलपर प्रमाता का विषय होना ही उनकी सिद्धि है ॥ १३८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब तृतीय पक्ष तो अप्रसिद्धि के कारण ही पराहत हुआ जानकर वक्ष्यमाण पक्षविशेष का ज्ञापन करने के लिये उक्त पक्ष का निगमन करते हैं। जिस मत से ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता का विचार है, उस मत में 'सिद्धि' शब्द से 'ज्ञातत्व' अर्थ ही अभिप्रेत रहता है। अर्थात् साक्ष्य और साक्षी (अध्यक्ष्य और अध्यक्ष) का ज्ञेयत्व ही उनके मत में 'सिद्धि' शब्द का अर्थ है, 'स्वरूपलाभ' नहीं। अभिप्राय यह है—जड़ वस्तु हो या चेतन हो, उसकी स्थिति को 'सिद्धि' शब्द से नहीं कहा जाता, अपितु प्रमाण के द्वारा प्रमाता का विषय होना ही उनकी सिद्धि है। "अध्यक्षस्यापि"—(१८ प्र., १३४ श्लो.) पद्य की एक अन्य प्रकार से भी योजना हो सकती है। "अहं अज्ञासिषं चेदम्"–(१८।१२८) इस पद्य से आरंभ कर यहाँ तक के ग्रन्थ से कर्तृ-कर्म-करण की सिद्धि विधिमुख से प्रवृत्त होने वाले प्रमाणों के द्वारा ही हो सकती है, अन्यथा नहीं, इस प्रासंगिक सन्दर्भ का उपपादन और उपसंहार करके 'अध्यक्ष भी एक वस्तु है अतः विधिमुख से प्रवृत्त होने वाले प्रमाण से ही उसकी भी सिद्धि होती है'—इसी बात को "अध्यक्षस्यापि" पद्य से कहा गया है। मूलगत 'वा' शब्द से पूर्वपक्षी पर कटाक्ष किया गया है। अर्थात् क्या अध्यक्ष (द्रष्टा) की भी विना प्रमाण के ही सिद्धि हो जायगी ? अर्थात् कभी नहीं होगी। इस पर यदि यह कहा जाय कि अध्यक्ष तो चेतन पदार्थ है, उसकी सिद्धि बिना प्रमाण के क्यों नहीं होगी ? इस आशंका का समाधान यह है कि विना प्रमाण के वस्तु की प्रसिद्धि तो ज्ञान में होती है, क्योंकि ज्ञान के स्वरूपस्फुरण में ही प्रमाण की अपेक्षा नहीं हुआ करती। ज्ञाता (अध्यक्ष) के स्वरूपस्फुरण में तो प्रमाण की अपेक्षा रहती है। अन्यथा तुमको बताना होगा कि क्या अध्यक्ष ही अज्ञ (जड़) होता हुआ विना प्रमाण के ही अर्थ सिद्धी कर लेगा या किसी अन्य अन्तःकरण आदि के द्वारा अर्थसिद्धि की जायगी ? चेतन अध्यक्ष को ही यदि ज्ञानरूप कहें तो 'अहं अध्यक्षः' ऐसी बुद्धि होगी और उसे यदि ज्ञानवान् (ज्ञानाश्रय) कहें तो दूसरी बुद्धि होगी। अर्थात् प्रवृत्त प्रमाणजन्या मति (बुद्धि) होगी। क्योंकि आगन्तुक सिद्धि अन्य निमित्त से हुआ करती है। द्वितीय कल्प की दृष्टि से यदि विचार करें कि अध्यक्ष का ज्ञान अन्तःकरण को होता है, तो प्रमाणजन्य अन्य बुद्धि निश्चितरूप से माननी होगी। दोनों प्रकार से विधिमुख से प्रवृत्त होनेवाले प्रमाण से ही अध्यक्ष की

* ज्ञानत्व—पाठान्तरम् ।

सिद्धि होती है। ज्ञातता (ज्ञानवत्ता) को ही सिद्धि कहने के पक्ष में "तस्यैवाज्ञत्वमिष्टं चेत्"—(१८।१३५) इस पूर्व श्लोक में जो विकल्पदूषणप्रसर-प्रदर्शित किया गया है, उसका निवारण नहीं हो पायगा ॥ १३८ ॥

स्पष्टत्वं कर्मकर्त्रादेः, सिद्धिता यदि कल्प्यते ।
स्पष्टताऽस्पष्टते स्यातामन्यस्यैव न चाऽऽत्मनः ॥१३९॥

स्पष्टत्वमिति—**ज्ञातता और स्वरूपलाभ के अतिरिक्त भाट्टमतानुयायी विद्वान् 'स्पष्टता' को भी 'सिद्धि' शब्द से कहते हैं, किन्तु भगवान् भाष्यकार उसका खण्डन कर रहे हैं—**

यदि कर्ता, कर्म आदि की स्पष्टता को सिद्धि शब्द से कहें तो वह स्पष्टता-अस्पष्टता, जड़ पदार्थों की ही हो सकेगी, चेतन आत्मा की नहीं होगी ॥ १३९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस पर भाट्ट पक्ष की ओर से यह आशंका हो सकती है कि ज्ञातता तो आत्मलाभ (स्वरूपलाभ) के अतिरिक्त भी हो सकती है किन्तु स्पष्टता तो 'सिद्धि' ही है, अतः पक्षान्तर को अप्रसिद्ध नहीं कह सकते। इस आशंका का समाधान यह है कि यदि कर्ता, कर्म आदि की स्पष्टता को ही सिद्धि कहा जाय तो वह स्पष्टता-अस्पष्टता भी चिदाभासजनन के कारण कर्त्रादिविलक्षण किसी अन्य साक्षी की ही होगी, अर्थात् जड़ पदार्थ की ही होगी, आत्मा की नहीं, क्योंकि कर्त्रादिस्वरूप तो जड़ होता है ॥ १३९ ॥

अद्रष्टुर्नैव चान्धस्य, स्पष्टीभावो घटस्य तु ।
कर्त्रादिः स्पष्टतेष्टा चेद्द्रष्टृताऽध्यक्षकर्तृका ॥१४०॥

अद्रष्टुरिति—**देखने में असमर्थ अन्ध व्यक्ति को 'घट' की स्पष्टता नहीं हो सकती। यदि कर्ता आदि की स्पष्टता अभीष्ट हो तो 'द्रष्टृत्व' को कर्तृत्वादिशून्य साक्षी का कार्य मानना होगा ॥ १४० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसी को व्यतिरेक प्रदर्शन से स्पष्ट कर रहे हैं—दर्शनशक्तिशून्य अन्धे पुरुष के प्रति घटादि विषय की स्पष्टता, भाट्टमत में ज्ञानविषयता के अतिरिक्त तो हो नहीं सकती। तब कर्ता आदि की स्पष्टता, प्राकटयरूप इष्ट हो तो उससे विलक्षण अध्यक्षकर्तृक द्रष्टृता भाट्टमतानुयायी को अवश्य माननी होगी। अर्थात् द्रष्टृत्व (कर्तृत्वादि से शून्य) को साक्षी का कार्य मानना होगा। तस्मात् कर्मादि जड़ पदार्थ की प्रकाशापरपर्याय स्पष्टता का संभव न रहने से 'सिद्धि' शब्द का अर्थ 'स्पष्टता' नहीं है। किन्तु ज्ञानविषयता ही सिद्धि शब्द का अर्थ है। अतः कर्त्रादिगत चित् के आभासन द्वारा उसके अधिष्ठानभूत चिदात्मा को प्रदीपादि दृष्टान्त से युक्त अनुमानादि विधिमुख प्रमाण से ही जानना चाहिये ॥ १४० ॥

अनुभूतेः किमन्यस्मिन्, स्यात्तवाऽपेक्षया वद ।
अनुभवितरीष्टा स्यात्, सोऽप्यनुभूतिरेव नः ॥१४१॥

अनुभूतेरिति—**अनुभूति के विषय में कर्ता आदि किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा करने से तुम्हें क्या लाभ होगा ? उसे बताओ। यदि तुम्हें अनुभविता में ही अनुभूति को मानना इष्ट हो तो हमारे मतानुसार तो वह (अनुभविता) भी अनुभव रूप ही है ॥ १४१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इसपर विज्ञानवादी बौद्ध कहता है कि कर्तृ-कर्मविहीन प्रत्यय ही अपनी महिमा से भासित होता है। अनुभूतिज्ञान के विषय में किसी अन्य कर्ता आदि की अपेक्षा क्यों कर रहे हो, उससे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् कोई प्रयोजन (फल) सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि वह अनुभूतिज्ञान तो स्वप्रकाश है। यदि तुम्हें आश्रयभूत अनुभविता में ही अनुभूति अभिष्ट है, क्योंकि वह अनुभूति उस अनुभविता के अधीन होती है ऐसा कहो, तो हमारे सिद्धान्तानुसार वह

अनुभविता भी अनुभवात्मक ज्ञानरूप ही है अर्थात् अनुभूतिरूप ही है। उसके पृथक् होने में कोई प्रमाण नहीं है ॥ १४१ ॥

अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा, विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥१४२॥

अभिन्न इति—यद्यपि विज्ञानात्मा अभिन्न ही है, तथापि भ्रान्त हुए पुरुषों को वह ग्राह्य-ग्राहक और ग्रहण के रूप में भेदवान्-सा दिखाई पड़ता है ॥ १४२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इसपर यदि कहें कि अनुभूति, अनुभविता और अनुभाव्य ये भेददर्शन क्यों होता है? ऐसी शंका करने पर वह कहता है कि विज्ञानरूप आत्मा विज्ञान से अभिन्न ही है, उससे भिन्न नहीं है अर्थात् विज्ञान और आत्मा एक ही है। किन्तु जिनकी दृष्टि विपरीत है अर्थात् जिनकी बुद्धि में भ्रम हो गया है, वे लोग[1] उसे ग्राह्य, ग्राहक, ग्रहण (संवित्ति-ज्ञान) इन भेदों से युक्त हुआ-सा समझते हैं ॥ १४२ ॥

भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।
सत्त्वं नाशित्वमस्याश्चेत् सकर्तृत्वं तथेष्यताम् ॥१४३॥

भूतिरिति—जो लोग 'अनुभूति' को ही क्रिया और कारण भी मानते हैं, उनके अनुसार यदि उसकी सत्ता और विनाश हैं, तो उसका सकर्तृत्व भी उन्हें स्वीकार करना चाहिये ॥ १४३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

सिद्धान्ती के द्वारा उक्त मत का खण्डन किया जा रहा है—बुद्धि में कारकत्व का स्वीकार न करने के कारण उसे कर्ता आदि की अपेक्षा नहीं है। जिनके मत में अनुभूति ही क्रिया है और वही कारक भी है,[2] उनके सिद्धान्त के अनुसार यदि उसकी सत्ता (स्वरूपसत्ता) और विनाश है, तो उसी प्रकार उसका सकर्तृत्व भी उन्हें स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि वहां अनुभव का भी सद्भाव है ही। क्षणभंगुर (विनाशी) होने के कारण विरम्य (रुक-रुककर) व्यापार तो होगा नहीं[3], अतः उनके मत में उसे अपने से अतिरिक्त किसकी अपेक्षा होगी[4]? ॥ १४३ ॥

---

१. श्लोक सं० १४२ का द्वितीयपाद "विपर्यासितदर्शनैः" दिया गया है। उसीको बृहदारण्यवार्तिक ४।३।४७६ में "विपर्यासितबुद्धिभिः" कर दिया है। उसकी टीका में आनन्दज्ञान ने उसे 'कीर्ति' का वाक्य बताया है। श्लोकवार्तिक के शून्यवाद की १६ वीं कारिका के न्यायरत्नाकर में तथा सर्वदर्शनसंग्रह के बौद्धदर्शन में भी यह कारिका कुछ पाठान्तर के रूप में उपलब्ध होती है। दोनों में प्रथम पाद "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" दिया गया है। वाचस्पति मिश्र ने भी इस कारिका को योग सूत्र ४।२३ की तत्त्ववैशारदी में उद्धृत किया है। वहीं पर वार्तिककार ने भी "विपर्यासिति दर्शने" इस पाठान्तर के रूप में उसे उद्धृत किया है।

. "क्षणिकाः सर्वे संस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रियाः।
भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥"

बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक ४।३।४९४ की टीका में आनन्दज्ञान ने कर्तृनाम का निर्देश किये बिना ही इस संपूर्ण कारिका को दिया है। वार्तिककार ने भी ४।३।५८६ श्लोक में प्रथम पाद के द्वारा उसे वैसे ही उद्धृत किया है। इस कारिका के द्वितीयार्ध को वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्र २।२।२० की भामती में तथा योगसूत्र ४।२० की तत्त्ववैशारदी में वैसा ही रखा है। सुरेश्वराचार्य ने धर्मकीर्ति का साक्षात् नामनिर्देश भी बृहदारण्यकवार्तिक ४।३।७५२ श्लोक में किया है। उक्त कारिका के प्रथमार्ध को तन्त्रवार्तिक १।३।१० में एकवचनान्त के रूप में पाठभेद कर के उद्धृत किया है। प्रज्ञाकरमति-विरचित बोधिचर्यावतार पञ्जिका ९।६ में सम्पूर्ण कारिका दी गई है।

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्'—यह न्याय है। इस न्याय का अर्थ यह है कि एक ज्ञान कराकर शब्द, विरतव्यापार हो जाता है, वह पुनः दूसरा शाब्दबोध नहीं कराता। उसी तरह बुद्धि भी एक पदार्थ में ज्ञातता अथवा संस्कार पैदा कर पुनः

न कश्चिच्चेष्यते धर्म, इति चेत्पक्षहानता ।
नन्वस्तित्वादयो धर्मा, नास्तित्वादिनिवृत्तयः ।
न भूतेस्तर्हि नाशित्वं, स्वालक्षण्यं मतं हि ते ॥१४४॥

नेति—यदि उसका कोई धर्म तुम्हें अभिमत नहीं है तो तुम्हारे पक्ष की हानि होती है ।

उस पर बौद्ध कहता है—'अस्तित्वादि धर्म' तो 'नास्तित्वादि धर्म' की निवृत्ति ही हैं ।

उस पर सिद्धान्ती कहता है—तब तो तुम्हारे कथनानुसार 'क्षणिकत्वादि' को अनुभूति का लक्षण नहीं कह सकते ॥ १४४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि उसका सत्त्वादि कोई भी धर्म अभीष्ट नहीं है जो क्षणिकत्व पक्ष का ही भंग हो जाता है । इसपर यदि बौद्ध कहे कि हम लोग विज्ञान का क्षणिकत्वादि कोई धर्म नहीं मानते, किन्तु अक्षणिकत्वाद्यपोहरूप ही हमारा क्षणिकत्व है अर्थात् अस्तित्वादि धर्म तो नास्तित्व की निवृत्तिमात्र ही है । उस पर सिद्धान्ती कहता है कि तब तो अनुभूति का विनाशित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि तुम्हारे मत में अनुभूति की स्वलक्षणता (स्वालक्षण्य) मानी गई है । स्वेनैव लक्ष्यते ज्ञायते इति स्वलक्षणं, तस्य भावः स्वालक्षण्यम् अर्थात् निर्विकल्पमात्रम् । उसका फल यह होगा कि सविकल्पता होने से, अक्षणिकत्व के न रहने से, नाशित्व-अज्ञत्व आदि की व्यावृत्ति होने से और अनुभूति, सविकल्पज्ञान की गोचर (विषय) न होने से सत्त्व-नाशवत्त्वादि धर्म की सिद्धि नहीं हो पायेगी । अर्थात् तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार क्षणिकत्वादि को अनुभूति का लक्षण नहीं कहा जा सकेगा ॥ १४४ ॥

स्वलक्षणावधिर्नाशो नाशोऽनाशनिवृत्तिता ।
अगोरसत्त्वं गोत्वं ते, न तु तद्गोत्वलक्षणम् ॥१४५॥

स्वलक्षणेति—स्वलक्षण ही (स्व-स्वरूप ही) जिसकी अवधि है, उसे 'नाश' कहते हैं । किन्तु तुम्हारे मत में तो 'अनाश' की निवृत्ति को 'नाश' कहते हैं । और 'गोत्व' से भिन्न (अश्वत्व आदि) का अभाव ही 'गोत्व' है । गौ के लक्षणों से युक्त 'गौ' नहीं है ॥ १४५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

स्वरूपमात्र को ही स्वलक्षण कहते हैं । वह स्वलक्षण ही जिसकी अवधि है, उसे नाश कहते हैं । नष्ट होनेवाला कार्य निरवधि अर्थात् बिना अपनी अवधि के नष्ट नहीं होता, क्योंकि इदमत्र नास्ति—यह वस्तु यहाँ नहीं है, अमुक वस्तु अब नहीं है, नष्ट हो चुकी है, इस प्रकार नाश के विषय में लोकव्यवहार हुआ करता है । अतः विनाश का अवधिभूत कोई अविनाशी, अनुत्पन्न एवं स्वतःसिद्ध पदार्थ स्वीकार करना ही होगा । अतएव कहा गया है कि स्वलक्षण ही जिसकी अवधि है, उसे नाश कहते हैं । स्वरूपमेव लक्षणं प्रमाणं धर्मो वा यस्य सः—स्वलक्षणः, सः अवधिः सीमा यस्य विनाशस्य सः इति विग्रहः । एवंच तुम्हारे मत में आविर्भाव, तिरोभाव का अवधिभूत कोई स्थिर पदार्थ न होने से सत्त्व और विनाश दोनों की सिद्धि नहीं होगी । दूसरी बात यह है कि अपोह पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा । जैसे—नाश के सिद्ध होनेपर उसके विरोधी अनाश की सिद्धि और अनाश के सिद्ध होने पर उसके

वही बुद्धि अन्य ज्ञातता या अन्य संस्कार को पैदा नहीं करती । उसी प्रकार कर्म भी एकत्र विभाग को पैदा कर विभागान्तर को पुनः पैदा नहीं करता ।

४. योगसूत्र ४।२० के भाष्य में कहा है कि "क्षणिकवादिनः यद्भवनं, सैव क्रिया, तदेव च कारकं—इत्यभ्युपगमः ।" "क्षणिकवादी के मत में वस्तु की जो उत्पत्ति है, वही क्रिया (कार्य) है और वही उसका कर्त्रादिकारक वर्ग है । इसके मत में समस्त वस्तु का उत्पत्तिमात्र फल है, और वह निर्हेतुक अर्थात् स्वयमेव होता है, यह क्षणिकवादी का सिद्धान्त है" ऐसा वार्तिक में लिखा है ।

अपोहरूप नाश की सिद्धि होना यही अन्योऽन्याश्रय दोष का स्वरूप है। 'सामान्य' (जाति) का स्वीकार न करते हुए बौद्ध ने 'अगोव्यावृत्तिः' गोलक्षणम् स्वीकार किया है, अर्थात् 'तद्भिन्न-भिन्नत्वरूप अपोह' को माना है। वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भी वैसा ही अन्योन्याश्रय दोष स्थित है। 'गो' से अन्य अश्वत्वादि ही अगोपद के अभिधेय होंगे, उनका असत्त्व (निवृत्ति अर्थात् अभाव) ही 'गोत्व' है, यह तुम्हारा मत है, तदनुसार 'गोभिन्न-भिन्नत्व' ही गोत्व है अर्थात् 'गो' का लक्षण है, यह सिद्ध होता है। उसी तरह 'अश्व' का लक्षण भी गोत्वव्यावृत्तिरूप रहने से परस्परसापेक्षता रूप अन्योन्यश्रायदोष रहता है। किन्तु हमारे मत में 'गो' के लक्षणों से युक्त होना ही 'गो' का लक्षण है, अतः हमारे मत में कोई दोष नहीं है ॥ १४५ ॥

क्षणवाच्योऽपि योऽर्थः स्यात्सोऽप्यन्याभाव एव ते ॥१४६॥

क्षणवाच्योऽपीति—**जो पदार्थ 'क्षण' शब्द का वाच्य है, वह भी तुम्हारे मत के अनुसार अक्षणिकाभाव (अन्याभाव अर्थात् अक्षण का अभाव) रूप ही होगा। अतः क्षणिकताविरोधी 'स्थिर पदार्थ' (अक्षणिकता) को भी तुमने स्वीकार कर लिया, यह कहा जायगा ॥ १४६ ॥**

भेदाभावेऽप्यभावस्य, भेदो नामभिरिष्यते ।
नामभेदैरनेकत्वमेकस्य स्यात्कथं तव ॥१४७॥

भेदेति—**बौद्ध का कहना है कि 'अभाव' में भेद का अभाव रहने पर भी नामों के कारण उसका भेद माना जाता है, किन्तु तुम्हारे मत के अनुसार नामभेद के कारण एक ही वस्तु का अनेकत्व कैसे हो सकेगा ? ॥ १४७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस पर बौद्ध पुनः शंका करता है कि हमने अभाव को सत् की निवृत्तिरूप नहीं माना है। यदि वैसा मानते तो आपका अतिप्रसंग देना उचित होता। हम तो 'निरुपाख्य' को ही अन्यव्यावृत्ति के रूप में कहते हैं। अभाव में भेद का अभाव होने पर भी (स्वरूपतः भेदाभाव के रहने पर भी) अगोत्व ही अश्वत्व है, अनश्वत्व ही गोत्व है इत्यादि नामों (संज्ञाओं) के कारण ही स्वरूपभेद माना जाता है। इसपर सिद्धान्ती दोष दे रहा है कि तुम्हारे मत से नामभेद के कारण एक ही वस्तु का अनेकत्व कैसे हो सकता है ? अर्थात् निःस्वभाव वाले एक ही अभाव का निरर्थक भिन्न-भिन्न संज्ञाओं (नामभेदों) से समान रूप से अनेक पदार्थों की व्यावृत्ति के रूप में अनेकत्व कैसे संगत हो सकता है ? ॥ १४७ ॥

अपोहो यदि भिन्नानां, वृत्तिस्तस्य कथं गवि ।
नाऽभावा भेदकाः सर्वे, विशेषा वा कथंचन ॥१४८॥

अपोह इति—**दूसरी बात यह है कि 'अपोह' शब्द का अर्थ क्या है ? 'भिन्न पदार्थों का व्यावर्तन' है, या 'अभिन्न पदार्थों का व्यावर्तन, ? यदि प्रथम पक्ष का नाम 'अपोह' है, तो उस अगोत्वाभाव को 'गोव्यक्ति' में किस प्रकार वृत्ति हो सकती है ? और द्वितीय पक्ष का नाम 'अपोह' है, तो सभी अभाव किसी प्रकार भी भेदक (व्यावृत्तिबोधक) अथवा विशेष (भावरूप) नहीं हो सकते ॥ १४८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सिद्धान्ती पूछता है कि 'अपोह' का अर्थ भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति है या अभिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति है ? यदि भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति को 'अपोह' मानते हो तो किसी शब्द का अर्थ उसके प्रतियोगी का अभाव ही है तो 'गो' शब्द से अगोत्व का अभाव ही समझना चाहिए। 'गो' शब्द से भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति होती है तो अनन्त (अगणित) प्रतियोगी होने के कारण अगोत्वाभाव की वृत्ति 'गो' व्यक्ति में नहीं हो सकती। क्योंकि भेद के अनन्त प्रतियोगियों का ज्ञान हुए बिना उनके अपोह का ज्ञान होना संभव नहीं। उस स्थिति में वह अपोह 'गो' में कैसे रहेगा ? अपोह के न रह सकने पर किसी का भी अभाव कहीं भी सुलभ रहने से व्यवहार अनियमित हो जायगा। निष्कर्ष यह हुआ कि अगोत्वाभाव की गोव्यक्ति में वृत्ति न हो सकने से भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति को अपोह नहीं कह सकते। अब

यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् अभिन्न वस्तु की व्यावृत्ति को अपोह कहें तो सभी अभाव किसी प्रकार भी भेदक (व्यावृत्ति-बुद्धिजनक) अथवा विशेष (भावरूप) नहीं हो सकते। अभिप्राय यह है कि यदि अजत्व, अश्वत्वादिरूप किसी अभिन्न वस्तु की व्यावृत्ति ही अगोत्वाभाव है तो भेद्य और भेदक का भेद निश्चित न होने के कारण उससे न तो गो के साथ अन्योन्याभावरूप बुद्धि की ही उत्पत्ति हो सकती है और न वे किसी भावरूप खण्ड-मुण्डत्वादि पदार्थ के ही बोधक हो सकते हैं॥ १४८॥

नामजात्यादयो यद्वत्संविदस्तेऽविशेषतः ॥१४९॥

नामेति—**तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार जैसे निर्विशेष होने के कारण 'नाम' एवं 'जाति' आदि, 'विज्ञान' के विशेषण नहीं हो सकते, उसी तरह 'अगोत्वाभाव' अथवा 'खण्ड, मुण्डादि' भी 'गो' के विशेषण नहीं हो सकेंगे॥ १४९॥**

हृदयस्पर्शिनी

अपोहवाद में 'खण्डा गौः' 'नीलमुत्पलम्' आदि विशिष्ट व्यवहार नहीं बन सकेगा। उसी तरह 'इयं गौः', इत्यादि असाधारण स्वरूपव्यवहार भी नहीं बन सकेगा। अतः अपोह को न मानना ही समुचित है। बौद्ध के मत में जिस प्रकार संविद (विज्ञान) के निर्विशेष होने के कारण नाम, जाति आदि उस विज्ञान के विशेषण नहीं हुआ करते, उसी प्रकार अगोत्वाभाव अथवा खण्ड-मुण्डादि भी 'गो' के विशेषण नहीं होंगे, तब विशिष्ट व्यवहार का लोप ही हो जायगा, जिससे बौद्ध को जीना भी कठिन होगा॥ १४९॥

प्रत्यक्षमनुमानं *च, व्यवहारे यदिच्छसि।
क्रियाकारकभेदैस्तदभ्युपेयं ध्रुवं भवेत् ॥१५०॥

प्रत्यक्षमिति—**सिद्धान्ती का कहना है कि तुमने प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों का जैसे स्वीकार किया है, वैसे ही क्रिया-कारक रूपभेद के सहित ही उन दोनों को अवश्य स्वीकार करना होगा॥ १५०॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को तो बौद्ध स्वीकार करते हैं, किन्तु क्रिया-कारकरूप भेद को नहीं[१] मानते। वस्तुतः इन दो प्रमाणों के द्वारा क्रिया-कारकरूप भेद का ही ज्ञान होता है। अतः विज्ञान में क्रिया-कारकरूप भेद नहीं है—यह बौद्ध कथन नितान्त अनुचित है। बौद्ध यदि लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष, और अनुमान प्रमाण का स्वीकार करता है, तो उन्हें निश्चित रूप से क्रिया-कारकभेद के साथ ही विज्ञान का स्वीकार करना होगा॥ १५०॥

तस्मान्नीलं तथा पीतं, घटादिर्वा विशेषणम्।
संविदस्त्वदुपेयं स्याद्येन चाप्यनुभूयते ॥१५१॥

तस्मादिति—**इसलिये नील, पीत, घट आदि को अपने अभिमत 'विज्ञान' के विशेषण रूप में मानना ही होगा। उसी तरह उसके अनुभव करने वाले 'ज्ञाता' का भी स्वीकार करना होगा॥ १५१॥**

हृदयस्पर्शिनी

संवेदन (विज्ञान) के अतिरिक्त वेद्य, वेत्ता के स्वरूप को स्वीकार करने की इच्छा न रहने पर भी उसे तुम्हें (बौद्ध को) हठात् (जबरदस्ती) स्वीकार करना होगा। अर्थात् नील, पीत, घट आदि को विज्ञान का विशेषण स्वीकार करना ही होगा। और जिसके द्वारा उनका अनुभव किया जाता है, उस अनुभवकर्ता ज्ञाता का भी स्वीकार करना होगा। अतः बौद्ध अपना हठ छोड़ दे, और हमारे कथन का स्वीकार कर लें॥ १५१॥

रूपादीनां यथाऽन्यः स्याद्ग्राह्यत्वाद्ग्राहकस्तथा।
†प्रत्ययस्य तथाऽन्यः स्याद्व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् ॥१५२॥

१. ("भूतिर्येषां क्रिया सैव"—उ. सा. १८।१४३)

* वा०—पाठान्तरम्। † प्रत्ययस्तथान्यः—पाठान्तरम्।

रूपेति—'रूप' आदि ग्राह्य पदार्थ हैं, अतः उनका कोई अन्य ग्राहक भी माना जाता है, तथा 'प्रत्यय' भी ग्राह्य होता है, अतः उसका भी कोई अन्य ग्राहक होता है। उसी प्रकार दीपक के तुल्य प्रकाशक होने के कारण ग्राहक की सत्ता को 'ग्राह्य' पदार्थ से भिन्न मानना ही होगा ॥ १५२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब संवित्साक्षी में अनुमान प्रमाण बताते हैं। बौद्धों के समक्ष तो अनुमान प्रयोग इस प्रकार करना होगा—'यद्ग्राह्यं, तत्स्वान्यग्राह्यं, यथा रूपादि, ग्राह्या च संवित्' उसी तरह 'अवभासकः अवभास्यादन्यः, व्यञ्जकत्वात्, घटादेः प्रदीपवत्'—यह अनुमान प्रयोग आस्तिकों के समक्ष करना होगा। जैसे रूप आदि पदार्थों की ग्राह्यता होने से उनका ग्राहक कोई अन्य होता है, उसी तरह दीपक के समान प्रकाशक होने के कारण ग्राहक की सत्ता, ग्राह्य से पृथक् ही माननी चाहिए। प्रत्यय, ग्राह्य होने से उसका ग्राहक कोई अन्य होगा, उसी तरह ग्राहक भी ग्राह्य से कोई अन्य होगा ॥ १५२ ॥

अध्यक्षस्य दृशेः कीदृक्संबन्धः संभविष्यति ।
अध्यक्ष्येण तु दृश्येन, मुक्त्वाऽन्यो द्रष्टृदृश्यताम् ॥१५३॥

अध्यक्षस्येति—साक्षी से सम्बन्धित प्रत्ययवर्ग के साथ 'द्रष्टा आत्मा' का 'द्रष्टृ-दृश्यत्व' सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कौन सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ १५३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अब प्रत्ययवर्ग और अध्यक्ष (साक्षी) का सम्बन्ध बताते हैं। द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध मान लेने पर आभास को तो मानना ही होगा। प्रत्यय (अध्यक्ष्य) के साथ आत्मा (दृशि) का सम्बन्ध पारमार्थिक है, या अपारमार्थिक ? प्रथम विकल्प मानने पर दृशि में परिणामादि विकार का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः यह प्रथम पक्ष सावद्य (निन्दित) है। तात्पर्य यह कि साक्षी से सम्बन्धित प्रत्ययवर्ग के साथ द्रष्टा आत्मा का द्रष्टृ-दृश्यत्वरूप सम्बन्ध को छोड़कर अन्य कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ १५३ ॥

अध्यक्षेण कृता दृष्टिर्दृश्यं व्याप्नोत्यथाऽपि वा ।
नित्याध्यक्षकृतः कश्चिदुपकारो भवेद्धियाम् ॥१५४॥

अध्यक्षेणेति—द्रष्टा की दृष्टि, 'दृश्य' को व्याप्त करती है या नहीं ? नित्य साक्षी के द्वारा 'बुद्धि' का कोई उपकार तो होना ही चाहिये। 'साक्ष्य' के साथ 'साक्षी' का सम्बन्ध पारमार्थिक है या अपारमार्थिक है ? इस विकल्प में आचार्य, द्वितीय पक्ष का स्वीकार करते हैं ॥ १५४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

द्रष्टा (अध्यक्ष) की दृष्टि, दृश्य को व्याप्त करती है या नहीं ? जो नित्य साक्षी है, उसके द्वारा बुद्धि पर कोई उपकार तो होना ही चाहिए ॥ १५४ ॥

स चोक्तस्तन्निभत्वं, प्राक्संव्याप्तिश्च घटादिषु ।
यथाऽऽलोकादिसंव्याप्तिर्व्यंञ्जकत्वाद्धियस्तथा ॥१५५॥

स चेति—साक्षीकृत बुद्धि के उपकार का वर्णन मुखाभास का दृष्टान्त देकर किया जा चुका है। जिस प्रकार घट आदि में प्रकाश आदि की व्याप्ति होती है, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक होने के कारण उसमें बुद्धि की भी व्याप्ति होती है ॥ १५५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

उस नित्य अध्यक्ष साक्षी के द्वारा बुद्धि पर किये गये उपकार (चिन्निभत्व=चित् की समानता) का वर्णन, पहले मुख-प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से किया जा चुका है। उसी प्रतिबिम्ब (आभास) के द्वारा आत्मा का दृश्य (बाह्य

विषय) के साथ सम्बन्ध बताने के लिये बुद्धि की विषयव्याप्ति को दृष्टान्त देकर बताते हैं—जिस प्रकार घट-पटादि में प्रकाशादि की व्याप्ति होती है, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक होने के कारण उन दृश्य बाह्य पदार्थों में (घटादि में) बुद्धि की भी व्याप्ति होती है ॥ १५५ ॥

आलोकस्थो घटो यद्वद्बुद्ध्यारूढो भवेत्तथा ।
धीव्याप्तिः स्याद्घटारोहो, धियो व्याप्तौ क्रमो भवेत् ॥१५६॥

आलोकस्थ इति—**प्रकाश स्थित घट जैसे 'बुद्धि' में आरूढ़ होता है, वैसे ही बुद्धिनिष्ठ घट भी बुद्धि में आरूढ़ होता है । बुद्धि के द्वारा घट की व्याप्ति ही 'घटारोह' है । किन्तु बुद्धि की व्याप्ति में क्रम रहता है, और आत्मव्याप्ति में कोई क्रम नहीं रहता ॥ १५६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त बात को ही अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। जैसे आलोकनिविष्ट (प्रकाशस्थित) घट आलोकारूढ़ होताहै, वैसे ही बुद्धिनिविष्ट (बुद्धिनिष्ठ—स्थित) घट भी बुद्ध्यारूढ़ होता है। यहाँ पर 'आरूढ़' का अर्थ अश्व और अश्वारोही के समान आधाराधेयभाव नहीं है। यहाँ तो बुद्धि के द्वारा घट की व्याप्ति ही घटारोह है। यदि विषय-व्याप्तिमात्र ही बुद्धि की विषयव्यञ्जकता है, तो आत्मा और बुद्धि दोनों में अन्तर क्या है ? उत्तर यही होगा कि बुद्धि की व्याप्ति में क्रम रहता है और आत्मव्याप्ति में कोई क्रम नहीं रहता ॥ १५६ ॥

***पूर्वा स्यात्प्रत्ययव्याप्तिस्ततोऽनुग्रह आत्मनः ।**
कृत्स्नाध्यक्षस्य नो युक्तः, कालाकाशादिवत्क्रमः ॥१५७॥

पूर्वमिति—**'विषय' में 'बुद्धि' की व्याप्ति प्रथम होती है, और उसके पश्चात् 'आत्मा' का अनुग्रह होता है। किन्तु काल और आकाश आदि के समान व्यापक आत्मा की व्याप्ति में कोई क्रम नहीं होता ॥ १५७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रथमतः विषय में बुद्धि की व्याप्ति होती है। तदनन्तर आत्मा का अनुग्रह होता है। अर्थात् बुद्धि जब विषयाकार हो जाती है, तब उस आकार में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसके बल पर बुद्धि, विषय को अभिव्यक्त कर पाती है। इस रीति से बुद्धि में क्रमशः द्रष्टृत्व और अन्यशेषत्व सिद्ध होता है । एवंच बुद्धि की विषय में व्याप्ति क्रमशः होती है। किन्तु काल और आकाशादि के समान व्यापक आत्मा की व्याप्ति में कोई क्रम नहीं है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक विषय (अर्थ) के प्रति बुद्धि के भिन्न-भिन्न परिणाम होकर वह विषय की अभिव्यंजक हुआ करती है, अतः क्रम तो बुद्धि का ही मानना उचित होगा। सर्वत्र अनुगतप्रकाशरूप अपरिच्छिन्न आत्मा का क्रम मानना उचित नहीं है ॥ १५७ ॥

विषयग्रहणं यस्य, †कारणापेक्षया भवेत् ।
सत्येव ग्राह्यशेषे च, परिणामी स चित्तवत् ॥१५८॥

विषयेति—**किन्तु 'बुद्धि' के समान 'आत्मा' परिणामी नहीं है। क्योंकि ग्राह्य विषय के अवशिष्ट रहते हुए जिसे 'कारक' की अपेक्षा से 'विषय' का ग्रहण होता है, वह पदार्थ 'चित्त' के समान परिणामी होता है ॥ १५८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि कोई कहे कि भोग्य विषय का अवभासक होने से बुद्धि की तरह अध्यक्ष (साक्षी आत्मा) का भी परिणाम होगा, तो उसका उत्तर यह है कि बुद्धि की तरह आत्मा परिणामी नहीं है। क्योंकि अपने से असंसृष्ट ग्राह्य विषय के अवशिष्ट रहते हुए जो कर्तादि कारकों की अपेक्षा करके विषय का ग्रहण कर पाता है, वह पदार्थ चित्त के समान परिणामी कहा जाता है। आत्मा को जो विषयावभास होता है, वह इस रीति से नहीं होता,

---

* पूर्वं०—पाठान्तरम् । † करणा०—पाठान्तरम् ।

किन्तु वह आत्मा नित्यसिद्धप्रकाशस्वरूप होने से उसे अपने में अध्यस्त (आरोपित) समस्त विषयों का युगपत् अवभासन होता है, इसलिये उसके परिणामी होने की शंका ही नहीं की जा सकती ॥ १५८ ॥

अध्यक्षोऽहमिति ज्ञानं, बुद्धेरेव विनिश्चयः ।

***नाध्यक्ष्याविशेषत्वान्न तस्यास्ति परो यतः ॥१५९॥**

अध्यक्षेति—**'मैं साक्षी हूँ' यह ज्ञान, चिदाभासविशिष्ट बुद्धि का ही निश्चय है, 'साक्षी' का नहीं। क्योंकि वह 'निर्विशेष' है, और उससे भिन्न उसका कोई 'द्रष्टा' भी नहीं है ॥ १५९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि उक्त रीति से आत्मा का भोग्यविषय के आकार में कोई परिणाम न हो, तथापि ब्रह्मज्ञान के आकार में तो परिणाम होता ही है। क्योंकि ब्रह्म यद्यपि स्वात्मा के रूप में ही है, तथापि उसके आकार का अवभास होने में आगन्तुक ज्ञान की अपेक्षा होती है। अतः ब्रह्म को परिणामी कह सकते हैं। इस आशंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से अनुभव में आने वाला 'मैं ब्रह्म (परमात्मा) ही हूँ', इत्याकारक जो ज्ञान है, वह अध्यक्ष (साक्षी) का परिणाम नहीं है। क्योंकि आत्मा तो विशेषरहित है, क्योंकि निरवयव, असंग आत्मा में स्वतः अथवा परतः किसी भी प्रकार का कोई विशेष होने की संभावना ही नहीं है। अपितु साभास बुद्धि की ही निश्चयात्मिका विशेष अवस्था हुआ करती है। 'मैं साक्षी हूँ' यह ज्ञान चिदाभासविशिष्ट बुद्धि का ही निश्चय है, साक्षी का नहीं। क्योंकि वह निर्विशेष है। उससे भिन्न उसका कोई द्रष्टा भी नहीं है। निष्कर्ष यह है कि अनेक जन्मानुष्ठित यज्ञ-यागादि से उत्पन्न अदृष्टादि दोषों की निवृत्ति के संस्कार से युक्त हुई, सगुणब्रह्मोपासना के द्वारा जिसकी चञ्चलता का निराभरण हो चुका है, सम्प्रति विवेक-वैराग्य-शमादि गुणों से सुसंस्कृत हुई और 'तत्' और 'त्वम्' इन दो पदार्थों के परिशोधन से उत्पन्न हुए ज्ञान के कारण जिसमें ब्रह्मात्मैक्य के संस्कार सुदृढ़ हो गये हैं, ऐसी जो ब्रह्मात्मनिश्चयात्मिका बुद्धि है, उसी की कोई अखण्डाकारा अवस्था हुआ करती है, जो 'तत्त्वमसि' वाक्योपदेशश्रवण के समानान्तर शोधित तत्-त्वम् पदार्थ में परिकल्पित भेद का तिरोधान कर देती है। तब अखण्डाकार अवस्था हो जाती है, उस अवस्था में प्रतिबिम्बित चिदात्मा, उस अखण्डाकार वृत्ति से अपने को अविविक्त समझता हुआ 'अहं'=मैं, इस प्रकार से परामर्श करने लगता है। तब उपाध्यंश का अपोह होने से अपने विविक्ताकार स्वरूप को ही अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। उसमें कोई किसी प्रकार की नवीन विशेषता पैदा नहीं होती। उस चिदात्मा में किसी प्रकार की कोई विशेषता (परिणाम) मानने पर, परिणामी चित्त के समान 'स्वान्यवेद्यत्व' नियम के अनुसार चिदात्मा का भी कोई अन्य साक्षी मानना होगा। किन्तु अनवस्था और प्रमाणरहित कल्पना करना उचित नहीं है। अतः यही स्वीकार करना होगा कि उसका कोई साक्षी नहीं है ॥ १५९ ॥

कर्त्रा चेदहमित्येवमनुभूयेत मुक्तता ।

सुखदुःखविनिर्मोको, नाहंकर्तरि युज्यते ॥१६०॥

कर्त्रेति—**यदि 'कर्ता'—मैं मुक्त हूँ— ऐसा मानकर 'मुक्तता' का अनुभव कर सकता है तो अहंकारातीत आत्मा में 'सुख-दुःख' की निवृत्ति नहीं रहनी चाहिये थी, किन्तु सुख-दुःख रूप फल की प्राप्ति तो आत्मा को ही हुआ करती है। वह क्यों होती है ? क्योंकि मुक्त होने पर तो 'क्रिया' के सहित 'कर्त्ता' भी नहीं रहता, इसलिये उसे उसके फल की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ॥ १६० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि अन्तःकरणका ही ज्ञानाकार (वृत्त्याकार) परिणाम होता है, तथापि उसे उसके सुख-दुःख-निवृत्तिरूप फल की प्राप्ति नहीं होती, वह फलप्राप्ति तो आत्मा को ही हुआ करती है। किन्तु अहंकर्ता के साथ फल का संबंध मानने पर दोष बताते हैं। कर्ता अर्थात् विकारी, 'अहं मुक्तः' मैं मुक्त हूँ—इस प्रकार मुक्तता का अनुभव यदि करे तो निरहंकार आत्मा में सुख-दुःख की निवृत्ति नहीं रहनी चाहिये थी। क्योंकि मुक्त होने पर तो

* नाध्यक्षस्या०—पाठान्तरम्।

क्रिया के सहित कर्ता भी नहीं रहता। इस कारण उसे फल की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? अतः आत्मा के साथ फल का कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १६० ॥

देहादावभिमानोत्थो, दुःखीति प्रत्ययो ध्रुवम् ।
कुण्डलीप्रत्ययो यद्वत्प्रत्यगात्माभिमानिना ॥१६१॥

देहादाविति—'प्रत्यगात्मा' में अभिमान करने वाले व्यक्ति का जैसे 'मैं कुण्डल वाला हूँ'—यह प्रत्यय निवृत्त (बाधित) हो जाता है, क्योंकि कुण्डल का सम्बन्ध तो स्थूल शरीर से है। उससे अपना पार्थक्य ज्ञान (भिन्नता का ज्ञान) हो जाता है, तब वह अपने से उसका सम्बन्ध नहीं मानता। उसी प्रकार 'विवेक ज्ञान' के द्वारा उसका 'मैं दुःखी हूँ'—यह देहाभिमान से उत्पन्न हुआ अविवेकमय प्रत्यय भी निश्चित रूप से बाधित हो जाता है ॥ १६१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्यगात्मा में अभिमान रखने वाले पुरुष का 'मैं कुण्डलवाला हूँ'—यह प्रत्यय बाधित हो जाता है, क्योंकि कुण्डल का सम्बन्ध तो स्थूल शरीर से ही रहता है। जब स्थूल शरीर से अपने को भिन्न समझने लगता है, तब वह उसे अपने से सम्बन्धित नहीं मानता। उसी प्रकार जब विवेकज्ञान हो जाता है तब 'मैं दुःखी हूँ'—यह देहाभिमान से उत्पन्न हुआ अविवेकमय प्रत्यय भी निश्चितरूप से बाधित हो जाता है ॥ १६१ ॥

बाध्यते प्रत्ययेनेह, विवेकेनाऽविवेकवान् ।
विपर्यासेऽसदन्तं स्यात्प्रमाणस्याप्रमाणतः ॥१६२॥

बाध्यते इति—अविवेक से विवेक का बाध क्यों नहीं होता ? इस शंका का समाधान यह है कि विपर्यास मानने पर प्रमाण का अप्रामाण्य हो जाने के कारण सभी कुछ 'शून्यमय' हो जायगा। अतः 'अविवेक' से 'विवेक' की निवृत्ति नहीं हुआ करती ॥ १६२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि विवेकज्ञान से अविवेक की निवृत्ति हो जाती है, तो अविवेक के द्वारा विवेक की भी निवृत्ति हो सकती है। इस प्रकार शंका करने पर समाधान देते हैं कि इस प्रकार विपरीत मानने पर प्रमाण का अप्रामाण्य हो जायगा, तब सभी शून्यमय हो जायगा। अतः अविवेक से विवेक की निवृत्ति मानना उचित नहीं है ॥ १६२ ॥

दाहच्छेदविनाशेषु, दुःखित्वं नान्यथाऽऽत्मनः ।
नैव ह्यन्यस्य दाहादावन्यो दुःखी भवेत्क्वचित् ॥१६३॥

दाहेति—देहाभिमान के रहने से अनुभूयमान दाह, छेदन और मरण होने के लिये अविवेक के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं। अतः 'आत्मा' का दुःखी होना सम्भव नहीं है। क्योंकि अन्य के दाहादि में कोई अन्य कभी दुःखी नहीं होता है ॥ १६३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

विवेक से अविवेक की निवृत्ति (बाध) होती है, यह पहले वता चुके हैं, उसे और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। दुःख का जो अनुभव होता है, वह दाहादि देहोपघात के कारण ही होता है, अन्यथा नहीं। वह अनुभव देहाभिमाननिबन्धन ही है, अन्यथा सुषुप्ति में भी होना चाहिये। अतः देहाभिमान के कारण अनुभूयमान दाह, छेदन, मरण आदि से होनेवाले दुःखानुभव में अविवेक के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है। इसीलिये आत्मा का दुःखी होना असंभव ही है। क्योंकि किसी दूसरे के दाहादि होने पर कोई अन्य कभी दुःखी नहीं होता अर्थात् 'अहं दुःखी अस्मि' मैं दुःखी हूँ—ऐसा ज्ञान नहीं हुआ करता। आत्मा भी देह से भिन्न है, यह प्रमाणसिद्ध है। 'अहं दुःखी अस्मि' यह जो अनुभव होता है, वह अध्यासनिबन्धन है ॥ १६३ ॥

अस्पर्शत्वाददेहत्वान्नाहं वाह्यो यतः सदा ।
तस्मान्मिथ्याभिमानोत्थं, मृते पुत्रे मृतिर्यथा ॥१६४॥

अस्पर्शत्वादिति—**'आत्मा' को स्पर्श न कर सकने के कारण वह 'अस्पृश्य' है, और वह अदेह (देह से भिन्न) भी है। इसलिये वह दाह्य भी नहीं है। फिर भी पुत्र के मरने पर उसे अपने ही मरण के समान जो दाहजनित दुःख होता है, वह मिथ्या अभिमान के कारण ही होता है ॥ १६४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा को कोई छू नहीं सकता इसलिये वह अस्पृश्य है, और वह देह से भिन्न भी है, इस कारण आत्मा दाह्य (दाह के योग्य) भी नहीं है। तथापि पुत्र के मरने पर अपने ही मरण के तुल्य यह दाहजनित दुःख तो मिथ्याभिमान से ही होता है, वास्तविक नहीं है ॥ १६४ ॥

कुण्डल्यहमिति ह्येतद्बाध्येतैव विवेकिना ।
दुःखीति प्रत्ययस्तद्वत्, केवलाहंधिया *सह ॥१६५॥

कुण्डल्यहमिति—**जैसे विवेकी पुरुष 'मैं कुण्डली हूँ'—इस ज्ञान का बाध कर देता है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्म में अहंबुद्धि के सहित 'मैं दुःखी हूँ'—इस ज्ञान का भी बाध हो जाता है ॥ १६५ ॥**

सिद्धे दुःखित्व इष्टं स्यात्, तच्छक्तिश्छन्दसाऽऽत्मनः ।
मिथ्याभिमानतो दुःखी, तेनार्थापादन†क्षयः ॥१६६॥

सिद्धे इति—**'आत्मा' का दुःखी होना (दुःखित्व) सिद्ध होने पर, इच्छानुसार उसको दुःखित्वशक्ति भी इष्ट हो सकती है। वह तो मिथ्या अभिमान के कारण ही दुःखी होता है और उसी से वह दुःखित्वशक्ति का सम्पादन करने में समर्थ रहता है ॥ १६६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

दुःखरहित के लिये मोक्षोपदेश अनुपपन्न होने से आत्मा में दुःखित्व की प्रतीति हो सकती है, उस कारण उस प्रकार की प्रतीति के लिये उसमें शक्तिमत्त्व की प्रतीति माननी होगी। अतः अन्यगत निमित्त से ही वह दुःखी नहीं है, किन्तु सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी स्वतः ही उसमें शक्तिमत्त्व मानना होगा, उसका निवारण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के समाधान में कह रहे हैं कि किसी भी अवस्था में उस केवल शुद्ध आत्मा में दुःखित्व यदि प्रमाण से सिद्ध हो तो अपनी इच्छा के अनुसार उसमें दुखित्वशक्ति की कल्पना भी की जाय। किन्तु वैसी कल्पना नहीं कर सकते। क्योंकि उसमें जो दुःखदर्शन होता है, उसकी अन्यथा उपपत्ति भी लगायी जा सकती है। वह तो मिथ्या अभिमान के कारण ही दुःखी है और उसी से वह दुःखित्वशक्ति सम्पादन करने में समर्थ हो जाता है। अर्थात् मिथ्याभिमान के कारण ही उसे दुःखित्व का अनुभव होता है ॥ १६६ ॥

अस्पर्शोऽपि यथा स्पर्शमचलश्चलनादि च ।
अविवेकात्तथा दुःखं, मानसं चात्मनीक्षते ॥१६७॥

अस्पर्शोऽपीति—**जैसे अविवेक से परवश होकर आत्मा, स्पर्शरहित रहने पर भी अपने को स्पर्शयुक्त एवं अचल रहने पर भी चलनादि धर्म से युक्त समझता है, वैसे ही मन में होनेवाले दुःख को अपने में देखता है ॥ १६७ ॥**

विवेकात्मधिया दुःखं, नुद्यते चलनादिवत् ।
अविवेकस्वभावेन, मनो गच्छत्यनिच्छतः ॥१६८॥

विवेकात्मेति—**जिस प्रकार स्थूल देह से आत्मा को भिन्नता का ज्ञान होने पर उसमें चलनादि क्रिया की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार विवेकरूप आत्मज्ञान के द्वारा दुःखादि सूक्ष्मदेहधर्म की भी निवृत्ति हो जाती है। मनुष्य**

* सदा—पाठान्तरम् । † क्षमः—पाठान्तरम् ।

की इच्छा न रहने पर भी उसका मन अविवेक के अधीन होकर ही इधर-उधर भटकता रहता है। अर्थात् सूक्ष्म देह से अविवेक रहने के कारण होने वाले दुःख का ब्रह्मात्मज्ञान से समूल बाध हो जाता है ॥ १६८ ॥

तदा तु दृश्यते दुःखं, नैश्चल्ये नैव तस्य तत् ।
प्रत्यगात्मनि तस्मात्तद्दुःखं नैवोपपद्यते ॥१६९॥

तदेति—**किन्तु विवेक के द्वारा मन के निश्चल हो जाने पर वह दुःख आत्मा में नहीं दिखाई पड़ता। अतः प्रत्यगात्मा में दुःख का होना संभव ही नहीं है ॥ १६९ ॥**

त्वंसतोस्तुल्यनीडत्वान्नीलाश्ववदिदं भवेत् ॥१७०॥

त्वमिति—**'त्वम्' और 'सत्' ये दोनों पद, एक ही अर्थ में अन्वित होते हैं। अतः यह वाक्य 'नील-अश्व' के समान है ॥ १७० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त युक्तियों से निर्दुःख स्वभाववाला आत्मा है, यह सिद्ध होने पर वेदान्तवाक्य से ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। 'त्वं और सत्' ये पद, एक ही अर्थ (वस्तु) में अन्वित होते हैं। अतः 'तत्त्वमसि' यह वाक्य, 'नील अश्व' के तुल्य है। यद्यपि इस दृष्टान्त में यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि 'नील अश्व' में 'नील' गुण है और 'अश्व' गुणी (द्रव्य) है, और दोनों का 'संसर्ग' उसका अर्थ है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' और 'त्वम्' पद की 'अखण्डार्थता' ही वाक्यार्थ है। अतः यह दृष्टान्त देना उचित नहीं है। किन्तु इसका समाधानं यह है कि यद्यपि उक्त दृष्टि से इनकी समानता नहीं है, तथापि एकद्रव्यपर्यवसायित्वरूप सामानाधिकरण्य तो है ही। इस प्रकार सामानाधिकरण्य बताने में ही दृष्टान्त देने का तात्पर्य है ॥ १७० ॥

निर्दुःखवाचिना योगात्, त्वंशब्दस्य तदर्थता ।
प्रत्यगात्माभिधानेन, तच्छब्दस्य युतेस्तथा ॥१७१॥

निर्दुःखेति—**निर्दुःखवाचक 'सत्' शब्द के साथ 'त्वम्' शब्द का सामानाधिकरण्य है। इसलिये उसका अर्थ 'सत्' है। उसी तरह प्रत्यगात्मा के वाचक 'त्वम्' पद के साथ 'सत्' पद का सामानाधिकरण्य है। अतः उसका 'अपरोक्षत्व' सिद्ध होता है ॥ १७१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदों का एकार्थनिष्ठत्व किस प्रकार है, उसे बता रहे हैं। निर्दुःखवाची 'सत्' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'त्वं' शब्द में 'सत्' शब्द की अर्थता है अर्थात् 'त्वम्' शब्द, 'सत्' शब्द का अर्थ है, और प्रत्यगात्मा के वाचक 'त्वं' शब्द के साथ 'तत्' शब्द (सत् शब्द) का सामानाधिकरण्य होने से 'तत्' (सत्) शब्द, 'त्वम्' शब्द का अर्थ है। अतः 'तत्' (सत्) का अपरोक्षत्व सिद्ध हो जाता है ॥ १७१ ॥

दशमस्त्वमसीत्येवं, वाक्यं स्यात्प्रत्यगात्मनि ॥१७२॥

दशमस्त्वमिति—**अतः 'दसवाँ (दशम) तू है' इस वाक्य के समान 'तत्त्वमसि' वाक्य का तात्पर्य 'प्रत्यगात्मा' में ही समझना चाहिये ॥ १७२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वाक्य भी अपरोक्ष वस्तु का प्रतिपादक होता है, उसे दृष्टान्त देकर बता रहे हैं। जैसे दस मनुष्य किसी समय देशान्तर जा रहे थे। रास्ते में एक नदी थी। तैरते हुए जब उस नदी के पार पहुँच गये, तब वह जानने के लिये कि कोई डूब तो नहीं गया या बह तो नहीं गया ? यह जानने के लिये आपस में वे गिनने लगे। प्रत्येक ने सबको गिना,

लेकिन वह स्वयं को गिनना भूल जाता था, अर्थात् केवल नौ लोगों को ही गिनता था। तब वे यह समझने लगे कि हम दस में से एक बह गया या डूब गया, और शोकग्रस्त होकर रोने लगे। उसी समय एक बुद्धिमान् आदमी वहाँ आ पहुँचा। और उसने दस में से एक के डूबने का समाचार उनसे सुना, तब उसने कहा 'दशम' दसवाँ भी है, वह न डूबा है और न बह गया है। और दसों को गिनकर यह भी दिखा दिया कि वह 'दशम' दसवा आदमी, स्वयं गणना करनेवाला ही है। अतः जिस प्रकार 'दशमस्त्वमसि' दसवा तू ही है—इस वाक्य का तात्पर्य स्वयं गणना करनेवाले में ही है, उसी प्रकार 'तू ब्रह्म है' इस वाक्य का तात्पर्य भी प्रत्यगात्मा में ही है। 'तत्त्वमसि' वाक्य का तात्पर्य 'दशमस्त्वमसि' वाक्य के समान प्रत्यगात्मा में ही है ॥ १७२ ॥

स्वार्थस्य ह्यप्रहाणेन, विशिष्टार्थसमर्पकौ।
प्रत्यगात्मावगत्यन्तौ, नान्योऽर्थोऽर्थाद्विरोध्यतः ॥१७३॥

स्वार्थस्येति—**अपने वाच्यार्थ का त्याग न करने से तो ये विशिष्ट अर्थ के द्योतक होते हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा इनका पर्यवसान (तात्पर्य) प्रत्यगात्मा में ही होता है। इस अखण्डार्थ का विरोधी अन्य अर्थ, वेदान्त शास्त्र में नहीं बताया गया है। 'त्वम्' पद से वाच्य जो 'जीव' है, वह प्रत्यक्ष और अल्पज्ञ है। तथा 'तत्' पद से वाच्य जो 'ईश्वर' है, वह परोक्ष और सर्वज्ञ है। उनके इन विशेष गुणों का बाध कर देने पर 'शुद्ध' चेतन अवशिष्ट रह जाता है। वही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अखण्ड अर्थ है ॥ १७३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'तत्' और 'त्वम्' पदों का यदि एक ही अर्थ में पर्यवसान होता है तो घट-कलश आदि के समान उन्हें पर्याय कहना होगा, तब उनका सहप्रयोग (एकसाथ प्रयोग) नहीं किया जा सकता। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उन दोनों की प्रवृत्ति के भिन्न-भिन्न निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त भेद) होने से उन्हें पर्याय नहीं कह सकते। ये 'तत् और त्वम्' दोनों पद, अपने वाच्यार्थ (परोक्षत्व और प्रत्यक्षत्व) का त्याग न करने के कारण ही विशिष्ट अर्थ के प्रकाशक होते हैं। अतः वाच्यार्थ के भिन्न होने से दोनों को पर्याय नहीं कह सकते। अन्ततोगत्वा उन दोनों का तात्पर्य प्रत्यगात्मा में ही है। अर्थात् शुद्ध साक्षी का ज्ञान कराने में ही उन पदों का तात्पर्य है। निष्कर्ष यह है कि तत्-त्वम् पदों के सुनाई देनेवाले सामानाधिकरण्य का तात्पर्य परस्परविरुद्ध वाच्यार्थों के संसर्ग (संबन्ध) में अथवा अन्यतरविशिष्ट हुए अन्यतर में हैं। किन्तु—'सोऽयं देवदत्तः' के समान भेदपरामर्श के कल्पित होने से लक्षण के द्वारा परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादि अंश के समाप्त होने पर अखण्डस्वरूपमात्र में उनका पर्यवसान होता है। एवंच प्रत्यगात्मा का ज्ञान कराने के लिये ही तत्-त्वं शब्द कहे गये हैं। तथापि पुनः जिज्ञासा होती है कि तत्-त्वम् पदों के सामानाधिकरण्य की उपपत्ति अंशांशिभाव को मानकर भी हो सकती है, तब अखण्डार्थ में ही इतना पक्षपात क्यों है? उत्तर यह है कि अखण्डार्थ का विरोधी कोई अन्य अर्थ वेदान्त में नहीं बताया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि सुवर्ण-कुण्डल के समान तत्-त्वम् के अर्थों में कार्य-कारणभाव से संसर्ग का होना संभव नहीं है। क्योंकि "अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्[1]" श्रुति से विरोध होगा। और भूमि-ऊषरादि के सामान अंशांशिभाव से भी उनका संसर्ग होना संभव नहीं है, क्योंकि "निष्कलं निष्क्रियम्[2]" इत्यादि कूटस्थ एकरस की प्रतिपादक श्रुति से विरोध होगा। उसी तरह 'नीलम्-उत्पलम्' में जैसे गुण-गुणिभाव से संसर्ग होता है, वैसा संपर्क भी यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि निर्गुणत्वश्रुति से विरोध होगा। और जाति-व्यक्ति-विशिष्ट स्वरूपादि प्रकार से भी यहां संसर्ग नहीं बन सकता, क्योंकि "एकमेवाद्वितीयम्[3]", "असङ्गोह्ययं पुरुषः[4]" इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा। तस्मात् विशिष्टसंसर्गविरोधी वस्तुमात्र में स्थित रहना, यही वाक्य की अखण्डार्थता का तात्पर्य है। तथाच अनुमान का आकार यह होगा—

१. (कठ उ. २।१४)
२. (श्वे. उ. ६।१९)
३. (छां. उ. ६।२।१८)
४. (बृ. उ. ४।३।१५–१६)

'विमत अखण्डार्थनिष्ठम्, उपाधिपरामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदवस्तुनिष्ठत्वात् 'सोऽयं देवदत्त:', खं छिद्रम्' इत्यादि वाक्यवत् ॥ १७३ ॥

नवबुध्यपहाराद्धि, स्वात्मानं दशपूरणम् ।
अपश्यञ्ज्ञातुमेवेच्छेत्, स्वमात्मानं जनस्तथा ॥१७४॥

नवेति—'हम नौ मनुष्य हैं'—इस भ्रान्त बुद्धि से (यथार्थ ज्ञान के न रहने से) दशम संख्या की पूर्ति करने वाले स्वयं अपने को वह जानना चाहता है । क्योंकि वह अपने-आप को ही भूल बैठा था ॥ १७४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

वाक्य की अखण्डार्थनिष्ठता रहने पर भी केवल उसमें ही उसका तात्पर्य (पर्यवसान) मानना उचित नहीं है। क्योंकि केवल ज्ञानमात्र से फलप्राप्ति नहीं होती । अत: यत्नान्तर का अन्वेषण करना चाहिये, इसलिये क्रिया-पर्यवसायिता क्यों नहीं मानी जाती ? उत्तर देते हैं कि जो अर्थ जिज्ञासित रहता है, उसी अर्थ की कल्पना की जाती है। जिज्ञासित अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर में तात्पर्य की कल्पना यदि की जायेगी तो अबुभुत्सित अर्थ होने से वाक्य ही अप्रमाण हो जायेगा । 'हम नौ मनुष्य हैं' इस बुद्धि के भ्रम से यथार्थ ज्ञान तिरोहित हो जाने से दशम संख्या की पूर्ति करनेवाला व्यक्ति स्वयं अपने को न जानने के कारण उसे केवल जानना ही चाहता है । उसके अतिरिक्त और कुछ करना नहीं चाहता । इस दृष्टान्त के अनुसार मुमुक्षु व्यक्ति भी स्वयं अपने को किसी कारण से भूल गया था, अत: उसे केवल जानना ही चाहता है, जिससे भ्रम दूर हो जाय। एवंच भ्रमनिवृत्तिरूप फल के लिये ही वह केवल अपने आप को जानना ही चाह रहा है । अत: क्रियापरत्व की कल्पना करने का अवसर ही कहाँ है ? ॥ १७४ ॥

अविद्याबद्धचक्षुष्ट्वात्कामापहृतधी: सदा ।
विविक्तं दृशिमात्मानं, नेक्षते दशमं यथा ॥१७५॥

अविद्याबद्धेति—अपना ही विस्मरण होने से जैसे दसवें व्यक्ति का ज्ञान नहीं हुआ था, वैसे ही अनादि अविद्या के द्वारा विवेकदृष्टि के आच्छादित होने के कारण नानाविध कामना (तृष्णा) ओं से कुण्ठित बुद्धि वाला पुरुष, दृश्य वर्ग से पृथक्भूत ज्ञानस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता ॥ १७५ ॥

दशमस्त्वमसीत्येवं, तत्त्वमस्यादिवाक्यत: ।
स्वमात्मानं विजानाति, कृत्स्नान्त:करणेक्षणम् ॥१७६॥

दशमस्त्वमिति—'दशमस्त्वमसि' के समान 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से मुमुक्षु पुरुष सम्पूर्ण अन्त:करण के साक्षी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥ १७६ ॥

① इदं पूर्वमिदं पश्चात्, पदं वाक्यं भवेदिति ।
नियमो नैव वेदेऽस्ति, पदसाङ्गत्यमर्थत: ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां, ततो वाक्यार्थबोधनम् ॥१७७॥

इदमिति—'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इन वाक्यों में 'त्वम्', 'अहम्' आदि पदों को पहले और 'तत्' 'ब्रह्म' आदि पदों को पीछे रखकर वाक्य बनाया जाता है । तब अन्वय-व्यतिरेक से वाक्यार्थ का बोध होता है । किन्तु व्यावहारिक नियम के अनुसार 'उद्देश्य' को पहले और 'विधेय' को बाद में रखा जाता है । किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में विधेय जो 'तत्' पद है, उसे पहले रखा गया है, और उद्देश्य जो 'त्वम्' पद है, उसे बाद में रखा गया है । उस पर सिद्धान्ती कहता है कि 'पाठक्रम' की अपेक्षया 'अर्थक्रम' को प्रबल मानने का सिद्धान्त मीमांसा शास्त्र ने बताया है । अत: अन्वय-व्यतिरेक रूप प्रमाण के सहारे उनका अर्थ के अनुसार अन्वय समझना चाहिये ॥ १७७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पुनरपि एक जिज्ञासा जागरित होती है कि लोकव्यवहार में सर्वत्र यह नियम देखा जाता है कि वाक्य में प्रथमतः उद्देश्य रखा जाता है, पीछे विधेय रखा जाता है।

"यच्छब्दः योगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम्।
तच्छब्द एवकारश्च स्यादुपादेयलक्षणम्"[1] ॥

इस न्याय में प्रथमनिर्दिष्ट उद्देश्य और चरमनिर्दिष्ट उपादेय (विधेय) होता है। प्रकृत में उसका पालन नहीं हुआ है। 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद जो विधेय है, उसका प्रथम निर्देश हुआ है। और 'त्वम्' पद जो उद्देश्य है, उसका पश्चात् निर्देश हुआ है। अर्थात् 'तत्त्वम्' में तदर्थ का प्राथम्य सुनाई देता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' में त्वमर्थ का प्राथम्य ज्ञात हो रहा है। अतः उद्देश्य-विधेय के नियम की यहाँ रक्षा नहीं हो पायी। तब सिद्धान्ती उत्तर देते हैं कि वेद में पाठक्रम के अनुसार अर्थ करने का ही कोई नियम नहीं है। पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम की प्रबलता मानी गई है। अतः अनेक स्थलों में अर्थक्रम के अनुसार ही अनुष्ठान किया जाता है। 'आहर पात्रम्', 'पात्रमाहर' के समान अर्थ-नियम की विवक्षा की गई है। अन्वय-व्यतिरेक प्रमाण के द्वारा अर्थ के अनुसार अन्वय किया जाता है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों में यह 'त्वम्' 'अहम्' आदि पद पहले और 'तत्' 'ब्रह्म' आदि पद पीछे रहने से वाक्य बनाता है। अतः पश्चात् अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। क्योंकि पाठ का नियम न रहने पर भी 'प्रसिद्ध-मुद्दिश्य अनूद्य अप्रसिद्धो बोध्यते'—इस न्याय से प्रसिद्धार्थक त्वम्, अहम् आदि पदों को पहले और 'इदम्' अप्रसिद्धार्थक ब्रह्म, सत् आदि पदों को पश्चात्—इस रीति से विन्यस्त किये गये को वाक्य कहा जा सकता है—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जानकर पश्चात् वाक्यार्थ का बोधन (ज्ञान) अर्थात् त्वमर्थ की तदर्थात्मता का ज्ञान हो सकता है ॥ १७७ ॥

वाक्ये हि श्रूयमाणानां, पदानामर्थसंस्मृतिः ॥१७८॥

वाक्ये इति—**वेदवाक्य में जो श्रूयमाण पद हैं, उनमें अर्थस्मृतिरूप नियम नहीं है। वहाँ अर्थ के अनुसार पदों की संगति लगानी होती है ॥ १७८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

क्योंकि वाक्य के अन्तर्गत श्रुत हुए पदों का अर्थस्मृतिरूप नियम नहीं है। वहाँ अर्थ के अनुसार पदों की संगति लगाई जाती है ॥ १७८ ॥

यदा नित्येषु वाक्येषु, पदार्थस्तु विविच्यते।
वाक्यार्थज्ञानसंक्रान्त्यै, तदा प्रश्नो न युज्यते ॥१७९॥

यदेति—**जब वाक्यार्थ के ज्ञान का संचार करने के लिये नित्यवाक्य में प्रयुक्त पद के अर्थ का विवेचन कर दिया जाता है, तब शिष्य का कोई प्रश्न करना उचित नहीं है ॥ १७९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

कोई प्रश्नकर्ता पुनः कहता है कि 'तू ब्रह्म है'—इस प्रकार गुरु के उपदेश करने पर भी शिष्य कह सकता है कि 'मैं तो परिच्छिन्न हूँ', तब मैं अपरिच्छिन्न तथा नित्य ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ?—इस स्थिति में केवल वाक्यार्थ मात्र से पदार्थज्ञान की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है? अतः तदन्यथानुपपत्त्या कहा जा सकता है कि वाक्य, साक्षात् बोध-जननसमर्थ नहीं है। इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है कि जिस समय गुरु, वाक्य के पदों का वास्तविक अर्थ बताकर शिष्य के अन्तःकरण में वाक्यार्थ का संचार कर देता है, उस समय शिष्य को पुनः कोई शंका नहीं हो सकती। शंका

1. वरदराज ने अवयव निरूपण के प्रसंग पर 'तार्किकरक्षा' नामक ग्रन्थ में इस कारिका को उद्धृत किया है। विद्यारण्य ने भी 'विवरण प्रमेय संग्रह' में सू. १ के द्वितीय वर्णक में इसे उद्धृत किया है।

तो तभी तक होती है, जब तक उसे पदार्थ का बोध नहीं होता है। पदार्थ का बोध हो जाने पर शिष्य को कोई शंका नहीं रहती ॥ १७९ ॥

अन्वयव्यतिरेकोक्तिः, पदार्थस्मरणाय तु ।
स्मृत्यभावे न वाक्यार्थो, ज्ञातुं शक्यो हि केनचित् ॥१८०॥

अन्वयेति—**श्लोक १७७ 'इदं पूर्वमिदं' में अन्वय-व्यतिरेक के विषय में जो बताया गया है, वह पदों के अर्थ का स्मरण रखने के लिये कहा गया है। क्योंकि उनके स्मरण के बिना कोई भी व्यक्ति वाक्यार्थ को जानने में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वाक्यार्थ का बोध तो पदों के अर्थज्ञान की स्मृति पर ही निर्भर रहता है ॥ १८० ॥**

हृदयस्पर्शिनी

पदार्थतत्व से अनभिज्ञ पुरुष ही प्रश्न करता है। जो अभिज्ञ है, उसके सभी प्रश्न शान्त हो जाते हैं। पूर्वगत १७७ वे श्लोक में अन्वय-व्यतिरेक के सम्बन्ध में जो कहा गया है, वह पदों के अर्थों को स्मरण रखने के लिये कहा गया है, क्योंकि उनकी स्मृति के बिना वाक्य का अर्थ किसी के समझ में नहीं आ सकता। अवान्तर वाक्य और तदनुकूल तर्क के द्वारा आत्मानात्म-विवेचन ही पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक शब्द से कहा गया है। लोकानुभव से यह स्पष्ट है कि पदार्थस्मृति ही पदोपस्थापित वाक्यार्थ का ज्ञान कराने में कारण हुआ करती है ॥ १८० ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु, त्वंपदार्थाविवेकतः ।
व्यज्यते नैव वाक्यार्थो, नित्यमुक्तोऽहमित्यतः ॥१८१॥

तत्त्वमिति—**'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में 'त्वम्' पदार्थ का विवेक न होने से 'मैं नित्य मुक्तस्वरूप हूँ'—यह वाक्यार्थ अभिव्यक्त नहीं हो पाता ॥ १८१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में 'त्वं' पद के अर्थ का विवेक न होने के कारण 'मैं नित्य मुक्त स्वरूप हूँ' यह वाक्यार्थ अभिव्यक्त नहीं हो पाता। इसलिये 'त्वं' पदार्थ के विवेक करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये ॥१८१॥

अन्वयव्यतिरेकोक्तिस्तद्विवेकाय नान्यथा ।
त्वंपदार्थविवेके हि, पाणावर्पितबिल्ववत् ॥१८२॥

अन्वयेति—**अन्वय-व्यतिरेक का जो उल्लेख किया गया था, वह उसी का विवेक कराने के लिये ही है, उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। 'त्वम्' पदार्थ का विवेक हो जाने पर हथेली पर रखे हुए बिल्व फल के समान...॥ १८२ ॥**

वाक्यार्थो व्यज्यते, चैवं केवलोऽहंपदार्थतः ।
दुःखीत्येतदपोहेन, प्रत्यगात्मविनिश्चयात् ॥१८३॥

वाक्यार्थ इति—**वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। 'मैं दुःखी हूँ'—इस प्रकार के प्रत्यय का 'अहम्' पद के अर्थ से बाध हो जाने पर प्राप्त हुए प्रत्यगात्मा का निश्चय हो जाता है ॥ १८३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त अन्वय-व्यतिरेक का उल्लेख उसी का विवेक कराने के लिये है, किसी अन्य प्रयोजन के लिये नहीं है। 'त्वं' पद के अर्थ का विवेक हो जानेपर 'अहं' के अर्थ से 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय का बाध कर देने पर प्राप्त हुए प्रत्यगात्मा के निश्चय से हथेली पर रखे हुए बेलफल के तुल्य वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का श्रुत अर्थ तो अखण्डार्थ है, अर्थात् माया और अज्ञान के संसर्ग से रहित ब्रह्म और आत्मा की एकता है, तथा अश्रुत अर्थ 'संसर्गादि' है, जिसमें जीव और ईश्वर की स्वरूपगत एकता न होकर केवल चैतन्यरूप से उनकी समानता स्वीकार की जाती है ॥ १८२-१८३ ॥

तत्रैवं संभवत्यर्थे, श्रुतहानाश्रुतार्थधीः ।
नैव कल्पयितुं युक्ता, पदवाक्यार्थकोविदैः ॥१८४॥

तत्रेति—इस रीति से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का पूर्वोक्त अर्थ संभव होने पर पद और वाक्य का रहस्य जानने वालों को श्रुत अर्थ का त्याग और अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी उचित नहीं है ॥ १८४ ॥

प्रत्यक्षादीनि बाधेरन्, कृष्णलादिषु पाकवत् ।
अक्षजादिनिभैरेतैः, कथं स्याद्वाक्यबाधनम् ॥१८५॥

प्रत्यक्षादीनीति—पूर्वपक्षी का कहना है कि जैसे कृष्णल (सुवर्ण खण्ड) आदि का पाक नहीं हो सकता, वैसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उक्त अखण्डार्थ का बाध हो जायगा । उस पर सिद्धान्ती कहता है कि इन प्रत्यक्षाभासादि प्रमाणों से उक्त महावाक्य के अखण्डार्थ का बाध कैसे हो पायगा ? ॥ १८५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थ में वाक्य का बाधदर्शन होने से पूर्ववादी दृष्टान्त देकर शंका कर रहा है। जैसे 'कृष्णलान् श्रपयेत्'[1] वाक्य से कृष्णल (सुवर्णमय कण) का पाक श्रुत रहनेपर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से उसका बाध किया जाता है, क्योंकि सुवर्ण कणों में विक्लित्ति होना संभव ही नहीं है। अतः पाकक्रियासाध्य संस्कारमात्र ही अदृष्टफल के लिये किया जाता है। उसी तरह यहाँ भी भेदग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाण, वाक्य की अखण्डार्थता का बाध कर देंगे। आत्मा का ब्रह्मत्व श्रुत रहने पर भी उसमें पूर्णता नहीं दिखाई देती। इसलिये प्रसंख्यान होने से वाक्य को आत्म-संस्कारार्थ ही मान लिया जाय। तब सिद्धान्ती उत्तर देता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कर्तृत्वादि का प्रतिभास यदि होता हो तो आपके कथनानुसार हो भी सकता है, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कर्तृत्वादि का ज्ञान (प्रतिभास) नहीं होता। क्योंकि आत्मा में दुःखित्वादि धर्मों की प्रतीति, अध्यस्त अहंकार आदि के सम्बन्ध से ही होती है। दुःखित्वादि धर्म, स्वतः आत्मा के नहीं हैं। अतः प्रत्यक्षाभासादि प्रमाणाभासों से प्रमाणभूत वाक्य का बाध कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् उसका बाध कभी नहीं किया जा सकेगा। तथा 'प्रयाजे कृष्णलं जुहोति'[2] के समान ब्रह्मज्ञान में संस्कृत हुए आत्मा का अन्यत्र विनियोग भी नहीं है, इसलिये वाक्य को संस्कारार्थ भी नहीं कहा जा सकता। और आत्मा की पूर्णता अर्थात् तत्काल ब्रह्मत्व, जो उसमें नहीं प्रतीत होता है, वह पदार्थ की दृढ़ बुद्धि न होने से है। तात्पर्य यह है कि प्रमाणाभास से महावाक्य का बाध नहीं होगा ॥ १८५ ॥

दुःख्यस्मीति सति ज्ञाने, निर्दुःखीति न जायते ।
प्रत्यक्षादिनिभत्वेऽपि, वाक्यान्न व्यभिचारतः ॥१८६॥

दुःखीति—पूर्वपक्षी कहता है कि आपके कथनानुसार दुःखित्वाभिमान का प्रत्यक्षाभासत्व सिद्ध रहने पर भी 'मैं दुःखी हूँ' यह ज्ञान होने पर उक्त वाक्य से 'मैं दुःखरहित हूँ' यह ज्ञान नहीं होता। उस पर सिद्धान्ती कहता है कि तुम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'दुःखित्वज्ञान' का व्यभिचार दिखाई देता है ॥ १८६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि दुःखित्वाभिमान का प्रत्यक्षाभासत्व सिद्ध होने पर भी 'मैं दुःखी हूँ' यह ज्ञान तो होता है, किन्तु वाक्य से 'मैं दुःखहीन हूँ' यह ज्ञान नहीं होता। तब सिद्धान्ती कहता है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस दुःखित्वज्ञान का व्यभिचार दिखाई देता है। पूर्वपक्षी के कहने का अभिप्राय यह है कि विरोधिता-लक्षण अप्रामाण्य के न रहने पर भी अनुत्पत्तिलक्षण अप्रामाण्य तो वाक्य में है ही। प्रत्यक्ष तो पूर्व से ही सिद्ध रहने से असंजातविरोधी है, इसलिये वही प्रबल है, वाक्य प्रबल नहीं है। तब सिद्धान्ती व्यभिचारप्रदर्शन कर रहा है ॥ १८६ ॥

---

१. (जै. सू. १०।१।१–३, २।१–२)
२. (तै. सं. २।३।२।३)

स्वप्ने दुःख्यहमभ्यासं, दाहच्छेदादिहेतुतः ।
तत्कालभाविभिर्वाक्यैर्न, बाधः क्रियते यदि ॥१८७॥

स्वप्न इति—व्यभिचार इस प्रकार है कि स्वप्नावस्था में मैं दाह-छेदन आदि कारणों से दुःखी था, उसके बाद आप्त जनों के उपदेश से दुःखरहित हो गया—यह अनुभव रहने से समझ में आता है कि दुःखित्व धर्म 'आत्मा' का नहीं है। यदि स्वप्न के वाक्यों से उसका बाध न भी हुआ हो तो······॥ १८७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

उसी व्यभिचार को दिखा रहे हैं—स्वप्नावस्था में दाह-छेदनादि कारणों से मैं दुःखी था। पश्चात् आप्त के उपदेश से दुःखहीन हो गया—यह अनुभव होता है, उस कारण यह दुःखित्व, आत्मा का धर्म नहीं है ॥१८७॥

समाप्तेस्तर्हि दुःखस्य, प्राक्च तद्बाध इष्यताम् ।
न हि दुःखस्य सन्तानो, भ्रान्तेर्वा दृश्यते क्वचित् ॥१८८॥

समाप्तेरिति—उस दुःख की समाप्ति में और उससे पूर्व उसके बाध का स्वीकार करो। क्योंकि शुक्ति-रजतादि के भ्रम के समान आत्मा में दुःखपरम्परा का रहना भी किसी ने देखा नहीं है ॥ १८८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तथापि पूर्वपक्षी के अभिनिवेश के अनुसार कहें कि स्वप्नावस्था के वाक्यों से उसका बाध न भी किया गया हो तो उस दुःख की समाप्ति में और उससे पूर्व उसका बाध स्वीकार करना ही चाहिये, क्योंकि दुःख के पूर्व और उसकी समाप्ति में तो दुःख का अभाव ही है। शुक्तिरजतादि भ्रम के तुल्य आत्मा में दुःखपरम्परा के भी कभी दर्शन नहीं होते। वह भी आरोपित ही है। अतः उसे आत्मा का स्वरूप नहीं कह सकते, क्योंकि वह आगन्तुक है किन्तु आत्मा नित्यसिद्ध है। इसलिये वाक्य के असामर्थ्य की शंका भी नहीं की जा सकती है ॥ १८८ ॥

प्रत्यगात्मन आत्मत्वं, दुःख्यस्मीत्यस्य बाधया ।
दशमं नवमस्येव, वेद चेदविरुद्धता ॥१८९॥

प्रत्यगात्मनेति—जिस प्रकार लोक में नवम का बाध करके दशम व्यक्ति का ज्ञान होता है, उसी प्रकार यदि महावाक्य से 'मैं दुःखी हूँ' इस ज्ञान का बाध करके प्रत्यगात्मा के आत्मत्व का अनुभव हो जाता है, तब भी वाक्यार्थ के प्रबल रहने में कोई विरोध नहीं हो सकता ॥ १८९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जिस प्रकार लोकव्यवहार में नवम का बाध करके दशम पुरुष का ज्ञान होता है, उसी प्रकार यदि महावाक्य द्वारा 'मैं दुःखी हूँ' इस ज्ञान का बाध करके प्रत्यगात्मा के आत्मत्व का अनुभव हो जाता है, तथापि वाक्यार्थ की प्रबलता में कोई विरोध नहीं हो सकता। अतः वाक्य को प्रत्यक्ष से दुर्बल नहीं कह सकते ॥ १८९ ॥

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं, वाक्याद्भवति नान्यतः ।
वाक्यार्थस्यापि विज्ञानं, पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥१९०॥

नित्येति—विस्तार से कहे गये न्यायार्थ को चार श्लोकों के द्वारा संक्षेप में कह रहे हैं। आत्मा के नित्य-मुक्तत्व का ज्ञान भी वाक्य से ही होता है, किसी अन्य प्रमाण से नहीं। तथा वाक्यार्थ का ज्ञान भी पदों के अर्थ की स्मृति के द्वारा ही हो सकता है ॥ १९० ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां, पदार्थः स्मर्यते ध्रुवम् ।
एवं निर्दुःखमात्मानमक्रियं प्रतिपद्यते ॥१९१॥

अन्वयेति—और पदों के अर्थ का स्मरण अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है। इस रीति से दुःखहीन तथा निष्क्रिय आत्मा की प्राप्ति होती है ॥ १९१ ॥

सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः, प्रमा स्फुटतरा भवेत् ।
दशमस्त्वमसीत्यस्माद्यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥१९२॥

सदेवेति—जिस प्रकार 'दशमस्त्वमसि' वाक्य से अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रत्यगात्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है ॥ १९२ ॥

प्रबोधेन यथा स्वाप्नं, सर्वदुःखं निवर्तते ।
प्रत्यगात्मधिया तद्वद्दुःखित्वं सर्वदाऽऽत्मनः ॥१९३॥

प्रबोधेनेति—जिस प्रकार प्रबोध होने पर (जागने पर) स्वप्न में प्राप्त हुआ समस्त दुःख दूर हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्यगात्मबुद्धि से सर्वदा ही आत्मा के दुःखित्व की निवृत्ति हो जाती है ॥ १९३ ॥

कृष्णलादौ प्रमाऽजन्म, तदन्यार्थाऽमृदुत्वतः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु, न त्वेवमविरोधतः ॥१९४॥

कृष्णलादाविति—पूर्व दिये गये कृष्णलपाक दृष्टान्त के वैषम्य को स्फुट करते हैं। 'कृष्णलान् श्रपयेत्' इत्यादि वाक्य से जो प्रमा की अनुत्पत्ति है, वह अन्य कारण से है। अर्थात् कृष्णलों की अमृदुलता (कठोरता) ही उसमें कारण है। किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में वैसी बात नहीं है, क्योंकि उसमें कोई ऐसा विरोध नहीं है। अर्थात् कृष्णलों के उबाले जाने पर भी उनमें पाकक्रिया नहीं होती, किन्तु तत्त्वमस्यादि वाक्यों में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उनमें ऐसा कोई विरोध नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से प्रमा की अनुत्पत्ति होती है, यह नहीं कह सकते ॥ १९४ ॥

त्वंपदार्थविवेचनस्य विस्तार।

वाक्ये तत्त्वमसीत्यस्मिन्, ज्ञातार्थं तदसिद्वयम् ।
त्वमर्थे सत्यसाहाय्याद्वाक्यं नोत्पादयेत्प्रमाम् ॥१९५॥

वाक्य इति—प्रकृत में वैसा विरोध नहीं है। पूर्वोक्त श्लोक (१८१) में जो कहा गया था, उसी को विस्तृत करते हुए त्वं-पदार्थ के विवेचन में अधिक प्रयत्न करने के लिये कहा जा रहा है—'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'असि' इन दो पदों का अर्थ तो ज्ञात है, किन्तु 'त्वम्' पद का अर्थ ज्ञात न होने पर उसकी सहायता न होने के कारण उस वाक्य से अपरोक्ष निश्चयरूप प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः 'त्वम्' पद का शोधन करने के लिये विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है ॥ १९५ ॥

तत्त्वमोस्तुल्यनीडार्थमसीत्येतत्पदं भवेत् ॥१९६॥

तत्त्वमोरिति—'तत्' और 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य प्रदर्शित करने के लिये ही 'असि' पद का उपयोग किया गयाहै। तुल्यनीडार्थं अर्थात् 'कुरु' 'चिन्तय' इत्यादि क्रिया की आकांक्षा का निवारण हो जाने से सामानाधिकरण्य की सिद्धि हो जाती है। अतः ऐक्यावलम्बनत्व के स्पष्टीकरणार्थ 'असि' और 'अस्मि' इत्यादि पदों का उपयोग किया गया है ॥ १९६ ॥

तच्छब्दः प्रत्यगात्मार्थस्तच्छब्दार्थस्त्वमस्तथा ।
*दुःखित्वाप्रत्यगात्मत्वं, वारयेतामुभावपि ॥१९७॥

तच्छब्द इति—सामानाधिकरण्य के निराकांक्ष होने से क्या लाभ है? लाभ यह है कि 'तत्' और 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य होने से ही 'तत्' शब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा है, और 'त्वम्' शब्द का अर्थ 'तत्' शब्दार्थभूत वस्तु है।

* दुःखित्वात्—पाठान्तरम्।

इस रीति से 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का अभेद होने के कारण वे दोनों पद 'त्वम्' पदार्थ के दुःखित्व और 'तत्' पदार्थ के अनात्मत्व तथा परोक्षत्व का बाध करते हैं ॥ १९७ ॥

एवं च नेति नेत्यर्थं, गमयेतां परस्परम् ॥१९८॥

एवमिति—इस प्रकार वाक्यार्थ करने पर अद्वितीयत्वपरक श्रुति से अविरोध सम्पन्न हो जाता है। अर्थात् वे परस्पर 'नेति-नेति' वाक्य के अर्थ का बोध कराते हैं ॥ १९८ ॥

एवं तत्त्वमसीत्यस्य, गम्यमाने फले कथम् ।
अप्रमाणत्वमस्यो*क्त्वा, क्रियापेक्षत्वमुच्यते ॥१९९॥

एवं तत्त्वमसीति—पूर्वपक्षी के मत में अकारण (प्रमाणरहित) ही श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना करनी पड़ती है। इस तरह 'तत्त्वमसि' वाक्य के फल का ज्ञान हो जाने पर उसका अप्रामाण्य अथवा क्रियापेक्षत्व कैसे कहा जा सकता है? उसके प्रामाण्य को पूर्व बता चुके हैं ॥ १९९ ॥

तस्मादाद्यन्तमध्येषु, कुर्वित्येतद्विरोधतः ।
न कल्पामोऽश्रुतत्वाच्च, श्रुतत्यागोऽप्यनर्थकः ॥२००॥

तस्मादिति—आरंभ में 'तत्त्वमसि' इस प्रथमोपदेश में, मध्य में अर्थात् पदार्थ परिशोधन के अन्वय-व्यतिरेक-ग्रहण काल में और अन्त में अर्थात् निर्विचिकित्स ब्रह्मानुभाव के काल में 'कुरु'=करो—इस प्रकार की विधि का विरोध होने से और उसके श्रुतिमूलक न होने के कारण इसके क्रियापेक्षत्व की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी अवस्था में ब्रह्मात्मैक्य रूप श्रुत अर्थ का त्याग करना भी व्यर्थ ही है ॥ २०० ॥

यथाऽनुभूयते तृप्तिर्भुजेर्वाक्यान्न गम्यते ।
वाक्यस्य विधृतिस्तद्वद्गोशकृत्पायसीक्रिया ॥२०१॥

यथेति—उक्त अर्थ को न समझ कर पुनः आक्षेप कर रहा है—जिस प्रकार भोजन करने से ही तृप्तिरूप फल का अनुभव होता है, केवल वाक्यार्थ के ज्ञान मात्र से नहीं, तथा जैसे गोशकृत् (गोमय) से पायस (खीर) नहीं बनती, क्योंकि वह पायस का साधन नहीं है। उसी प्रकार वाक्यार्थ के अवधारण मात्र से ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार नहीं हो सकता। क्योंकि वह भी उसका साधन नहीं है ॥ २०१ ॥

सत्यमेवमनात्मार्थवाक्यात्पारोक्ष्यबोधनम् ।
प्रत्यगात्मनि न त्वेवं, संख्याप्राप्तिवदध्रुवम् ॥२०२॥

सत्यमेवमिति—इस प्रकार सिद्धान्ती कहता है कि अनात्म वस्तु के प्रतिपादक वाक्य से परोक्ष ज्ञान ही होता है, यह कहना तो ठीक है, किन्तु 'दशमस्त्वमसि' वाक्य से दशम संख्या की प्राप्ति के समान प्रत्यगात्मा के विषय में वैसा अनिश्चित ज्ञान नहीं होता, अपितु निश्चित ही होता है। एवंच वाक्य, निश्चित रूप से अपरोक्ष ज्ञान का साधन है ॥२०२॥

†स्वसंवेद्यत्वपर्यायः, स्वप्रमाणक इष्यताम् ।
निवृत्ता‡वहमः सिद्धः, स्वात्मनोऽनुभवश्च नः ॥२०३॥

स्वयमिति—'आत्मा' को स्वयम्प्रकाश और स्वतःप्रमाण समझो, जिसका अहंकार नष्ट हो गया है, उसे आत्मा का अनुभव होना सिद्ध ही है—यह हमारा सिद्धान्त है ॥ २०३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'स्वतः अपरोक्ष प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है',—इस उपदेश से अपरोक्ष ज्ञान होता है। आत्मा को स्वयंप्रकाश और स्वतःप्रमाण समझो। क्योंकि 'स्वयं ज्योतिष्ट्वादि' श्रुति[1] इसमें प्रमाण है। तथाच वाक्य से ब्रह्मभेदक अहंकार

1. (बृ. उ. ४।३।९,१४)

* क्ता—पाठान्तरम्। † स्वयं वे०—पाठान्तरम्। ‡ विदमः—पाठान्तरम्।

की निवृत्ति होनेपर हमारे मत में स्वात्मानुभव तो सिद्ध ही है। कोई किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। पूर्वपक्षी के अनुमान 'विमतं परोक्षार्थज्ञानजनकं वाक्यत्वात् संमतवत्' में 'अनात्मविषयत्व' उपाधि है, और दशमस्त्वमसि में व्यभिचार भी है ॥ २०३ ॥

बुद्धीनां विषयो दुःखं, नो यस्य विषया मताः ।
कुतोऽस्य दुःखसंबन्धो, दृशेः स्यात्प्रत्यगात्मनः ॥२०४॥

बुद्धीनामिति—दुःख तो बुद्धिवृत्तियों का विषय है। तब जिसको विषय अभिमत ही नहीं है, उस साक्षीरूप प्रत्यगात्मा का दुःख के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥ २०४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पहले की हुई दुःखानुभवविरोध की आशंका भी उचित नहीं है, क्योंकि दुःख तो व्यभिचारी होने से वह आत्मा का धर्म नहीं है, वह तो विषय का धर्म है। दुःख तो बुद्धिवृत्तियों का विषय है। जिसे विषय अभिमत नहीं है, उस साक्षी प्रत्यगात्मा का दुःख से संबंध कैसे हो सकता है। 'दुःखी अहमस्मि' सुनने पर अहंकार ही दुःखधर्मवान् है, ऐसा अनुभव होता है, अतः वह उसीका विषय है। बुद्धिवृत्त्याश्रय अहंकार का साक्षी जो आत्मा है, उसका वह धर्म नहीं है ॥ २०४ ॥

दृशिरेवाऽनुभूयेत, स्वेनैवाऽनुभवात्मना ।
तदाभासतया जन्म, धियोऽस्याऽनुभवः स्मृतः ॥२०५॥

दृशिरेवेति—ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अनुभवरूप है, वह अपने द्वारा ही अनुभव किया जाता है। चिदाभास की व्याप्ति से बुद्धिवृत्ति का उत्पन्न होना ही उसका अनुभव माना गया है ॥ २०५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि प्रत्यगात्मा सर्वधर्मरहित है, तो उसका अनुभव कैसे हो पाता है ? ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अनुभव-स्वरूप है, अतः उसके स्वरूप के लिये अन्य किस अनुभव की अपेक्षा होगी ? अर्थात् वह अपने द्वारा ही अनुभव किया जाता है। चिदाभास की व्याप्ति से बुद्धिवृत्ति का उदय होना ही उसका विशेष अनुभव (आगन्तुक अनुभव) कहा गया है ॥ २०५ ॥

अशनायादिनिर्मुक्तः, सिद्धो मोक्षस्त्वमेव सः ।
श्रोतव्यादि तवेत्येतद्विरुद्धं कथमुच्यते ॥२०६॥

अशनायादीति—क्षुधा-तृष्णा आदि से रहित जो नित्य सिद्ध मोक्ष (ब्रह्म) है, वह तुम ही हो। तब 'तुम्हारे लिये श्रवणादि अनुष्ठेय है'—यह विरुद्ध बात क्यों कह रहे हैं ? ॥ २०६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

क्षुधादि से रहित जो नित्य सिद्ध मोक्ष (ब्रह्मत्व) है, वह तुम ही हो अर्थात् सर्वसंसारविनिर्मुक्त नित्यसिद्ध मोक्ष (ब्रह्म) तुम ही हो, इस प्रकार आचार्य के द्वारा उपदेश दिये जानेपर पुनः यह कहना कि तुम्हारे लिये श्रवणादि अनुष्ठेय हैं, ऐसी विरुद्ध बात क्यों कही जाती है ? इससे तो यही अभिप्राय होगा कि 'तुम अविक्रिय ब्रह्म नहीं हो', और 'तुम कर्ता हो' आदि वाक्य ही प्रमाण होंगे ॥ २०६ ॥

सेत्स्यतीत्येव चेत्तस्याच्छ्रवणादि तदा भवेत् ।
मोक्षस्यानित्यतैवं स्याद्विरोधे नान्यथा वचः ॥२०७॥

सेत्स्यतीति—यदि यह कहो कि 'आत्मा' में क्रिया तो सिद्ध ही है, इसलिये श्रवणादि को अनुष्ठेय कहा गया है। तब तो 'मोक्ष' को अनित्य कहना पड़ेगा। यह विरोध होने से उक्त महावाक्य की अन्य प्रकार से योजना नहीं कर सकते ॥ २०७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहो कि 'तत्त्वमसि' इस उपदेशवाक्य में 'तत् त्वं सेत्स्यति' ऐसा विपरिणाम करके उक्त महावाक्य की योजना कर लेंगे, तो 'एकं सन्धित्सतः अपरं प्रच्यवते'[1]—न्याय से मोक्ष की अनित्यता प्राप्त होगी। इस प्रकार उभयथा विरोध होने के कारण वाक्य में विपरिणाम करना उचित नहीं है। अभिप्राय यह है कि आत्मा में क्रिया सिद्ध होने के कारण श्रवणादि किये जाते हैं, ऐसा यदि कहें तो उस अवस्था में मोक्ष की अनित्यता का प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार विरोध उपस्थित होने के कारण उक्त वाक्य की योजना किसी अन्य प्रकार से नहीं करनी चाहिये ॥ २०७ ॥

श्रोतृश्रोतव्ययोर्भेदो, यदीष्टः स्याद्भवेदिदम् ।
इष्टार्थकोप एवं स्यान्न युक्तं सर्वथा वचः ॥२०८॥

श्रोत्रिति—**श्रोता और श्रोतव्य विषय का भेद अभीष्ट रहने पर ही प्रसंख्यान (श्रवणादि कर्म) का अनुष्ठान हो सकता है, किन्तु ऐसा मानने पर अभीष्ट अर्थ की हानि हो जायगी। इसलिये भेद की अभीष्टता किसी प्रकार भी उचित नहीं है ॥ २०८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि श्रोता और श्रोतव्य विषय का भेद अभीष्ट हो तो इस प्रकार का प्रसंख्यान अर्थात् श्रवणादि कर्म का संभव हो भी सकेगा, क्योंकि कार्य की उपपत्ति, कर्तृ-कर्म के भिन्न होनेपर ही हो पाती है, अन्यथा नहीं। कार्योपपत्ति के लिये भेद माननेपर इष्ट अर्थ (जीव का ब्रह्मभाव) का विनाश हो जायगा। क्योंकि अन्य में अन्य भाव नहीं होता। अतः प्रसंख्यान पक्ष में वाक्य सर्वथैव अप्रमाण होगा। एवंच प्रसंख्यानवाद भी उपपन्न नहीं है ॥ २०८ ॥

सिद्धो मोक्षोऽह*मित्येवं, ज्ञात्वाऽऽत्मानं भवेद्यदि ।
चिकीर्षुर्यः स मूढात्मा, शास्त्रं चोद्घाटयत्यपि* ॥२०९॥

सिद्ध इति—**जो व्यक्ति 'मैं नित्य सिद्ध मोक्ष हूँ' इस प्रकार आत्मा को जानकर भी पुनः कर्मानुष्ठान की इच्छा करता है, वह मूढ़मति तो शास्त्र का उच्छेद ही कर रहा है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २०९ ॥**

न हि सिद्धस्य कर्तव्यं, सकार्यस्य न सिद्धता ।
उभयालम्बनं कुर्वन्नाऽऽत्मानं वञ्चयत्यपि† ॥२१०॥

न हीति—**सिद्ध वस्तु का कोई कर्तव्य नहीं होता तथा सक्रिय वस्तु (साध्य वस्तु) की सिद्धता नहीं हुआ करती। जो लोग दोनों का एकसाथ (युगपत्) आलम्बन (आश्रय) करते हैं, वे स्वयं ही अपने को धोखे में डालते हैं ॥२१०॥**

हृदयस्पर्शिनी

सिद्ध और साध्य के भेद से वस्तु दो प्रकार की होती है। घट-पटादि वस्तु विद्यमान रहती हैं, इस कारण वह सिद्ध है, और धर्मादि वस्तु अनुष्ठेय होने से साध्य कहलाती है। 'मोक्ष' तो आत्मा का स्वरूप ही है, अतः वह सिद्ध वस्तु है। सिद्ध वस्तु भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की रहती है। नित्य वस्तु 'जन्य' नहीं हुआ करती। अतः जो लोग मोक्ष को जन्य मानते हैं, उनके मत से तो वह अनित्य सिद्ध होता है। अतः उनका इस प्रकार मानना कोरा भ्रम ही है। सिद्ध वस्तु कर्तव्य कोटि में नही आती, और कर्तव्य कोटि में आनेवाली वस्तु की सिद्धता नहीं कही जाती। किन्तु यह मूढ़बुद्धि व्यक्ति दोनों का एकसाथ आलम्बन करके अपनी ही वञ्चना करता रहता है ॥ २१० ॥

१ सिद्धो मोक्षस्त्वमित्येतद्वस्तुमात्रं प्रदर्श्यते ।
श्रोतुस्तथात्वविज्ञाने, प्रवृत्तिः स्यात्कथं ‡न्विति ॥२११॥

---

१. इस न्याय का प्रयोग खण्डनखण्डखाद्य में अनैकान्तिक खण्डन के अवसर पर किया गया है। 'अनुसन्धित्सतः' इस पाठ भेद से उक्त न्याय का उपयोग सर्वदर्शनसंग्रह के आर्हत और अक्षपाददर्शन में भी हुआ है।

* त्येव०—पाठान्तरम् । † त्यसौ०—पाठान्तरम् । ‡ त्विति०—पाठान्तरम् ।

① शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। यो० सू०

सिद्ध इति—**पूर्वपक्षी कहता है कि 'तुम नित्य सिद्ध मोक्ष (ब्रह्म) हो'—यह कहकर केवल वस्तुमात्र को प्रदर्शित कर रहे हो तो श्रोता की वस्तु त्व विज्ञानमात्र में प्रवृत्ति कैसे हो पायगी ? ॥ २११ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सिद्धान्ती के द्वारा की गई निन्दा को सुनकर पूर्वपक्षी अपने अभिप्राय को प्रकट कर रहा है—'तुम नित्य सिद्ध मोक्ष (ब्रह्म) हो' ऐसा कह कर केवल वस्तुमात्र को प्रदर्शित किया जाता है। ऐसी स्थिति में वस्तुत्वविज्ञान मात्र में श्रोता की प्रवृत्ति कैसे होगी ? तात्पर्य यह है कि 'मुमुक्षु पुरुष की आत्मविज्ञान में प्रवृत्ति होने के लिये सिद्ध ब्रह्म रूप मोक्ष तुम हो' यह कथन वस्तुमात्रकथनपरक है, तत्त्व में उसका कोई तात्पर्य नहीं है ॥ २११ ॥

कर्ता दुःख्यहमस्मीति, प्रत्यक्षेणाऽनुभूयते ।
कर्ता दुःखी च माभूवमिति यत्नो भवेत्ततः ॥२१२॥

कर्तेति—**अपने अभिप्राय को ही और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं—जब यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि 'मैं कर्ता हूं', 'मैं दुःखी हूं', तभी 'मैं कर्ता एवं दुःखी न होऊं' ऐसा ज्ञान हो तो उसके लिये प्रयत्न हो सकेगा ॥ २१२ ॥**

तद्विज्ञानाय युक्त्यादि, कर्तव्यं श्रुतिरब्रवीत् ।
कर्तृत्वाद्यनुवादेन, सिद्धत्वानुभवाय तु ॥२१३॥

तद्विज्ञानायेति—**भगवती श्रुति ने उसके बोध के लिये ही कर्तृत्व आदि का अनुवाद करते हुए सिद्धत्व का अनुभव कराने के लिये युक्ति आदि की कर्तव्यता को बताया है ॥ २१३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वाक्यश्रवण के अनन्तर 'मन्तव्यः'[1] श्रुति से कर्तव्य को बताया गया है, इसलिये भी हमारा कथन स्वीकार करना चाहिये, यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है। श्रुति ने कर्तृत्वादि का अनुवाद करते हुए सिद्धत्व का अनुभव कराने के लिये ही युक्ति आदि की कर्तव्यता का निरुपण किया है। अर्थात् 'श्रोतव्यः' कहकर श्रुति 'निदिध्यासितव्यः' का विधान करती है। इस प्रकार श्रवण-मननादि की कर्तव्यता का उपदेश होने के कारण निश्चय किया जाता है कि आत्मज्ञान के लिये क्रिया की आवश्यकता है। 'त्वम्' से कर्तृत्व का अनुवाद करके वस्तुगत्या तुम सिद्ध मोक्ष ब्रह्मरूप हो, अतः उसके ज्ञानार्थ प्रयत्न करो—यह वाक्य का तात्पर्य है ॥ २१३ ॥

निर्दुःखो निष्क्रियोऽकामः, सिद्धो मोक्षोऽहमित्यपि ।
गृहीत्वैव* विरुद्धार्थमावध्यात्कथमेव सः ॥२१४॥

निर्दुःख इति—**सिद्धान्ती कहता है कि 'मैं दुःखरहित, निष्क्रिय, निष्काम, नित्यसिद्ध मोक्ष ही हूँ'—ऐसा समझने के बाद, कौन ऐसा होगा कि जो इसके विपरीत स्वभाववाले पदार्थों का ग्रहण करेगा ? ॥ २१४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सिद्धान्ती कहता है कि पूर्वपक्षी की यह कल्पना श्रुत्यनुसारिणी नहीं है। "मैं दुःखरहित, निष्क्रिय, निष्काम, नित्यसिद्ध मोक्ष ही हूँ" ऐसा ग्रहण करके भी मनुष्य, उक्तार्थ के विपरीत स्वभाववाले पदार्थों को कैसे ग्रहण कर सकता है ? अतः वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान होता ही नहीं—यह कथन उचित नहीं है। अन्यथा उसे अप्रमाण कहना होगा, और अनुभवविरोध भी होगा। तथाच ज्ञान के उत्पन्न होने पर तद्विरुद्ध प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना संगत नहीं है ॥ २१४ ॥

सकामः सक्रियोऽसिद्ध, इति मेऽनुभवः कथम् ।
अतो मे विपरीतस्य, तद्वान् वक्तुमर्हति ॥२१५॥

१. (बृ. उ. २।४।५, ४।५।६)
* न्वैत्वं—पाठान्तरम्।

सकाम इति—इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि गुरूपदिष्ट वाक्य के श्रवण मात्र से ही दुःखरहित आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तो आप ही बताइये कि सकामत्वादि से विपरीत स्वभाववाले मुझको 'मैं सकाम, सक्रिय और असिद्ध हूँ'—यह अनुभव क्यों होता है ? ॥ २१५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि यदि वाक्यश्रवणमात्र से ही निर्दुःखादिरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तो बताओ कि सकामत्वादि से विपरीत स्वभाववाले मुझ ब्रह्मरूप हुए को 'मैं सकाम, सक्रिय और असिद्ध हूँ'—ऐसा अनुभव क्यों होता है ? ॥ २१५ ॥

इहैव घटते प्रश्नो, न मुक्तत्वानुभूतये ।
प्रमाणेन विरोधी यः, सोऽत्रार्थः प्रश्नमर्हति ॥२१६॥

इहैवेति—उस पर सिद्धान्ती का कहना है कि "मैं अपने स्वभाव से अन्य स्वभाव वाला कैसे लगता हूँ ?" इस प्रकार का प्रश्न तो हो सकता है, तथापि 'मुक्तत्व' की अनुभूति के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं पैदा होता। क्योंकि जो वस्तु प्रमाणविरुद्ध होती है, उसी के विषय में लोग प्रश्न किया करते हैं ॥ २१६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस पर सिद्धान्ती कहता है कि 'मैं एक स्वभाव का होते हुए भी अन्य स्वभाव का कैसे जान पड़ता हूँ ?'—इस विषय में तो प्रश्न हो सकता है। किन्तु मुक्तत्व की अनुभूति के विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि जो वस्तु प्रमाण से विरुद्ध होती है, उसी के विषय में प्रश्न किया जा सकता है ॥ २१६ ॥

अहं निर्मुक्त इत्येव, सदसीत्यन्यमानजः । श्रुति
प्रत्यक्षाभासजन्यत्वाद्दुःखित्वं प्रश्नमर्हति ॥२१७॥

अहमिति—'मैं मुक्त हूँ', तथा 'तू सत् है'—यह ज्ञान श्रुतिप्रमाण से हुआ है। किन्तु 'मैं दुःखी हूँ' यह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणाभास से उत्पन्न होता है। अतः दुःखित्व के विषय में तो प्रश्न किया जा सकता है ॥ २१७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'प्रमाण' का स्वभाव तो अज्ञात का ज्ञापन करना है। ऐसे प्रमाण के द्वारा अपूर्वार्थ बोधित होने पर तद्विरोधी अर्थात् प्रमाणाभास के द्वारा गृहीत जो अर्थ है, उसके विषय में प्रश्न किया जा सकता है। 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ' यह ज्ञान तथा 'तू सत् है' यह ज्ञान, अन्य प्रमाण (श्रुतिप्रमाण) से होता है। और दुःखित्व आदि का ज्ञान, प्रत्यक्षाभास से होता है। अतः दुःखित्वादि के विषय में प्रश्न किया जा सकता है ॥ २१७ ॥

पृष्टमाकाङ्क्षितं वाच्यं, दुःखाभावमभीप्सितम् ॥२१८॥

पृष्टमिति—अभिलषित (अभीप्सित) विषय का ही प्रश्न किया जाता है। अभिलषित विषय (वस्तु) क्या है ? यह पूछने पर यही कहा जायगा कि सबको अभिलषित वस्तु एक ही है, जिसे 'दुःखाभावरूप ब्रह्म' कहते हैं ॥ २१८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य की आकांक्षा को देखते हुए भी कार्य की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं हो रही है। जिस वस्तु के विषय में प्रश्न किया जाता है, उसे अभिलषित कहते हैं। शिष्य को आकांक्षित क्या है ? तो कहना होगा कि उसे 'दुःखाभाव' ही अभिलषित (आकांक्षित) है। दुःख का अभाव है जिसमें, ऐसा दुःखाभाव, ब्रह्मरूप (मोक्षस्वरूप) ही है ॥ २१८ ॥

कथं हीदं निवर्तेत, दुःखं सर्वात्मना मम ।
इति प्रश्नानुरूपं यद्वाच्यं दुःखनिवर्तकम् ॥२१९॥

कथमिति—मेरे इस संसाररूप दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति किस प्रकार होगी ? यही प्रश्न किया गया है, अतः उसके अनुरूप ही उत्तर देना चाहिये। अतः दुःखनिवृत्ति के उपाय को बताना ही उचित है। एवं च दुःखनिवृत्ति का उपाय एकमात्र 'ज्ञान' ही है, 'कर्म' नहीं—यह श्रुति ने बताया है ॥ २१९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य का जैसा प्रश्न हो, तदनुकूल ही उत्तर (प्रतिवचन) होना चाहिये—मेरा यह संसाररूप दुःख, सर्वथा निवृत्त (दूर) कैसे होगा ? इस प्रश्न के अनुरूप जो दुःख की निवृत्ति करने वाला हो, उसी का वर्णन करना उचित है। इससे भी स्पष्ट होता है कि दुःखनिवृत्ति का साधनभूत ज्ञान ही श्रुति का प्रतिपाद्य है, कर्म नहीं ॥२१९॥

श्रुतेः स्वात्मनि नाशङ्का, प्रामाण्ये सति विद्यते।
तस्मादात्मविमुक्तत्वं*, प्रत्याययति तद्वचः।
वक्तव्यं तत्तथार्थं स्याद्विरोधेऽसति केनचित् ॥२२०॥

श्रुतेरिति—भगवती श्रुति तो 'स्वतःप्रमाण' है। अतः अपने प्रतिपाद्य प्रमेय के विषय में उसे किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अतः वह शब्द के द्वारा आत्मा की मुक्तता का बोध करा देती है। भगवती श्रुति सबकी परम आप्त है, इसलिये किसी प्रमाण का विरोध न रहने पर यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन करना उसका कर्तव्य हो जाता है ॥ २२० ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रसंख्यान के द्वारा प्रश्न के अनुरूप कहा, यह तो ठीक है, क्योंकि तद्व्यतिरेक से (तद्विपरीत) यदि कहेंगे तो श्रुति में दुःखापनोदन का सामर्थ्य नहीं है, यह शंका होती है। उसके उत्तर में कहते हैं कि प्रमेयावबोधन करना ही प्रमाण का कार्य है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं। श्रुति का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है, अतः उसे अपने प्रमेय के विषय में कोई सन्देह नहीं है। अतः स्वप्रमेयावभास सामर्थ्याभाव की आशंका नहीं कर सकते। अतः श्रुतिवाक्य से आत्मा की मुक्तता का परिचय प्राप्त होता है। और किसी प्रमाण के साथ विरोध न रहने पर उसे अपना समुचित अर्थ ही बताना चाहिये ॥ २२० ॥

इतोऽन्योऽनुभवः कश्चिदात्मनो नोपपद्यते।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातारमिति श्रुतेः ॥२२१॥

इत इति—उक्त अर्थ का अनुभव करानेवाला 'वाक्य' ही है, यदि उसका परित्याग करें तो अन्य कोई प्रकार नहीं है, जो अनुभव करावे और प्रकारान्तर की कल्पना भी श्रुति विरोध के कारण नहीं की जा सकती ॥ २२१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

"ज्ञानियों की दृष्टि में आत्मा अविज्ञात है[1]" तथा "विज्ञाता को किस प्रमाण के द्वारा जाने[2]"—इन श्रुतियों के अनुसार इससे भिन्न आत्मा का कोई और अनुभव होना संभव नहीं है ॥ २२१ ॥

त्वंपदार्थविवेकाय, संन्यासः सर्वकर्मणाम्।
साधनत्वं व्रजत्येवं, शान्तो दान्तानुशासनात् ॥२२२॥

त्वमिति—'त्वम्' पदार्थ का विवेक करने के लिये श्रुति ने समस्त कर्मों के त्याग को ही 'साधन' बताया है ॥ २२२ ॥

---

१. (के. उ. ११)
२. (बृ. उ. २।४।१४)
* त्वप्रत्ययं याति—पाठान्तरम्।

हृदयस्पर्शिनी

"शान्तो[1] दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवत्मानं पश्यति" ऐसी श्रुति होने के कारण 'त्वं' पद के अर्थ का विवेक करने के लिए समस्त कर्मों का त्याग, साधन बन जाता है। अतः वह अशास्त्रसंवेद्य नहीं है, जिससे उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। तथाच, पदार्थज्ञान से पूर्व वाक्यार्थज्ञान होने से पदार्थावधारण तक आश्रमधर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करना ही होगा। उसके पश्चात् वेदान्तवाक्य से ब्रह्मात्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर 'मया इदं अस्मै कर्तव्यम्' इस प्रकार नियोज्य विषय का ज्ञान न होने से उस व्यक्ति के लिये कहीं भी विधि में प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु साधक अवस्था में ज्ञान के अविरुद्ध निवृत्तिरूप आश्रमधर्म का अभ्यास रहने के कारण संस्कारमात्र शेष रहने से अनुवृत्तिमात्र होती रहती है, उस कारण यथेष्टाचरण के लिए कोई अवकाश नहीं है। अतः सिद्धान्ती के मत में कोई किसी प्रकार का दोष नहीं है ॥ २२२ ॥

त्वमर्थं प्रत्यगात्मानं, पश्येदात्मानमात्मनि ।
वाक्यार्थं तत आत्मानं, सर्वं पश्यति केवलम् ॥२२३॥

त्वमर्थमिति—**शम-दमादि साधनसम्पत्ति से सम्पन्न पुरुष, 'त्वम्' पद के अर्थभूत 'प्रत्यगात्मा' को अपने अन्तःकरण में ही देखने का अभ्यास करता रहे। ऐसा अभ्यास करने से कालान्तर में वह सर्वत्र सभी को वाक्यार्थभूत 'शुद्ध आत्मा' के रूप में देखने लगता है ॥ २२३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उपर्युक्त कथन का ही विस्तार करते हुए श्रौत वाक्यार्थज्ञान की उत्पत्ति के प्रकार को बता रहे हैं। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा से सम्पन्न होकर जिज्ञासु व्यक्ति आत्माभास से व्याप्त हुए स्वकार्य-कारण संघात (शरीर) में ही, 'त्वं' पद के अर्थभूत प्रत्यक्चेतयितास्वरूप आत्मा को ही देखता रहे। इस प्रकार शोधित प्रत्यगात्मा को वह सर्वत्र देखने लगता है ॥ २२३ ॥

सर्वमात्मेति वाक्यार्थे, विज्ञातेऽस्य प्रमाणतः ।
असत्त्वे ह्यन्यमानस्य, विधिस्तं योजयेत्कथम् ॥२२४॥

सर्वमिति—**श्रुति प्रमाण के बल पर 'सब आत्मा ही है'—इस वाक्यार्थ को अच्छी तरह से जान लेने पर अन्य अतिरिक्त प्रमाणों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। तब उन मिथ्याभूत प्रमाणों की कौन-सी विधि उस मुमुक्षु को किसी कर्तव्य में नियुक्त कर सकेगी ? ॥ २२४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

प्रमाण के द्वारा 'सब आत्मा ही है'—इस वाक्यार्थ को विशेष रूप से जान लेने पर तथा अन्य प्रमाणों का मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर उसे कोई विधिवाक्य किस प्रकार नियोजित कर सकेगा ? क्योंकि विधिविषयता तो भेद में ही होती है। ज्ञानी की भेददृष्टि तो समाप्त हो चुकी है। अतः उसके लिये कोई विधि-निषेध नहीं होते ॥ २२४ ॥

तस्माद्वाक्यार्थविज्ञानान्नोर्ध्वं कर्मविधिर्भवेत् ।
नहि ब्रह्मास्मि कर्तेति, विरुद्धे भवतो धियौ ॥२२५॥

तस्मादिति—**श्रुत्युक्त ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादक वाक्य का अर्थ जान लेने पर मुमुक्षु पुरुष के लिये कोई कर्मविधि नहीं रह जाती। क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूँ', और 'मैं कर्म का कर्ता हूँ'—ये दोनों ज्ञान परस्पर विपरीत हैं। दो विपरीत बुद्धियाँ (ज्ञान) एक साथ नहीं रह सकती ॥ २२५ ॥**

---

१. बृ. उ. ४।४।२३—'समाहितः' तथा 'पश्यति'—यह काण्वपाठ है और 'श्रद्धावित्तः', तथा 'पश्येत्'—यह माध्यन्दिनपाठ है।

① यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ४/१९ ॥
② प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥१४/२२॥

हृदयस्पर्शिनी

वाक्यार्थज्ञान होने के पूर्व ही विधियों के लिए अवकाश रहता है, वाक्यार्थज्ञान हो जाने के पश्चात् नहीं। तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थज्ञान हो जाने के अनन्तर कोई कर्मविधि नहीं रहती। क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'मैं कर्ता हूँ' ये दो परस्परविरुद्ध बुद्धियाँ (ज्ञान) कभी एकसाथ नहीं रह सकती ॥ २२५ ॥

ब्रह्मास्मीति च विद्येयं, नैव कर्तेति बाध्यते।
सकामो बद्ध इत्येवं, प्रमाणाभासजातया ॥२२६॥

ब्रह्मास्मीति—**'मैं ब्रह्म हूँ'—इस ज्ञान (बुद्धि) को ही 'विद्या' कहते हैं। इसका बाध (निवृत्ति) प्रमाणाभास से पैदा हुई बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता। अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ', मैं सकाम हूँ', 'मैं बद्ध हूँ',—यह ज्ञान (बुद्धि) प्रमाणाभास से होती है, यह सब अविद्या है। अतः 'अविद्या' से 'विद्या' का बाध नहीं हो सकता ॥ २२६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

फिर भी यह शंका हो सकती है कि ऐक्यज्ञान से भेदज्ञान का ही क्यों बाध होता है ? विपरीत बाध्य-बाधकभाव को ही क्यों न कहा जाय ? इस आशंका का समाधान यह है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धि को ही ज्ञान कहते हैं और 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं सकाम हूँ', 'मैं बद्ध हूँ' यह प्रमाणाभासजनित ज्ञान है। अतः विपरीत बाध्य-बाधकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि 'बोधवृत्ति' तो प्रमाणजनित है, और 'कर्तृत्वादि बुद्धि' भ्रमजनित है। अतः ज्ञान से ही भ्रम का बाध होता है, भ्रम से ज्ञान का बाध नहीं होता ॥ २२६ ॥

शास्त्राद्ब्रह्मास्मि नान्योऽहमिति बुद्धिर्भवेद्दृढा।
यदा युक्ता तदैवंधीर्यथा देहात्मधीरिति ॥२२७॥

शास्त्रादिति—**शास्त्रप्रमाण से मुमुक्षु को जब 'मैं ब्रह्म हूँ, अन्य कोई नहीं हूँ'—यह निश्चित (सुदृढ़) ज्ञान (बुद्धि) हो जाता है, तब उसे 'देहात्मबुद्धि' नहीं होती, उसी तरह 'मैं कर्ता हूँ'—यह बुद्धि भी उसे नहीं होती ॥ २२७ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

स्वभावप्रवृत्त बुद्धि का प्रमाणजनित बुद्धि से ही बाध होता है, इसे दृष्टान्त देकर बताते हैं। जैसे—शास्त्र के द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ, अन्य कोई नहीं हूँ'—यह बुद्धि जब दृढ़ हो जाती है, तब देहात्मबुद्धि अर्थात् 'मैं मनुष्य हूँ, कर्ता हूँ'—इस प्रकार की बुद्धि नहीं हुआ करती ॥ २२७ ॥

सभयादभयं प्राप्तस्तदर्थं यतते च यः।
स पुनः सभयं गन्तुं, स्वतन्त्रश्चेन्न *हीच्छति ॥२२८॥

सभयादिति—**जो व्यक्ति भय के स्थान से निकल कर भयरहित स्थान पर पहुँच गया हो, और उसी निर्भयता के लिये जो सतत प्रयत्न करता रहता हो वह यदि आने-जाने में स्वतन्त्र है, तो भी वह पुनः भय के स्थान में नहीं जा सकता ॥ २२८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

जो आदमी भय से युक्त स्थान से निकल कर भयरहित स्थान में पहुँच गया है, और उसी के लिए वह प्रयत्न भी करता रहा है, वह आदमी जाने-आने की क्रिया में स्वतन्त्र रहता हुआ भी पुनः भय से युक्त स्थान में नहीं जाता ॥ २२८ ॥

यथेष्टाचरणप्राप्तिः, संन्यासादिविधौ कुतः।
पदार्थाज्ञानबुद्धस्य, वाक्यार्थानुभवार्थिनः[1] ॥२२९॥

---

१. नै. सि. ४।६१-६२, तथा भ. गी. ४।१९, १४।२२ से तुलना की जा सकती है।

* गच्छति—पाठान्तरम्।

यथेष्टेति—'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ का सम्यक् विचार करके जिस मुमुक्षु को बोध (ज्ञान) हुआ है, और जो महावाक्यार्थ का अनुभव करना चाहता है, उसके लिये तो 'संन्यास' आदि का विधान किया गया है। ऐसी स्थिति में उसका स्वेच्छाचार (यथेष्टाचार) हो ही कैसे सकता है ? ॥ २२९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

विधि-निषेध से रहित होनेपर वह ज्ञानी पुरुष यथेष्ट आचरण करने लगेगा, ऐसी शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि जिसे 'तत्' और 'त्वम्' पद का सम्यक् विचार करने से ज्ञान प्राप्त हुआ है, तथा जो वाक्यार्थ का अनुभव करने में लगा हुआ है, उसके लिए संन्यासविधि, श्रवणादि विधि बतायी गयी है। उससे वह देहाभिमान-शून्य हो जाता है। वह तो वाक्यार्थ का अनुभव करने में तत्पर रहता है। अतः उसके लिए यथेष्ट आचरण करने का कोई निमित्त ही नहीं है और अवसर भी नहीं है। उस ज्ञानी में मिथ्याज्ञान का लेश तक नहीं रहता। अतः वह मिथ्याज्ञानमूलक यथेष्टाचरण कैसे करेगा ? ॥ २२९ ॥

अतः सर्वमिदं सिद्धं, यत्प्रागस्माभिरीरितम् ॥२३०॥

अत इति—अतः पूर्व जो कुछ बताया गया है, वह सभी सिद्ध हो गया ॥ २३० ॥

यो हि यस्माद्विरक्तः स्यान्नासौ तस्मै प्रवर्तते ।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते ॥२३१॥

योहीति—जो व्यक्ति, जिस वस्तु से विरक्त हो जाता है, वह पुनः उस वस्तु के प्रति प्रवृत्त नहीं होता। तब जो मुमुक्षु पुरुष तीनों लोकों से विरक्त हो चुका हो, वह किस वस्तु को चाहेगा ? अर्थात् उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती ॥ २३१ ॥

हृदयस्पर्शिनी

जबकि मुमुक्षु को भी यथेष्ट चेष्टा नहीं किया करता, तब मुक्त पुरुष के यथेष्टाचरण की शंका ही कैसे की जा सकती है ? जो व्यक्ति जिससे विरक्त हो जाता है, उसके प्रति वह पुनः प्रवृत्त नहीं हुआ करता। फिर तीनों लोकों से विरक्त हुआ मुमुक्षु पुरुष किस वस्तु की इच्छा करेगा ? अर्थात् वह सर्वथैव निरिच्छ ही रहेगा ॥ २३१ ॥

क्षुधया पीड्यमानोऽपि, न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
*मृष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्, नामूढस्तज्जिघत्सति ॥२३२॥

क्षुधयेति—भूख से व्याकुल होने पर भी कोई आदमी विष खाना नहीं चाहता। उसी तरह जिस ज्ञानी पुरुष की भूख (अन्न की इच्छा) सुस्वादु मधुर अन्न से शान्त हो चुकी है, वह पुनः उसे खाने की इच्छा नहीं करता। अर्थात् साधना के समय सभी विषयों में उसने दोष-दर्शन कर लिया है, अतः वह ज्ञानी पुरुष पुनः उन विषयों को कैसे स्वीकार करेगा ? ॥ २३२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि यह कहें कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष यद्यपि नियोग (विधि) के परतन्त्र न भी रहे, तो भी भिक्षाटनादि-प्रवृत्ति की तरह विषयान्तरों में भी उसकी प्रवृत्ति कदाचित् होना संभव है। इस शंका का समाधान यह है कि जितने भी विषय हैं, वे सभी दुःख के साधन हैं, ऐसा जिसका निश्चय हो चुका है, वह उन्हें विष की तरह त्याग देता है, अतः वह उन्हें पुनः ग्रहण नहीं करता। भिक्षाटनादि की जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे ज्ञाननिष्ठा की विरोधी नहीं हैं। वे तो केवल शरीरस्थिति मात्र की साधनरूपा हैं, इसलिए वे आवश्यक हैं। उनसे कोई अपूर्वोपचय नहीं होता। अर्थात् जो पुरुष क्षुधा से पीड़ित (व्याकुल) है, वह भी विषभक्षण करना नहीं चाहता। तब जिसकी इच्छा मधुर अन्न से तृप्त हो चुकी है, वह ज्ञानी पुरुष उसे खाने की इच्छा कभी कर ही नहीं सकता। संस्कारवशात् भिक्षाटनादि प्रवृत्ति की अनुवृत्तिमात्र होती है ॥ २३२ ॥

* मिष्टान्न—पाठान्तरम् ।

वेदान्तवाक्यपुष्पेभ्यो, ज्ञानामृतमधूत्तमम् ।
उज्जहारालिवद्यो नस्तस्मै सद्गुरवे नमः ॥२३३॥

वेदान्तेति—जिन्होंने हमारे लिये वेदान्त के वाक्य रूपी पुष्पों से मधुकर (भ्रमर) के समान ज्ञानामृतरूपी मधु निकाल कर दिया, उन सद्गुरु के लिये हमारा प्रणाम है ॥ २३३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

ज्ञानी पुरुष के लिए यद्यपि कोई कार्य शेष नहीं है, तथापि गुरु और शास्त्र के प्रति आदरबुद्धि रखनी ही होगी, इसलिए शिष्य-शिक्षार्थ यह बता रहे हैं कि जिन्होंने भ्रमर के समान वेदान्तवाक्यरूप पुष्पों से हमारे लिए ज्ञानामृतरूप उत्तम मधु निकालकर पान कराया है, उन सद्गुरुदेव के लिए प्रणाम है ॥ २३३ ॥

॥ इत्यष्टादशं तत्त्वमसिप्रकरणं समाप्तम् ॥

यती' छन्द का प्रभेद 'वंशस्थविल' छन्द में है। लक्षणं - 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' (5,7)
ज = लघु गुरु लघु, त = गुरु गुरु लघु, ज = लघु गुरु लघु, र = गुरु लघु गुरु

तृष्णाज्वरनाशकप्रकरणम् [भेषज प्रकरणम्)

① प्रयुज्य तृष्णाज्वरनाशकारणं, चिकित्सितं ज्ञानविरागभेषजम् ।
न याति कामज्वरसंनिपातजां, शरीरमालां शतयोगदुःखिताम् ॥१॥

प्रयुज्येति—तृष्णा रूपी ज्वर को नष्ट करने वाली ज्ञान-वैराग्य रूपी औषधि को जिसमें दिया जाता है, उस चिकित्सा का प्रयोग करने से मनुष्य को यह दुःखमयी शरीर-परम्परा प्राप्त नहीं होती, जो काम ज्वर की मूर्छा तथा सैकड़ों विषयों के सम्बन्ध से हुआ करती है ॥ १ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रकरण का नाम उसके प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रखकर दिया गया है। कुछ लोगों ने इस प्रकरण का नाम 'भेषजप्रयोग प्रकरण' तथा कुछ लोगों ने 'आत्म-मनःसंवाद प्रकरण' भी रखा है। 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ का शोधन संक्षिप्त तथा विस्तृत रूप से किया गया; और ब्रह्मात्मैक्यलक्षण वाक्यार्थज्ञान सफल है, समस्त वेदान्त वाक्यों से उसकी प्रतीति होती है, यह प्रमाण और युक्ति से भी बता चुके। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, सत्य, ज्ञान, अनन्त आनन्द स्वरूप प्रत्यगात्मा के सम्बन्ध में भेद-विपर्यासादि अनेक अनर्थों के होते रहने में अहंकार, मन, बुद्धि, एवं चित्त का संघातरूप अन्तःकरण ही हेतुभूत है—यह भी बता चुके हैं। अत्र हम मुख्यतया यह बता रहे हैं कि आत्मा का संसार मनोऽध्यासमूलक ही होता है, अतः उस मन का स्वरूप और उसकी चेष्टाओं का अनुसन्धान करते हुए उसका विलापन करने में प्रयत्नशील होना चाहिये। इसी अभिप्राय से 'आत्म-मनःसंवादरूप प्रकरण' का प्रारंभ करने की इच्छा से ग्रंथकार प्रथमतः प्रकरण के प्रयोजन को बता रहे हैं—यह मानव प्राणी तृष्णारूपी ज्वर की नाशक ज्ञान-वैराग्यरूपी औषधि का प्रयोग करने से कामज्वरजनित मूर्छा तथा सैकड़ों विषयों के संबंध से प्राप्त होनेवाली दुःखमयी शरीर-परम्परा को प्राप्त नहीं होता है ॥ १ ॥

अहं ममेति त्वमनर्थमीहसे, परार्थमिच्छन्ति तवान्य ईहितम् ।
न तेऽर्थबोधो न हि मेऽस्ति चार्थिता, ततश्च युक्तः शम एव ते मनः ॥२॥

अहमिति—हे मन ! तू, 'अहम्-मम'—मैं और मेरा इस आकार से व्यर्थ चेष्टा करता रहता है। सांख्यवादी विद्वान् तेरी चेष्टा को परार्थ (पुरुष के भोगापवर्गार्थ) मानते हैं। तू मुझपर उपकार कर ही कैसे सकता है ? क्योंकि तू अचेतन है, अतः तुझे अर्थज्ञान का होना संभव नहीं है, और मुझमें कोई किसी प्रकार की अर्थिता नहीं है। ऐसी स्थिति में हे मन ! तेरा शान्त रहना ही समुचित है ॥ २ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इस औषधिप्रयोग प्रकरण का आत्ममनःसंवाद के रूप में विस्तार करते हुए बता रहे हैं—हे मन ! तू 'मैं, मेरा' इस प्रकार की व्यर्थ चेष्टा कर रहा है। यदि कहो कि मैं तुम्हारे लिये ही चेष्टा कर रहा हूँ, अतः उस चेष्टा को व्यर्थ क्यों कह रहे हो ? अन्य सांख्यवादी लोग तुम्हारी चेष्टा को परार्थ अर्थात् पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये मानते हैं। किन्तु हम वेदान्त सिद्धान्तवादी यह नहीं मानते। तुझे मेरा प्रयोजनीय विषय ही ज्ञात नहीं है, क्योंकि तू अचेतन है, और न मुझे तुझसे कुछ माँगना ही है। ऐसी स्थिति में, रे मन ! तेरा शान्त हो जाना ही उचित है ॥२॥

---

१. इस १९ वे प्रकरण को 'भेषज प्रकरण' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें देहप्राप्ति रूप रोग को नष्ट करने वाली औषधि को बताया जा रहा। इसी तरह यह औषधोपचार, 'आत्म-मनःसंवाद' के रूप में किया जा रहा है, इसलिये इस प्रकरण को 'आत्म-मनःसंवाद' प्रकरण भी कहते हैं।

यतो न चान्यः परमात् सनाततात्, सदैव तृप्तोऽहमतो न मेऽर्थिता ।
सदैव तृप्तश्च न कामये हितं यतस्व चेतः प्रशमाय *ते हितम् ॥३॥

यत इति—मैं (प्रत्यगात्मा) सनातन अर्थात् पूर्णानन्दस्वरूप 'परमात्मा' से भिन्न नहीं हूँ, और सर्वदा ही तृप्त हूँ हूँ, अतः मुझे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है। सर्वदा ही तृप्त रहने के कारण स्वयं के लिये किसी प्रकार के हित की भी इच्छा नहीं करता। अतः हे चित्त (मन)! तू शान्त होने के लिये ही प्रयत्न (चेष्टा) कर, यही तेरे लिये हितकर होगा ॥ ३ ॥

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा के अर्थित्वाभाव को सिद्ध कर रहे हैं—मैं (आत्मा) तो सनातन पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा से पृथक् नहीं हूँ, मैं तो सदा-सर्वदा ही तृप्त हूँ। अतः मुझे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है। मैं सर्वदा तृप्त होने के कारण अपने लिए किसी हित की कामना भी नहीं करता। इसलिए हे मन! तू शान्त हो जाने का प्रयत्न कर। यही तेरे हित में होगा ॥ ३ ॥

षडूर्मिमालाभ्यतिवृत्त एव यः, स एव चात्मा जगतश्च नः श्रुतेः ।
प्रमाणतश्चापि मया प्रवेद्यते, मुधैव तस्माच्च मनस्तवेहितम् ॥४॥

षडूर्मिमालेति—जो पुरुष 'क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु'—इन छह ऊर्मिमाला (ऊर्मियों) से पार हो जाता है, वही पुरुष हमारा और जगत् का 'आत्मा' है। उसे हम 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'—इस श्रुति से तथा 'य आत्मा सर्वान्तरः'—इस श्रुति से और 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'—इस स्मृति प्रमाण से भी सम्यक्तया (यथार्थरूप से) समझते हैं। अतः हे मन! तेरी दौड़-धूप की चेष्टा करना व्यर्थ है ॥ ४ ॥

हृदयस्पर्शिनी

परमात्मा से अभिन्न होने के कारण अपने अर्थित्वाभाव को बताया। अब परमात्मा से अपनी अभिन्नता का उपपादन कर रहे हैं—अशनाया (क्षुधा), पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु ये छह ऊर्मियाँ कहलाती हैं। ये छह ऊर्मियाँ प्राण, मन, और देह की धर्मरूप हैं। ये छहों धर्म, नदी की ऊर्मि (तरंग) की तरह आविर्भाव-तिरोभावरूप हैं। यह आत्मा उक्त छह ऊर्मिमाला अर्थात् ऊर्मिपरम्परा को पार किये हुए है, वही हमारा और जगत् का आत्मा है। अर्थात् वह आत्मा निष्प्रपञ्च है। उसे हम श्रुति[1]-स्मृति[2] के प्रमाणों से अच्छी तरह जानते हैं। अतः हे मन! तेरी सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं ॥ ४ ॥

त्वयि प्रशान्ते नहि चास्ति भेदधीर्यतो जगन्मोहमुपैति मायया ।
ग्रहो हि मायाप्रभवस्य कारणं, ग्रहाद्विमोके नहि साऽस्ति कस्यचित् ॥५॥

त्वयीति—तू जब शान्त हो जायगा, तब 'भेदबुद्धि' नहीं रह पायेगी। उस भेदबुद्धि से ही यह संसार, 'माया' के अधीन होकर 'मोह' को प्राप्त हो रहा है, क्योंकि 'भेदबुद्धि' से ही 'माया' की उत्पत्ति होती है। उस 'भेदबुद्धि' के निवृत्त होते ही वह 'माया' भी उसके लिये नहीं रह पाती ॥ ५ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तेरे शान्त हो जाने पर भेदबुद्धि नहीं रहती। भेदबुद्धि से ही यह संसार, माया के कारण मोह को प्राप्त होता है। क्योंकि अकृतार्थताभिमानलक्षणा माया की उत्पत्ति का कारण भेदज्ञान ही है। उस भेदज्ञान के निवृत्त होते ही वह माया भी किसी के लिये नहीं रहती। मन के प्रशांत होने पर वह भेदबुद्धि नहीं रह पाती, क्योंकि सुषुप्ति में मन का अभाव रहता है, तब भेदबुद्धि भी नहीं रहती, यह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है। सुषुप्ति में भेद-बुद्धि के न रहने पर माया-मोह भी नहीं रहता ॥ ५ ॥

---

१. (बृ. उ. ३।४।१) 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म', 'य आत्मा सर्वान्तरः'।
२. (भ. गी. १०।२०) 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥' क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि 13.2
* तेऽधिकम्—पाठान्तरम्।

न मेऽस्ति मोहस्तव चेष्टितेन हि, प्रबुद्धतत्त्वस्त्वसितो ह्यविक्रियः ।
न पूर्वतस्त्वोत्तरभेदता हि नो, वृथैव तस्माच्च मनस्तवेहितम् ॥६॥

नेति—तेरी चेष्टा से मुझ पर मोह का कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता क्योंकि मैं 'ज्ञाततत्त्व, बन्धनरहित तथा अविकारी' हूँ, क्योंकि हमारी दृष्टि में तत्त्वज्ञान के पूर्व और उत्तर काल में कोई अन्तर नहीं है। अतः हे मन! तेरी सम्पूर्ण चेष्टा व्यर्थ ही है ॥ ६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

अरे मन! तेरी चेष्टा से मुझे मोह नहीं हो सकता, क्योंकि मैं बन्धरहित, प्रबुद्धतत्त्वस्वरूप, और विकार-शून्य हूँ। मेरी दृष्टि में तत्त्वज्ञान होने के पूर्व और उसके उत्तर काल में कोई भी विशेष (भेद) लक्षित नहीं हो रहा है। इसलिये हे मन! तेरी चेष्टा व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हारी चेष्टा से मुझमें कोई अतिशय नहीं हो सकता है ॥ ६ ॥

यतश्च नित्योऽहमतो न चान्यथा, विकारयोगे हि भवेदनित्यता ।
सदा प्रभातोऽहमतो हि चाद्वयो, विकल्पितं चाप्यसदित्यवस्थितम् ॥७॥

यत इति—'मैं नित्य हूँ', अतः मुझमें 'अनित्यता' नहीं है। 'विकार' का योग होने पर ही वह (अनित्यता) हो पाती है (परन्तु मैं अविकारी होने से नित्य हूँ)। 'मैं सर्वदा प्रकाशस्वरूप हूँ', अतः 'अद्वय' हूँ। जो कुछ 'दृश्य' है, वह सब 'असत्' है। यह बात निश्चित है ॥ ७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

समस्त दृश्यवर्ग से परे रहनेवाले इस आत्मा में आगन्तुक अतिशय का सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता। अन्यथा आत्मा में अनित्यता प्राप्त होगी। अनित्यता की प्राप्ति किस कारण होगी, जो कि उसका निषेध किया जा रहा है? मैं तो नित्य हूँ, अतः मुझ में अनित्यता नहीं है। अनित्यता तो विकार का संबन्ध होनेपर ही होती है। यदि कहो कि परिस्पन्द-परिणामादिरूप विकार के न रहने पर भी प्रकाशाप्रकाशसंसर्गरूप विकार हो सकता है, तो उसका उत्तर यह है कि मैं सर्वदा ही प्रकाशस्वरूप हूँ। इस विषय में[1] श्रुति प्रमाण है। मैं अद्वय हूँ। यदि कहो कि दृश्यभेद के विद्यमान रहते अद्वय कैसे हो सकते हो? उत्तर यह है कि आगन्तुक रज्जु-सर्प की तरह जो कुछ भी दृश्य है, वह सब असत् है, इसे निश्चित समझो ॥ ७ ॥

अभावरूपं त्वमसीह हे मनो, निरीक्ष्यमाणे न हि युक्तितोऽस्तिता ।
सतो ह्यनाशादसतोऽप्यजन्मतो, द्वयं च चेतस्तव नास्तितेष्यते ॥८॥

अभावरूपमिति—हे मन! तू अभावरूप है। युक्तिपूर्वक विचार करने पर तेरा 'अस्तित्व' सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जो वस्तु 'सत्' होती है, उसका कभी 'नाश' नहीं होता, तथा जो वस्तु 'असत्' होती है, उसकी 'उत्पत्ति' नहीं होती। किन्तु हे चित्त! तुझमें ये दोनों (उत्पत्ति और नाश) हैं। अतः तेरी परमार्थसत्ता नहीं है। तुझे अभावरूप मानना ही इष्ट है ॥ ८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

मन के होने से तो आत्मा की सद्वितीयता अवगत हो रही है, अतः उसे अद्वितीय कैसे मान लिया जाय? रे मन! तू तो अभावरूप है, युक्तिपूर्वक विचार करने पर तुम्हारा अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि गीता में भगवान् कहते हैं[2]—'सत् वस्तु' का कभी नाश नहीं होता, और 'असत् वस्तु' की कभी उत्पत्ति नहीं होती। रे मन! तुझ में तो उत्पत्ति और विनाश दोनों हैं। इस कारण तेरी पारमार्थिक (वास्तविक) सत्ता नहीं मानी जा सकती ॥ ८ ॥

---

१. सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः।—(छां. उ. ८।४।२) तथा
पश्यन्वै तन्न पश्यति।—(बृ. उ. ४।३।२३)

२. "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"—(भ. गी. २।१६)

द्रष्टा च दृश्यं च तथा च दर्शनं, भ्रमस्तु सर्वस्तव कल्पितो हि सः ।
दृशेश्च भिन्नं न हि दृश्यमीक्ष्यते, स्वपन् प्रबोधेन तथा न भिद्यते ॥९॥

द्रष्टेति—हे मन ! 'द्रष्टा' 'दृश्य' और 'दर्शन' इस प्रकार से लोगों को जो 'भ्रम' होता है, वह सब तेरी ही कल्पना का खेल है । क्योंकि 'द्रष्टा' से भिन्न 'दृश्य' नहीं देखा गया है । तथा स्वप्नगत 'आत्मा', जाग्रत् अवस्था के द्वारा भेद को प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् दोनों अवस्थाओं में 'आत्मा' एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं । तथापि भिन्नवत् प्रतीति हुआ करती है,—यह तेरा ही तो खेल है ॥ ९ ॥

हृदयस्पर्शिनी

'बीजाभावे कुतः फलम्'—बिना बीज के फल कहाँ ? इस न्याय से आत्मा की अद्वितीयता को स्पष्ट कर रहे हैं—रे मन ! द्रष्टा, दृश्य, और दर्शनरूप जो भ्रम है, वह सब तुम्हारे द्वारा ही कल्पना किया हुआ है । क्योंकि 'दृश्य' को 'द्रष्टा' से भिन्न नहीं देखा जाता, तथा स्वप्नगत आत्मा जाग्रत् अवस्था के द्वारा भेद को प्राप्त नहीं होता । अर्थात् स्वप्नकाल में भिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी वह अभिन्न ही है, उसी प्रकार जाग्रत्काल में भी उसमें कोई भेद नहीं होता है । स्वप्न में उसकी अद्वितीयता श्रुतिसिद्ध है[1] ॥ ९ ॥

विकल्पना वाऽपि तथाऽद्वया भवेदवस्तुयोगात्तदलातचक्रवत् ।
न शक्तिभेदोऽस्ति यतो न चाऽऽत्मनां, ततोऽद्वयत्वं श्रुतितोऽवसीयते ॥१०॥

विकल्पनेति—इसी प्रकार 'अवस्तु' से योग (सम्बन्ध) होने के कारण 'विकल्प' भी अलात चक्र के सदृश 'अद्वय' ही होता है । जो शब्द से होने वाले ज्ञान का तो अनुगमन करता है किन्तु वस्तुशून्य रहता है, उसे 'विकल्प' कहते हैं । महर्षि पतञ्जलि ने कहा भी है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" । आत्माओं का परस्पर शक्तिभेद नहीं है, इसलिये श्रुतिप्रमाण से उनका अभेद ही सिद्ध होता है ॥ १० ॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि कहो कि विकल्पाभाव रहने पर भी विकल्पना तो सत्य है ही, इसलिए अद्वैत की उपपत्ति नहीं हो पा रही है । तो सुनो कि अवस्तु से सम्बन्धित होने के कारण विकल्प भी अलातचक्र के समान अद्वय ही है, क्योंकि आत्माओं का परस्पर शक्तिभेद नहीं है । अतः श्रुति के द्वारा उनका अभेद सिद्ध होता है । जैसे दृश्य भिन्न नहीं, वैसे ही विकल्पना भी भिन्न नहीं है । किन्तु अवस्तु के योग से अवस्तुविषयकत्वेन उसका निरूपण किया जाता है । जैसे परिभ्रमणशील अलात की चक्राकारता अलात से पृथक् वस्तु नहीं, उसी तरह विकल्पना भी चिदात्मा के अतिरिक्त कोई पृथक् वस्तु नहीं । इस रीति से उसकी अद्वयता का उपपादन करने पर भी पुनः शंका होती है कि दृष्टि, श्रुति, मति आदि शक्तिरूप स्वगत भेद के विद्यमान होने से आत्मा की अद्वयता नहीं बन पा रही है, तथा प्रत्येक शरीर में आत्मभेद (भिन्न-भिन्न आत्मा) के प्रसिद्ध रहने से सजातीय भेद भी है, तब उसे अद्वय कैसे कहा जाय ? तुम्हारी शंका के अनुसार मानने में श्रुति का विरोध होता है । श्रुति कहती है—"अकृत्स्नो हि सः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनः तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव[2]"—यह श्रुति चिदात्मा के दृष्ट्यादि भेद को औपाधिक बता रही है । अन्यान्य श्रुतियों ने सर्वत्र आत्मा की एकता को ही बताया है । जैसे—"एको देवो बहुधाः निविष्टः[3]", "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति[4]", "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा[5]" ये सभी श्रुतियाँ आत्मा की एकता को ही बता रही हैं ।

१. "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति" तथा (बृ. उ. ४।३।३२) "अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति ।" (कौ. ३।३)
२. (बृ. उ. १।४।७)
३. (तै. आ. ३।१४)
४. (ऋ. सं. १०।११४।५)
५. (कठ. उ. ५।९)

इसी प्रकार भेदनिषेधक अन्यान्य श्रुति-स्मृतियों को भी देखना चाहिये। विष्णुसहस्रनामस्तोत्र के १० वे मंत्र का भाष्य, तथा सनत् सुजातीय के २० वे श्लोक का भाष्य अवलोकनार्ह है ॥ १० ॥

मिथश्च भिन्ना यदि ते हि चेतनाः, क्षयस्तु तेषां परिमाणयोगतः ।
ध्रुवो भवेद्भेदवतां हि दृष्टतो, जगत्क्षयश्चापि समस्तमोक्षतः ॥११॥

मिथश्चेति—वे आत्मा यदि एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हैं, तो वे 'परिमित' सिद्ध होते हैं, और 'परिमित' होने के कारण उनका 'क्षय' (नाश) होना भी निश्चित रहेगा। क्योंकि जो पदार्थ 'भेदयुक्त' (भिन्न-भिन्न) होते हैं, उनका 'क्षय' होना देखा गया है, अर्थात् सर्वलोकप्रत्यक्ष है। तथा समस्त प्राणियों की मुक्ति होने पर 'संसार' का भी क्षय हो जायगा ॥११॥

हृदयस्पर्शिनी

अब आगमबाह्यों की आत्मभेदकल्पना का युक्ति से निराकरण कर रहे हैं—यदि वे चेतनरूप आत्मा परस्पर भिन्न हों तो वे मूलांकुरादिकों के समान परिमित होंगे। और जो परिमित होते हैं, वे विनाशी होते हैं—ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार उनका (आत्माओं का) विनाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि भेदयुक्त पदार्थों का क्षय देखा जाता है। और समस्त प्राणियों की मुक्ति हो जाने पर संसार का भी उच्छेद हो जायगा। भेद पक्ष में एक-एक कल्प में एक-एक की मुक्ति होनेपर भी अनन्त गतकल्पों में अनन्त जीवों की मुक्ति होना संभव है, तब समस्त जीवों का मोक्ष हो जाने से किसी भोक्ता के ही न रहनेपर तदर्थ जो भोग्य जगत् है, उसकी आवश्यकता ही न रहने से उसका भी क्षय हो जायगा। अतः भेदपक्ष को स्वीकारना उचित नहीं है ॥ ११ ॥

न मेऽस्ति कश्चिन्न च सोऽस्मि कस्यचिद्यतोऽद्वयोऽहं न हि चास्ति कल्पितम्।
अकल्पितश्चास्मि पुरा प्रसिद्धितो, विकल्पनाया द्वयमेव कल्पितम् ॥१२॥

न मे इति—कोई भी वस्तु (पदार्थ) मेरी नहीं है, और न मैं ही किसी का हूँ, क्योंकि 'मैं' तो अद्वय हूँ। दूसरी बात यह भी है कि 'कल्पित पदार्थ' की 'सत्ता' नहीं हुआ करती, किन्तु 'मैं' तो कल्पना के पूर्व से ही सिद्ध हूँ। अतः 'मैं' अकल्पित हूँ। कल्पित तो 'द्वैत' ही है, मैं नहीं हूँ ॥ १२ ॥

हृदयस्पर्शिनी

तब सिद्धान्ती से भेदवादी पूछता है कि तुम्हारे मत में भी जगत्-जीव-ईश्वर यह भेद तो विद्यमान है ही, तब तुम्हारे मत में उक्त दोष का परिहार कैसे होगा ? इस पर सिद्धान्ती कहता है—मेरे मत में दोष इसलिये नहीं है, क्योंकि मैं अद्वय हूँ, वस्तुतः मेरा गुणभूत (अंगभूत) अथवा प्रधानभूत, अथवा मेरे जैसा दूसरा कोई नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है, और न ही मैं किसी का हूँ, क्योंकि मैं अद्वय हूँ। जो जगत् है, वह तो कल्पित है, कल्पित पदार्थ की सत्ता नहीं होती। तथाच जीव-ईश्वर-जगत् का भेद बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है। वह भेद प्रमाणाऽसहिष्णु है, वह तो केवल अलंकारमात्र है। अतः हमारे मत में दोष का कोई प्रसंग ही नहीं है। इस पर पुनः प्रश्न हो सकता है कि जैसे 'द्वैत' एक पदार्थ है, वैसे ही 'अद्वैत' भी एक पदार्थ है, अतः दोनों में कोई विशेष न होने से कल्पितत्व तो पूर्व की तरह ही स्थित रहा। तब उत्तर देते हैं कि निरधिष्ठान कल्पना नहीं हुआ करती और निरवधिक बाध भी नहीं हुआ करता। अतः समस्त कल्पनाओं के पहले से ही जो सिद्ध है, तथा कल्पितबाध की कोई-न-कोई अवधि रहने के पश्चात् जो अवशिष्यमाण होगा, उसे कल्पित नहीं कहा जाता, अपितु वह स्वतःसिद्ध रहता है। उसी स्वतःसिद्ध रहनेवाली वस्तु को 'अद्वय' शब्द से कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विकल्पना के पूर्व भी मेरी प्रसिद्धि रहने से मैं अकल्पित हूँ, और मूलगत 'च' शब्द से अवधिभूत होने से कल्पना के अनन्तर (पश्चात्) भी हूँ, और बीच में उसका साक्षी होने से मैं अकल्पित ही हूँ। परिशेषात् सापेक्ष होने से जगत् और जीव ये दो ही कल्पित हैं। अतः द्वैत ही कल्पित है, अद्वैत नहीं ॥ १२ ॥

विकल्पना आध्यभवे न विद्यते, सदन्यदित्येवमतो न नास्तिता ।

यतः प्रवृत्ता तव चापि कल्पना, पुरा प्रसिद्धेर्न च तद्धि कल्पितम् ॥१३॥

विकल्पनेति—**आत्मा 'नित्य' है, उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुआ करती। उस नित्य आत्मा में 'सत्' एवं 'असत्' की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिये पूर्व सिद्ध होने के कारण उस रे मन! आत्मा में तुम्हारी कल्पना को आने मात्र से उसको (आत्मा को) कल्पित नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

आत्मा तो कल्पना का विषय ही नहीं है। जिसकी कभी उत्पत्ति ही नहीं होती, ऐसे नित्य आत्मा में सत् और असत् की कल्पना भी नहीं है। इसलिये उसका अभाव भी नहीं है। तुम्हारी कल्पना जिससे प्रवृत्त हुई है, वह आत्मा पूर्वसिद्ध होने के कारण उसे कल्पित नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

P/S **असद्वयं तेऽपि हि यद्यदीक्ष्यते, न दृष्टमित्येव न चैव नास्तिता ।**

यतः प्रवृत्ता सदसद्विकल्पना, विचारवद्धाऽपि तथाऽद्वयं च सत् ॥१४॥

असदिति—**हे मन! तेरे द्वारा जो भी देखा जाता है, वह सभी द्वैत समुदाय 'असत्' ही है। दिखाई नहीं देता, इस कारण किसी पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता। विचार का पर्यवसान जैसे निर्णय में होता है, वैसे ही जिससे 'सत्' और 'असत्' की कल्पना प्रवृत्त हुई है, वह 'अद्वय' एवं 'सत्' ही है, वह कल्पना की अधिष्ठानभूत 'वस्तु' है ॥ १४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस पर पूर्वपक्षवादी कहता है कि जो उपलब्ध होता है उसकी सत्ता मानी जाती है, और जो उपलब्ध नहीं होता उसकी सत्ता नहीं मानी जाती। द्वैत की तो उपलब्धि होती है, अद्वैत की नहीं, तब अद्वैत की सत्ता कैसी मानी जाय? इस शंका के समाधान में सिद्धान्ती कहता है कि किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता में उसका दीखना या न दीखना कारण नहीं है। किन्तु वस्तु की सत्ता या असत्ता में निश्चायक कोई अन्य ही हेतु है। इसलिये रे मन! तुम्हारे द्वारा जो-जो देखा जाता है, वह द्वैत ही देखा जाता है, वह तो स्वप्नदृष्ट वस्तु की तरह विनष्टस्वरूपवाला होने से असत् ही है। उसी तरह दिखाई नहीं देती, इसलिये वह वस्तु है ही, नहीं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नीरूप वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने पर भी उसकी (वायु की) असत्ता नहीं कही जाती। अपितु उसकी सत्ता ही मानी जाती है। वस्तु के विद्यमान रहने पर भी द्रष्टा के असामर्थ्य से, अथवा दर्शनयोग्यता के न रहने से उसका दर्शन होना असंभव हो जाता है। अतः किसी वस्तु के दर्शन या अदर्शन मात्र से उसकी सत्ता या असत्ता का निर्णय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार विचार का पर्यवसान निर्णय में होता है, उसी तरह जिससे सत् और असत् की कल्पना प्रवृत्त हुई है, वह कल्पना की अधिष्ठानभूत वस्तु अद्वय है और वही सत् है ॥ १४ ॥

सदभ्युपेतं भवतोपकल्पितं, विचारहेतोर्यदि तस्य नास्तिता ।

विचारहानाच्च तथैव संस्थितं, न चेत्तदिष्टं नितरां सदिष्यते ॥१५॥

सदिति—**यदि तुम यह कहते हो कि 'सद्' वस्तु कोई है ही नहीं किन्तु इसका निर्णय करने के लिये तुम्हें विचार करना पड़ता है या नहीं? यदि तुम्हें विचार करना पड़ता है, तो तुमने 'सद् वस्तु' की सत्ता को स्वीकार कर ही लिया है, यह मानना होगा, क्योंकि विचार करने के लिये किसी आधारभूत पदार्थ की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। यदि आधार को स्वीकार न किया जाय तो विचार की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। तब 'तत्त्व' का निर्णय ही नहीं हो पायगा। इस प्रकार 'तत्त्व' का अनिर्णय यदि अभीष्ट नहीं है- तो यह निश्चित ही है कि 'सद्वस्तु' तुम्हें स्वीकार्य है ॥ १५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

विचार करने के लिए वादी और प्रतिवादी को अपने विवाद की आश्रयभूत किसी वस्तु का अवलंब (स्वीकार) करना ही पड़ता है; नहीं तो विवाद हो ही नहीं सकता। जैसे—आत्मा की सगुणता अथवा निर्गुणता का

निर्णय करना हो तो दोनों पक्षों को धर्मीस्वरूप आत्मा की सत्ता का स्वीकार तो करना ही पड़ेगा, अन्यथा उसके सगुणत्व या निर्गुणत्व धर्म का विचार ही कैसे प्रवृत्त हो सकेगा ? तुम्हारा कहना है कि कोई सत् वस्तु नहीं है, किन्तु उसके निर्णयार्थ तुम्हें विचार करना होगा कि नहीं ? निर्णयार्थ यदि तुम विचार करना आवश्यक समझते हो तो तुमने 'सत्' वस्तु की सत्ता को पहले स्वीकार कर ही लिया। क्योंकि उसके बिना विचार का आरंभ ही नहीं हो सकेगा। यदि उसका अस्तित्व न माना जाय तो विचार की प्रवृत्ति न होने के कारण निर्णय न हो पाने से वह तत्त्व अनिर्णीत ही रह जाता है। यदि ऐसा होना इष्ट नहीं है तो 'सत्' को निश्चित रूप से स्वीकार करना ही होगा ॥ १५ ॥

असत्समं चैव सदित्यपीति चेदनर्थवत्त्वान्नरभृङ्गतुल्यतः।
अनर्थवत्त्वं त्वसति ह्यकारणं, न चैव तस्मान्न विपर्ययेऽन्यथा ॥१६॥

असत्सममिति—इस पर पूर्व पक्षी का कहना है कि 'सत्' वस्तु का स्वीकार करनेपर भी वह (सद्वस्तु) अर्थक्रिया-शून्य होने के कारण नरभृङ्ग के समान उसको 'अलीक' ही कहना होगा। तब सिद्धान्ती कहता है कि वस्तु की अर्थक्रिया-शून्यता उसकी 'असत्ता' में कारण नहीं है, तथा अर्थक्रियाकारित्व से 'वस्तु' की 'सत्ता' सिद्ध नहीं हुआ करती। अतः इससे विपरीत अवस्था में 'वस्तु' का अभाव रहना भी संभव नहीं है ॥ १६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

पूर्वपक्षी बौद्ध का कथन है कि जो वस्तु सत् होती है, वह सक्रिय होने से दीपशिखा के तुल्य क्षणिक होती है। और जो सक्रिय नहीं होती, वह असत् होती है। अतः परमार्थ वस्तु सत् नहीं हो सकती। यदि 'सत्' है ऐसा स्वीकार किया भी जाय तो अर्थक्रियाशून्य होने के कारण नरश्रृंग के तुल्य होने से वह अलीक (मिथ्या) ही होगी। इसपर सिद्धान्ती का कहना है कि वस्तु की असत्ता में 'अर्थक्रियाशून्यत्व' को कारण नहीं कहा जा सकता। 'अर्थक्रिया-कारित्व' से 'वस्तु की सत्ता' सिद्ध नहीं होती। क्योंकि कण्टकादि के अभाव में भी पादन्यासरूप क्रिया हो सकती है तथा क्रिया की उत्पत्ति से पूर्व भी वस्तु की सत्ता देखी जाती है। अतः अर्थक्रियाकारित्व से रहित होनेपर भी वस्तु 'सत्' हो सकती है। उसका अभाव संभव नहीं है ॥ १६ ॥

असिद्धतश्चापि विचारकारणाद्द्वयं च तस्मात्प्रसृतं च मायया।
श्रुतेः स्मृतेश्चापि तथा हि युक्तितः प्रसिद्ध्यतीत्थं न तु युज्यतेऽन्यथा ॥१७॥

असिद्धतश्चेति—इसके अतिरिक्त तुम्हारे द्वारा किये गये अनुमान—'श्रौतं सत् असत्समं अर्थक्रियाशून्यत्वात्, नरभृङ्गवत्' में 'असिद्धि' दोष के कारण उक्त हेतु हेत्वाभासरूप है। विचार के कारणभूत 'आत्मा' से ही मायावश 'द्वैत' का विस्तार हुआ है। श्रुति, स्मृति और युक्ति से भी यही सिद्ध हो रहा है। और कोई अन्य प्रकार बताना युक्तिविरुद्ध है ॥ १७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इसके पूर्व के श्लोक में व्यभिचार-दोष का प्रदर्शन करते हुए बौद्धमत का खण्डन किया है। अब इस श्लोक में पक्षासिद्धिरूप दोष को बता रहे हैं। तुम्हारा अनुमान असिद्धिदोष से दूषित होने के कारण भी ठीक नहीं है। विचार के हेतुभूत आत्मा से ही मायावश द्वैत का विस्तार हुआ है। क्योंकि "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"[1] तथा "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"[2] इत्यादि श्रुति - स्मृति तथा कार्य का वाचारंभणत्व भी किसी सद्रूप अधिष्ठान के रहने पर ही संभव हो सकता है, इस युक्ति[3] से भी सर्वाधिष्ठानभूत परमार्थतत्व सत् ही हो सकता है, असत् नहीं। अतः 'अर्थक्रियाकारित्व का अभाव वस्तु की असत्ता का कारण है'—यह हेतु असिद्ध है। यदि

१. (श्वे. उ. ४।१०)
२. (भ. गी ९।१०)
३. (ब्र. सू. २।१।१४)

केवल 'अर्थक्रियाकारित्वाभाव' को हेतु न कहकर उसमें 'परमार्थ' विशेषण जोड़कर 'परमार्थतः अर्थक्रियाकारित्वाभाव' को हेतु कहें, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमार्थतः अर्थक्रियाकारित्व में कोई दृष्टान्त नहीं है। अन्यथा स्थिर या क्षणिक वस्तु में परमार्थतः अर्थक्रियाकारित्व •संगत नहीं है, क्योंकि अक्रिय कभी कारक नहीं हो सकता। क्रियाकार्य के प्रति भी क्रियावत्त्व यदि माना जाय तो अनवस्था दोष होगा। अतः तुम्हारे अनुमान में हेतु के दूषित रहने से उससे साध्यसिद्धि नहीं हो सकती ।। १७ ।।

विकल्पनाच्चापि विधर्मकं श्रुतेः पुरा प्रसिद्धेश्च विकल्पतोऽद्वयम् ।
न चेति नेतीति यथा विकल्पितं, निषिद्ध्यतेऽत्राप्यविशेषसिद्धये ।।१८।।

विकल्पनादिति—**यदि यह कहो कि 'आत्मा' सर्वविकल्पविशिष्ट है, क्योंकि वह समस्त विकल्पों का कारण है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि श्रुति प्रमाण से तथा विकल्प से पूर्व भी उसके विद्यमान रहने के कारण यह अद्वितीय आत्मा, विकल्प से भिन्न स्वभाव का है। जिस प्रकार अवशिष्ट वस्तु को बताने के लिये 'नेति-नेति' कह कर विकल्प का निषेध किया जाता है, उस तरह 'आत्मा' का निषेध नहीं किया जाता ॥ १८ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

इस पर पूर्वपक्षी पुनः शंका कर रहा है कि जब अद्वय, समस्त विकल्पों का हेतु है, तो वह सर्व विकल्पों से युक्त हो ही जायगा। किन्तु ऐसी शंका करना उचित नहीं। क्योंकि "निष्कलं निष्क्रियम्" इस श्रुति से तथा विकल्प से पूर्व भी विद्यमान रहने के कारण अद्वितीय आत्मा विकल्प के स्वभाव से भिन्न स्वभाव का है। जिस प्रकार अवशिष्ट वस्तु की सिद्धि के लिए "नेति-नेति" वाक्य से विकल्प का निषेध किया जाता है, उस तरह अद्वय आत्मा का निषेध नहीं किया जाता। शुक्ति पर आरोपित रजत के समान प्रत्येक आरोपित वस्तु असत् होती है, तथापि उसका अधिष्ठान सत्य (सत्) होता है। आत्मा समस्त विकल्पों का अधिष्ठान है। अतः विकल्पमात्र मिथ्या है, अधिष्ठानस्वरूप आत्मा मिथ्या नहीं है। इसीलिए 'नेति-नेति' वाक्य से केवल आरोपित विकल्प का ही बाध किया जाता है, उसके अधिष्ठानभूत परमार्थसत्य आत्मा का नहीं ।। १८ ।।

अकल्पितेऽप्येवमजेऽद्वयेऽक्षरे, विकल्पयन्तः सदसच्च जन्मभिः ।
स्वचित्तमायाप्रभवं च ते भवं, जरां च मृत्युं च नियान्ति संततम् ।।१९।।

अकल्पितेऽपीति—**यद्यपि 'आत्मा' अकल्पित, अजन्य, अद्वय और अविनाशी है, तथापि जो मनुष्य उसमें (आत्मा में) 'सत्-असत्' कर्तृत्व की कल्पना करते हैं, वे सर्वदा स्व-बुद्धिभ्रम से कल्पित जन्म, जरा, मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ॥ १९ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यथोक्त श्रुत्यर्थ में जो विकल्प करते हैं, वे अनर्थ को प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो लोग अविकल्पित (कूटस्थ) अर्थात् भेदविकारसंसर्गशून्य अजन्य, अद्वय और अविनाशी आत्मा में सत्, असत् तथा कर्तृत्वादि की कल्पना करते हैं, वे निरन्तर तिर्यक्-मनुष्यादि योनियों के द्वारा अपने बुद्धिभ्रम से ही कल्पित जन्म, जरा एवं मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।। १९ ।।

भवाभवत्वं तु न चेदवस्थितिर्न चास्य चान्यस्थिति जन्म नान्यथा ।
सतो ह्यसत्त्वादसतश्च सत्त्वतो, न च क्रियाकारकमित्यतोऽप्यजम् ।।२०।।

भवाभवत्वमिति—**कोई भी सद्वस्तु उत्पत्ति और अनुत्पत्ति दोनों से ही विलक्षण स्वभाव की नहीं हुआ करती। क्योंकि 'उत्पत्तिमत्त्व' और 'अनुत्पत्तिमत्त्व'—दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। उस कारण 'द्वैत' के उत्पत्तिस्वरूप को यदि स्वीकार नहीं करते तो उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी। यदि उसकी उत्पत्ति मानते हैं तो उसकी उत्पत्ति किसी अन्य 'सत्' वस्तु से नहीं हो सकती, और न 'असत्' से ही हो सकती है, क्योंकि 'सत्' को विकारी होने के कारण 'असत्'**

कहना होगा, और उपादान होने के कारण 'असत्' को 'सत्' कहना होगा। इसलिये क्रियाकारक कुछ भी नहीं है। अतः एक निर्विशेष, अजन्मा 'आत्मा' ही है ॥ २० ॥

हृदयस्पर्शिनी

सद्वस्तु की कूटस्थता, अद्वितीयता, जो श्रुत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है, उसकी स्व-बुद्धिभ्रम से अन्यथा कल्पना मनुष्य किया करता है, अर्थात् वह अन्यथा कल्पना पुरुषापराधनिबन्धन है। उसी को सुदृढ़ करने के लिये अब युक्ति बताते हैं। द्वैतवादी से हम पूछते हैं कि पहले यह बताओ, तुम्हारा अभिमत 'द्वैत'—उत्पद्यमान स्वभाववाला है, या अनुत्पद्यमान स्वभाववाला है अथवा उभयस्वभाववाला है? प्रथम पक्ष का स्वीकार करना उचित नहीं होगा, क्योंकि उत्पत्ति (जन्म) तो किसी अन्य वस्तु से ही हो सकती है, अतः वह सापेक्ष है, उस कारण शुक्ति-रजतादि के समान उसमें मिथ्यात्व आ जायगा। उसी तरह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि तब उसे नित्य मानना होगा, परिणाम यह होगा कि उसके अभाव का व्यवहार ही कभी नहीं हो सकेगा। उसी तरह तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु परस्परविरुद्धस्वभाव वाली नहीं होती। इसी अभिप्राय को मन में रखकर चतुर्थ पक्ष को बताकर उसे भी दूषित कर रहे हैं। भवश्च अभवश्च भवाभवौ, तयोर्भावः भवाऽभवत्वम्। परस्पर विरुद्ध होने के कारण 'द्वैत' के भवाऽभवत्व (उत्पत्ति-अनुत्पत्ति) को विरोध के कारण यदि स्वीकार नहीं करते हो तो उसकी अवस्थिति अर्थात् सत्ता ही सिद्ध न हो सकेगी। उभयस्वभावविलक्षण कोई भी वस्तु नहीं हुआ करती। यदि द्वैत की उत्पत्ति कहें तो स्वतः ही जन्म होना संभव न रहने से, किसी दूसरे से ही कहना होगा। तब भी पुनः प्रश्न हो सकता है कि उस द्वैत का जन्म 'सत्' वस्तु से है, या 'असत्' वस्तु से है? किन्तु दोनों पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि उत्पत्तिशील होने से 'सत्' विकारी होने के कारण 'असत्' सिद्ध होगा और उपादान होने के कारण असत् 'सत्' हो जायगा। अतः क्रिया-कारक कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक आत्मतत्त्व ही निर्विशेष, अजन्मा है ॥ २० ॥

अकुर्वदिष्टं यदि वाऽस्य कारकं न किञ्चिदन्यन्ननु नास्त्यकारकम्।
सतोऽविशेषादसतश्च सच्च्युतौ, *तुलान्तयोर्यद्वदनिश्चयान्न हि ॥२१॥

अकुर्वदिति—**इस द्वैत वर्ग के कारक को यदि निष्क्रिय माना जाय तो सभी वस्तुओं को कारक कहा जा सकेगा और यदि उसे सक्रिय माना जाय तो उसका कारकत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह 'सत्' और 'असत्' दोनों ही अवस्थाओं में समान रहेगा। यदि 'सत्' के सत्त्व की तथा 'असत्' के असत्त्व की च्युति होने पर उनका कारकत्व कहा जाय तो जिस प्रकार तराजू की डण्डी के उठने और झुकने में कौन किसका कारण है, यह निश्चय नहीं हैं, उसी प्रकार उनके कार्य-कारण भाव का निश्चय नहीं किया जा सकता ॥ २१ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यदि इस द्वैतवर्ग के कारक को निष्क्रिय माना जाय तो ऐसी कोई वस्तु नहीं रहती जो उसका कारक न हो सके। उस अवस्था में सभी इसके कारक हो सकते हैं, क्योंकि क्रियाहीन तो सभी वस्तु हो सकती हैं। अतः उसे यदि अन्यथा (सक्रिय) कहा जाय तो उसकी कारकता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वह सत् और असत् दोनों ही अवस्थाओं में समान रहेगा। यदि उस 'सत्' या 'असत्' के सत्त्व या असत्त्व की च्युति होने पर उनका कारकत्व माना जाय तो जिस प्रकार तुलादण्ड के उठने और झुकने में कौन किसका कारण है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उनके कार्य-कारण भाव का निश्चय नहीं किया जा सकता। यदि सक्रिय वस्तु को द्वैत का कारण माना जाय तो प्रश्न यह हो सकता है कि वह स्वभाव से सक्रिय है या किसी अन्य की अपेक्षा से? यदि स्वभाव से सक्रिय है तो उसकी क्रिया नित्य होने के कारण उससे सर्वदा कार्य की उत्पत्ति होती रहेगी, और यदि अन्य किसी की अपेक्षा से उसे सक्रिय कहें तो उसके विषय में भी यही विकल्प होने के कारण अनवस्था आदि दोषों की प्राप्ति होगी। अतः वह 'सत्' हो अथवा 'असत्' दोनों ही प्रकार से उसका कारकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि सत् होने पर तो वह सर्वदा 'सत्' ही रहेगी, और 'असत्', होने पर वह सर्वदा 'असत्' ही रहेगी। यदि कार्य की उत्पत्ति के लिये उसके सत्त्व या असत्त्व की प्रच्युति स्वीकार की जाय तो उसके स्वरूप में विरूपता आ जाती है। और उस अवस्था

* तुलां तयोः—पाठान्तरम्।

में यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि वह अवस्थाच्युति और कार्य की उत्पत्ति, एक काल में होती है या क्रम से होती है ? इसमें भी प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि तराजू के पलड़ों के झुकने-उठने में जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि कौन किसका कारण है, उसी प्रकार उनके कार्य-कारणभाव का निश्चय नहीं हो सकता, और यदि द्वितीय पक्ष माना जाय तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि अवस्थाच्युति भी एक कार्य ही है, अतः उसे भी पहले ऐसी ही अवस्थाच्युति की आवश्यकता होगी ॥ २१ ॥

न चेत्स इष्टः सदसद्विपर्ययः, कथं भवः स्यात्सदसद्व्यवस्थितौ ।
विभक्तमेतद्द्वयमप्यवस्थितं, न जन्म तस्माच्च मनो हि कस्यचित् ॥२२॥

न चेदिति—**यदि 'सत्' और 'असत्' का विपर्यय (वैपरीत्य) अभीष्ट नहीं है, तो उनके स्वरूप निश्चित रहने के कारण 'द्वैत' की उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि 'सत्' और 'असत्' दोनों ही परस्परसंसर्गरहित होकर ही स्थित हैं। इसलिये हे मन ! किसी को भी उत्पत्ति का होना संभव नहीं है ॥ २२ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

वस्तु की अवस्थान्तरापत्ति को स्वीकार करके हमने यह कहा था, वास्तव में तो सत् या असत् का अवस्थान्तर होना उपपन्न नहीं है, इस कारण किसी में भी कार्यता-कारणता नहीं है। यदि सत् और असत् का इस प्रकार विपरीतभाव को प्राप्त होना अभिष्ट नहीं है, तो सत् और असत् का स्वरूप निश्चित रहते हुए द्वैत की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि ये सत् और असत् दोनों ही परस्परसंसर्गशून्य रहते हुए स्थित हैं। इसलिये हे मन ! किसी की भी उत्पत्ति संभव नहीं है ॥ २२ ॥

अथाऽभ्युपेत्याऽपि भवं तवेच्छतो, ब्रवीमि नार्थस्तव चेष्टितेन मे ।
न हानिवृद्धी न यतः स्वतोऽसतो, भवोऽन्यतो वा यदि वाऽस्तिता तयोः ॥२३॥

अथेति—**हे मन ! यद्यपि तेरे जन्म (उत्पत्ति) को मान भी लें तो भी मैं यह बता रहा हूँ कि जन्म की इच्छा करने वाले तेरी चेष्टा से मेरा कोई प्रयोजन (हानि-लाभ) नहीं है, क्योंकि 'आत्मा' में जिनकी स्वयं सत्ता नहीं है, उन हानि-लाभों (प्रयोजनों) का होना, किसी अन्य कारण से संभव नहीं है। यदि आत्मा में उनकी सत्ता हो तो भी तेरी चेष्टा से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २३ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

यद्यपि जिस किसी का जन्म (उत्पत्ति) हो भी, तथापि ब्रह्मभूत हुए मेरी कोई क्षति या वृद्धि नहीं है। अरे मन ! तेरी उत्पत्ति (जन्म) स्वीकार करके भी मैं यह कह सकता हूँ कि जन्म (उत्पत्ति) की इच्छा रखनेवाले तेरी चेष्टा से मेरा कोई प्रयोजन (हानि-लाभ) नहीं है। क्योंकि आत्मा में अविद्यमान हानि या वृद्धि (लाभ) का उद्भव (उत्पत्ति) होना स्वतः या अन्य किसी हेतु से भी संभव नहीं है। और यदि आत्मा में उनकी सत्ता हो भी, तथापि तेरी चेष्टा से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २३ ॥

ध्रुवा ह्यनित्याश्च न चान्ययोगिनो, मिथश्च कार्यं न च तेषु युज्यते ।
अतो न कस्यापि हि किञ्चिदिष्यते, स्वयं च तत्त्वं न निरुक्तिगोचरम् ॥२४॥

ध्रुवेति—**स्थिर और अस्थिर (क्षणिक) वस्तुओं (पदार्थों) का न तो किसी अन्य से सम्बन्ध होता है, और न परस्पर ही सम्बन्ध रहता है। तथा उनमें किसी कार्य का होना भी संभव नहीं है। अतः कोई किसी का सम्बन्धी नहीं है। अधिक क्या कहें, स्वयं 'आत्मा' भी वाक्य का विषय नहीं है ॥ २४ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

हीयमान और उपचीयमान वस्तुओं का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, इस कारण भी हानि-वृद्धि का आत्मा में होना संभव नहीं है।

ध्रुव (स्थिर, कूटस्थ) और अनित्य (क्षणिक) वस्तुओं का न तो किसी अन्य से सम्बन्ध होता है और न ही परस्पर-सम्बन्ध होता है। उसी तरह उनमें किसी कार्य का होना भी संभव नहीं है। इसलिये परमार्थतः कोई किसी का सम्बन्धी अभीष्ट नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्थिर पदार्थ में विकार न हो सकने के कारण और क्षणिक पदार्थों का अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने के काल तक रहना असंभव होने के कारण स्थिर-अस्थिर पदार्थों के परस्पर सम्बन्धित्व का होना संभव नहीं है, क्योंकि सम्बन्धि-सम्बद्धत्व और असंबद्धत्व इत्यादि विकल्प उपस्थित होंगे। अतएव उनमें कार्य का होना उपपन्न नहीं है। इस पर भी यह शंका होती है कि आत्मा का अन्य किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है, यह कैसे कहा जा रहा है ? क्योंकि आत्मा को वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण का प्रमेय मानते हैं। उक्त शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है कि यह आत्मतत्त्व (आत्मस्वरूप) स्वयं निरुपाधिक है। वह निरुक्ति (वेदान्तवाक्य) का मुख्यवृत्ति से विषय नहीं है। क्योंकि शब्द के प्रवृत्त होने में निमित्तभूत कोई धर्म उसमें नहीं है। किन्तु उसमें शब्द का पर्यवसान लक्षणा के द्वारा मानकर उसे वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण का प्रमेय कहा जाता है। वस्तुतः वह आत्मतत्त्व वेदान्तवाक्य का भी विषय नहीं है ॥ २४ ॥

समं तु तस्मात्सततं विभातवद्द्वयाद्विमुक्तं सदसद्विकल्पितात् ।
निरीक्ष्य युक्त्या श्रुतितस्तु बुद्धिमानशेषनिर्वाणमुपैति दीपवत् ॥२५॥

समिति—**यही कारण है कि समस्वरूप, नित्य प्रकाशमय तथा 'सत्-असत्-विकल्पमय द्वैत' से शून्य जो 'आत्मा' है, उसका श्रुति और युक्ति से साक्षात्कार करके बुद्धिमान् पुरुष 'दीपक' के निर्वाण के समान सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ॥ २५ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

सत्-असत् विकल्परूप द्वैत से रहित समस्वरूप, नित्यप्रकाशमय उस आत्मतत्त्व का श्रुति और युक्ति से साक्षात्कार करके बुद्धिमान् पुरुष, दीपक के समान सहसैव समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अर्थात् निरीक्षण और निर्वाण दोनों के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता है ॥ २५ ॥

अवेद्यमेकं यदनन्यवेदिनां, कुतार्किकाणां च सुवेद्यमन्यथा ।
निरीक्ष्य चेत्थं त्वगुणग्रहोऽगुणं, न याति मोहं ग्रहदोषमुक्तितः ॥२६॥

अवेद्यमिति—**किसी अन्य पदार्थ को जो लोग 'आत्मा' से भिन्न नहीं देखते, ऐसा वह अद्वितीय आत्मतत्त्व उनके ज्ञान का विषय नहीं हैं। अन्यथा वह कुतार्किकों के लिये भी सुवेद्य हो जायगा। शरीर आदि में अभिनिवेश न रखने वाला पुरुष निर्विशेष आत्मा का साक्षात्कार करके मिथ्याज्ञान रूप दोष से मुक्त हो जाता है, अतएव वह मोहित नहीं होता है ॥ २६ ॥**

हृदयस्पर्शिनी

उक्त लक्षण वाले आत्मतत्त्व का निरीक्षण विषयत्वेन होता है या अविषयत्वेन ?—ऐसी जिज्ञासा होनेपर 'अविषयत्वेनैव'होता है, यह बताया जा रहा है। सर्वसाक्षीभूत प्रत्यगात्मा से भिन्न अद्वय ब्रह्म नहीं है, ऐसा जो जानते हैं, उन अनन्यवेदियों के ज्ञान का वह विषय नहीं है। अन्यथा वह आत्मतत्त्व कुतार्किकों के लिये भी परिच्छिन्नतया सुज्ञेय हो जायेगा। अर्थात् शास्त्र, युक्तिविचार आदि के प्रयास के बिना ही अपनी बुद्धि के अनुसार सुखबोध्य हो जायगा। शरीर (देह) आदि के अभिमान से रहित हुआ पुरुष इस प्रकार निर्विशेष आत्मतत्त्व का अपरोक्षतया अनुभव कर (साक्षात्कार कर) मिथ्याज्ञानरूप दोष से मुक्त होने के कारण पुनः मोह को प्राप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥

अतोऽन्यथा न ग्रहनाश इष्यते, विमोहबुद्धेर्ग्रह एव कारणम् ।
ग्रहोऽप्यहेतुस्त्वनलस्त्वनिन्धनो, यथा प्रशान्तिं परमां तथा व्रजेत् ॥२७॥

अत इति—मिथ्या ज्ञान (अज्ञान) का नाश 'आत्मज्ञान' से ही होता है, तदतिरिक्त किसी अन्य के ज्ञान से नहीं होता। 'मोह' का कारण एकमात्र मिथ्या ज्ञान (अज्ञान) ही है। जिस प्रकार ईंधन (काष्ठ-तृण आदि) से रहित अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है, उसी प्रकार अपनी उत्पत्ति के कारण से रहित हो जाने पर मिथ्या ज्ञान (अज्ञान) की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है ॥ २७ ॥

हृदयस्पर्शिनी

इतने महान् प्रयत्न से अविषयतया ब्रह्मात्मज्ञान का होना क्यों अभीष्ट है ? इसका समाधान यह है कि आत्मज्ञान से भिन्न किसी अन्य हेतु से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। श्रुति ने भी इसी को बताया है[1]। मिथ्याज्ञान ही मोहबुद्धि (देह, गृह आदि में मैं-मेरा इस प्रकार की अभिनिवेशबुद्धि) का कारण है। जिस प्रकार ईंधन रहित अग्नि शान्त हो जाता है, उसी प्रकार अपने कारण से रहित हुआ मिथ्या ज्ञान भी आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जाता है ॥ २७ ॥

विमथ्य वेदोदधितः समुद्धृतं, सुरैर्महाब्धेस्तु यथा महात्मभिः ।
तथाऽमृतं ज्ञानमिदं हि यैः पुरा, नमो गुरुभ्यः परमीक्षितं च यैः ॥२८॥

विमथ्येति—पहिले किसी समय उदारचरित्र देवताओं ने समुद्र का मन्थन करके जिस प्रकार अमृत प्राप्त किया था, उसी प्रकार वेदसमुद्र का मन्थन कर उससे इस ज्ञानामृत को जिन्होंने निकाला तथा परमात्मा का भी साक्षात्कार किया, उन गुरुचरणों में हमारा प्रणाम है ॥ २८ ॥

हृदयस्पर्शिनी

प्रकरण समाप्ति पर पुनः गुरुनमस्काररूप मङ्गलाचरण किया जा रहा है। जिस प्रकार सुदूर पूर्वकाल में महात्मा देवताओं ने क्षीरसागर का मन्थन करके अमृत प्राप्त किया था, उसी प्रकार जिस गुरुदेव ने वेदरूप महान् सागर का मन्थन करके इस ज्ञानामृत का उद्धार किया, और परमात्मा का साक्षात्कार किया, उस गुरुदेव को प्रणाम हैं। अथवा निमित्तभूत जिस गुरुदेव के कारण मैं परब्रह्म का साक्षात्कार कर पाया, उस गुरुदेव को प्रणाम हैं। श्रुति भी कह रही है कि "तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः[2]" तथा भागवतकार ने भी कहा है—

"निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयमङ्घ्रिरेणुभिः[3] ॥" २८ ॥

॥ इति एकोनविंशणंतृष्णाज्वरनाशकप्रकर समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीमदाद्यशंकराचार्यविरचितोपदेशसाहस्त्र्याः पद्यप्रबन्धस्य वैद्य-मुसलगाँवकरोपनामकेन श्रीगजाननशास्त्रिणा विरचिता 'हृदयस्पर्शिनी' हिन्दीव्याख्या पूर्णताङ्गता ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

१. "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।"—(श्वे. उ. ३।८।६, १५)
२. (मुं. उ. ३।१)
३. (श्रीमद्भागवत–११।१४।१६)

कर्मबन्धनमिदं भवेत्कथं
मायया च जनितं तमः कुतः ।
आत्मभानमिदमेकमङ्गलं
भासते यदि मनःस्वराज्यके ॥

उपदेशसाहस्री

(गद्यभागः)

शिष्यानुशासनप्रकरणम्

अथ मोक्षसाधनो* पदेशविधिं व्याख्यास्यामो मुमुक्षूणां श्रद्दधानानामर्थिनामर्थाय ॥१॥

हृदयस्पर्शिनी

अथेति—समस्त उपनिषदों के सारभूत अर्थ की संग्राहिका पद्य-गद्यात्मक इस उपदेशसाहस्री की रचना भगवत्पूज्यपाद भगवान् भाष्यकार (आद्य श्रीशङ्कराचार्य) ने की है। प्रथमतः पद्यभाग को समाप्त कर गद्यभाग का आरम्भ तथा निर्विघ्नतया ग्रन्थ की परिसमाप्ति एवं लोककल्याणार्थ उसके प्रचार-प्रसार की कामना से प्रमाणभूत स्मृति के अनुसार भाष्यकार ने 'अथ' शब्द से ही मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थ का आरंभ किया है।

"ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥"

इस स्मृतिवचन के अनुसार 'अथ' शब्द को माङ्गलिक माना जाता है। अमरकोषकार ने 'अथ' के अनेक अर्थ बताये हैं। उन अनेक अर्थों में एक अर्थ 'अनन्तर' भी है। तदनुसार उसे आनन्तर्यार्थक स्वीकार करने पर भी उसके उच्चारण मात्र से ही मङ्गलाचरण अन्यार्थं क्रियमाण मृदङ्गादि ध्वनिश्रवण के समान अनायास सिद्ध हो जाता है। आनन्तर्यार्थक 'अथ' शब्द के द्वारा यह ज्ञात होता है कि अनेक शास्त्रार्थ-निबन्धों का सविस्तार निर्माण करने के अनन्तर अर्थात् इस ग्रन्थ के पूर्व आचार्यचरणों ने समस्त दशोपनिषद तथा अन्यान्य उपनिषदों पर भी प्रश्न, प्रतिवचन, आक्षेप, समाधान आदि की शैली से अनेक प्रमाण तथा युक्तिपुरःसर भाष्यरचना की और उसके द्वारा समस्त उनिषदों के अर्थ का निर्धारण कर दिया, तथापि अधिकारियों के तारतम्य को देखकर अनेक वाक्य, युक्तियों के अनुसन्धान के व्यवधान को हटाकर साक्षात् औपनिषद ज्ञान कराने के लिये उसी उपनिषदर्थ का संक्षेप में निरूपण करने की ओर आचार्यचरण प्रवृत्त हो रहे हैं। संक्षेप में उपनिषदर्थप्रतिपादक इस उपदेशसाहस्री के द्वारा सरलता से परमार्थ-तत्त्व का ज्ञान हो सकता है।

अपने चिकीर्षित अभीष्ट ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करते हुए ग्रन्थप्रवृत्ति में उपकारक शास्त्रीय अनुबन्धों का संग्रह प्रारंभ में किया हुआ है। भाष्यकार "अथ मोक्षसाधनोपदेशविधिं व्याख्यास्यामः, मुमुक्षूणां श्रद्दधानानामर्थिनामर्थाय" ॥ १ ॥ इस वाक्य के द्वारा ग्रन्थारम्भ की प्रतिज्ञा कर रहे हैं और तद्गर्भित अनुबन्धचतुष्टय की सूचना भी दे रहे हैं। ग्रन्थगत 'मोक्ष' शब्द से 'प्रत्यकतत्त्व ब्रह्म'रूप विषय का निर्देश किया है। 'साधन' (तत्त्वज्ञान) शब्द से तत्साध्य अज्ञानादिबन्ध की निवृत्तिरूप प्रयोजन को सूचित किया है। 'उपदेशविधि' शब्द से शास्त्र और विषय के 'बोध्य-बोधक सम्बन्ध' को प्रदर्शित किया गया है। 'मुमुक्षु' शब्द से केवल मोक्ष की ही इच्छा रखने वाले भाग्यशाली इसके अधिकारी—इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टय सूचित किया गया है। श्रीमदाचार्यचरण प्रतिज्ञा कर रहे हैं—हम सविस्तर शास्त्रार्थ निरूपण के अनन्तर निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मकताविर्भाव के साधनभूत अद्वितीय उपनिषत्प्रोक्त आत्मतत्त्वज्ञान की उपदेशविधि को स्पष्ट रूप से बतावेंगे। उपनिषद्वाक्यों का अर्थविभाग करते हुए मुमुक्षु शिष्य के प्रति प्रतिपादन करना ही 'उपदेश' है। आचार्य ने अधिकारी के तीन विशेषणों से शिष्य की साधन सम्पत्ति को बता दिया है। अधिकारी शिष्य वही होता है, जो मुमुक्षु हो, श्रद्धा रखनेवाला (श्रद्धान) हो, और अर्थी हो। प्रथम विशेषण से यह सूचित किया है कि ऐहलौकिक तथा पारलौकिक अर्थ की तृष्णा का लव-लेश भी जिनमें हो, वे इस वेदान्तश्रवण के अधिकारी नहीं हैं। दूसरे विशेषण से यह सूचित किया है कि मुमुक्षु रहते हुए भी यदि कर्मानुष्ठान में तत्पर हों या

* साधनज्ञानो०—पाठान्तरम्।

अन्यान्य शास्त्रों में श्रद्धा रखते हों, वे इस वेदान्तश्रवण के अधिकारी नहीं हैं। तृतीय विशेषण से यह सूचित किया है— इस वेदान्तशास्त्र पर श्रद्धा रहते हुए भी जो अपने पाण्डित्यप्रकर्ष का प्रदर्शन करने के उत्सुक हों, वे भी इस वेदान्त-श्रवण के अधिकारी नहीं हैं। अतः इस वेदान्तशास्त्र के श्रवण का अधिकार उन्हीं को है, जो केवल एकमात्र मोक्ष ही चाहते हैं, तथा इस वेदान्तशास्त्र पर ही जिनका सर्वथा विश्वास (श्रद्धा) है, और इस वेदान्तशास्त्र के अर्थ (पद-पदार्थ-सिद्धान्त) का ज्ञान प्राप्त करने की कामना (इच्छा) जिन्हें है। इन तीन विशेषणों से विशिष्ट अधिकारी शिष्यों के उपकारार्थ हम अब मोक्षसाधनोपदेशविधि का प्रतिपादन करेंगे ॥ १ ॥

तदिदं मोक्षसाधनं ज्ञानं साधनसाध्यादनित्यात्सर्वस्माद्विरक्ताय त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणाय प्रतिपन्न-परमहंसपारिव्राज्याय शमदमदयादियुक्ताय शास्त्रप्रसिद्धशिष्यगुणसंपन्नाय शुचये ब्राह्मणाय विधिवदुपसन्नाय जातिकर्मवृत्तविद्याभिजनैः परीक्षिताय शिष्याय ब्रूयात् पुनः पुनर्यावद्ग्रहणं दृढीभवति ॥२॥

हृदयस्पर्शिनी

तदिदमिति—पूर्वोक्त अर्थ का ही संक्षेप में विवरण दे रहे हैं—विधिवत् (यथाविधि) आये हुए शिष्य को मोक्षसाधनभूत ज्ञान का उपदेश देना चाहिए। इस ज्ञान से कारणरूप अज्ञान के सहित कार्यरूप संसारात्मक बन्ध की निवृत्ति होकर ब्रह्मात्मभाव का अविर्भाव होता है। किन्तु यह उपदेश उसी शिष्य में फलीभूत होगा, जो दृष्टार्थ कृषि आदि कर्मों से और अदृष्टार्थ यागादि कर्मों से निष्पन्न होनेवाले ऐहिक तथा आमुष्मिक भोग्य फलों के पाने की अभिलाषा न करता हो, अतएव शिष्य को ब्रह्मलोक तक सभी अनित्य (अश्वाश्वत) फलों के प्रति अनासक्त (अभिलाषशून्य= विरक्त=वीतराग) होना आवश्यक है। नैष्कर्म्यसिद्धिकार कहते हैं—"नाविरक्ताय संसारात्, नानिरस्तैषणाय च"[1] इस प्रकार के विरक्त शिष्य की पहचान विरक्ति के चिह्नों से करनी चाहिये। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का त्याग करना ही (इसी प्रकार की किसी एषणा=इच्छा का न होना हो) विरक्ति का चिह्न है। यहाँ पर 'एषणा' (काम=इच्छा) शब्द से तत्प्रयुक्त प्रवृत्ति बताई गई है। जैसे—पुत्र की इच्छा से दार (पत्नी) संग्रह की प्रवृत्ति को **पुत्रैषणा**, कर्मानुष्ठानार्थ अपर विद्याधन और गो आदि पशुधन, इस प्रकार उभयविध धन (वित्त) संग्रह की प्रवृत्ति को **वित्तैषणा**, उसी प्रकार पुत्र, कर्म, अपरविद्या से साध्य इहलोक, पितृलोक और देवलोकरूप फल सम्पादन की प्रवृत्ति को **लोकैषणा** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि फल-साधनों की ओर प्रवृत्ति की उत्सुकता के त्याग से ही साध्या(फला)भिलाषशून्यता का ज्ञान हो जाता है, तभी वह मोक्षशास्त्र के श्रवण का तथा मोक्षप्राप्ति का अधिकारी बन पाता है। क्योंकि उपनिषद् में कहा है—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" —(महाना. उ. १०।५)

उसी प्रकार अधिकारी शिष्य वही है, जो परमहंस संन्यासाश्रम में अवस्थित है[2]। 'परमहंस' विशेषण से कुटीचकादि स्मार्त संन्यास की व्यावृत्ति की गई है। अर्थात् द्वैताद्वैतवादियों का अद्वितीय आत्मतत्त्वोपदेश ग्रहण में अधिकार नहीं है। इससे मूलगत 'मुमुक्ष' पद की व्याख्या की गई। उपर्युक्त कथन से कोई यह न समझ ले कि संन्यासाश्रम ग्रहण करने मात्र से ही अद्वितोपदेशश्रवण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। श्रवणाधिकार प्राप्त करने के लिये शम-दम-दया आदि गुणों से भी युक्त होना आवश्यक है। अनात्म विषयों से अन्तःकरण की व्यावृत्ति को 'शम' कहते हैं। बाह्येन्द्रियों के निग्रह को 'दम' कहते हैं। प्राणिमात्र में द्रोह न रखने को 'दया' कहते हैं। विवरण में 'दया आदि' कहा गया है, अतः 'आदि' पद से उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान का संग्रह किया गया है। इससे मूलगत 'श्रद्दधानानाम्' की व्याख्या की गई। इतने गुणों के रहने पर भी—

"अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥"

इस पारम्परिक वचनानुसार आचार्यचरण ने बताया है कि शास्त्रप्रसिद्ध अन्यान्य गुणों से भी युक्त होना आवश्यक

१. (नै० सि० ४।७१)

२. "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति"—(बृ. उ. ४।४।२२) तथा
"तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्"—(महाना. उ. २१।२)

है। विवरणस्थ 'शास्त्रप्रसिद्धशिष्यगुणसम्पन्नाय' के कहने से मूलस्थ 'अर्थिनाम्' की व्याख्या हो गई। इतना ही नहीं, अधिकारप्राप्त्यर्थं बाह्य पवित्रता और आभ्यन्तर पवित्रता भी आवश्यक है। क्योंकि शास्त्र बता रहा है—'नाशुचिर्ब्रह्म कीर्तयेत्' तथा 'त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत्[1]' इति! यद्यपि अद्वैत तत्त्वज्ञान के इच्छुक क्षत्रियादिक भी होते हैं, तथापि उनका संन्यास धर्म (पारमहंस्य) में अधिकार नहीं है। अतएव अद्वैत तत्त्वज्ञान से सम्पन्न रहते हुए भी जनकादि ने गार्हस्थ्य का परित्याग नहीं किया था। यह अद्वैत वेदान्त शास्त्र, यथोक्त (शास्त्रविहित) संन्यासाधिकारी ब्राह्मण के लिये ही है, आश्रमान्तर के अधिकारी के लिये नहीं। क्योंकि अन्य आश्रम (आश्रमान्तर), प्रवृत्तिधर्मपरक हैं, उनका त्याग किये बिना तद्विरुद्ध निवृत्ति में निष्ठा होना असंभव है। यदि ब्राह्मणातिरिक्त विविदिषु लोग अपने आश्रम का त्याग करते हैं तो उनके लिये आश्रमान्तर (संन्यासाश्रम) का विधान नहीं है, तब उन्हें अनाश्रमी रहना होगा किन्तु 'अनाश्रमी न तिष्ठेत्' के अनुसार अनाश्रमी रहने का निषेध किया गया है, उसका उल्लंघन करना पड़ेगा। भगवान् भाष्यकार ने कहा है—

"अहं ब्रह्मास्मि कर्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाः स्युर्न संशयः[2] ॥ इति,
"संन्यासिभ्यः प्रवक्तव्यः शान्तेभ्यः शिष्टबुद्धिना[3]"।

अतः कुछ लोगों का जो यह कथन है कि 'पारिव्राज्य' विशेषण, नित्याधिकारित्व का स्थापन करने के लिये है, आश्रमान्तर की व्यावृत्ति के लिये नहीं', वह चिन्त्य है। एवञ्च "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्[4]", "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे (ब्राह्मणा अनूचाना) विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते[5]", "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः[6]" इत्यादि वचनों से पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट ब्राह्मण-संन्यासी को ही अद्वैततत्त्वज्ञानोपदेश प्राप्त करने का अधिकार स्पष्ट बताया गया है। उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट शिष्य को उपदेशक गुरू के समीप यथाविधि आना चाहिये, यह श्रुति ने बताया है—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्[7]"। ब्रह्मनिष्ठ गुरू के समीप आकर विद्या (ज्ञान) ग्रहणार्थ उनके चरणों को यथाविधि स्पर्श करते हुए उनका अभिवादन करते समय "अधीहि भगवः[8]" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करें। इस रीति से मन्त्रोच्चारणपूर्वक अभिवादन को ही 'उपसत्ति' (समीप आना) कहते हैं। एवंगुणविशेषणविशिष्ट **'शिष्य'** अर्थात् शासन के योग्य अर्थात् पूर्व बहुश्रुत रहने पर भी औद्धत्य से रहित यानी विनीत होना आवश्यक है। तथा उसके जाति-कर्म-वृत्त-विद्या और अभिजन की भी परीक्षा कर लेनी चाहिये। जातिपरीक्षण से कुण्ड, गोलक, क्षत्रियादि की व्यावृत्ति बताई गई है। कर्मपरीक्षण से उसमें पतितत्व, अभिशप्तत्व आदि न होना अपेक्षित है, जिससे शिष्य की शिष्टता का ज्ञान हो सके। वृत्त (शील, आचार) की परीक्षा कर लेने से विद्या (ज्ञान) ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी उसके परिपालन करने की योग्यता का ज्ञान हो सकता है। ये सब परीक्षण श्रुतिप्रमाणसिद्ध हैं[9], किसी की कल्पना मात्र नहीं हैं। **'विद्या'**=पूर्व अधीत वेद-शास्त्रादिरूप अथवा उपास्य देवताविशेषविषयक विद्या, उसकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिये, जिससे उक्त अर्थ के ग्रहण-धारण की योग्यता अथवा अयोग्यता का निश्चय किया जा सके। क्योंकि श्रुति बता रही है—"नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः"—(श्वे. उ. ६।२२)। इसके बाद **'अभिजन'**=कुल

---

१. (अरु. उ. २)
२. (उप. सा. पद्यप्रबन्ध ११।८)
३. (वहीं पर—१३।२७)
४. (मुं. उ. १।२।१२-१३)
५. (बृ. उ. ४।४।२२)
६. (बृ. उ. ३।५।१)
७. (मुं. उ. १।२।१२)
८. (छां. उ. २।१।१)
९. "किं गोत्रो नु सोम्यासि"—(छां. उ. ४।४।४), तथा "तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा श्रद्धया ब्रह्मचर्येण संवत्सरं संवत्स्यथ"—(प्र. उ. १।२), तथा "नाऽसंवत्सरवासिने प्रब्रूयात्.।" इति श्रुतिः।

(जन्मस्थान) की भी परीक्षा करनी चाहिये। कुलपरीक्षण से माता-पिता और गुरुओं द्वारा शिक्षित-अशिक्षित होने का ज्ञान होता है। श्रुति ने बताया है कि मातृभक्त, पितृभक्त तथा आचार्यभक्त[1] शिष्य को आचार्य उपदेश करे। तात्पर्य यह है कि आचार्य (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु) को चाहिये कि समस्त अनित्य साध्य और साधनों से विरक्त, त्रिविध एषणाओं का त्याग करनेवाले, परमहंससंन्यासाश्रम में स्थित, शम-दम और दया से युक्त, शिष्य के शास्त्रप्रसिद्ध गुणों से सम्पन्न, बाह्याभ्यन्तर पवित्रता से युक्त, तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु की शरण में प्राप्त हुए ब्राह्मण शिष्य को उसकी जाति, कर्म, स्वभाव, विद्या और कुल के द्वारा परीक्षा करके इस मोक्षसाधनभूत ज्ञान का तबतक बार बार (पुनः पुनः) उपदेश करे, जबतक कि उसे इस ज्ञान का दृढ़ता से ग्रहण हो सके। क्योंकि ज्ञानोपदेश का फल दृष्ट है, इसलिये उसकी प्राप्ति होने तक बार बार उपदेश करने के लिये कहा गया है। यदि इसका अदृष्ट फल ही होता, तो एक बार ही उपदेश करने की विधि होती। इस प्रकार ब्रह्मविद्या का उपदेश करने से उस अविनाशी सत्यस्वरूप पुरुष का ज्ञान होता है॥ २॥

श्रुतिश्च—"परीक्ष्य…तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" इति। दृढगृहीता हि विद्याऽऽत्मनः श्रेयसे संतत्यै च भवति। विद्यासन्ततिश्च प्राण्यनुग्रहाय भवति, नौरिव नदीं तितीर्षोः। शास्त्रं च—"यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूयः" इति। अन्यथा च ज्ञानप्राप्त्यभावात् "आचार्यवान् पुरुषो वेद", "आचार्याद्धैव विद्या विदिता", "आचार्यः प्लावयिता तस्य सम्यग्ज्ञानं प्लव इहोच्यते" इत्यादिश्रुतिभ्यः, "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च॥३॥

हृदयस्पर्शिनी

श्रुतिश्चेति—उक्त विषय में श्रुति का प्रमाण भी है। वह श्रुति इस प्रकार है—

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥
—(मुं० उ० १।२।१२-१३)

श्रुति का अर्थ—कर्म से प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा करके यह देखकर कि किये जाने वाले कर्मों के द्वारा अकृत मोक्षपद प्राप्त नहीं हो सकता, ब्राह्मण विरक्त हो जाय, और उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये वह समित्पाणि होकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाय। इस प्रकार अपने समीप आये हुए उस शान्तचित्त, शमादि से सम्पन्न शिष्य को वह विद्वान् गुरु उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, जिससे उसे उस अविनाशी सत्यस्वरूप पुरुष का ज्ञान हो सके। तात्पर्य यह है—"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्" से प्रारंभ कर "येनाक्षरं पुरुषं वेद" तक के ग्रन्थ से उक्त अर्थ को बताया गया है। दृढ़तापूर्वक ग्रहण की हुई विद्या ही आत्मा के कल्याण (अविद्यादिदोषसंसारनिवृत्ति) के लिये और शिष्य-प्रशिष्य परम्परा के द्वारा विद्या के अविच्छेद में कारण बनती है। विद्या-परम्परा की रक्षा करने से प्राणियों का कल्याण होता है। जैसे नदी पार करने के लिये नदी में प्रविष्ट होने पर अगाध जल में डूबते हुए व्यक्ति को पार पहुँचाने के लिये कोई दयालु व्यक्ति नौका को उपस्थित करा देता है, वैसे ही संसारसमुद्र में डूबते हुए प्राणियों का उद्धार करने के निमित्त अर्थात् संसारसमुद्र के पार भगवान् विष्णु के परम पद की प्राप्ति कराने के लिये विद्यासन्तान (विद्या को अविच्छिन्न परम्परा) का संरक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। निष्कर्ष यह है कि 'पूर्वोक्त शिष्यगुणों से सम्पन्न, सम्यक् परीक्षित, विधिवत् आये हुए शिष्य को ही विद्या देनी चाहिये, यथाकथञ्चित् आये हुए या धनलाभ के लोभ से आये हुए को विद्या नहीं देनी चाहिये'—यह नियम गुरु के लिये बताया गया है। इस विषय में शास्त्र का वाक्य (श्रुति का शासन) भी है—"यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूयः" इति।—यदि इस (आत्मज्ञानी) को यह समुद्र से घिरी हुई और धनपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी कोई दे, तो भी यह विद्या उन सबसे बढ़कर है। तात्पर्य यह है कि अच्छी तरह से

---

१. "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् ब्रूयात्"—(बृ. उ. ४।१।२)।

परीक्षित किये हुए शिष्य को आचार्य कृपा करके ही इस ब्रह्मविद्या को दे। यहाँ यह शंका हो सकती है कि आचार्य के पास जाने की क्या आवश्यकता है? जिज्ञासु व्यक्ति स्वयमेव न्यायादि का अनुसरण कर ब्रह्मविद्या को पा सकेगा। किन्तु यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति-स्मृति के वचन हैं। जिज्ञासु व्यक्ति विद्याप्राप्त्यर्थ यदि पूर्वोक्त कष्ट सहन न करे और स्वयं ही न्यायादि का अनुसरण कर विद्या प्राप्त करना चाहे, तो उससे उसे यथार्थ ज्ञानप्राप्ति न हो सकेगी। श्रुति कहती है कि—'आचार्यवान् पुरुषो वेद',[1] 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता',[2]—आचार्यवान् पुरुष को ज्ञान होता है, विद्या आचार्य से ही जानी जाती है। स्मृति कह रही है कि 'आचार्यः प्लावयिता तस्य सम्यग्ज्ञानं प्लव इहोच्यते',[3] 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्'[4] इति। 'आचार्य से प्राप्त हुई विद्या ही प्रामाणिक विश्वासार्ह होती है'[5]—यह वाक्यशेष भी है। गीता में भी बताया गया है कि 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥'[6]—उस मोक्षप्रद ज्ञान को गुरुओं से प्रणिपात, परिप्रश्न और शुश्रूषा द्वारा जानो, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें योग्य समझकर तत्त्व का उपदेश देंगे। तथा च अतिसूक्ष्म परमार्थ का निर्णय केवल अपनी बुद्धि के बल पर कर लेना सम्भव नहीं है, यह निष्कर्ष उपर्युक्त वाक्यों से अवगत हो रहा है॥ ३॥

शिष्यस्य ज्ञानाग्रहणं च लिंगैर्बुद्ध्वा तदग्रहणहेतूनधर्मलौकिकप्रमादनित्यानित्यवस्तुविवेकविषयासञ्जातदृढपूर्वश्रुतत्वलोकचिन्तावेक्षणजात्याद्यभिमानादींस्तत्प्रतिपक्षैः श्रुतिस्मृतिविहितैरपनयेदक्रोधादिभिः अहिंसादिभिश्च यमैः, ज्ञानाविरुद्धैश्च नियमैः॥४॥

हृदयस्पर्शिनी

शिष्यस्येति—पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट जिज्ञासु शिष्य को एक बार के ही उपदेश से सुदृढ ज्ञान हो ही जायेगा, तब पुनः पुनः उपदेश करने के लिए क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में आचार्य बता रहे हैं कि शिष्य के मुखादि की आकृति, चेष्टा, वाग्-व्यापार आदि चिह्नों से उसे अभी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पायी है, यह जानकर ज्ञानप्राप्ति में प्रतिबन्धक जो सञ्चित, क्रियमाण पाप, यथेच्छ भाषण, यथेच्छ भक्षण एवं यथेच्छाचार आदि प्रमादरूप अधर्म का सूर्यादि देवतोपासनादि नियमों का उपदेश देकर क्षपण करना चाहिए। वर्ज्य-अवर्ज्य का धर्मशास्त्र के द्वारा उपदेश देकर प्रमाद को दूर कराना चाहिये। अर्थात् ज्ञानप्राप्ति में जो प्रतिबन्धक बन रहे हैं, उनका श्रुति-स्मृतिविहित उपायों से अपनयन कराना चाहिए। नित्यवस्तु आत्मा और अनित्यवस्तु अनात्मा के विषय में जो पूर्णतया श्रवण नहीं कर पाया, उसे युक्तिविशेष आदि के द्वारा बताकर नित्यानित्यवस्तु के विवेक को दृढ़ कराना चाहिये। तथा लोगों के व्यवहार में शुभाशुभ का (साधुत्वासाधुत्व का) विचार करते रहना अथवा लोगों से पूजा-सम्मान आदि की इच्छा से उनपर अनुग्रहादि व्यवहार करना आदि लोकचिन्तावेक्षण को वक्ष्यमाण अमानित्व, अदम्भित्व आदि शास्त्रीय उपदेश देकर दूर कराना चाहिये। तथा अपनी जाति, कुल, विद्या का अभिमान और तत्प्रयुक्त अन्यधिक्करणादि दुर्व्यवहारों को त्वं-पदार्थ के परिशोधनोपदेश से दूर कराना चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रतिबन्धकों को उनके प्रतिपक्षी श्रुतिस्मृतिविहित अक्रोध, अकाम, अमोह आदि और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[7], इन पाँच यमों से (अक्रोधादि के साथ इनका उपायोपेय भावसम्बन्ध है। अक्रोधादि उपाय है और अहिंसादि उपेय हैं) तथा ज्ञाननिष्ठा के अविरोधी नियमों से (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान[8] पाँच इन नियमों को ज्ञाननिष्ठा के अविरोधी कहने का तात्पर्य

---

१. (छां. उ. ६।१४।२)
२. („ „ ४।९।३)
३. (स्मृति—तुलना मो. ध. ३२७।२३)
४. (भ. गी. ४।३४)
५. आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्।—(छां उ. ४।९।३)
६. (भ. गी. ४।३४)
७. (यो. सू. २।३०)
८. („ „ २।३२)

यह है कि इनमें तीर्थयात्रा, चान्द्रायणादि कर्मकाण्डप्रधान नियम ज्ञाननिष्ठा के विरोधी हैं, क्योंकि अधिक आयास-साध्य होने के कारण वे विक्षेप के हेतु हैं) निवृत्त करावे। समस्त दोषों के निरास करने में यम-नियमादि साधारण उपाय हैं ॥ ४ ॥

अमानित्वादिगणं* च ज्ञानोपायं सम्यग्ग्राहयेत् ॥५॥

हृदयस्पर्शिनी

अमानित्वादिगणमिति—इस प्रकार ज्ञानग्रहण में प्रतिबन्धकों के निवर्तक उपायों को बताकर अब ज्ञानग्रहण के उपायों को बता रहे हैं—ज्ञान के उपायभूत अमानित्व, अदंभित्व आदि गुणों को अच्छी तरह से ग्रहण करवावे। उसी तरह 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'[1] इत्यादि वाक्यों से उक्त अद्वेष्टृत्वादि धर्मों का भी पालन करवावे। इस रीति से समस्त दोषों का परिहार होनेपर दृढ़ ज्ञान अनायास लभ्य हो जाता है। एक बार श्रवण करने मात्र से विद्या दृढ़ नहीं हो पाती। क्योंकि 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'[2] इस न्याय से तथा श्रवणोत्तरकाल में मनन का विधान करने से फल प्राप्ति तक विद्या की दृढ़ता विवक्षित है। अतः शिष्य को कृतार्थ करने में प्रवृत्त हुआ अथवा विद्या का उपयोग करने में प्रवृत्त हुआ गुरु अपने शिष्य को इतना निःसन्दिग्ध ज्ञान करा दे, जिससे कि वह फलोत्पादक हो सके। इसलिये शिष्यकल्याणार्थ आचार्य पुनः पुनः अवश्य ही उपदेश करता रहे ॥ ५ ॥

आचार्यश्चोहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेष्वनासक्तस्त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितोऽभिन्नवृत्तो दंभदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषविवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी। पूर्वमुपदिशेत्—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्", "यत्र नान्यत्पश्यति", "आत्मैवेदं सर्वम्", "ब्रह्मैवेदं सर्वम्", "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्याद्या आत्मैक्यप्रतिपादनपराः श्रुतीः ॥६॥

हृदयस्पर्शिनी

आचार्यश्चेति—इस प्रकार आचार्य के कर्तव्य को बताकर अब उसके लक्षण को बतलाते हुए उपदेश का क्रम बताते हैं—तत्त्वजिज्ञासु अधिकारी शिष्य एवंगुणविशिष्ट आचार्य के समीप जाय। जो वैसा न हो उसके समीप न जाय, यह प्रदर्शित करने के लिये यह बताया जा रहा है। आचार्य के लिए वह एवंविध गुणों से विशिष्ट होने का प्रयत्न करे ऐसा कोई विधान नहीं किया जा रहा है, क्योंकि वह तो कृतार्थ हो चुका है। ऊहापोह, ग्रहण, धारण, शम, दम, दया और अनुग्रह आदि गुणों से सम्पन्न, शास्त्रज्ञ, ऐहिक और पारलौकिक भोगों से विरक्त, सर्वविध कर्मसाधनों को त्यागनेवाले, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, लोकमर्यादा का उल्लंघन न करनेवाले तथा दंभ, दर्प, कुहक (दूसरे को धोखा देना), कुटिलता, माया (दूसरे को मोह में डाल देना), मात्सर्य (गुण में दोषदृष्टि), मिथ्याभाषण, अहंकार, और ममता आदि दोषों से रहित, केवल परोपकाररूप प्रयोजनवाले एवं अपनी विद्या का उपयोग करने की इच्छावाले आचार्य सर्वप्रथम आत्मा का एकत्वप्रतिपादन करनेवाली इन श्रुतियों का उपदेश करे—"हे सोम्य! पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था[3]", "जहाँ किसी अन्य को नहीं देखता[4]", 'यह सब आत्मा ही है[5]', 'पहले यह एक आत्मा ही था[6]', 'निश्चय यह सब ब्रह्म ही है[7]' इत्यादि। ऊहा=शिष्य के बिना पूछे ही उसका भाव जान लेना, अथवा

१. (भ. गी. १२।१३-२०)
२. (ब्र. सू. ४।१।१)
३. (छां. उ. ६।२।१)
४. (छां. उ. ७।२४।१)
५. (छां. उ. ७।२५।२, तथा बृ. उ, ४।४।६)
६. (ऐ. उ. १।१)
७. (छां. उ. ३।१४।१)
* गुणं-पाठान्तरम्।

उपदेश के समय शिष्य की समझ में आने योग्य नवीन युक्तियों की कल्पना करने की शक्ति को 'ऊहा' कहते हैं। और शिष्य के मिथ्या ग्रहण (ज्ञान) को निवृत्त करने की अथवा स्वसिद्धान्त के विरोधी विचारों का निराकरण करने की सामर्थ्य को 'अपोह' कहते हैं। ग्रहण=शिष्य के किये हुए प्रश्न और आक्षेपों को तुरन्त समझ लेने की शक्ति को 'ग्रहण' कहते हैं। धारण=शिष्य की शंका निवृत्त करने के लिये उनके सारासार का विचार करके निराकरण करते समय उन्हें स्मरण रखने को 'धारण' कहते हैं। शम=वेदान्त के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य विषयों से अपने मन को हटा (मोड़) लेना ही 'शम' है। दम=चक्षुःश्रोत्रादि बाह्येन्द्रियों को उन वेदान्तश्रवणादि विषयों के अतिरिक्त विषयों से हटा लेना ही 'दम' है। दया=दुःखी के प्रति अनुग्रह करने की इच्छा। अनुग्रह=दुःखी के दुःख का अपाकरण करने की प्रवृत्ति। (समीप आये हुए विनीत, अनुगृहीत शिष्य का अपरित्याग 'आदि' शब्द से समझना चाहिये।) यद्यपि 'हिंसा, अनुग्रह दोनों ही न करे', इस प्रकार संन्यासी के लिये गौतम ने धर्म बताया है—"हिंसानुग्रहयोरनारंभी", उसी तरह "न व्याख्यानपरो यतिः"—संन्यासी व्याख्यान-प्रवचन न करे इत्यादि जो वचन हैं, वे ख्यातिलाभ, पूजा, पाण्डित्यवृद्धि आदि प्रवृत्ति निषेधक हैं, अतः कोई विरोध नहीं है। 'सम्पन्न'—शब्द से पूर्वोक्त गुणों से आढ्य (युक्त) होना बताया गया है। 'लब्धागम' कहकर यह बताया है कि उसने स्वगुरु से विद्योपदेश प्राप्त किया हो। आचार्य के साथ इस विशेषण के जोड़ से यह सूचित किया है कि गुरु की साम्प्रदायिकता का भी शिष्य को अन्वेषण करना चाहिये, अर्थात् गुरु का ज्ञान, गुरुसंप्रदाय से प्राप्त रहना चाहिये। दृष्टभोग=ऐहिक भोग और अदृष्टभोग=पारलौकिक भोग, उनमें अनासक्त अर्थात् तत्साधनभूत लोकाराधन को तथा तपोयज्ञादि की प्रवृत्ति से रहित होना चाहिये, अर्थात् समस्त कर्मों के साधनभूत धन-दारसंग्रह-शिखा-यज्ञोपवीत आदि का जिसने त्याग कर दिया है, अतएव भोगों में अनासक्त रूप से प्रसिद्ध, ऐसा ब्रह्मवित् (=महावाक्यार्थभूत प्रत्यगात्मतत्त्वज्ञानवान्) आचार्य आवश्यक है। उसी तरह ब्रह्मणि स्थित=नित्य अपरोक्ष 'ब्रह्मैव अहमस्मि' इस प्रकार स्फुट अनुभव करता हुआ—इस प्रकार रहता हुआ भी यथेष्ट आचरण अर्थात् मनमाना आचरण करने वाला न हो, किन्तु अभिन्नवृत्त=लोकव्यवहार का उल्लंघन न करने वाला अर्थात् शिष्टविगर्हित (निन्दित) न हो। 'दंभ'=धर्मध्वजित्व अर्थात् लोक में अपनी धार्मिकता को ख्यापित करना। कुहक=परप्रतारणा। शाठ्य=निष्ठुरता। माया=परव्यामोहन। मात्सर्य=गुणों में दोष दिखाना। अनृत=मिथ्या भाषण। अहंकार=देहाभिमान। ममत्व=पुत्र-शिष्य आदि में स्वत्वाभिमान—इन दंभादि दोषों से शून्य आचार्य का अन्वेषण करना चाहिये।

किन्तु ऐसा आचार्य, यदि सुकृतपुञ्जोदय से भाग्यवशात् मिल भी जाय, तब भी वह परोपदेशार्थ प्रवृत्त ही क्यों होगा? यह आशंका हो सकती है, उसके समाधानार्थ कह रहे हैं कि ऐसे गुरु का केवल परानुग्रह करना ही एकमात्र प्रयोजन रहता है, अर्थात् संसारसागर से निर्विण्ण (विषण्ण) हुए व्यक्ति पर परमपदप्रापणरूप अनुग्रह करना ही उस गुरु का एकमात्र उद्देश्य रहता है। परानुग्रह के साथ 'केवल' विशेष जोड़कर यह बताया है कि उनकी (गुरु की) परोपदेश प्रवृत्ति में अन्य कोई आनुषङ्गिक प्रयोजनान्तर भी निमित्त नहीं रहता है। तब यह शंका हो सकती है कि विना किसी निमित्त के ही यदि परानुग्रह में प्रवृत्ति कही जाय तो क्या उसे उन्मत्त प्रवृत्ति के समान यादृच्छिक कहना होगा? इस शंका के समाधानार्थ आचार्य के साथ 'विद्योपयोगार्थी' विशेषण जोड़ा गया है। 'उपयोग' का अर्थ है 'विनियोग'। 'चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति'[1]—सोमयाग में दीक्षित के हाथ में कण्डू (खुजलाहट) को मिटाने के लिये कृष्णमृग का शृंग दिया जाता है, यज्ञ समाप्ति पर 'चात्वाल' नामक गढ्ढे में उस शृंग को त्याग दिया जाता है। उस त्यागने को 'प्रतिपत्तिकर्म' कहते हैं। उस प्रतिपत्तिकर्म की तरह "त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज॥"[2] यहाँ पर धर्म आदि में प्रवृत्तिनिरोधक जिस ज्ञान से उन धर्मादि का त्याग करते हो, उस ज्ञान का भी त्याग करो—यह कहने पर ज्ञान तो अमूर्त है, स्वरूपतः उसका त्याग करना संभव नहीं, अतः विशिष्ट शिष्य को उसका

---

१. (तै. सं. ६।१।३।८, जै. सू. ४।२।१९) उपयुक्तस्याऽऽकीर्णकरस्यावशिष्यमाणद्रव्यादेर्विहितदेशे संस्कारविशेषहेतुः प्रक्षेपः प्रतिपत्तिकर्म। ज्योतिष्टोमे यजमानेन दत्ता दक्षिणाऋत्विग्भिर्यदा नीताः, तदा यजमानः स्वशिरः कण्डूतापयुक्तं स्वहस्ते धृतं कृष्णमृगस्य शृङ्गं चात्वालनामकगर्ते परित्यजति, सोऽयम्परित्यागः प्रतिपत्तिकर्म।

२. (शां. प. ३२९।४०, ३३१।४४)

प्रतिपादन कर देना ही प्रतिपत्तिकर्म कहा गया है। वह प्रतिपत्तिकर्म अपने वस्तुस्वभाव की महिमा से परानुग्रहता के रूप को पा लेता है। इस प्रकार का परानुग्रहाकांक्षी आचार्य आये हुए शिष्य को उपदेश दे। किन्तु प्रथमतः कौन-सा उपदेश दे, यह जिज्ञासा होने पर उपदेश के क्रम को बताया गया है कि आत्मैकत्वप्रतिपादक वाक्यों का उपदेश करें। उन वाक्यों को मूल ग्रन्थ में दिया गया है। इस प्रकार आत्मैकत्वप्रतिपादनपरक श्रुतियों का पहले उपदेश देना चाहिये। "यत्र नान्यत्पश्यति" का "नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" यह वाक्यशेष है। कुछ लोग "ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्"[1] इसे वाक्यशेष बताते हैं। यहाँ पर सत्, भूमन्, आत्मन्, ब्रह्म—सभी शब्द पर्यायरूप हैं। अनेक शाखागत वाक्यों का उदाहरण "गतिसामान्यात्"[2] इस न्याय से अविरोधत: स्वार्थपरत्वख्यापन के लिये है ॥ ६ ॥

उपदिश्य च ग्राहयेद्ब्रह्मणो लक्षणम्—"य आत्माऽपहतपाप्मा", "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म", "योऽशनायापिपासे", "नेति नेति", "अस्थूलमनणु", "स एष नेति नेति", "अदृष्टं द्रष्टृ", "विज्ञानमानन्दम्", "सत्यं ज्ञानमनन्तम्", "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते", "स वा एष महानज आत्मा", "अप्राणो ह्यमनाः", "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः", "विज्ञानघन एव", "अनन्तरमबाह्यम्", "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि", "आकाशो वै नाम" इत्यादिश्रुतिभिः ॥७॥

हृदयस्पर्शिनी

उपदिश्य चेति। 'ब्रह्म' शब्द से कौनसी वस्तु बताई जाती है, और उसे अद्वितीय कैसे जाना जाता है? इस प्रश्न पर बताया जा रहा है कि पूर्वोक्त क्रम से उपदेश करने के बाद "जो आत्मा पापरहित है", "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है", "जो क्षुधा और पिपासा से अतीत है", "न कार्य है, न कारण है", "न स्थूल है, न सूक्ष्म है", "वह यह आत्मा ऐसा नहीं है", "वह अदृष्ट किन्तु देखने वाला है", "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है", "ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है", "अदृश्य और अशरीर में", "वह यह आत्मा निश्चय ही महान् और अजन्मा है", "यह अप्राण और अमना है", "यह बाहर-भीतर व्याप्त और अजन्मा है", "यह विज्ञानघन ही है", "यह न भीतर है न बाहर", "यह विदित और अविदित से भी अन्य है", "आकाश ही नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है" इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का लक्षण ग्रहण करावे। अर्थात् उपदेश देने के बाद ब्रह्म का लक्षण ग्रहण करावे। 'योऽशनायापिपासे' इसके बाद 'शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' यह शेष जोड़ा जाता है। "आनन्दम्" "अनन्तम्" दोनों जगह "ब्रह्म" इस प्रकार वाक्यशेष समझना चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र वाक्यों में शेष अक्षरों को परिचित श्रुतियों के अनुसार पूर्ण कराने के निमित्त जोड़ना चाहिये। "य आत्माऽपहतपाप्मा"[3] इत्यादि प्राजापत्यवाक्य से जाग्रदादि अवस्थाओं में द्रष्टा होकर अनुगत रहने वाला अवस्थाधर्म से रहित, अशरीर, प्रिय-अप्रिय दोनों से असंस्पृष्ट प्रत्यगात्मा ही परं ज्योति अर्थात् परं ब्रह्म उपास्य है और वही ज्ञेय है, इस प्रकार प्रकरणार्थ का उपन्यास करते हुए प्रत्यग्ब्रह्मैक्य का ज्ञान करावे। जो आत्मा सर्वान्तर (सबके भीतर) है, वही बुद्धिवृत्तिरूप दृष्टि (ज्ञान) का द्रष्टा, प्राणनादि व्यापार से जाना जाने वाला है, वही अशनायादि प्राणान्तःकरण शरीरधर्मों से परे साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, यह "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म"[4] इस द्वितीय वाक्य का अर्थ है। नेति-नेति इत्यादि वाक्यों का सकलदृश्यप्रविलापन पूर्वक अद्वितीय आत्मतत्त्व की सूचना देने में तात्पर्य है। "अदृष्टं द्रष्टृ"[5] इत्यादि वाक्य से "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ"[5] इत्यादि वाक्यों से एक साथ ही सर्वसाक्षिप्रत्यगात्मा ही अक्षर है, जिसमें अव्याकृत आकाश से लेकर धरित्री (पृथिवी) तक जगत् ओत-प्रोत है, यह सूचित किया गया है, अर्थात् वही तत्त्व है।

---

१. (मुं. उ. २।२।११)
२. (ब्र. सू. १।१।११)
३. (छां. उ. ८।७।१)
४. (बृ. उ. ३।४।१)
५. (बृ. उ. ३।८।११)

यह बताया गया है। अब "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"[1] यह तब बताया है कि जब "कोन्वेनं जनयेत् पुनः"[1], "मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति"[1] इस प्रकार पूछे गये जगन्मूलकारणत्वेन उपलक्षित के स्वरूप अर्थात् "विज्ञानानन्दलक्षणम्" इससे उपलक्षित तत्पदार्थ तत्त्व को, उसी प्रकार "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"[2] इससे प्रकृत ब्रह्म के "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[3] के द्वारा बताये गये स्वरूप को बताकर "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"[4] इत्यादि वाक्य से जगत्कारण के रूप में उपलक्षित कर और उसी का सृष्ट कार्य-कारण संघात में प्रवेश बताकर "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते"[5] इत्यादि से प्रपञ्च का बाध करके सर्वाधार, सर्वसाक्षी, आनन्दरूप आत्मा का "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"[6], "अथ सोऽभयं गतो भवति"[7], "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः"[8] इस प्रकार तत्त्व का ग्रहण करावे ॥ ७ ॥

स्मृतिभिश्च—"न जायते म्रियते वा", "नादत्ते कस्यचित्पापम्", "यथाकाशस्थितो नित्यम्", "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि", "न सत्तन्नासदुच्यते", "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्", "समं सर्वेषु भूतेषु", "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इत्यादिभिः श्रुत्युक्तलक्षणाविरुद्धाभिः परमात्मासंसारित्वप्रतिपादनपराभिस्तस्य सर्वेणानन्यत्वप्रतिपादनपराभिश्च ॥८॥

हृदयस्पर्शिनी

स्मृतिभिरिति—केवल श्रुतिवाक्यों से ही ब्रह्म का लक्षण ग्रहण कराना है, ऐसी बात नहीं, अपितु स्मृतिवाक्यों से भी उसका लक्षण ग्रहण कराना है। श्रुत्युक्त अर्थ में स्मृति का उदाहरण प्रतिपत्ति (ज्ञान) की दृढ़ता के लिये है। श्रुति का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये नहीं। श्रुतिप्रतिपादित लक्षणों से अविरुद्ध, और परमात्मा का असंसारित्व प्रतिपादन करने में तत्पर तथा उसका सबके साथ अभेद बतानेवाले ये स्मृतिवाक्य हैं। उन स्मृतिवाक्यों—"न जायते म्रियते वा"[9], वह न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है, वह किसी के पाप को ग्रहण नहीं करता, जिस प्रकार सर्वदा आकाश में स्थित वायु सर्वगत है, तू क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान, इसे न सत् कहा जाता है और न असत्, अनादि और निर्गुण होने के कारण, समस्त प्राणियों में समभाव से स्थित, उत्तम पुरुष अन्य है"—से भी ब्रह्म का लक्षण करावे ॥ ८ ॥

एवं श्रुतिस्मृतिभिर्गृहीतपरमात्मलक्षणं शिष्यं संसारसागरादुत्तितीर्षुं पृच्छेत्—कस्त्वमसि सोम्य ? इति ॥९॥

हृदयस्पर्शिनी

एवमिति—इस प्रकार वाक्योपदेश से और 'तत्' शब्दार्थ के सूचक श्रुति-स्मृति वाक्यों के व्याख्यान से परमात्मा के लक्षण को समझनेवाले और संसारसागर से पार होने के इच्छुक शिष्य को गुरु पुनः प्रश्न करे "हे सोम्य ! तू कौन है ?" यह प्रश्न करने का कारण यह है कि अज्ञान, संशय, विपर्ययरहित बुद्धि, गुरु के द्वारा उपदिष्ट हुए अर्थ में निश्चल हो सके। शिष्य के ज्ञान की परीक्षा करने के लिए श्रुति ने भी कहा है—"यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्"[10] ॥ ९ ॥

---

१. (बृ. उ. ३।९।२८)
२. (तै. उ. १।१)
३. (तै. उ. २।१)
४. (तै. उ. २।१)
५. (तै. उ. २।७)
६. (तै. उ. २।५)
७. (तै. उ. २।७)
८. (तै. उ. २।८, ३।१०)
९. (भ. गी. २।२०)
१०. (के. उ. १।२)

स यदि ब्रूयात्—ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वयो ब्रह्मचार्यासम्, गृहस्थो वा, इदानीमस्मि परमहंस-परिव्राट् संसारसागराज्जन्ममृत्युमहाग्राहादुत्तितीर्षुरिति ॥१०॥

हृदयस्पर्शिनी

सब्रवीति—इस प्रकार गुरु के पूछने पर यदि वह शिष्य, प्रतिपत्त्यादि दोष के प्रतिबन्धवशात् यह कहे कि मैं ब्राह्मणपुत्र हूँ, या अमुकदीक्षित कुल का हूँ, (असौ अन्वयः वंशः यस्य सः अहम् अदोन्वयः), ब्रह्मचारी या गृहस्थ हूँ, तब आचार्य उससे कहे कि 'हूँ' न कह कर 'था' कहो। और अब मैं जन्म-मृत्युरूप नक्र, तिमिङ्गिलादि महाग्राहों से परिपूर्ण इस संसार सागर को पार करने की इच्छा से परमहंस परिव्राजक हो गया हूँ ॥ १० ॥

आचार्यो ब्रूयात्—इहैव तव सोम्य मृतस्य शरीरं वयोभिरद्यते, मृद्भावं वाऽऽपद्यते। तत्र कथं संसारसागरादुत्तर्तुमिच्छसीति*। नहि नद्या अवरे कूले भस्मीभूतो नद्याः पारं तरिष्यतीति ॥११॥

हृदयस्पर्शिनी

आचार्य इति—अहो, अद्यापि इसका ज्ञान देहाभिमान से प्रतिबद्ध है, अतः उसे दूर कराना चाहिये, यह विचार कर उससे आचार्य कहे—हे सोम्य! मर जाने पर तेरे शरीर को गृध्रादि पक्षिगण यहीं भक्षण कर जायेंगे अथवा वह मृत्तिकारूप हो जायेगा। ऐसी अवस्था में तू संसार को पार करना कैसे चाहता है? क्योंकि नदी के इसी तीर पर भस्मीभूत हो जाने पर तू उसके पार नहीं जा सकता ॥ ११ ॥

स यदि ब्रूयात्—अन्योऽहं शरीरात्। शरीरं तु जायते, म्रियते, वयोभिरद्यते, मृद्भावमापद्यते, शस्त्राग्न्यादिभिश्च विनाश्यते, व्याधिभिश्च† युज्यते। तस्मिन्नहं स्वकृतधर्माधर्मवशात् पक्षी नीडमिव प्रविष्टः। पुनः पुनः शरीरविनाशे धर्माधर्मवशाच्छरीरान्तरं यास्यामि, पूर्वनीडविनाशे पक्षीव नीडान्तरम्। एवमेवाहमनादौ संसारे देवतिर्यङ्मनुष्यनिरयस्थानेषु स्वकर्मवशादुपात्तमुपात्तं शरीरं त्यजन्, नवं नवं चान्यदुपाददानः, जन्ममरणप्रबन्धचक्रे घटीयन्त्रवत् स्वकर्मणा भ्राम्यमाणः, क्रमेणेदं शरीरमासाद्य, संसार-चक्रभ्रमणादस्मान्निर्विण्णः, भगवन्तमुपसन्नोऽस्मि संसारचक्रभ्रमणप्रशमाय। तस्मान्नित्य एवाहं शरीरादन्यः—शरीराण्यागच्छन्त्यपगच्छन्ति च वासांसीव पुरुषस्येति ॥१२॥

हृदयस्पर्शिनी

स यदीति—इस प्रकार स्थूल देहाभिमान का त्याग कराने पर अपने आत्मा को उस स्थूल देह से पृथक् समझनेवाला वह शिष्य यदि कहे कि मैं तो शरीर से भिन्न हूँ, तो 'आत्मा, शरीर से भिन्न है, यह तुमने कैसे जाना?'—ऐसा पूछने पर वह कहता है—शरीर तो उत्पन्न होता है, मरता है, पक्षियों से खाया जाता है, शस्त्र और अग्नि आदि से नाश किया जाता है तथा रोगादि से युक्त होता है। उसमें घोंसले में घुसे हुए पक्षी के समान, मैं अपने किये हुए धर्म और अधर्म के कारण प्रवेश किये हुए हूँ, तथा जिस प्रकार पहले घोंसले का नाश होने पर पक्षी दूसरे घोंसले में चला जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर का नाश होने पर मैं अपने पुण्य-पाप के अधीन पुनः-पुनः अन्य शरीर धारण कर लूँगा। उसी प्रकार इस अनादि संसार में अपने कर्मवश देवता, मनुष्य, तिर्यक् एवं नारकीय योनियों में ग्रहण किये हुए शरीरों को छोड़ता तथा अन्य नवीन-नवीन शरीरों को ग्रहण करता मैं अपने कर्म के द्वारा घटीयन्त्र के समान जन्म-मृत्युरूप चक्र में भ्रमित होता हुआ क्रमशः इस शरीर में आकर इस संसारचक्र में भ्रमण करने से खिन्न होकर अब इस संसारचक्र में भ्रमण की शान्ति के लिये आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ, अतः मैं इस शरीर से भिन्न अर्थात् नित्य ही हूँ। क्योंकि पुरुष के वस्त्रों के समान शरीर तो आते हैं और चले जाते हैं ॥ १२ ॥

आचार्यो ब्रूयात्—साध्ववादीः, सम्यक् पश्यसि, कथं मृषाऽवादीः—ब्राह्मणपुत्रोऽदोऽन्वयो ब्रह्मचार्यासम्, गृहस्थो वा, इदानीमस्मि परमहंसपरिव्राडिति ॥१३॥

---

* उत्तर्तुं०—पाठान्तरम्। † व्याध्यादिभिश्च, व्याध्याधिभिश्च०—पाठौ।

हृदयस्पर्शिनी

आचार्य इति—यह सुनकर आचार्य शिष्य से कहे कि तुमने बहुत ठीक कहा, तुम्हारी दृष्टि ठीक है, तो तुमने असत्य क्यों कहा था कि मैं ब्राह्मण पुत्र था, अमुक गोत्र में उत्पन्न ब्रह्मचारी अथवा गृहस्थ था और अब परमहंस परिव्राजक हो गया हूँ ॥ १३ ॥

स यदि ब्रूयात्—भगवन् कथमहं मृषाऽवादिषमिति ॥१४॥

हृदयस्पर्शिनी

यदि शिष्य गुरु से यह कहे कि भगवन् !

स यदीति— मैने असत्य क्या कहा था ? तो आचार्य उससे इस प्रकार कहे··· ॥ १४ ॥

तं प्रति ब्रूयादाचार्यः—यतस्त्वं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं जात्यन्वयसंस्कारवर्जितस्यात्मनः प्रत्यभिज्ञासीर्ब्राह्मणपुत्रोऽदोऽन्वय* इत्यादिना वाक्येनेति ॥१५॥

हृदयस्पर्शिनी

तं प्रतीति—क्योंकि तुमने 'मैं अमुक गोत्र में उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पुत्र था' इत्यादि वाक्य से भिन्न अनात्मभूत जाति-कुल-संस्कार वाले शरीर की जाति और कुल से रहित आत्मा के स्थान में प्रत्यभिज्ञा की थी, इसलिये तुम्हारा कथन असत्य था ॥ १५ ॥

स यदि पृच्छेत्— कथं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं, कथं वा अहं जात्यन्वयसंस्कारवर्जितः ? इति ॥१६॥

हृदयस्पर्शिनी

स यदीति—इस पर यदि वह शिष्य पूछे कि शरीर अनात्मभूत जाति, कुल और संस्कार से किस प्रकार युक्त है और मैं किस प्रकार जाति, कुल और संस्कार से रहित हूँ ॥ १६ ॥

आचार्यो ब्रूयात्—शृणु, सोम्य, यथेदं† शरीरं त्वत्तो भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारम्, त्वं च जात्यन्वयसंस्कारवर्जितः। इत्युक्त्वा तं स्मारयेत्—स्मर्तुमर्हसि, सोम्य परमात्मानं सर्वात्मानं यथोक्त-लक्षणं श्रावितोऽसि "सदेव सोम्येदं" इत्यादिभिः श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च, लक्षणं च तस्य श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च ॥१७॥

हृदयस्पर्शिनी

आचार्य इति—उसपर आचार्य को कहना चाहिये कि 'हे सोम्य ! जिस प्रकार यह शरीर (देह) तुझसे भिन्न अनात्मभूत जाति, कुल और संस्कार से युक्त है, तथा तू जाति, कुल और संस्कार से शून्य है, उसे सुन।' यह कह कर उसे स्मरण दिलावे कि हे सोम्य ! तुझे जो "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्[1]", आदि श्रुति-स्मृति वाक्यों से परमात्मा का श्रवण कराया था, सो तुझे उन लक्षणों से युक्त सबके आत्मस्वरूप परमात्मा को तथा श्रुति और स्मृतियों के अनुसार उसके लक्षण को स्मरण रखना चाहिये। इसी प्रकार "य आत्मापहतपाप्मा[2]" इत्यादि श्रुतिवाक्य तथा "न जायते[3]" इत्यादि स्मृतिवाक्यों के द्वारा उक्त ब्रह्म के (आत्मा के) लक्षण को याद रखना चाहिये ॥ १७ ॥

---

१. (छां. उ. ६।२।८)   * प्रत्यभिज्ञासी०—पाठान्तरम् ।
२. (छां. उ. ८।७।१)   † तदेव यथेदं—पाठान्तरम् ।
३. (भ. गी. २।२०)

लब्धपरमात्मलक्षणस्मृतये ब्रूयात्—योऽसावाकाशनामा नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतोऽशरीरः, अस्थूलादिलक्षणः, अपहतपाप्मत्वादिलक्षणश्च, सर्वैः संसारधर्मैरनागन्धितः, यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः, अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, नित्यविज्ञानस्वरूपः, अनन्तरः, अबाह्यः, विज्ञानघन एव, परिपूर्णं आकाशवत्, अनन्तशक्तिः, आत्मा सर्वस्य, अशनायादिवर्जितः, आविर्भावतिरोभाववर्जितश्च स्वात्मविलक्षणयोर्नामरूपयोर्जगद्बीजभूतयोः स्वात्मस्थयोस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीययोः स्वसंवेद्ययोः सद्भावमात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वाद्व्याकर्ताऽव्याकृतयोः ॥१८॥

हृदयस्पर्शिनी

लब्धेति—इसप्रकार श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित आत्मस्वरूप का स्मरण दिलाकर शरीर की भिन्न जाति, अन्वय (कुल), संस्कार का ज्ञापन करने के लिये उसकी उत्पत्ति के प्रकार को बतावे। जिसे परमात्मा के लक्षणों का स्मरण हो आया है, उस शिष्य से यह कहे—यह जो आकाशसंज्ञक सब का आत्मा है[1], वह नाम और रूप से भिन्न पदार्थ है[2], तथा वह शरीररहित, अस्थूलादि लक्षणोंवाला और अपहतपाप्मादि लक्षणों वाला एवं समस्त सांसारिक धर्मों से असंश्लिष्ट है। जैसा कि श्रुति बता रही है—"जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म ही है", "जो सर्वान्तर आत्मा है," तथा "जो स्वयं न दीखने वाला किन्तु सबका साक्षी, स्वयं सुनाई न देनेवाला किन्तु सब कुछ सुनने वाला स्वयं मन का अविषय किन्तु सब कुछ मनन करनेवाला, स्वयं अविज्ञात किन्तु सबका ज्ञाता है, तथा जो नित्य विज्ञानस्वरूप है" वह अन्तरशून्य, बाह्यशून्य, विज्ञानघन आकाश के समान परिपूर्ण[3], अनन्तशक्ति[4], क्षुधादि से रहित, आविर्भाव-तिरोभावशून्य, और अचिन्त्य होने के कारण अपने में स्थित, अपने से विलक्षण, जगत् के बीजभूत, सत्-असत् से अनिर्वचनीय, स्वसंवेद्य, अव्याकृत नाम और रूपों को अपने सद्भावमात्र से अभिव्यक्त करनेवाला है। क्योंकि नामरूप में भी सत्ता तो आत्मा की ही है ॥ १८ ॥

ते नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे तस्मादेतस्मादात्मन आकाशनामाकृती संवृत्ते। तच्चाकाशाख्यं भूतं, अनेन प्रकारेण, परमात्मनः संभूतं, प्रसन्नादिव सलिलान्मलमिव फेनम्। न सलिलं न च सलिलादत्यन्तं भिन्नं फेनं—सलिलव्यतिरेकेणादर्शनात्; सलिलं तु स्वच्छं, अन्यच्च* फेनान्मलरूपात्। एवं परमात्मा नामरूपाभ्यामन्यः फेनस्थानीयाभ्यां, शुद्धः प्रसन्नस्तद्विलक्षणः। ते नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे फेनस्थानीये आकाशनामाकृती† संवृत्ते ॥१९॥

हृदयस्पर्शिनी

ते नामरूपे इति—वे नाम और रूप अव्याकृत अवस्था में रहते हुए जब व्याकृत (व्यक्त) किये जाने लगे तब अपहतपाप्मत्वादिलक्षण अचिन्त्यशक्तिमान् सर्वज्ञ इस आत्मा से 'आकाश' नाम (वाचक शब्द) और आकाश को वाच्याकार आकृतिवाले हो गये। अर्थात् इस रीति से वे नाम और रूपव्यवहार के योग्य हो गये। तात्पर्य यह है कि

---

१. "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा।"—(छां. उ. ८।१४।१)

२. आकाशनाम कहने से किसी को भूताकाश की शंका न हो जाय इसलिये "आकाशोऽर्थान्तरत्वादि व्यपदेशात्"—(ब्र. सू. १।३।४२) इस न्याय से उसे भूताकाश से भिन्न बताया गया है। भूताकाश नामरूपान्तःपाति होने से उनका आधारभूत आत्मा, आधेयभूत आकाश से अन्य है। असंगत्वादि के कारण आकाश से इसका साम्य होने से उसे (परमात्मा को) भी आकाश शब्द से कहा गया है, उसे गौणी वृत्ति से समझना चाहिये।

३. 'पूर्ण' कर्मणि निष्ठा प्रत्यय नहीं है, अपितु कर्तरि है।

४. "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।"—(ऋ. सं. ६।४७।१८, श. प. ब्रा. १४।५।५।१९, तथा बृ. उ. २।५।१९, जै. उ. ब्रा. १।४४।१) * मन्यत् फेना०—पाठान्तरम्। † नामरूपाकृती—पाठान्तरम्।

① खज = मन्थ धातु)

सद्रूप ब्रह्म ही मायावशात् वाच्य-वाचक के आकार में अभिव्यक्त आकाशादि शब्दार्थरूप हो गया। किन्तु चिदात्मा की अर्थात् चिद्रूप की अचित् आकाश के रूप में निष्पत्ति कैसे हुई? इस शंका का समाधान 'स्वच्छ जल से उसके मलरूप फेन के समान' इस दृष्टान्त से हो जाता है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि आकाश संज्ञकभूत परमात्मा से उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार फेन, न तो जल ही है और न जल से अत्यन्त भिन्न ही है, क्योंकि उसकी जल से पृथक् उपलब्धि नहीं होती। फेन का सलिल से भेद न रहने पर सलिल का भी उससे भेद नहीं है। और मलरूप फेन से स्वच्छ जल भिन्न भी है। अतः न तो जल ही फेन है और न वह उससे भिन्न ही है, अपितु अनिर्वचनीय है। यह अनिर्वचनीयता श्रुतिप्रमाण से सिद्ध है[1]। उसी प्रकार फेनस्थानीय 'नाम' और 'रूप' से भिन्न परमात्मा शुद्ध और प्रसन्न है, उससे विलक्षण वे फेनस्थानीय 'नाम' और 'रूप' अव्याकृत अवस्था में रहते हुए जब व्यक्त (व्याकृत) किये जाने लगे तब उनका नाम 'आकाश' और आकाश की ही आकृति कर दी गई ॥ १९ ॥

ततोऽपि स्थूलभावमापद्यमाने नामरूपे व्याक्रियमाणे वायुभावमापद्येते, ततोऽप्यग्निभावम्, अग्नेरब्भावं, ततः पृथिवीभावम्—इत्येवंक्रमेण *पूर्वपूर्वभावस्योत्तरोत्तरानुप्रवेशेन पञ्च महाभूतानि पृथिव्यन्तान्युत्पन्नानि। ततः पञ्चमहाभूतगुणविशिष्टा पृथिवी। पृथिव्याश्च पञ्चात्मिका[1] व्रीहियवाद्या ओषधयो जायन्ते। ताभ्यो भक्षिताभ्यो लोहितं, शुक्रं च स्त्रीपुंशरीरसम्बन्धि जायते। तदुभयमृतुकालेऽविद्याप्रयुक्तकामखजनिर्मथनोद्भूतं मन्त्रसंस्कृतं गर्भाशये निषिच्यते। तत् स्वयोनिरसानुप्रवेशेन विवर्धमानं गर्भीभूतं नवमे, दशमे वा मासि जायते ॥२०॥

हृदयस्पर्शिनी

तत इति—आकाश के रूप में स्थित वे नाम और रूप और भी अधिक स्थूल भाव में व्यक्त (व्याकृत) किये गये तब वे वायुभाव को प्राप्त हुए। यह स्थूलभाव क्या है? स्पर्शगुण की उसमें वृद्धि हो गयी। जो नाम-रूप आकाशभाव को प्राप्त हुए थे, वे ही और अधिक व्यक्त होने पर वायुभाव को प्राप्त हो जाते हैं—इस कथन से एक विकार अन्य विकार का उपादान कारण नहीं है, इसे सूचित किया गया है। वायुभाव को प्राप्त हुए नाम-रूप को जब और अधिक व्यक्त किया तब वे अग्निभाव को प्राप्त हुए, उन्हीं को और अधिक व्यक्त करने पर वे जलभाव को प्राप्त हुए, और भी अधिक व्यक्त किये जाने पर वे पृथिवी भाव को प्राप्त हुए। इस प्रकार उनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा एक-एक गुण की वृद्धिरूप स्थूलता आ गई। अर्थात् क्रमशः पूर्व-पूर्व के अनुप्रवेश द्वारा पृथिवी पर्यन्त पाँच महाभूत उत्पन्न हुए। तदनन्तर पाँचभूतों के गुणों से युक्त पृथिवी उत्पन्न हुई। पृथिवी से पञ्चीकृत भूतों द्वारा उत्पन्न व्रीहि-यवादि औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। तथा भक्षण की हुई उन औषधियों से स्त्री और पुरुष के शरीरों से सम्बन्धित रज और वीर्य उत्पन्न होते हैं। ऋतुकाल में अविद्या प्रयुक्त कामरूप मन्थनदण्ड के मन्थन से आविर्भूत हुए वे दोनों रज और वीर्य मन्त्रों[2] द्वारा संस्कारयुक्त होकर गर्भाशय में सींचे जाते हैं और पश्चात् अपनी-अपनी योनि के रसानुप्रवेश से बढ़ते हुए वे गर्भरूप में परिणत हुए रज और वीर्य नवम या दशम मास में जन्म लेते हैं ॥ २० ॥

तज्जातं लब्धनामाकृतिकं जातकर्मादिभिर्मन्त्रसंस्कृतं पुनःउपनयनसंस्कारयोगेन ब्रह्मचारिसंज्ञं भवति। तदेव शरीरं पत्नीसंयोगसंस्कारयोगेन गृहस्थसंज्ञं भवति। तदेव वनस्थसंस्कारेण तापससंज्ञं भवति। तदेव क्रियाविनिवृत्तिनिमित्तसंस्कारेण परिव्राट्संज्ञं भवति। इत्येवं त्वत्तो भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरम् ॥२१॥

---

१. "वाचारंभणं विकारो नामधेयम्।" (छां. उ. ६।१।४)
२. "गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।" (तै. सं. १।१३)
* भवस्य०—पाठान्तरम्। [1] पञ्चात्मकाः, पञ्चात्मका:—पाठौ।

हृदयस्पर्शिनी

तज्जातमिति—इस प्रकार उपोद्घात के रूप में शरीरोत्पत्ति को बताकर उसके आगे बताते हैं—वह उत्पन्न हुआ शरीर जातकर्मादि संस्कारों से नाम और रूप प्राप्त कर पुनः मंत्रों से संस्कृत होने पर उपनयन संस्कार के द्वारा 'ब्रह्मचारी' संज्ञा को प्राप्त करता है। पश्चात् वही शरीर पत्नी-ग्रहणरूप संस्कार के द्वार 'गृहस्थ' संज्ञा को प्राप्त करता है। पुनः वही वानप्रस्थ संस्कार के द्वारा 'वानप्रस्थ' संज्ञा को प्राप्त करता है। पश्चात् वही सर्वकर्मपरित्याग-निमित्तरूप संस्कार के द्वारा 'संन्यासी' संज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार विभिन्न जाति, कुल और संस्कारवाला यह शरीर तुमसे पृथक् है ॥ २१ ॥

मनश्चेन्द्रियाणि च *नामरूपात्मकान्येव, "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२२॥

हृदयस्पर्शिनी

मन इति—इसके अतिरिक्त "हे सोम्य! मन अन्नमय ही है"[1] इत्यादि श्रुतियों के अनुसार मन और इन्द्रियाँ भी नाम-रूपात्मिका ही हैं ॥ २२ ॥

कथं चाहं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारवर्जित इत्येतच्छृणु—योऽसौ नामरूपयोर्व्याकर्ता नामरूप†-विलक्षणः, स एव नामरूपे व्याकुर्वन्-सृष्ट्वेदं शरीरं स्वयं ‡संसारधर्मवर्जितो नामरूप इह प्रविष्टोऽन्यैरदृष्टः स्वयं पश्यन्, तथाऽश्रुतः शृण्वन्, अमतो मन्वानः, अविज्ञातो विजानन्, "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इत्यस्मिन्नर्थे श्रुतयः सहस्रशः—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्", "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्", "स एष इह प्रविष्टः", "एष त आत्मा", "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत", "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा", "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" "अशरीरं शरीरेषु" इत्याद्याः ॥२३॥

हृदयस्पर्शिनी

कथमिति—तुमने जो पूछा था कि मैं अनात्मभूत जाति, कुल एवं संस्कारों से रहित किस प्रकार हूँ? उसे भी इस प्रकार सुनो—यह जो नाम-रूप के धर्मों से विलक्षण नाम-रूप को व्याकृत (व्यक्त) करने वाला है, वही नाम-रूप को व्यक्त करते हुए इस शरीर को रचकर स्वयं संस्कार और धर्मों से रहित हुआ ही दूसरों से अदृष्ट किन्तु स्वयं देखता हुआ, दूसरों से अश्रुत किन्तु स्वयं सुनता हुआ, तथा मन का अविषय होकर भी मनन करता हुआ और अविज्ञात होकर भी सबको जानता हुआ इन नाम और रूपों में प्रविष्ट हो गया है, जैसे "बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण रूपों की रचना कर उनके देव-मनुष्य आदि नाम रखकर उनके द्वारा बोलता (व्यवहार करता) हुआ स्थित रहता है"[2] इस श्रुति के दृष्टान्त से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जाता है। इसी अर्थ में "उसे रचकर उसी में अनुप्रविष्ट हो गया"[3], "आत्मा सबके भीतर प्रविष्ट होकर सब जीवों का शासन करने वाला है"[4], "वह आत्मा इस शरीर में प्रविष्ट है"[5], "यह तेरा आत्मा है"[6], "वह इस मूर्द्धसीमा को विदीर्णकर इसके द्वारा प्रविष्ट हो गया"[7], "वह आत्मा समस्त प्राणियों में छिपा हुआ है"[8], "उस (सत्स्वरूप) देवता ने ईक्षण किया कि अहा! मैं इन तीन (अप्, तेज और अन्न) देवताओं को प्रकाशित करूँ"[9] इत्यादि सहस्रों श्रुतियाँ उपलब्ध हैं। जैसे पक्षी अपने नीड (घोसले) में प्रविष्ट होता है तो वह सबको उपलब्ध भी होता है, वैसे ही परमात्मा यदि यहाँ सर्वत्र प्रविष्ट है तो वह सबको उपलब्ध क्यों नहीं होता? इस शंका का समाधान "अन्यैरदृष्टः" से हो जाता है। "अदृष्टो द्रष्टा"—(बृ. आ. ३।७।२३) श्रुति को मूल में अर्थतः दिया गया है ॥ २३ ॥

१. "अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छां. उ. ६।५।४)
२. (तै. आ. ३।१२।७)
३. (तै. उ. २।६)
४. (तै. आ. ३।११)
५. (बृ. उ. १।४।७)
६. (बृ. उ. ३।७।३)
७. (ऐ. उ. ३।१२)
८. (कठ उ. १।३।१२)
९. (छां. उ. ६।३।२)

* रूपकाण्येव—पाठान्तरम्।
† रूपधर्म वि० —पाठान्तरम्।
‡ संस्कार धर्म—पाठान्तरम्।

स्मृतयोऽपि—"आत्मैव देवताः सर्वाः", "नवद्वारे पुरे देही", "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि", "समं सर्वेषु भूतेषु", "उपद्रष्टाऽनुमन्ता च", "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः", "अशरीरं शरीरेषु" इत्याद्याः। तस्माज्जात्यन्वयसंस्कारवर्जितस्त्वमिति सिद्धम् ॥२४॥

हृदयस्पर्शिनी

स्मृतयोऽपीति—परमात्मा ही क्षेत्रज्ञ है—इस श्रुत्युक्त अर्थ को बताने के लिये स्मृतिवचनों को भी उद्धृत कर रहे हैं। "सब देवता आत्मा ही हैं[1]", "नौ द्वार के पुर में देही रहता है[2]", "क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान[3]", "सब भूतों में समानरूप से स्थित[4]", "उपद्रष्टा और अनुमन्ता[5]", "उत्तम पुरुष तो अन्य ही है[6]", "जो शरीरों में अशरीरी है[7]" इत्यादि स्मृतियाँ भी हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तू जाति, कुल और संस्कारों से रहित है। 'इत्यादि' के 'आदि' शब्द से "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्[8]" को भी संगृहीत किया समझना चाहिये ॥ २४ ॥

स यदि ब्रूयात्—अन्य एवाहमज्ञः सुखी दुःखी बद्धः संसारी, अन्योऽसौ मद्विलक्षणोऽसंसारी देवः, तमहं बल्युपहारनमस्कारादिभिर्वर्णाश्रमकर्मभिश्चाराध्य संसारसागरादुत्तितीर्षुरस्मि—कथमहं स एव ? इति ॥२५॥

हृदयस्पर्शिनी

स यदीति—'परमात्मा और तू एक ही हैं'—इस अभेदोपदेश से जीव को जाति, कुल, संस्कारराहित्य का निश्चय कराया गया किन्तु स्वानुभवविरोध की आशंका की जा रही है। शिष्य यदि यह आशंका करे कि मैं अज्ञानी, सुखी, दुःखी, बद्ध संसारी जीव तो अन्य हूँ, किन्तु यह असंसारी देव मुझसे भिन्न ही है। अतः मैं पूजा (बलि) उपहार और प्रणामादि के द्वारा तथा अपने वर्णाश्रमविहित कर्मानुष्ठान से उसकी आराधना करके इस संसारसागर से पार होना चाहता हूँ। मैं साक्षात् वही कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि मैं तो अज्ञ हूँ, यह अज्ञता मेरी अनुभवसिद्ध है। और उससे विलक्षण ईश्वरतत्त्व है—यह श्रुति-स्मृतियों के द्वारा बताया गया है। अतः आत्मा और परमात्मा को अभिन्न कैसे समझा जाय ? उत्कृष्ट ईश्वर को निकृष्ट संसारी के रूप में देखने पर प्रत्यवाय भी होगा। अतः उसका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये मुझे उसकी आराधना ही करना उचित होगा। उसके अनुग्रह से ही मैं संसार से मुक्त हो सकूंगा ॥ २५ ॥

आचार्यो ब्रूयात्—नैवं सोम्य, प्रतिपत्तुमर्हसि—प्रतिषिद्धत्वाद्भेदप्रतिपत्तेः। कथं प्रतिषिद्धा भेदप्रतिपत्तिरित्यत आह—"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद", "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद", "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इत्येवमाद्याः ॥२६॥

हृदयस्पर्शिनी

आचार्य इति—शिष्य की भ्रमपूर्ण आशंका को सुनकर आचार्य को कहना चाहिये कि 'हे सोम्य ! तुझे ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि भेदज्ञान की निन्दा की गई है।' यदि कोई ऐसा आक्षेप करे कि भेद तो प्रत्यक्ष-

१. (मनुस्मृति १२।११९)
२. (भग. गी. ५।१३)
३. (भग. गी. १३।२)
४. (भग. गी. १३।२७)
५. (भग. गी. १३।२२)
६. (भग. गी. १५।१७)
७. (सूत सं. २।११।६७)
८. (ईश. उ. ८)

सिद्ध है, अतः प्रत्यक्षविरुद्ध प्रमाणान्तर से उस (भेद) का प्रतिषेध कैसे होगा ? भेदज्ञान की निन्दा इस प्रकार की गई है कि "यह परमात्मा अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है, उसने कुछ नहीं जाना है। अर्थात् वह कुछ नहीं जानता है[1]।" "जो ब्रह्म को आत्मा से भिन्न देखता है, ब्रह्म उसे त्याग देता है[2]।" "जो यहाँ (इस लोक में) नानावत् देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है[3]।" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि असंसारी ईश्वर का प्रत्यक्ष न होने से, उसके भेद का प्रत्यक्ष भी आत्मा में हो पाना संभव नहीं है। सुखी-दुःखी आदि का आत्मा में अनुभव करना केवल भ्रम है। भ्रम होने से भेद का अध्यवसाय कर नहीं सकते। अतः अनन्यथासिद्धार्थ श्रुति के द्वारा प्रतिषिद्ध हुए भेद को प्रमाण समझना उचित नहीं है ॥ २६ ॥

एता एव श्रुतयो भेदप्रतिपत्तेः संसारगमनं दर्शयन्ति ॥२७॥

हृदयस्पर्शिनी

एता इति—ये भेदप्रतिषेधक श्रुतियाँ ही भेदज्ञान से संसार की प्राप्ति को भी प्रदर्शित करती हैं। अर्थात् ऊपर उल्लिखित श्रुतियाँ केवल भेदनिषेध ही नहीं कर रही हैं, किन्तु भेददर्शी व्यक्ति के लिये अनर्थप्राप्तिरूप प्रत्यवाय की सूचना भी देती हैं। यह परमेश्वर मुझसे विलक्षण कोई अन्य ही है, और मैं भी उससे विलक्षण संसारी जीव हूँ, ऐसा समझकर जो व्यक्ति अन्य देवता की उपासना करता है, अर्थात् श्रुति का तात्पर्य भेद में होना ही समझना है, उसने सचमुच तत्त्व को नहीं जाना, यही समझना चाहिये। क्योंकि भेदज्ञान, अविद्या से हुआ करता है। भेददर्शी के लिये श्रुति ने बताया है कि "उसे देवपशुत्व की प्राप्ति होती है[4]।" पराधीनता से बढ़कर कोई दूसरा दैन्य अथवा कष्ट नहीं है। ब्रह्म, भेददर्शी के विषय में सोचता है कि यह भेददर्शी मुझ आत्मरूप को अनात्मरूप से देखता है, अतः वह उस भेददर्शी का हित नहीं करता, अर्थात् वह उससे मानो द्वेष ही करने लगता है। अर्थात् उसे तत्त्व विमुख कर देता है। 'नानेव' यहाँ पर 'इव' शब्द नानात्वदर्शन में आभासत्व सूचित करने के लिये है। वह मृत्यु से मृत्यु को अर्थात् एक संसार से दूसरे संसार को और दूसरे से तीसरे संसार को इस प्रकार अनन्तकाल तक अनर्थपरम्परा को ही प्राप्त करता रहता है ॥ २७ ॥

अभेदप्रतिपत्तेश्च मोक्षं दर्शयन्ति सहस्रशः। "स आत्मा तत्त्वमसि" इति परमात्मभावं विधाय "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इत्युक्त्वा "तस्य तावदेव चिरम्" इति मोक्षं दर्शयन्ति अभेदविज्ञानादेव। सत्याभिसन्धस्यातस्करस्येव दाहाद्यभावदृष्टान्तेन संसाराभावं दर्शयन्ति। भेददर्शनादसत्याभिसन्धस्य संसारगमनं दर्शयन्ति तस्करस्येव दाहादिदृष्टान्तेन ॥२८॥

हृदयस्पर्शिनी

अभेदप्रतिपत्तेश्चेति—इस प्रकार भेददृष्टि की निन्दा बताकर और अभेददृष्टि की फलवत्ता होने से उनकी प्रशंसा करते हुए वही उपादेय है। अभेदज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति को हजारों श्रुतियों ने बताया है। अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति दोनों में है, इसी बात को श्रुत्यर्थ के द्वारा बताते हुए उक्त अर्थ को पुष्ट कर रहे हैं। "पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्ति[5]" इस खण्ड में इस अर्थ को बताया गया है। "राजपुरुष किसी पुरुष को हाथ पकड़कर लाते हैं और कहते हैं कि इसने धन चुराया है, इसके लिये परशु तपाओ। यदि उसने चोरी की है तो वह अपने को झूठा सिद्ध

---

१. (बृ. उ. १।४।१०)

२. (बृ. उ. २।४।६, ४।५।७)

३. (बृ. उ. ४।४।१९, कठ उ. ४।१०)

४. "यथा पशुरेवं स देवानाम्" ।—(बृ. उ. १।४।१०, ४।४।१९)

५. "पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥ अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥ (छां. उ. ६।१६।२)

करता है और तप्त परशु को छूने से जल जाता है तथा मार दिया जाता है। किन्तु यदि उसने चोरी नहीं की है तो वह अपने को सत्यवादी सिद्ध करता है। वह उस तप्त परशु से नहीं जलता, और उसे छोड़ दिया जाता है। उसी प्रकार भेददर्शी असत्यनिष्ठ होने के कारण संसारबन्धन में बँधता है और अभेददर्शी सत्यनिष्ठ होने के कारण उससे छूट जाता है।" अभेदज्ञान के द्वारा मोक्षप्राप्ति को बताने वाली श्रुतियाँ इस प्रकार हैं—"वह आत्मा है और वही तू है[1]।" इस प्रकार जीव के परमात्मभाव का विधान कर "आचार्यवान् पुरुष को ही ज्ञान होता है[2]।" ऐसा कहकर "उसके लिये तभी तक विलम्ब है[3]।" इस प्रकार अभेदज्ञान से ही श्रुतियाँ मोक्ष का प्रदर्शन कर रही हैं। तथा अचोर पुरुष के दाहादि के अभाव के समान दृष्टान्त द्वारा सत्यनिष्ठ पुरुष को संसारप्राप्ति का अभाव और चोर के दाहादि दृष्टान्त से भेददर्शी असत्यनिष्ठ पुरुष को संसार की प्राप्ति दिखलायी है ॥ २८ ॥

"त इह व्याघ्रो वा" इत्यादिना च अभेददर्शनात् "स स्वराड्भवति" इत्युक्त्वा, तद्विपरीतेन भेददर्शनेन संसारगमनं दर्शयन्ति—"अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" इति प्रतिशाखम्। तस्मान्मृषैवैवमवादीः "ब्राह्मणपुत्रोऽदोऽन्वयः संसारी परमात्मविलक्षणः" इति ॥२९॥

हृदयस्पर्शिनी

अभेददर्शनादिति—सुषुप्ति में परमात्मा के साथ अभेदसम्पत्ति होने पर भी वैसा अभेदज्ञान न रहने के अपराध से ही पुनः व्याघ्रादि भाव से उठे हुए (जगे हुए) लोगों के लिये संसार का अविच्छेद बताती हुई श्रुति परमात्मा के साथ अभेद के रूप में होने वाला आत्म ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति में हेतु है--यह सूचित कर रही है। "वह यहाँ व्याघ्र अथवा[4] (सिंह, भेड़िया, भालू, कीट, पतंग, या मच्छर) जो कुछ होता है, सुषुप्ति से जागने पर वही हो जाता है" इस श्रुति से भी अभेद ही दिखलाया गया है। तथा "वह स्वराट् (स्वतन्त्र सम्राट) हो जाता है"[5] ऐसा कहकर उसके विपरीत "जो इससे भिन्न प्रकार से जानते हैं, उनके अधिपति दूसरे होते हैं, तथा वे क्षयशील लोकों को प्राप्त होते हैं"[6] इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रत्येक शाखा में भेददर्शन के द्वारा संसार की प्राप्ति दिखलाई है। अतः तुमने यह मिथ्या ही बताया है कि 'मैं परमात्मा से भिन्न अमुक गोत्र में उत्पन्न हुआ संसारी ब्राह्मणपुत्र हूँ'। तात्पर्य यह है कि भेददर्शन की निन्दा एवं अभेददर्शन की प्रशंसा के द्वारा जीव और ब्रह्म का अभेद निश्चित किया गया है। अतः आत्मा में ब्राह्मणत्वादि का अभिमान करना मिथ्या है, यह सिद्ध किया गया है ॥ २९ ॥

तस्मात्—प्रतिषिद्धत्वाद्भेददर्शनस्य, भेदविषयत्वाच्च कर्मोपादानस्य, कर्मसाधनत्वाच्च यज्ञोपवीतादेः कर्मसाधनोपादानस्य परमात्माभेदप्रतिपत्त्या प्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः। कर्मणां तत्साधनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमात्माऽभेदप्रतिपत्तिविरुद्धत्वात्, संसारिणो हि कर्माणि विधीयन्ते, तत्साधनानि च यज्ञोपवीतादीनि, न परमात्मनोऽभेददर्शिनः। भेददर्शनमात्रेण च ततोऽन्यत्वम् ॥३०॥

हृदयस्पर्शिनी

तस्मादिति—अतः शिष्य ने पूर्वगत २५ वे वाक्य से जो यह कहा था कि 'मैं पूजा, प्रणामादि वर्णाश्रम-विहित कर्मानुष्ठान के द्वारा परमेश्वर की आराधना करूँगा' यह दृष्टि भी सम्यक् दृष्टि नहीं है, वह भेददृष्टि ही है, जिसका अभेदश्रुति ने बाध कर दिया है। भेददृष्टि का प्रतिषेध किया होने से और कर्मानुष्ठान भेदविषयक होने से तथा यज्ञोपवीतादि, कर्मानुष्ठान का साधन होने से परमात्मा के साथ अभेदज्ञान हो जाने पर कर्म के साधन और

१. ("स आत्मा तत्त्वमसि" ।—छां. उ. ६।८।१६)
२. "आचार्यवान् पुरुषो वेद" ।—(छां. उ. ६।१४।२)
३. "तस्य तावदेव चिरम्" ।—(छां. उ. ६।१४।२)
४. "त इह व्याघ्रो वा" ।—(छां. उ. ६।९।२)
५. "स स्वराड् भवति" ।—(छां. उ. ७।२५।२)
६. "अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" ।—(छां. उ. ७।२५।२)

कर्मानुष्ठान का भी प्रतिषेध हुआ समझना चाहिये, क्योंकि कर्म और उनके यज्ञोपवीतादि साधन परमात्मा से अभेद-ज्ञान के विरोधी हैं। कर्म और उनके साधन यज्ञोपवीतादि का संसारी पुरुषों के लिये ही विधान किया गया है। परमात्मा के साथ अपना अभेद देखने वाले के लिये नहीं किया गया है। संसारी जीव का तो परमात्मा से भेद है और वह भेददृष्टि के कारण ही है, वास्तविक नहीं है। क्रिया, कारक, फल आदि भेद का आश्रय किये बिना कर्म का स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। कर्म का स्वरूप तो भेदज्ञान पर ही निर्भर है। श्रुति ने ही यज्ञोपवीत धारण आदि में कर्म की साधनता बताई है। किन्तु साध्य कर्म के अभाव में उसके साधनों का परिग्रह करना निरर्थक ही है। 'मैं ब्रह्म हूँ', और 'मैं कर्ता हूँ' इन दो विरुद्ध प्रतिपत्तियों का समुच्चय एक पुरुष में होना संभव नहीं है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अधिकारी के अभाव में वेदोक्त कर्मकाण्ड निराधार है, अप्रमाण है। वह जाति, कुल आदि का अभिमान रखनेवाले संसारी जीव के लिए बताया गया है। अभेददर्शी के लिए वह नहीं है ॥ ३० ॥

यदि कर्माणि कर्तव्यानि, न विनिवर्तयिषितानि, कर्मसाधनासम्बन्धिनः कर्मनिमित्तजात्याश्रमाद्यसम्बन्धिनश्च, परमात्मन* आत्मनैवाभेदप्रतिपत्तिं नावक्ष्यत्—"स आत्मा तत्त्वमसि" इत्येवमादिभिर्निश्चितरूपैर्वाक्यैः। भेदप्रतिपत्तिनिन्दां च नाभ्यधास्यत् ॥३१॥

हृदयस्पर्शिनी

यदीति—श्रुति ने ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपत्ति के द्वारा कर्म और उनके साधनों का जो प्रतिषेध किया, उसी को अब व्यतिरेक से बता रहे हैं। कर्तव्य कर्मों की निवृत्ति यदि श्रुति को अभीष्ट नहीं होती तो वह कर्मसाधनों से असंबन्धित तथा कर्मनिमित्तक जाति एवं आश्रमादि से असंबंधित परमात्मा का "वह आत्मा है और वह तू है[1]" ऐसे निश्चित रूप वाक्यों के द्वारा आत्मा के साथ अभेद का प्रतिपादन न करती और न "यह ब्राह्मण की नित्य महिमा है[2]" "वह पुण्य से असंश्लिष्ट है और पाप से भी असंश्लिष्ट है[3]" "यहाँ चोर, अचोर हो जाता है[4]" आदि वाक्यों द्वारा भेदज्ञान की निन्दा नहीं की होती ॥ ३१ ॥

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य", "अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन", "अत्र स्तेनोऽस्तेनः"—इत्यादिना कर्मासम्बन्धिस्वरूपत्वं कर्मनिमित्तवर्णाद्यसम्बन्धरूपतां च नाभ्यधास्यत्, कर्माणि च कर्मसाधनानि च यज्ञोपवीतादीनि यद्यपरित्याजयिषितानि; तस्मात्ससाधनं कर्म परित्यक्तव्यं मुमुक्षुणा—परमात्माभेददर्शनविरोधात्—आत्मा च पर एव प्रतिपत्तव्यो यथाश्रुत्युक्तलक्षणः ॥३२॥

हृदयस्पर्शिनी

एष इति—दूसरा कारण यह भी है कि यदि श्रुति को यज्ञादि कर्म और यज्ञोपवीतादि कर्मसाधनों का त्याग अभीष्ट न होता तो वह आत्मा की कर्मासम्बन्धिरूपता तथा कर्मनिमित्तक वर्णादिसंसर्गशून्यता का वर्णन न करती। अतः मुमुक्षु पुरुष साधनसहित कर्मों का परित्याग करे, क्योंकि उनका परमात्मा के अभेदज्ञान के साथ विरोध है। अतः श्रुति के द्वारा बताये हुए लक्षणों से युक्त आत्मा को परब्रह्म ही समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

स यदि ब्रूयात्—भगवन्, दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे प्रत्यक्षा वेदना; अशनायादिनिमित्तं च प्रत्यक्षं दुःखं मम। परश्चायमात्मा, "अयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" †सर्वसंसारधर्मविवर्जितः श्रूयते सर्वश्रुतिषु स्मृतिषु च। कथं तद्विलक्षणोऽनेकसंसारधर्मसंयुक्तः परमात्मा-

१. (छां. उ. ६।८।७)
२. (बृ. उ. ४।४।२३)
३. (बृ. उ. ४।३।२२)
४. (बृ. उ. ४।३।२२)
* आत्म०—पाठान्तरम्। † सर्वगन्ध-रसवर्जितः०—पाठान्तरम्।

त्मात्मत्वेन मां च संसारिणं परमात्मत्वेनाग्निमिव शीतत्वेन *प्रतिपद्येय ? संसारी च सन्, सर्वाभ्युदयनिःश्रेयससाधनेऽधिकृतः, अभ्युदयनिश्रेयससाधनानि कर्माणि तत्साधनानि यज्ञोपवीतादीनि कथं परित्यजेयम् ? इति ॥३३॥

हृदयस्पर्शिनी

स इति—आगम के आधार पर निरूपित किये गये ब्रह्मात्मैक्य को अब युक्ति से भी सुदृढ़ बनाने के लिए शिष्य के मुख से पुनः आक्षेप कराया जा रहा है। शिष्य गुरु से कहता है कि हे भगवन् ! देह (शरीर) के दहन या छेदन किये जाने पर जो वेदना (पीड़ा) होती है, वह तो प्रत्यक्ष है, उसी तरह क्षुधा (भूख) से होनेवाली पीड़ा (दुःख) का भी मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तथा "यह आत्मा पापशून्य, रजोरहित, मृत्युरहित, शोकहीन, क्षुधाहीन, पिपासाहीन और सब प्रकार के गन्ध और रस से रहित है"[1] इस प्रकार सभी श्रुतियों और स्मृतियों में यह आत्मा ही परमात्मा रूप से सुना जाता है। ऐसी स्थिति में इन लक्षणों से रहित तथा अनेक सांसारिक धर्मों से युक्त हुआ मैं अग्नि को शीतत्व-विशिष्ट समझने के समान परमात्मा को आत्मस्वरूप से और संसारी अपने-आपको परमात्मरूप से कैसे समझूँ ? तथा संसारी होने के कारण सर्वविध अभ्युदय और निःश्रेयस के साधनों में अधिकार रखता हुआ भी उन अभ्युदय और निःश्रेयस के साधनभूत कर्म एवं उनके साधनभूत यज्ञोपवीतादि को भी कैसे त्याग दूँ ? अतः 'जीव-परमात्मानौ वस्तुतो भिन्नौ विरुद्धधर्मसंसर्गित्वात्, शीतोष्णवत्' यह आक्षेप करनेवाले शिष्य का अनुमान है। एवंच भेद तो तात्त्विक है, तब कर्म और तत्साधनभूत यज्ञोपवीतादि परित्यागात्मक संन्यास के लिए अवसर (प्रसंग) ही कहाँ है ? अर्थात् नहीं है ॥ ३३ ॥

A

तं प्रति ब्रूयात्—यदवोचो दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे प्रत्यक्षा वेदनोपलभ्यते ममेति; तदसत्। कस्मात् ? दह्यमाने च्छिद्यमान इव वृक्ष उपलब्धुरुपलभ्यमाने कर्मणि शरीरे दाहच्छेदवेदनाया उपलभ्यमानत्वाद्दाहादिसमानाश्रयैव वेदना। यत्र हि दाहश्छेदो वा क्रियते तत्रैव व्यपदिशति दाहादिवेदनां लोकः, न वेदनां दाहाद्युपलब्धरीति। कथं क्व ते वेदनेति पृष्टः शिरसि मे वेदना, उरस्युदर इति वा, यत्र दाहादिस्तत्रैव व्यपदिशति, न तूपलब्धरीति। यद्युपलब्धरि वेदना स्यात् वेदनानिमित्तं वा दाहच्छेदादि, वेदनाश्रयत्वेनोपदिशेद्दाहाद्याश्रयवत् ॥३४॥

हृदयस्पर्शिनी

त मिति—उस शिष्य से गुरु यह कहे—तुमने जो कहा कि 'शरीर के दग्ध और छेदन किये जाने पर मुझे वेदना की उपलब्धि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है' किन्तु तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है। क्यों ठीक नहीं है ? क्योंकि दग्ध और छेदन किये जाते हुए वृक्ष के समान उपलब्धा को उपलब्ध होनेवाले उसकी उपलब्धि के कर्मभूत शरीर में ही दाह और छेदन की वेदना, उपलब्ध होने के कारण वह वेदना उन दाहादि के समान आश्रयवाली ही है। क्योंकि जहाँ दाह या छेदन किया जाता है, वहीं पर लोग उस दाहादि की वेदना का व्यपदेश (उल्लेख) किया करते हैं। दाहादि की उपलब्धि करनेवाले में नहीं। किस प्रकार ? (सो सुनो)—जब किसी से यह पूछा जाता है कि तुम्हारे कहाँ पर वेदना है ? तो 'मेरे शिर में वेदना है अथवा हृदय में या पेट में वेदना है', इसी प्रकार जहाँ दाहादि होता है, वहीं उसकी वेदना भी वह बताता है, उस वेदना के उपलब्ध करनेवाले को नहीं बतलाता। यदि वह वेदना अथवा उसका निमित्त दाहच्छेदनादि, उपलब्धा में होता तो दाहादि के आश्रय के समान उसकी वेदना के आश्रयरूप से उसी का व्यपदेश करता। तात्पर्य यह है कि आक्षेप करनेवाले शिष्य के द्वारा उपस्थित किए गए अनुमान प्रयोग में गुरु, हेत्वसिद्धि दिखा रहे हैं। अनुमान में 'जीवपरमात्मानौ' के द्वारा क्या उपाधिभेदविशिष्ट वस्तु का यथाप्रतिपत्ति निर्देश कर रहे हो, अथवा चैतन्यमात्राकार का निर्देश कर रहे हो ? प्रथम पक्ष में आकाशभेद के समान औपाधिक भेद वास्तविक ही

१. (छां. उ. ८।१।५)

* प्रतिपद्येयम्०—पाठान्तरम्।

होने से बाध और व्यभिचार हैं। और भेदमात्र का साधन यदि कर रहे हो तो सिद्धसाधन है, इस अभिप्राय से द्वितीय पक्ष में असिद्धि है ॥ ३४ ॥

स्वयं च नोपलभ्येत चक्षुर्गतरूपवत्। तस्माद्दाहच्छेदादिसमानाश्रयत्वेनोपलभ्यमानत्वाद्दाहादिवत्कर्मभूतैव वेदना। भावरूपत्वाच्च साश्रया तण्डुलपाकवत्। वेदनासमानाश्रय एव तत्संस्कारः स्मृतिसमानकाल एवोपलभ्यमानत्वात्, वेदनाविषयः तन्निमित्तविषयश्च द्वेषोऽपि संस्कारसमानाश्रय एव। तथा चोक्तम्—

"रूपसंस्कारतुल्याधी रागद्वेषौ भयं च यत्।
गृह्यते धीश्रयं तस्माज्ज्ञाता शुद्धोऽभयः सदा" ॥३५॥

US 15/13

हृदयस्पर्शिनी

स्वय मिति—अन्य युक्ति भी बताते हैं—जैसे चक्षुगतरूप चक्षु के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता, वैसे ही आत्मगत वेदना का ग्रहण भी आत्मा के द्वारा नहीं होगा, अन्यथा कर्म-कर्तृ विरोध होगा। दाह, छेदन और वेदना ये तीनों समानाश्रय हैं, ऐसा अनुभव होने से दाहादि के तुल्य उनकी वेदना भी, वेत्ता या अनुभविता की कर्मभूत ही माननी होगी। तथा वह वेदना, कार्यरूप होने से तण्डुलपाक के समान साश्रय (आश्रययुक्त) भी है। और उसके संस्कार भी वेदना के समानाश्रय ही हैं। क्योंकि उसकी उपलब्धि वेदना के समान काल (जाग्रत्-स्वप्न) में ही होती है। सुषुप्ति में नहीं होती, क्योंकि उस समय वेदना का भी अभाव रहता है। अतः संस्कार, वेदना से साथ हीं रहनेवाले हैं। उस वेदना के निमित्तभूत दाहादि के प्रति जो द्वेष है, वह भी संस्कारों के समानाश्रय ही है। ऐसा कहा भी है—"नील-पीतादि रूप और उनके संस्कार और तदनुकूल जो बुद्धि, राग, द्वेष और भय हैं, वे बुद्धि के ही आश्रित दिखाई देते हैं। अतः उनका ज्ञाता (आत्मा) तो सर्वदा शुद्ध और अभयरूप है[1]"। अभिप्राय यह है कि आत्मा वेदनाश्रय नहीं हो सकता। यहाँ पर शंका यह की जा सकती है कि वेदना का अर्थ तो 'दुःख' है, दुःख का जड़ देह में होना तो संभव नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखादि धर्मों में चेतनाश्रयता रहती है, यह नियम है। यदि पुनः चेतन होता हुआ भी आत्मा, वेदनाश्रय न कहा जाय तो शरीर भी अचेतन है, वह भी वेदनाश्रय नहीं होगा। बौद्धों की तरह वेदना को निराश्रय (अनाश्रय) ही माना जाय, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह कार्यरूप है। अतः कह सकते हैं कि 'वेदना साश्रया कार्यत्वात् तण्डुलपाकवत्'। 'कार्यत्वात्' हेतु को अप्रयोजक भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि वेदना को निराश्रय कहें तो उसके नष्ट होने पर संस्कार का भी अभाव होने से कालान्तर में उसका स्मरण न हो सकेगा। अथवा 'वेदना समानाश्रय एव तत्संस्कारः' कहकर हेत्वसिद्धि की आशंका का भी परिहार किया जा सकता है। अर्थात् वेदना कार्यरूप न हो तो उसका संस्कार और स्मृति दोनों का होना असंभव होगा, तब कालान्तर में 'मेरे पैर में वेदना हुई थी' इत्यादि व्यवहार नहीं हो पाएगा। अथवा वेदना के साश्रय पक्ष में यदि कोई यह शंका करे कि वेदना यदि साश्रय है, तो वह आत्माश्रय ही होगी, क्योंकि उसके संस्कार-स्मृति आदि की उपलब्धि, आत्मा में ही होगी। तो इस आशंका का उत्तर देने के लिए 'वेदना समानाश्रय एव तत्संस्कारः' कहा गया है। अर्थात् यत्स्था वेदना होती है, तत्स्थ ही उसके संस्कार आदि होते हैं, अर्थात् जिसमें वेदना स्थित हो, उसी में उससे उत्पन्न हुए संस्कारादि होते हैं। वेदना, तत्संस्कार, स्मृति ये सब एकाश्रय हुआ करते हैं, ऐसा नियम है। वेदना तो उपलब्धि के कर्म में स्थित है, अतः उपलब्धा जो आत्मा है, उसमें वेदना के संस्कार को नहीं माना जा सकता। इसलिए वेदनाजन्य संस्कार को वेदनासमानाश्रय ही मानना चाहिए। क्योंकि जाग्रत्, स्वप्नावस्थारूप स्मृतिकाल में ही उसकी उपलब्धि होती है, सुषुप्ति काल में नहीं। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'वेदनादिः अनात्माश्रयः अनात्मप्रत्ययकाल एवोपलब्धिगोचरत्वात्, देहकार्श्यादिवत्'। वेदना आदि के अनात्माश्रय होने में एक और भी कारण है। उस वेदना का जो निमित्त दाहच्छेद आदि है, तद्विषयक द्वेष भी संस्कारतुल्याश्रय अर्थात् अनात्माश्रय ही होगा। निष्कर्ष यह है—देह के कट जाने पर अथवा जल जाने पर 'मैं कट

१. (उप. स. पद्य प्र. १५।१३)

गया, मैं जल गया' इस प्रकार अपने आत्मा को देह से अभिन्न माननेवाला व्यक्ति सन्तप्त (दुःखी) होता है। छेदन या दाह से होने वाली वेदना, उसके संस्कार, स्मृति, द्वेष आदि ये सब, देह से अभिन्न आत्मा में ही उपलब्ध होते हैं। देहाभिमानरहित अवस्था में ये सब नहीं हुआ करते। देह, उपलभ्यमान होने से उपलब्धि का कर्म है। वह उपलब्धि का आश्रय नहीं है। इस कारण संघातात्मक शरीर के ही ये वेदनादि हैं, असंहत साक्षी आत्मा के नहीं। आत्मा तो नित्य शुद्ध ही है। वृद्ध लोग भी इस तरह कहते है—रूपादि संस्कार और तज्जन्य रागादि सब कुछ बुद्धयाश्रित ही उपलब्ध होते हैं, अपने साक्षी के आश्रित नहीं होते। अतः ज्ञाता (आत्मा) सर्वदा शुद्ध (राग-द्वेष से रहित), अभय (संसार रहित) है ॥ ३५ ॥

किमाश्रयाः पुनारूपसंस्कारादय इति ? उच्यते—यत्र कामादयः। क्व पुनस्ते कामादयः ? "कामः संकल्पो विचिकित्सा"[1] इत्यादिश्रुतेर्बुद्धावेव। तत्रैव रूपादिसंस्कारादयोऽपि, "कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदये"[2] इति श्रुतेः। "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः"[3], "तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य"[4], "असङ्गो ह्ययम्"[5], "तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दाः"[6] इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः; "अविकार्योऽयमुच्यते"[7], "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्"[8] इत्यादिभ्यः—इच्छाद्वेषादि च क्षेत्रस्यैव विषयस्य धर्मः, नात्मन इति—स्मृतिभ्यश्च कर्मस्थैवाशुद्धिः नात्मस्थेति ॥३६॥

हृदयस्पर्शिनी

किमाश्रया इति—यद्यपि वेदनादिकों का अनात्मधर्मत्व, युक्ति से तथा वृद्धसम्मति से उपपादन कर चुके हैं तथापि पुनः प्रश्नपूर्वक श्रुति के द्वारा प्रतिपादन करते हुए उसके आश्रयविशेष का निर्धारण करते हैं। रूप आदि के संस्कार (सूक्ष्मावस्था) आदि का आश्रय कौन है ? इस प्रकार प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं कि 'जहाँ कामादि रहते हैं, वहीं उनके संस्कारादि भी रहते हैं। और वे कामादि कहाँ रहते हैं ? तो बताया कि "काम, संकल्प, विचिकित्सा[1] (संशय)" आदि श्रुति के अनुसार बुद्धि में ही रहते हैं, और वहीं पर रूपादि संस्कार भी रहते हैं। रूप किसमें प्रतिष्ठित है ? तो बताया 'हृदय'[2] में। इस श्रुति के अनुसार रूपादि के संस्कार भी वहीं रहते हैं। "इसके हृदय में जो कामनाएँ आश्रित हैं",[3] "जबकि यह हृदय के समस्त शोकों से पार हो जाता है",[4] यह (आत्मा) असंग है,"[5] इसका यह आत्मा कामादि दोषों से रहित है"[6] इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों तथा "वह अविकार्य कहा जाता है"[7], "अनादि और निर्गुण होने के कारण"[8] इत्यादि स्मृतियों से भी यही सिद्ध होता है। और इच्छा और द्वेषादि तो विषयरूप क्षेत्र के ही धर्म है, आत्मा के नहीं[9]। अतः स्मृतियों के अनुसार यह अशुद्धि, कर्म (विषयभूत अनात्मा) में ही है, आत्मा में नहीं है ॥ ३६ ॥

अतो रूपादिसंस्काराद्यशुद्धिसम्बन्धाभावात्र परस्मादात्मनो विलक्षणस्त्वमिति प्रत्यक्षादिविरोधाभावाद्युक्तं पर एवात्माऽहमिति प्रतिपत्तुम्, "तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति"[1], एकधैवाऽनुद्रष्टव्यम्"[2], "अहमेवाधस्तात्"[3], "आत्मैवाधस्तात्"[4], "सर्वमात्मानं पश्येत्"[5], "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव",

१. (बृ. उ. १।५।३, मै. उ. ६।३०)
२. (बृ. उ. ३।९।२०)
३. (बृ. उ. ४।४।७, कठ उ. ६।१४)
४. (बृ. उ. ४।३।२२)
५. (बृ. उ. ४।३।१५)
६. (बृ. उ. ४।३।२१)
७. (भ. गी. २।२५)
८. (भ. गी. १३।३१)
९. "इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत् क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम् ॥"—(भ. गी. १३।६)

"इदं सर्वं यदयमात्मा"[7], "स एषोऽकलः"[8], अनन्तरोऽबाह्यः[9] "अनन्तरमबाह्यम्"[10], "स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"[11], ब्रह्मैवेदम् "एतया द्वारा प्रापद्यत"[12], "प्रज्ञानस्य नामधेयानि"[13] "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[14], "तस्माद्वा एतस्मात्"[15], "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"[16], "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी"[17], "अशरीरं शरीरेषु"[18], "न जायते म्रियते वा विपश्चित्"[19], "स्वप्नान्तं जागरितान्तम्"[20], "स म आत्मेति विद्यात्"[21], "यस्तु सर्वाणि भूतानि"[22], "तदेजति तन्नैजति"[23], "वेनस्तत्पश्यन्"[24], "तदेवाग्निः"[25], "अहं मनुरभवं सूर्यश्च"[26], "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्"[27], "सदेव सोम्य"[28], "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि"[29], इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥३७॥

हृदयस्पर्शिनी

अत इति—अतः रूपादि संस्कारादि अशुद्धि का संबंध न होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण से कोई विरोध भी नहीं है। अतः 'तू परमात्मा से भिन्न नहीं है' इस प्रकार तुझे समझना चाहिये। 'मैं परमात्मा ही हूँ' यही समझना उचित है। 'उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ"[१] "एक रूप से ही देखना चाहिये"[२] "मैं ही नीचे हूँ[३] आत्मा ही नीचे है[४]", "सबको आत्मस्वरूप देखे[५]", "जिस अवस्था में इसे सब कुछ आत्मा ही हो जाता है[६]", "यह जो कुछ है, आत्मा ही है[७]", "वह यह आत्मा निष्कल है[८]", "यह न अन्तर है न बाह्य है[९]", "वह बाहर भीतर विद्यमान एवं अजन्मा है[१०]", "यह ब्रह्म ही है[११]", "इसी के द्वारा प्रविष्ट हुआ[१२]", "प्रज्ञान के ही नाम है[१३]", "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तरूप है[१४]" "उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ[१५]", "उसे रचकर उसी में अनुप्रविष्ट हो गया[१६]", "समस्त भूतों में एक सर्वव्यापी देव छिपा हुआ है[१७]", "वह शरीरों में अशरीरी है[१८]", "वह न उत्पन्न होता है, न मरता है[१९]", "जो स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं के पदार्थ को देखता है[२०]", "वह मेरा आत्मा है, ऐसा जाने[२१]", "जो समस्त भूतों को अपने में देखता है[२२]", "वह गमन करता है और नहीं भी करता है[२३]", "ज्ञानियों ने उसे देखा है[२४]", "वही अग्नि है[२५]", "मैं मनु हुआ और मैं सूर्य भी हुआ[२६]", "वह जीवों के भीतर प्रविष्ट हुआ, जीवों का शासन करनेवाला है[२७]", "हे सोम्य ! पहले सत् ही था[२८]", "वह सत्य है, वह आत्मा है, और वही तू है[२९]"—इत्यादि श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है। इस अनुच्छेद के द्वारा यह बताया गया है कि रूपादि संस्कारादि अशुद्धि का संबंध न होने के कारण ही प्रत्यक्षादि विरोध भी नहीं है। अतः तू परमात्मा से भिन्न नहीं है। इसलिये तू परमात्मा ही है। ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न ही समझो ॥ ३७ ॥

---

१. (बृ. उ. १।४।१०)
२. (बृ. उ. ४।४।२०)
३. (छा. उ. ७।२५।१)
४. (छा. उ. ७।२५।२)
५. (बृ. उ. ४।४।२३)
६. (बृ. उ. ४।५।१५)
७. (बृ. उ. २।४।६, ४।५।७)
८. (प्र. उ. ६।५)
९. (बृ. उ. २।५।१९, ३।८।८)
१०. (मुं. उ. २।१।२)
११. (मुं. उ. २।२।११)
१२. (ऐ. उ. ३।१२)
१३. (ऐ. उ. ५।२)
१४. (तै. उ. २।१)
१५. (तै. उ. २।१)
१६. (तै. उ. २।६)
१७. (श्वे. उ. ६।११)
१८. (कठ उ. २।२२)
१९. (कठ उ. २।२८)
२०. (कठ. उ. ४।४)
२१. (कौ. उ. ३।८)
२२. (ई. उ. ५,६)
२३. (महाना. उ. २।३)
२४. (महाना. उ. ११७)
२५. (बृ. उ. १।४।१०)
२६. (बृ. उ. १।४।१०)
२७. (तै. आ. ३।११)
२८. (छां. उ. ६।२।१)
२९. (छां. उ. ६।८।७)

स्मृतिभ्यश्च "पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्य"[1], "आत्मैव देवताः"[2], "नवद्वारे पुरे"[3], "समं सर्वेषु भूतेषु"[4], "विद्याविनयसंपन्ने"[5], "अविभक्तं विभक्तेषु"[6], "वासुदेवः सर्वम्"[7] इत्यादिभ्य एक एवात्मा परं ब्रह्म सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तस्त्वमिति सिद्धम् ॥३८॥

हृदयस्पर्शिनी

स्मृतिभ्यश्चेति—उपर्युक्त श्रुत्युक्त अर्थ का समर्थन स्मृतियों ने भी किया है। "समस्त प्राणिवर्ग एक बुद्धि स्थित आत्मा के ही शरीर हैं[1]", "समस्त देवता आत्मा ही है[2]", "नवद्वार के पुर में देही रहता है[3]", "सम्पूर्ण भूतों में समानरूप से विद्यमान[4]", "विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मण में[5]", "भिन्न-भिन्न प्राणियों में अभिन्नरूप से स्थित[6]", "सभी वासुदेव हैं[7]"—इत्यादि स्मृतिवाक्यों से भी तू समस्त सांसारिक धर्मों से रहित परब्रह्मस्वरूप एक आत्मा ही है, यह स्पष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि जितने भी प्राणी हैं, वे सब एक ही आत्मा (गुहाशय) के शरीर हैं। अतः प्रत्येक शरीर का आत्मा भिन्न नहीं हैं ॥ ३८ ॥

स यदि ब्रूयात्—यदि "भगवन् अनन्तरोऽबाह्यः", "सबाह्याभ्यान्तरो ह्यजः", "कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव", सैन्धवघनवदात्मा सर्वमूर्तिभेदवर्जित आकाशवदेकरसः; किमिदं दृश्यते, श्रूयते वा, साध्यं साधनं वा साधकश्चेति श्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धं वादिशतविप्रतिपत्तिविषयमिति ॥३९॥

हृदयस्पर्शिनी

स यद्ब्रवीति—यदि वह शिष्य पुनरपि यह कहे कि हे भगवन्! यदि अन्तर-बाह्य से रहित, बाहर-भीतर विद्यमान एवं अजन्मा तथा पूर्णतया प्रज्ञानघन ही सैन्धवघन के समान सम्पूर्ण मूर्त भेदों से रहित आकाश के समान एकरस आत्मा है, तो श्रुति-स्मृति और लोक में प्रसिद्ध तथा शतशः वादियों के विवाद का विषयभूत यह साध्य, साधन और साधकरूप भेद कैसा देखा-सुना जाता है? अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्व यद्यपि श्रुति-स्मृति और न्याय से सिद्ध किया गया है, तथापि लौकिक-वैदिक व्यवहार का उससे विरोध दिखाई देता है। लोकव्यवहार में गृह, क्षेत्र, कोश आदि 'साध्य', उसके प्राप्ति का साधन प्रतिग्रह- सेवा, विजय, युद्ध आदि, और उसके साधक—अर्थिवर्ग ब्राह्मणादि दिखाई देते हैं। उसी तरह वैदिक व्यवहार में स्वर्ग आदि—साध्य, उसका साधन—याग आदि, और उसके साधक—इच्छुक जन होते हैं। इस प्रकार ऐहलौकिक और पारलौकिक निर्दिष्ट त्रिक सुनाई पड़ते हैं ३९ ॥

आचार्यो ब्रूयात्—अविद्याकृतमेतद्यदिदं दृश्यते, श्रूयते वा, साध्यं साधनं साधकश्चेति। परमार्थतस्त्वेक एवात्मा अविद्यादृष्टेरनेकवदवभासते*—तिमिरदृष्ट्याऽनेकचन्द्रवत्। "यत्र वा अन्यदिव स्यात्[8]", "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति[9]", "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति[10]", "अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्...अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्[11]" इति, "वाचारम्भणं विकारो

---

१. (आपस्तंबीय अध्यात्म पटल—४)
२. (मनु. १२।११९)
३. (भ. गी. ५।१३)
४. (भ. गी. १३।२७)
५. (भ. गी. ५।१८)
६. (भ. गी. १८।२०)
७. (भ. गी. ७।१९)
८. (बृ. उ. ४।३।३१)
९. (बृ. उ. २।४।१४, ४।५।१५)
१०. (बृ. उ. ४।४।१९, कठ. उ. ४।१०)
११. (छां. उ. ७।२४।१)
* दाभासते०—पाठान्तरम्।

नामधेयम्[1]", "अनृतम्[2]", "अन्योऽसावन्योऽहम्[3]" इति भेददर्शननिन्दोपपत्तेरविद्याकृतं द्वैतम्, "एकमेवाद्वितीयम्[4]", "यत्रत्वस्य[5]", "को मोहः कः शोकः[6]" इत्याद्येकत्वविधिश्रुतिभ्यश्चेति ॥४०॥

हृदयस्पर्शिनी

आचार्य इति—तब आचार्य को यह कहना चाहिए—'यह जो कुछ देखा या सुना जाता है, वह वस्तुतः अविद्याकृत है, वास्तव में एक ही आत्मा है। वह एक ही आत्मा, अविद्यामयी दृष्टिवाले लोगों को अनेक-सा प्रतीत होता है। जैसे—तिमिर रोग से पीड़ित मनुष्य को अनेक चन्द्र प्रतीत होते हैं। "जहाँ अन्य-सा होता है", "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है", "और जहाँ कुछ अन्य देखता है, अन्य सुनता है अथवा अन्य जानता है, वह अल्प है, और जो अल्प है वह मरणधर्मा है", "वाणी से आरंभ होनेवाला विकार नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है", वह अन्य है और मैं अन्य हूँ (जो ऐसा जानता है वह नहीं जानता)" इत्यादि भेद-दृष्टि की निन्दा उपपन्न होने के कारण भी 'द्वैत' अविद्याकृत ही है। तथा "एक ही अद्वितीय", "जहाँ इसे (सब कुछ आत्मा ही हो गया)", ,'वहाँ क्या मोह और क्या शोक" इत्यादि एकत्व का विधान करनेवाली श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार तो अविद्या का विषय अर्थात् अविद्याजन्य है, इसलिए पारमार्थिक ब्रह्मात्मैक्य के मानने में कोई विरोध नहीं ॥ ४० ॥

यद्येवं, भगवन्, किमर्थं श्रुत्या साध्यसाधनादिभेद उच्यते, उत्पत्तिः प्रलयश्चेति ? ॥४१॥

हृदयस्पर्शिनी

यद्येवमिति—शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! यदि ऐसा ही बात है तो साध्य-साधन आदि भेद का तथा उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन श्रुति क्यों करती है ? उक्त प्रश्न का अभिप्राय यह है कि यदि साध्य-साधनभेद, अविद्या का विषय है, तो समस्त कर्मकाण्ड मिथ्यार्थगोचर होने के कारण उसे अप्रमाण कहना होगा। द्वैत को मिथ्या मानने पर केवल कर्मकाण्ड ही अप्रमाण नहीं कहलायेगा, अपितु ज्ञानकाण्ड में भी सृष्टि-प्रलयादि के वाक्य निर्विषय हो जायेंगे, उस कारण ज्ञानकाण्ड को भी अप्रमाण कहना पड़ेगा ॥ ४१ ॥

अत्रोच्यते—अविद्यावत उपात्तशरीरादिभेदस्येष्टानिष्टयोगिनमात्मानं मन्यमानस्य साधनैरेवेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविवेकमजानत इष्टप्राप्तिं चानिष्टपरिहारं चेच्छतः शनैस्तद्विषयमज्ञानं *निवर्तयत् शास्त्रम्, न साध्यसाधनादिभेदं विधत्ते अनिष्टरूपः संसारो हि स इति। तद्भेददृष्टिमेवाविद्यां संसारमूलमुन्मूलयति उत्पत्तिप्रलयादि एकत्वोपपत्तिप्रदर्शनेन ॥४२॥

हृदयस्पर्शिनी

अत्रेति—वेदान्तवाक्य से उत्पन्न ब्रह्मात्म विज्ञान होने के पूर्व कर्मकाण्ड के अप्रामाण्य की शंका कर रहे हो, या ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान के पश्चात् कर्मकाण्ड के अप्रामाण्य की शंका कर रहे हो ? प्रथम पक्ष में—आचार्य कहते हैं कि 'अप्राप्ते शास्त्रम् अर्थवत्' इस न्याय से, कर्तृ-साधन-फलभेदस्वरूप का ज्ञान तो शास्त्रज्ञान से रहित लोगों को भी रहता है, किन्तु उसमें वेद (श्रुति) का तात्पर्य नहीं होता, इसलिये यथाप्रसिद्ध भेद को लेकर ही पुरुष के लिये अविज्ञात पुरुषार्थसाधन का बोध करानेवाले शास्त्र के प्रति अप्रामाण्य की आशंका नहीं की जा सकती—इसी

---

१. (छां. उ. ६।१।४-६, ६।४।१-४)
२. (छां. उ. ७।२।१, ७।७।१, तै. उ. २।६)
३. (बृ. उ. १।४।१०)
४. (छां. उ. ६।२।१-२)
५. (बृ. उ. ४।५।१५)
६. (ई. उ. ७)
* हिवर्तयितुम—पाठान्तरम्।

अभिप्राय को आचार्य बता रहे हैं। साधनों (उपायों) से ही इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार की इच्छा रखनेवाले किन्तु उनके उपाय को न जानने वाले पुरुष का जो अज्ञान है, उसे शनैः शनैः दूर करने के लिये ही 'शास्त्र' है। वह साध्य-साधनादि भेद का विधान नहीं करता, क्योंकि वह तो अनिष्टरूप संसार ही है। अतः संसार के उत्पत्ति-प्रलयादि के द्वारा एकत्व की उपपत्ति प्रदर्शित कर वह उस भेददृष्टिरूप अविद्या (संसार) का ही उच्छेद करता है ॥ ४२ ॥

अविद्यायामुन्मूलितायां श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः अनन्तरोऽबाह्यः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवत्प्रज्ञानघन एवैकरस आत्मा आकाशवत्परिपूर्ण *इत्येवैका प्रज्ञा प्रतिष्ठिता परमार्थदर्शिनो भवति, न साध्यसाधनोत्पत्तिप्रलयादिभेदेनाशुद्धिगन्धोऽप्युपपद्यते ॥४३॥

हृदयस्पर्शिनी

अविद्यायामिति—इस रीति से श्रुति, स्मृति और युक्ति से अविद्या का समूल उन्मूलन (उच्छेद) हो जाने पर उस परमार्थदर्शी मुमुक्षु की एकनिष्ठ बुद्धि 'अन्तर-बाह्य शून्य है', 'बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है', 'सैन्धवघन के तुल्य है', 'आत्मा एक और प्रज्ञानघन ही है', 'आत्मा आकाश के समान परिपूर्ण है' इस, लक्ष्यपर ही स्थिर हो जाती है। फिर उसमें साध्य-साधन और उत्पत्ति-प्रलयादि भेद से अशुद्धि का गन्धमात्र भी होना असंभव है ॥ ४३ ॥

तच्चैतत्परमार्थदर्शनं प्रतिपत्तुमिच्छता वर्णाश्रमाद्यभिमानकृतपाङ्क्तरूपपुत्रवित्तलोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं कर्तव्यं, सम्यक्प्रत्ययविरोधात्तदभिमानस्य। भेददर्शनप्रतिषेधार्थोपपत्तिश्चोपपद्यते। न ह्येकस्मिन्नात्मन्यसंसारित्वबुद्धौ शास्त्रन्यायोत्पादितायां तद्विपरीता बुद्धिर्भवति। न ह्यग्नौ शीतत्वबुद्धिः, शरीरे वाऽजरामरणबुद्धिः। तस्मादविद्याकार्यत्वात् सर्वकर्मणां तत्साधनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमार्थदर्शननिष्ठेन त्यागः कर्तव्यः ॥४४॥

हृदयस्पर्शिनी

तच्चैतदिति—इस परमार्थ दर्शन की प्राप्ति के अभिलाषी व्यक्ति को वर्णाश्रमादि के अभिमान से होने वाली पाङ्क्त रूप (पांच प्रकार की) पुत्र, वित्त और लोकव्यवहार संबंधी एषणाओं से ऊपर उठना ही चाहिये। क्योंकि इनका अभिमान, सम्यक् ज्ञान का विरोधी है। इसलिये भेददर्शन का प्रतिषेधरूप जो अर्थ है, उसकी भी उपपत्ति उचित ही है। एक ही आत्मा में शास्त्र और युक्ति के द्वारा असंसारित्वबुद्धि उत्पन्न कर दिये जाने पर, पुनः उसमें उससे विपरीत बुद्धि नहीं हो सकती। जैसे अग्नि में शीतत्वबुद्धि अथवा शरीर में अजरामरबुद्धि कभी नहीं हो सकती। अतः सम्पूर्ण कर्म और उनके यज्ञोपवीतादि साधन अविद्या के कार्य होने से उनका त्याग ही करना उचित है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में पङ्क्तोपासना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि पहले एकमात्र आत्मा ही था। उसने इच्छा की कि मेरे पत्नी हो, फिर उसने पुत्र की कामना की, पश्चात् धन की इच्छा की और फिर कर्मानुष्ठान की कामना की। पुरुष जब तक इन विषयों को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह यही समझता है कि अभी मुझे कुछ प्राप्त करना है, अभी मैं पूर्ण नहीं हूँ।

'पाङ्क्त' शब्द का अर्थ पाँच का समूह है। अतः यजमान, पत्नी, पुत्र, मानुष वित्त, और दैववित्त इन पांच से निष्पन्न होनेवाले यज्ञादि को 'पाङ्क्त' कहते हैं। इहलोक पुत्र द्वारा प्राप्त होता है, पितृलोक मानुष वित्त से प्राप्त होता है और देवलोक दैववित्त से जीता जाता है। पाङ्क्त रूप से उपासना करने के लिये श्रुति ने मन को आत्मा

* इत्यत्रैवैका०—पाठान्तरम्।

(जिसने कि आरंभ में इच्छा की थी) वाणी को स्त्री, प्राण को पुत्र, चक्षु को मानुषवित्त (गौ आदि) और श्रोत्र को दैव वित्त (विज्ञान) बतलाया है।

'एषणा' तीन प्रकार की होती है। (१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा, (३) लोकैषणा। इनमें मानुष और दैव भेद से वित्त दो प्रकार का है और उनसे प्राप्त होनेवाले लोक-इहलोक, पितृलोक, और देवलोक भेद से तीन प्रकार के हैं। मुमुक्षु को इन सभी का त्याग करना चाहिये। ये सब यजमानादि के द्वारा साध्य यज्ञादि कर्म से प्राप्त होते हैं। इसलिये इन्हें 'पाङ्क्त' कहा है ॥ ४४ ॥

॥ इति प्रथमं शिष्यानुशासनप्रकरणं समाप्तम् ॥

@ निमित्तपरिहारे नैमित्तिकस्याऽभावः । इति न्यायात् ॥

कूटस्थाऽद्वयात्मबोधप्रकरणम्

सुखमासीनं ब्राह्मणं ब्रह्मनिष्ठं कश्चिद्ब्रह्मचारी *जन्ममरणलक्षणात् संसारान्निर्विण्णो मुमुक्षुः विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ—भगवन्, कथमहं संसारान्मोक्षिष्ये† शरीरेन्द्रियविषयवेदनावान् जागरिते दुःखमनुभवामि, तथा स्वप्नेऽनुभवामि, पुनः पुनः सुषुप्तिप्रतिपत्त्या विश्रम्य विश्रम्य जाग्रत्स्वप्नयोर्दुःखमनुभवामि—किमयमेव मम स्वभावः ? किंवाऽन्यस्वभावस्य सतो नैमित्तिकः ? इति । यदि अयमेव स्वभावः, न मे मोक्षाशा; स्वभावस्यावर्जनीयत्वात् । अथ नैमित्तिकः,@ निमित्तपरिहारे स्यान्मोक्षोपपत्तिः ॥४५॥ (1)

हृदयस्पर्शिनी

सुखमासीनमिति—पूर्व प्रकरण में गुरु ने शिष्य को बताया कि तू इन स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों के अभिमान का त्याग करके अपने को ब्रह्मरूप समझ । ब्रह्मस्वरूप के विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अविद्याकृत है । अब अब्रह्मस्वरूप की अविद्यात्मकता और आत्मा कूटस्थ होने के कारण उसकी स्वतःसिद्ध ब्रह्मरूपता का उपपादन करने के लिये प्रकरणान्तर का आरंभ करनेवाले ग्रन्थकार संन्यास ग्रहण किये हुए मुमुक्षु के लिये विधि के द्वारा वेदान्तवाक्यश्रवण की सूचना देते हुए शिष्य के प्रश्न को उपस्थित कर रहे हैं । एक समय सुखपूर्वक बैठे हुए एक ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण के समीप जन्म-मरणरूप संसार से विरक्त हुआ कोई मोक्षेच्छु ब्रह्मचारी (ब्रह्मविचारतत्पर) यथाविधि प्राप्त होकर पूछने लगा, कि हे भगवन् ! शरीर, इन्द्रिय और विषय से उत्पन्न होनेवाली वेदना से ग्रस्त (पीड़ित) हुआ मैं, इस संसार से किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा ? ग्रन्थकार ने 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट है कि आपातकाल को छोड़कर अन्य समय में ब्राह्मणेतर वर्ण (अब्राह्मण) से उपदेश ग्रहण न करे । गुरु के साथ 'ब्रह्मनिष्ठ' विशेषण को जोड़कर यह सूचित किया है कि उसी गुरु में शिष्य प्रतिबोधन का सामर्थ्य होता है, अन्य किसी में वह सामर्थ्य नहीं होता । 'कश्चित्' शब्द से पूर्वोक्त गुणगणों से युक्त, सुपरीक्षित शिष्य बताया गया है । 'कश्चित्' कहकर उपदेश ग्रहण के समय उसकी एकाकिता को सूचित किया है । 'ब्रह्मचारी' उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्-तत्त्वरूप ब्रह्म में विचरण करता रहता है—'ब्रह्मणि प्रत्यक्तत्त्वे चरितुं विचरितुं शीलमस्यास्तीति ब्रह्मचारी ।' 'ब्रह्मचारी' कहकर 'नित्याऽनित्यवस्तुविवेक' को प्रदर्शित किया है । मैं सुषुप्ति के प्राप्त होते रहने से बीच-बीच में विश्राम लेता हुआ जाग्रत् में और स्वप्नावस्था में पुनः-पुनः दुःख का अनुभव करता रहता हूँ । क्या यही मेरा स्वभाव है ? अथवा मेरा कोई अन्य स्वभाव होता हुआ भी मुझे वह निमित्तवश प्राप्त हुआ है ? यदि वह मेरा स्वभाव ही है, तब तो उससे मेरे छुटकारे की कोई आशा नहीं है । क्योंकि स्वभाव की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वभाव की निवृत्ति से तो वस्तु की ही निवृत्ति हो जाती है । जैसे उष्णता (अग्नि का स्वभाव) की निवृत्ति होने से अग्नि की भी निवृत्ति हो जाती है । कहते भी हैं कि 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' । यदि केवल निमित्तवश (नैमित्तिक) वह प्राप्त हुआ है, तो उस निमित्त की निवृत्ति होने पर उस दुःख से छुटकारा मिलना संभव हो सकता है । 'भगवान्' से लेकर 'नैमित्तिक' तक शिष्य ने प्रश्न किया है । उसमें 'संसारमोक्षविषयक' एक प्रश्न है, और दूसरा प्रश्न—दुःखानुभव के आत्मस्वभावत्व विषयक है । प्रथम प्रश्न के करने में निमित्त है—'शरीर-इन्द्रिय विषयनिमित्त वेदनानुभव को ही संसार कहते हैं, तद्वान् होता हुआ मैं इस संसार से कैसे मोक्ष पा सकूँगा ?' और द्वितीय प्रश्न के करने में निमित्त है—'जागरित में दुःख का अनुभव करता हूँ । पुनः पुनः सुषुप्ति की प्राप्ति से बीच-बीच में विश्राम पाकर जाग्रत्-स्वप्न में दुःख का अनुभव होने से और सुषुप्ति में तत्तद् दुःखों का आत्मा में अनुभव न होने से शिष्य के मन में संशय उत्पन्न हुआ है । गुरु के समीप मुमुक्षु शिष्य की उपसत्ति यथाविधि बताई गई है । क्योंकि मुण्डक श्रुति कह रही है—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्[1] ॥ ४५ ॥

१. (मुं. उ. १।२।१२)

* जन्म-जरा-मरण—पाठान्तरम् । † रान्मोक्ष्ये—पाठान्तरम् ।

तं गुरुरुवाच—शृणु वत्स; न तवायं स्वभावः किंतु नैमित्तिकः ॥४६॥

हृदयस्पर्शिनी

तमिति—दुःखानुभव करना आत्मा का स्वभाव नहीं है—इस अस्वभाव पक्ष का अवलम्बन करके गुरु उत्तर देते हैं कि हे शिष्य ! तू भय मत कर। सुनो, यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, किन्तु वह तो तुम्हें निमित्तवश प्राप्त हुआ है ॥ ४६ ॥

इत्युक्तः शिष्य उवाच—किं निमित्तम् ? किं वा तस्य निवर्तकम् ? को वा मम स्वभावः ? यस्मिन्निमित्ते निवर्तिते नैमित्तिकाभावः रोगनिमित्तनिवृत्ताविव रोगी स्वभावं *प्रतिपद्येयेति ॥४७॥

हृदयस्पर्शिनी

इत्युक्त इति—गुरु के द्वारा आश्वासन प्राप्त किया हुआ शिष्य बोला कि निमित्त की निवृत्ति हुए बिना नैमित्तिक की आत्यन्तिक निवृत्ति होना संभव नहीं है, क्योंकि जब तक उसके स्वरूप का ज्ञान न हो, तब तक उसका परिहार नहीं हो सकता। इस कारण शिष्य पूछ रहा है कि वह निमित्त क्या है ? और उसका निवर्तक कौन है ? और मेरा स्वभाव क्या है ? तथा जिस निमित्त के निवृत्त होने पर इस नैमित्तिक दुःख का अभाव (निवृत्ति) हो जायगा। जैसे रोगी, रोग के निमित्त की निवृत्ति होने पर स्वास्थ्यलाभ करता है, वैसे ही दुःख के निमित्त की निवृत्ति होने पर जिस स्वभाव को मैं प्राप्त होऊँगा, वह मेरा स्वभाव क्या है ? ॥ ४७ ॥

गुरुरुवाच—अविद्या निमित्तं; विद्या †तस्या निवर्तिका। अविद्यायां निवृत्तायां तन्निमित्ताभावान्मोक्ष्यसे जन्ममरणलक्षणात्संसारात्, स्वप्नजाग्रद्दुःखं च नानुभविष्यसीति ॥४८॥

हृदयस्पर्शिनी

गुरुरिति—शिष्य के द्वारा पूछे गये प्रश्न के अनुसार उसके स्वरूप को बताने के लिये उत्तर दे रहे हैं। गुरु बोले—दुःखप्राप्ति के होने में निमित्त अविद्या है। उसकी निवृत्ति करानेवाली विद्या है। अविद्या के निवृत्त होने पर तन्निमित्तक (उसके कारण होनेवाले) संसार का अभाव हो जाने से तू जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त हो जायेगा। तब स्वप्न और जाग्रत् अवस्था में उत्पन्न होनेवाले दुःखों का अनुभव नहीं कर पायेगा। अर्थात् स्वप्न-जागरित दुःख का आत्मधर्मत्वेन तुझे अनुभव नहीं होगा ॥ ४८ ॥

शिष्य उवाच—का ‡सा अविद्या ? किंविषया वा ? विद्या च काऽविद्यानिवर्त्तिका यया स्वभावं प्रतिपद्येय ? इति ॥४९॥

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य इति—स्वरूपतः अवगत हुए पदार्थों के सम्बन्ध में अधिक विशेषज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से शिष्य पूछ रहा है। शिष्य बोला—वह अविद्या क्या है ? और उसका विषय क्या है ? अर्थात् वह किसको विषय करती है। तथा वह विद्या क्या है ? जिसके द्वारा मैं अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकूँगा। अर्थात् जाग्रदादि अवस्थाओं में भी दुःखाद्यनुभवहीन ऐसे आत्मतत्त्व को प्राप्त कर पाऊँगा ॥ ४९ ॥

गुरुरुवाच—त्वं परमात्मानं सन्तमसंसारिणं संसार्यहमस्मीति विपरीतं प्रतिपद्यसे, अकर्तारं सन्तं कर्तेति, अभोक्तारं सन्तं भोक्तेति, विद्यमानं चाविद्यमानमिति—इयमविद्या ॥५०॥

हृदयस्पर्शिनी

गुरुरिति—तुम्हारे स्वरूप की आवरणविपर्ययाध्यासलक्षण जो अविद्या है, वह तुम्हारी स्वरूपाश्रयविषया है। अर्थात् कार्यद्वारा अविद्या को दिखाते हुए आत्मा ही उस अविद्या का विषय है। विद्या ही आत्मस्वभाव को बताती हुई उसकी निवर्तिका होती है। गुरु बोले—तुम असंसारी परमात्मा होते हुए अपने को 'मैं संसारी हूँ' ऐसा

* प्रतिपद्यत, प्रतिपद्येयम् इति—पाठौ। † तस्य—पाठान्तरम्। ‡ असावविद्या—पाठान्तरम्।

(७) आत्मनो तलमलिनत्वादि यथा। आकाशे रूपाद्यभावात् अवयवाभावाच्च।

विपरीत समझ रहे हो। तथा अकर्ता होते हुए कर्ता, अभोक्ता होते हुए भोक्ता और विद्यमान होते हुए अविद्यमान मानते हो—यही अविद्या है॥ ५०॥

शिष्य उवाच—यद्यप्यहं विद्यमानः, तथाऽपि न परमात्मा, कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो मम स्वभावः, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैरनुभूयमानत्वात्—नाविद्यानिमित्तः, अविद्यायाः स्वात्मविषयत्वानुपपत्तेः। अविद्या नामान्यस्मिन्नन्यधर्माध्यारोपणा—यथा प्रसिद्धं रजतं प्रसिद्धायां शुक्तिकायाम्, यथा प्रसिद्धं पुरुषं स्थाणावध्यारोपयति, प्रसिद्धं वा स्थाणुं पुरुषे, नाप्रसिद्धं प्रसिद्धे, प्रसिद्धं वा अप्रसिद्धे। न चात्मन्यनात्मानमध्यारोपयति, आत्मनोऽप्रसिद्धत्वात्; तथाऽऽत्मानमनात्मनि आत्मनोऽप्रसिद्धत्वादेव॥५१॥ (८

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य इति—शिष्य ने आत्मा की नित्यता तो स्वीकार कर ली, किन्तु उसके असंसारित्व पर पुनः आक्षेप किया है। अर्थात् अविद्या, मिथ्याज्ञान की कारणभूत है, यह कह चुके हैं। किन्तु शिष्य को यह शंका हो रही है कि मिथ्याज्ञान के अतिरिक्त अविद्या नाम की कोई वस्तु नहीं है। किन्तु संसार के उपादानकारण के रूप में मिथ्याज्ञानातिरिक्त अविद्या की सिद्धि हो जाती है। शिष्य बोला—यद्यपि मैं विद्यमान हूँ, तथापि परमात्मा तो नहीं हूँ। कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार मेरा स्वभाव है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ऐसा ही अनुभव होता है। अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' यह प्रतीति तो प्रत्यक्ष ही है। उसके अतिरिक्त धर्म होने के कारण 'कर्तृत्वादि' तो साश्रय ही होने चाहिये, जैसे रूपादि। उनका आश्रय पाषाणादि अचेतन पदार्थ नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें सुख-दुःखादि योग देखने में नहीं आता। अतः वे चेतन के ही आश्रित होने चाहिये। तथाहि—'कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिः साश्रयः धर्मत्वात्, रूपादिवत्, इति साश्रयत्वे सिद्धे न अचेतने सुखदुःखम्, पाषाणादौ तददर्शनात्। परिशेषात् चेतनाश्रयत्वसिद्धिः' यह अनुमान से भी सिद्ध हो रहा है। उसी तरह "गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता[१]", "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः[२]" इन श्वेताश्वतर और कठ इत्यादि आगमप्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है। उपर्युक्त अनुभव, अविद्या के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या अपने आत्मा को ही विषय नहीं कर सकती। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्मों का आरोप करना ही अविद्या है। जिस प्रकार प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध रजत का, प्रसिद्ध शुक्ति में, तथा प्रसिद्ध पुरुष का प्रसिद्ध स्थाणु में आरोप किया जाता है। प्रसिद्ध वस्तु में अप्रसिद्ध का तथा अप्रसिद्ध में प्रसिद्ध का आरोप नहीं होता। 'आत्मा' तो लोकप्रसिद्ध नहीं है। इसलिये उसमें कोई अनात्मा का आरोप नहीं कर सकता और न अनात्मा में ही आत्मा का आरोप हो सकता है, क्योंकि आत्मा अप्रसिद्ध है। यदि आत्मा प्रसिद्ध हो तो प्रकाशस्वरूप होने के कारण उसमें अनात्मधर्मों की प्रतीति नहीं हो सकती, और यदि अप्रसिद्ध हो तो उसका स्फुरण ही न होने के कारण उसमें अन्य धर्मों का आरोप कैसे किया जा सकता है? इस प्रकार आत्मा में किसी तरह भी अध्यास का होना संभव नहीं है, अतः कर्तृत्व-भोक्तृत्व तो आत्मा का स्वभाव ही है॥ ५१॥

तं गुरुरुवाच—न, व्यभिचारात्*। न हि, वत्स, प्रसिद्धं प्रसिद्ध एवाध्यारोपयतीति नियन्तुं शक्यम्। आत्मन्यध्यारोपणदर्शनात्। गौरोऽहं, कृष्णोऽहमिति देहधर्मस्याहंप्रत्ययविषये आत्मनि, अहंप्रत्ययविषयस्य च आत्मनः देहेऽयमहमस्मीति॥५२॥ (८)

हृदयस्पर्शिनी

तमिति—अधिष्ठान और अध्यस्यमान दोनों पदार्थों की पृथक् प्रसिद्धि के बिना अध्यास का होना अनुपपन्न है, या केवल प्रसिद्धि के बिना? ऐसा विकल्प करने पर अन्तिम पक्ष तो उचित नहीं है, क्योंकि प्रसिद्धिमात्र को तो स्वीकार किया गया है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर आद्यपक्ष का निराकरण कर रहे हैं। शिष्य के किये हुए प्रश्न का उत्तर गुरु दे रहे हैं। उस शिष्य से गुरु ने कहा—तुमने जो ऊपर नियम का प्रदर्शन किया वह उचित

१. (श्वे. उ. ५।७)
२. (कठ उ. ५।८)
* याभ्रातम—पाठान्तरम्।

नहीं है, वैसा नियम नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें व्यभिचार दिखाई देता है। हे वत्स ! प्रसिद्ध वस्तु का प्रसिद्ध वस्तु में ही अध्यारोप करने का कोई नियम नहीं है। क्योंकि आत्मा में भी अध्यारोप होता देखा जाता है। 'मैं गौर हूँ, मैं कृष्ण (काला) हूँ' इस प्रकार देह (शरीर) के धर्मों का 'अहम्' प्रत्यय के विषयभूत 'आत्मा' में और 'यह मैं हूँ' इस प्रकार 'अहम्' प्रत्यय के विषयभूत आत्मा का देह में अध्यास होता देखा जाता है। देह और आत्मा की पृथक्-पृथक् प्रसिद्धि नहीं है। अतः वहाँ पर उक्त नियम का व्यभिचार है ॥ ५२ ॥

शिष्य आह—प्रसिद्ध एव तर्ह्यात्माऽहंप्रत्ययविषयतया, देहश्चायमिति। तत्रैवं सति, प्रसिद्धयोरेव देहात्मनोरितरेतराध्यारोपणा* स्थाणुपुरुषयोः शुक्तिकारजतयोरिव। तत्र कं विशेषमाश्रित्य भगवतोक्तं प्रसिद्धयोरितरेतराध्यारोपणेति नियन्तुं न शक्यत इति? ॥५३॥

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य इति—प्रसिद्ध स्थाणु और पुरुष का जैसे परस्पर अध्यास होता है, वैसे ही इन्द्रियविषयत्वेन और अहं-प्रत्ययविषयत्वेन प्रसिद्ध देह और आत्मा का भी परस्पराध्यास होता है। अतएव मनुष्य गौर-श्यामादि देह-धर्मों को आत्मा में और आत्मा के चेतनत्वादि धर्म को देह में समझता है। ऐसी स्थिति में भगवान् गुरुदेव ने किस विशेषता को लेकर यह कहा था कि 'प्रसिद्ध पदार्थों का ही एक-दूसरे में अध्यास होता है'—इस प्रकार का नियम नहीं किया जा सकता ॥ ५३ ॥

गुरुराह—शृणु, सत्यं प्रसिद्धौ देहात्मानौ। न तु स्थाणुपुरुषाविव विविक्तप्रत्ययविषयतया सर्वलोकप्रसिद्धौ। कथं तर्हि? नित्यमेव निरन्तराविविक्तप्रत्ययविषयतया प्रसिद्धौ। न हि—अयं देहः, अयमात्मा—इति विविक्ताभ्यां प्रत्ययाभ्यां देहात्मानौ गृह्णाति यतः कश्चित्। अत एव हि मोमुह्यते लोक आत्माऽनात्मविषये—एवमात्मा, नैवमात्मेति इमं विशेषमाश्रित्य अवोचं नैवं नियन्तुं शक्यमिति ॥५४॥

हृदयस्पर्शिनी

गुरुरिति—इसपर गुरु कहते हैं—देह और आत्मा दोनों प्रसिद्ध हैं, यह तुम्हारा कहना सत्य है। किन्तु वे सर्वलोकप्रसिद्ध रहने पर भी पुरुष के तुल्य अलग-अलग ज्ञान के विषयरूप से प्रसिद्ध नहीं हैं। तो उनकी प्रसिद्धि किस प्रकार से है? देह और आत्मा तो हमेशा ही व्यवधानशून्य अपृथक् प्रतीति के विषयरूप से जाने जाते हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'यह देह है' और 'यह आत्मा है' इस प्रकार अलग-अलग प्रतीतियों के द्वारा देह और आत्मा का ग्रहण नहीं करता। अतएव आत्मा और अनात्मा के विषय में 'आत्मा इस प्रकार का है, इस प्रकार का नहीं है' यह मोह होता है। इसी विशेषता को दृष्टि में रखकर मैंने कहा था कि ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है। अतः मैंने तुम्हारे अभीप्सित नियम का जो व्यभिचार बताया, वह उचित ही है ॥ ५४ ॥

नन्वविद्याध्यारोपितं यत्र यत्, तदसत् तत्र दृष्टम्—यथा रजतं शुक्तिकायाम्, स्थाणौ पुरुषः, रज्ज्वां सर्पः, आकाशे तलमलिनत्वमित्यादि, तथा देहात्मनोरपि नित्यमेव निरन्तराऽविविक्तप्रत्यये†नेतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात्—तदितरेतरयोर्नित्यमेवासत्त्वं स्यात्—यथा शुक्तिकादिष्वविद्याध्यारोपितानां रजतादीनां नित्यमेवात्यन्तासत्त्वम्, तद्विपरीतानां च विपरीतेषु, तद्वद्देहात्मनोरविद्ययैवेतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात्; तत्रैवं सति देहात्मनोरसत्त्वं प्रसज्येत—तच्चानिष्टम् वैनाशिकपक्षत्वात्। अथ तद्विपर्ययेण देह आत्मन्यविद्ययाध्यारोपितः, देहस्यात्मनि सति असत्त्वं प्रसज्येत, तच्चानिष्टम्, प्रत्यक्षादिविरोधात्। तस्माद्देहात्मानौ नाविद्ययेतरेतरस्मिन्नध्यारोपितौ। कथं तर्हि? वंशस्तंभवन्नित्यसंयुक्तौ ॥५५॥

---

* णात्—पाठान्तरम्। † त्ययतयेतरे—पाठान्तरम्।

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—इस पर शिष्य अपनी भ्रान्त धारणा के वशीभूत होने से मीमांसकादि के मत से पुनः शंका करता है कि जैसे वंश-स्तंभों (बाँस और खंभों) के परस्पर आधाराधेयभावात्मक संयोगविशेष से घर बनता है। और वह, लोगों के 'गृहम्' = यह घर है, इस प्रकार एकशब्दप्रत्यय का विषय होता है, उसी तरह देह और आत्मा के संयोग-विशेष से 'अहं मनुष्यः' = मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार सामानाधिकरण्य व्यवहार होता है, अतः वही आत्मा है। यदि आत्मा और अनात्मा दोनों ही अध्यास के विषय होते हों तो आत्मा की सत्ता ही उपपन्न नहीं हो सकेगी, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ तो मिथ्या होता है। जो वस्तु जहाँ अविद्या से अध्यारोपित रहती है, उसे वहाँ असत् देखा गया है। जैसे शुक्ति (सीपी) आदि में रजत (चाँदी), स्थाणु में पुरुष, रज्जु (रस्सी) में साँप, आकाश में तलमालिन्य (नीलिमा, गंधर्वनगरादि) इस प्रकार व्याप्ति बताकर यदि देह और आत्मा का भी सर्वदा ही निरन्तर (व्यवधानशून्य) अभिन्न-प्रतीतिविषयत्वरूप एक दूसरे में अध्यारोप किया गया हो तो वह हमेशा ही उन दोनों की पारस्परिक असत्ता का ही हेतु होगा, इस प्रकार पक्षधर्मता को बता रहा है। अर्थात् व्याप्ति और पक्षधर्मता के सिद्ध होनेपर अनात्मा में आत्मा, और आत्मा में अनात्मा नित्य ही असत् कहा जायगा, क्योंकि वे नित्य ही इतरेतरत्र अध्यस्त हैं। जिस प्रकार शुक्ति आदि में अविद्या से अध्यारोपित रजतादि की सर्वदा ही आत्यन्तिक असत्ता है, तथा इसके विपरीत शुक्तिकादि की तद्विपरीत रजतादि में असत्ता है। इस रीति से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण—इन तीन अवयवों को बताकर उपनय और निगमन को बता रहे हैं—उसी प्रकार यदि देह और आत्मा का भी अविद्या से ही एक-दूसरे में अध्यास हुआ है तो, उनकी (देह और आत्मा की) असत्ता का ही प्रसंग उपस्थित होता है। इस पर बौद्धमत के अनुसार यदि कोई सिद्ध-साध्यत्व की आशंका करे तो उसके निवारणार्थ ग्रन्थकार कह रहे हैं कि "तच्च अनिष्टम्, वैनाशिकपक्षत्वात्" अर्थात् यह आत्मा की असत्ता का पक्ष, वैनाशिक का (बौद्ध का) होने के कारण हमें इष्ट नहीं है। अतः सिद्धसाध्यत्व की आशंका करना उचित नहीं है। और यदि अन्यतराध्यास अर्थात् देह को ही आत्मा में अविद्या से आरोपित कहें तो आत्मा की सत्ता रहते हुए भी देह की असत्ता का प्रसंग उपस्थित होगा, किन्तु वह भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध होने के कारण अभीष्ट नहीं है। अतः यह मानना होगा कि देह और आत्मा अविद्यावश एक-दूसरे में आरोपित नहीं हैं। तो वे कैसे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर उन्हें बाँस और खंभे के समान नित्य संयुक्त समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

न, अनित्यत्वपरार्थत्वप्रसङ्गात्। संहतत्वात् परार्थत्वमनित्यत्वं च वंशस्तम्भादिवदेव। किंच--यस्तु परैर्देहेन संहतः कल्पित आत्मा, स संहतत्वात्परार्थः। तेनाऽसंहतः परोऽन्यो नित्यः सिद्धस्तावत् ॥५६॥ (12)

हृदयस्पर्शिनी

नेति—परिशेषात् इतरेतराध्यास को सिद्ध करने के लिये सिद्धान्ती उक्त सम्बन्ध का खण्डन कर रहा है। पूर्वपक्षी (शिष्य) का कथन उचित नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर उनके अनित्य और परार्थत्व का प्रसंग उपस्थित होगा। परस्पर संहत (संयुक्त) होने के कारण वंश और स्तंभ के समान ही उनका परार्थत्व और अनित्यत्व मानना होगा। इस प्रकार अनित्यत्व मानने पर संघातवाद की प्राप्ति होगी, अर्थात् अनेक तत्त्वों से मिल कर आत्मा बना है, यह मानना होगा। और परार्थ मानने पर आत्मा को अचेतन स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है, वह परप्रकाश्य भी होती है। किञ्च अन्यमतावलंबी जिस आत्मा को देह से संहत कहते हैं, वह संहत होने के कारण परार्थ हो जाता है। अतः परार्थ (अनित्य) संघातरूप देह से भिन्न जो आत्मा है, वह दूसरा ही है और वह नित्य ही है, यह सिद्ध होता है। उसके अतिरिक्त सब अनित्य है। अनुमान का आकार यह होगा—'विमतो देहः स्वविलक्षणशेषः संहतत्वात् गृहवत्' ॥ ५६ ॥

तस्यासंहतस्य देहे देहमात्रतयाऽध्यारोपितत्वेनासत्त्वाऽनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गो न भवति। ननु तत्र निरात्मको देह इति वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषः स्यात् ॥५७॥ (13)

हृदयस्पर्शिनी

तस्येति—शिष्य कहता है कि संघातात्मक अचेतन से अन्य आत्मा है, यह जो आपने कहा वह ठीक है, किन्तु उसका यदि शरीरादि संहत पदार्थ के साथ कोई संबन्ध न हो तो 'मैं मनुष्य हूँ' यह व्यवहार नहीं बन सकेगा, अतः आत्मा में अध्यस्त देहादि के साथ उस आत्मा का तादात्म्य संबन्ध माना जाय। अर्थात् उस असंहत संघातसाक्षी आत्मा का अपने में अध्यस्त देह में देहरूप से अध्यास होता है। ऐसा मानने पर भी उसके (आत्मा के) असत्त्व, अनित्यत्वादि के दोष की आपत्ति होगी। तब 'अध्यस्त पदार्थ मिथ्या होता है'—इस नियम के अनुसार 'देह, आत्म-शून्य है' इस प्रकार वैनाशिक के 'शून्यवाद' पक्ष की प्राप्ति होगी ॥ ५७ ॥

न। स्वत एवात्मन आकाशस्येवासंहतत्वाभ्युपगमात्। सर्वेणासंहतः स आत्मेति न निरात्मको देहादिः सर्वः स्यात्। यथा चाकाशं सर्वेणासंहतमिति सर्वं न निराकाशं भवति, एवम्। तस्मान्न वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषः स्यात् ॥५८॥ (14)

हृदयस्पर्शिनी

नेति—गुरुदेव कहते हैं कि तुम्हारा कथन उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा का असंहतत्व, आकाश के समान स्वाभाविक माना गया है। यह आत्मा सभी से असंहत है, ऐसा कहने पर देहादि समस्त पदार्थ निरात्मक भी सिद्ध नहीं होते। जैसे आकाश सबसे असंहत है, इसलिये सब वस्तु, आकाशहीन सिद्ध नहीं होती। इसलिये यहाँ वैनाशिक पक्ष की प्राप्ति का दोष उपस्थित नहीं होता। अभिप्राय यह है कि देहादि पदार्थ रूपादिमान् या सावयव होने के कारण यद्यपि घट-पटादि के समान जड़ हैं, तथापि अपने से विलक्षण चेतनरूप प्रतीत होते हैं। अतः तप्त लोहपिण्ड के समान उसका चेतन आत्मा से संश्लेष (संबंध) कहना चाहिये। तथा उस संघातसाक्षी, चिन्मात्रस्वभाव निरवयव आत्मा में आकाश के समान स्वतःपरिच्छेद एवं अशुद्धि आदि दोषों का संभव न होने के कारण देह के संश्लेष से ही देह में उसका प्रतिभास होता है। इस प्रकार एक दूसरे के धर्मों का संसर्ग होने से अनुभव के अनुसार ही उनका एक-दूसरे में अध्यास सिद्ध होता है। उसी कारण देह में चेतनत्व और आत्मा में गौरत्व, श्यामत्व आदि धर्मों की प्रतीति होती है। यहाँ यह भूलना न होगा कि निरधिष्ठान आरोप होता हुआ कभी किसी के नहीं देखा है। आरोप-ज्ञान के होने पर स्फुरण होने वाले दो पदार्थों में प्रतीयमान् वस्तु की प्रतीति अन्य वस्तु के उपराग के बिना स्वतंत्रता से कभी नहीं होती, अर्थात् वह तो स्वरूप से ही आरोपित हुआ करती है। जिस प्रकार आकाश से उपरक्त नीलिमा अथवा मरुभूमि से उपरक्त मृगजल की प्रतीति, आकाश और मरुभूमि के बिना कभी नहीं होती, अतः ये स्वरूप से ही अध्यस्त माने जाते हैं। किन्तु इनके विपरीत जिसका केवल संसर्गवश ही अन्य में आरोप होता है, उसे स्वरूप से आरोपित नहीं समझा जाता। जैसे शुक्ति में 'यह रजत है' ऐसा अध्यास होने पर रजत में शुक्ति के इदमंश का जो स्फुरण होता है, वह स्वरूपतः अध्यस्त नहीं है। उसी प्रकार आत्मा का भी सुषुप्ति आदि में देहादि के बिना ही स्वतः स्फुरण होता है। उस कारण वह स्वरूपतः देह में अध्यस्त नहीं है, क्योंकि देहादि का आत्मसत्ता के बिना स्वतः स्फुरण नहीं होता, इसलिये वे स्वरूपतः अध्यस्त हैं। अतः देहादि का निरात्मकत्व (आत्मशून्यत्व) भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कोई भी अध्यस्त वस्तु बिना अधिष्ठान नहीं हुआ करती। इस कारण बौद्धाभिमत शून्यवाद को युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। देह, चैतन्याभास से व्याप्त होने के कारण, उसमें चिद्धर्म के अध्यारोप के अधिष्ठान का उपचार किया जाता है। अतः परस्पराध्यास पक्ष में कोई दोष नहीं है। स्वतः असंहत के सर्वत्र सर्वदा विद्यमान रहने से संघात (शरीर) को निरात्मक भी नहीं कहा जा सकेगा। और न आत्मा को अनित्य ही कहना पड़ेगा। अतः कोई दोष नहीं है ॥ ५८ ॥

यत्पुनरुक्तम्—देहस्यात्मन्यसत्त्वे प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादिति, तन्न प्रत्यक्षादिभिरात्मनि देहस्य सत्त्वानुपलब्धेः। न ह्यात्मनि—कुण्डे बदरम्, क्षीरे सर्पिः, तिले तैलम्, भित्तौ चित्रमिव च—प्रत्यक्षादिभिर्देह उपलभ्यते। तस्मान्न प्रत्यक्षादिविरोधः ॥५९॥ (15)

हृदयस्पर्शिनी

यत्पुनरुक्तमिति—तुमने कहा है कि देहादि को आत्मा में अध्यस्त मानने पर उसकी असत्ता (अत्यन्ताभाव) होगी तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा में देह की सत्ता नहीं देखी गई है। अर्थात् चक्षु से अथवा स्पर्श से देह का ग्रहण होने पर भी उनसे आत्मा का ग्रहण किसी को नहीं होता है। उस आत्मा का उनके द्वारा ग्रहण न हो सकने से 'तत्र इदम्' उसमें यह है, इस प्रकार ग्रहण अनुपपन्न है। "पराञ्चि खानि[1]"—इस श्रुति के अनुसार आत्मा, इन्द्रिय का विषय नहीं है, अतः उसमें देह के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं है। वह सम्बन्ध, प्रत्यक्ष का ही जब विषय नहीं बन पाता, तब वह अनुमानादि प्रमाणों का भी विषय नहीं बन पाता, यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अनुमानादि प्रमाणों की प्रवृत्ति प्रत्यक्षमूलक ही हुआ करती है। गमले में ही बेर का पौधा, दूध में ही घी, तिल में ही तैल, और भित्ति में ही चित्र इत्यादि व्यतिरेक दृष्टान्तों को देकर उसकी (देह की) आत्मा में अनुपलब्धि को बताया गया है। पहला उदाहरण प्रत्यक्ष प्रमाण का है, दूसरा उदाहरण अनुमान का है, तीसरा उदाहरण अर्थापत्ति का है। गमले में बेरी के तुल्य देह और आत्मा एक देश (एक जगह) में संलग्न हुए नहीं उपलब्ध होते हैं। तथापि भित्ति और चित्र की भेदेन उपलब्धि न होने पर भी जैसे उनमें आधाराधेयभाव रहता है, वैसा ही आत्मा और देह में क्यों न मान लिया जाय, यह शंका हो सकती है। तथापि चित्रांकित भित्ति की उपलब्धि के समान देहाकारांकित आत्मा की उपलब्धि नहीं हुआ करती। यदि वैसी उपलब्धि हो तो 'मयि मनुष्यो देहोऽयमस्ति' मुझमें मनुष्यरूप यह देह है—ऐसा व्यवहार होता, 'मनुष्योऽहम्, स्थूलोऽहम्'—मैं मनुष्य हूँ, मैं स्थूल हूँ—यह व्यवहार न होता, किन्तु व्यवहार तो ऐसा ही होता है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा में देह नहीं देखा गया है। इस कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी कोई विरोध नहीं है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा में देह की सत्ता नहीं है ॥ ५९ ॥

कथं तर्हि प्रत्यक्षाद्यप्रसिद्धात्मनि देहाध्यारोपणा*, देहे चात्मारोपणा* ? ॥६०॥ (16)

हृदयस्पर्शिनी

कथमिति—इसपर पुनः शिष्य अपनी शंका प्रकट कर रहा है कि किसी भी विषय का सामान्यतः ग्रहण होने पर और विशेषतः ग्रहण न होने पर ही विषयान्तर का अध्यास होता देखा गया है। परन्तु आत्मा तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अविषय है, ऐसी स्थिति में इसपर अनात्मा का अध्यारोप कैसे किया जा रहा है? तथा अनात्मापर आत्मा का आरोप कैसे किया जा रहा है? ॥ ६० ॥

नायं दोषः, स्वभावप्रसिद्धत्वादात्मनः। नहि कादाचित्कसिद्धावेवाध्यारोपणा, न नित्यसिद्धौ—इति नियन्तुं शक्यम् आकाशे तलमलाद्यध्यारोपणदर्शनात् ॥६१॥ (17)

हृदयस्पर्शिनी

नायमिति—शिष्य की आशंका को स्पष्ट करने के लिये तीन विकल्प किये जा सकते हैं। (१) क्या आत्मा का स्फुरण न होने से उसमें अध्यास का संभव नहीं हो सकता? अथवा (२) विषयत्वेन स्फुरण न होने से अध्यास नहीं हो सकता? किंवा (३) सामान्यांश का ग्रहण होने से किन्तु विशेष अंश का ग्रहण न हो पाने से अध्यास का संभव नहीं है? इन तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि आत्मा तो स्वभाव से ही प्रसिद्ध है, अर्थात् स्वप्रकाश आत्मा का अपनी महिमा से ही सदा स्फुरण होता रहता है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि केवल कदाचित् अर्थात् कभी-कभी सिद्ध होनेवाली वस्तु में ही आरोप हुआ करता है, नित्यसिद्ध वस्तु में आरोप नहीं होता। क्योंकि अनैन्द्रियक आकाश में (आकाश के अप्रत्यक्ष होने पर) भी ऐन्द्रियक होने का भ्रम होता ही है, अर्थात् आकाश के प्रत्यक्ष होने का भ्रम होता ही है अर्थात् स्वतः स्फुरित होने वाला आत्मा स्वयं अविषय रहने पर भी उसमें विषयाध्यास का होना असंभव नहीं है। आकाश में तलमलिनता (नीलत्व) का अध्यारोप

१. (कठ उ. ४।१)

* पणं—पणम्—पाठान्तरम्।

होता ही है । आकाश तो नीरूपद्रव्य है, और सर्वगत (सर्वत्र व्याप्त) है, इस कारण उसके साथ इन्द्रिय संयोग न हो सकने पर भी उसे साक्षिसिद्ध माना जाता है, अतः तलमलिनता का अध्यास उसपर किया जाता है, इसलिये तुम्हारा उक्त नियम उचित नहीं है । अब तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थों में सामान्यांश और विशेषांश के विद्यमान रहने पर भी अग्नि की पिंगलता जैसे धूमादि में अध्यास के प्रति कारण नहीं होती, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये । इसलिये आत्मा का स्वरूपतः स्फुरण रहने पर भी अनृत, जड़, दुःखान्त अनात्मपदार्थव्यावृत्ताकार से अर्थात् वेदान्तजनित ज्ञान के न रहने पर अध्यासविरोधी स्फुरण के अभाव में अध्यास बन सकता है । इसलिये कोई दोष नहीं है ॥ ६१ ॥

किं भगवन्, देहात्मनोरितरेतराध्यारोपणा देहादिसंघातकृता; अथवाऽऽत्मकृतेति ? ॥६२॥ (18)

हृदयस्पर्शिनी

किमिति—शिष्य पुनः शंका करता है कि यह अध्यासज्ञानाकार परिणाम क्या आत्मा का है ? या अनात्मा का है ? किंवा दोनों का है ? इन तीनों विकल्पों में से प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि उसे आत्मा का मानने पर उसे विकारी और अनित्य कहना होगा । द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन का वह हो नहीं सकता । अतएव तृतीय विकल्प भी उचित नहीं है । शिष्य के पूछने का अभिप्राय यह है कि हे भगवन् गुरुदेव ! देह और आत्मा का परस्पराध्यारोप (अन्योऽन्याध्यास) देहादि संघात (अनात्म जड़ पदार्थ) कृत है या आत्मा का किया हुआ है ? ॥६२॥

गुरुरुवाच—यदि देहादिसंघातकृता, यदि वाऽऽत्मकृता, किं *तव स्यात् ? ॥६३॥ (19)

हृदयस्पर्शिनी

गुरुरिति—शिष्य का अभिप्राय जानने की इच्छा से गुरु, शिष्य से पूछता है कि देहादि संघात का किया हुआ हो, अथवा आत्मा का किया हुआ हो, किसी का भी हो, उससे क्या हुआ ? सन्देह को जैसे प्रकट करते हो, वैसे ही प्रयोजन को भी प्रकट करना चाहिये । अतः उक्त दोनों पक्षों में प्रयोजन बताओ ॥ ६३ ॥

इत्युक्तः शिष्य आह—यद्यहं देहादिसंघातमात्रः, ततो ममाचेतनत्वात्परार्थत्वमिति न मत्कृता देहात्मनोरितरेतराध्यारोपणा । अथाहमात्मा परोऽन्यः संघातात्, चितिमत्त्वात्स्वार्थ इति मयैव चितिमताऽऽत्मन्यध्यारोपणा क्रियते सर्वानर्थबीजभूता ॥६४॥ (20)

हृदयस्पर्शिनी

इत्युक्त इति—गुरु के द्वारा पूछे जाने पर शिष्य अपने बताये गये दोनों पक्षों में क्रमशः प्रयोजन को प्रकाशित कर रहा है । शिष्य कहता है—यदि मैं देहादि संघातमात्र हूँ तो अचेतन होने के कारण मेरा परार्थत्व सिद्ध होता है, इसलिये देह-आत्मा का यह अन्योऽन्याध्यास मेरा किया हुआ नहीं हो सकता । और यदि मैं इस संघात से भिन्न पर-आत्मा हूँ, तो चेतन होने के कारण मैं स्वार्थ (अपने ही प्रयोजन के लिये) हूँ, अर्थात् परार्थ नहीं हूँ । तब सम्पूर्ण अनर्थों का बीजभूत यह अध्यास, मुझ चेतन के द्वारा अपने में ही किया जाता है । इस रीति से मैं स्वयं ही अपने आप को बन्धन में डालने वाला सिद्ध होऊँगा । किन्तु कोई भी सामर्थ्यसम्पन्न जानबूझ कर अपना अनर्थ नहीं कर सकता । इसलिये मेरे द्वारा ही यह अनिष्ट व्यापार कैसे संभव हो सकता है ? ॥ ६४ ॥

इत्युक्तो गुरुरुवाच—अनर्थबीजभूतां चेन्मिथ्याध्यारोपणां †जानीषे, तां मा कार्षीस्तर्हि ॥६५॥ (

हृदयस्पर्शिनी

इत्युक्तो गुरुरिति—शिष्य के इस प्रकार कहने पर गुरु ने कहा—देहाद्यात्मभावना को यदि अनर्थकरी समझते हो तो उसका त्याग क्यों नहीं करते ? क्योंकि तुम तो स्वतन्त्र हो ॥ ६५ ॥

* तव—पाठान्तरम् ।   † मन्यसे—पाठान्तरम्

नैव, भगवन् शक्नोमि न कर्तुम् । अन्येन केनचित्प्रयुक्तोऽहं, न स्वतन्त्र इति ॥६६॥

हृदयस्पर्शिनी

नैवेति—शिष्य कहता है—नहीं भगवन् ! देहाद्यात्मभावना के न करने में मैं समर्थ (स्वतन्त्र) नहीं हूँ । मैं किसी अन्य के द्वारा प्रेरित हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ । मैं नहीं चाहता हूँ, तथापि मेरी उससे निवृत्ति नहीं हो पाती । ऐसा लगता है, जैसे मुझे कोई प्रेरित कर रहा हो । गीता में कहा ही है कि "अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः[1]" ॥ ६६ ॥

न तर्हि अचितिमत्त्वात्स्वार्थस्त्वम् । येन प्रयुक्तोऽस्वतन्त्रः प्रवर्तसे, स चितिमान् स्वार्थः । संघात एव त्वम् ॥६७॥

हृदयस्पर्शिनी

न तर्हीति—गुरु कहते हैं कि यदि तू अन्य के द्वारा प्रेरित हो रहा है तो तू अचेतन है, तब तू स्वार्थ नहीं है, अपितु परार्थ ही है । जिसके द्वारा प्रेरित होकर तू अस्वतन्त्रता से प्रवृत्त होता है, वह चेतन ही स्वार्थ (स्वतन्त्र) है, तू तो संघात ही है ॥ ६७ ॥

यद्यचेतनोऽहम्, कथं सुखदुःखवेदनां भवदुक्तं च जानामि ? ॥६८॥

हृदयस्पर्शिनी

यदीति—शिष्य कहता है कि यदि मैं अचेतन हूँ, तो सुख-दुःख के अनुभव को या आपकी बात को कैसे समझ रहा हूँ ? ॥ ६८ ॥

गुरुरुवाच—किं सुखदुःखवेदनाया मदुक्ताच्चान्यस्त्वम्, किंवाऽनन्य एव इति ॥६९॥

हृदयस्पर्शिनी

गुरुरिति—गुरु बोले—तू सुख-दुःख के अनुभवात्मक ज्ञान से और मेरे कथन से भिन्न है, अथवा उनसे अभिन्न ही है ? ॥ ६९ ॥

शिष्य उवाच—नाहं तावदनन्यः । कस्मात् ? यस्मात्तदुभयं कर्मभूतं घटादिकमिव जानामि । यद्यनन्योऽहम्, तेन तदुभयं न जानीयाम्, किंतु जानामि, तस्मादन्यः । सुखदुःखवेदनाविक्रिया च स्वार्थैव प्राप्नोति, त्वदुक्तं च स्यात्, अनन्यत्वे । नच तयोः स्वार्थता युक्ता । नहि चन्दनकण्टककृते सुखदुःखे चन्दनकण्टकार्थे, घटोपयोगो वा घटार्थः । तस्मात्तद्विज्ञातुर्मम चन्दनादिकृतोऽर्थः । अहं हि ततोऽन्यः समस्तमर्थं जानामि बुद्ध्यारूढम् ॥७०॥

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य इति—शिष्य ने कहा—मैं उनसे अभिन्न (अनन्य) तो हूँ नहीं । अभिन्न क्यों नहीं हूँ ? क्योंकि मैं घटादि के समान कर्मभूत उन दोनों को जानता हूँ । यदि मैं उनसे अनन्य (अभिन्न) होता तो उन दोनों को जान नहीं सकता था, किन्तु जानता हूँ । यदि उनसे मेरा अभेद होता तो सुख-दुःख का अनुभवरूप विकार स्वार्थ ही सिद्ध होता और फिर आपके कहे हुए अनित्यत्व आदि दोष भी प्राप्त होते । किन्तु उनका स्वार्थ होना ठीक नहीं है । क्योंकि चन्दन और कण्टक से उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःख, चन्दन और कण्टक के ही लिए नहीं होते, उसी तरह घट का उपयोग भी घट के लिए ही नहीं होता । अतः चन्दन आदि से उत्पन्न हुआ कार्य, उसके जाननेवाले मुझ ज्ञाता के लिए ही है । और मैं तो उससे भिन्न हूँ तथा अपनी बुद्धिवृत्ति पर आरूढ़ हुए समस्त कार्य को जानता हूँ ॥ ७० ॥

---

१. (भग. गी. ३।३६)

तं गुरुरुवाच-एवं तर्हि स्वार्थस्त्वं चितिमत्त्वात्, न परेण प्रयुज्यसे। नहि चितिमान् परतन्त्रः परेण प्रयुज्यते, चितिमतश्चितिमदर्थत्वानुपपत्तेः, समत्वात्, प्रदीपप्रकाशयोरिव। नाप्यचितिमदर्थत्वं चितिमतो भवति, चितिमतोऽचितिमत्त्वादेव स्वार्थसम्बन्धानुपपत्तेः। नाप्यचितिमतोरन्योन्यार्थत्वं दृष्टम्। नहि काष्ठकुड्ये अन्योन्यार्थं कुर्वाते।।७१।। (27)

हृदयस्पर्शिनी

तमिति—तब उस शिष्य से गुरु बोले—इस प्रकार यदि तुम अपने को संघात से भिन्न समझते हो तो तुम स्वार्थ (स्वयं अपने लिए) ही हो, और चेतन होने के कारण तुम किसी अन्य (चेतन) से प्रयुक्त नहीं होते हो। क्योंकि कोई भी चेतन (चितिमान्) परतन्त्र होकर किसी दूसरे (चेतन) के द्वारा प्रयुक्त नहीं किया जाता। क्योंकि दीपक और प्रकाश के समान वे दोनों चेतन तुल्य होने के कारण किसी चेतन का किसी दूसरे चेतन के लिए होना संभव नहीं है। और न ही चेतन का किसी अचेतन के लिए होना संभव है। और अचेतन होने के कारण अचेतन का स्वार्थसंबंध होना भी संभव नहीं है, एवं न ही किसी अचेतन को किसी अन्य अचेतन के लिए देखा गया है, अर्थात् अचेतन पदार्थ परस्पर एक दूसरे के लिए नहीं होते हैं। जैसे काष्ठ और भित्ति एक दूसरे का कार्य नहीं किया करते ॥ ७१ ॥

ननु चितिमत्त्वे समेऽपि भृत्यस्वामिनोरन्योन्यार्थत्वं दृष्टम् ।।७२।। (28)

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—इस पर शिष्य पुनः शंका करता है—दो चेतनों में चेतनता की समानता रहने पर भी स्वामी और सेवक को एक दूसरे के लिए देखा जाता है ॥ ७२ ॥

नैवम्, अग्नेरुष्णप्रकाशवत्तव चितिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। प्रदर्शितश्च दृष्टान्तः प्रदीपप्रकाशयोरिवेति। तत्रैवं सति, स्वबुद्ध्यारूढमेव सर्वमुपलभसे अग्न्युष्णप्रकाशतुल्येन कूटस्थनित्यचैतन्यस्वरूपेण। यदि चैवमात्मनः सर्वदा निर्विशेषत्वमुपगच्छसि, किमित्यूचिवान् सुषुप्ते विश्रम्य विश्रम्य जाग्रत्स्वप्नयोर्दुःखमनुभवामि, किमयमेव मम स्वभावः, किंवा *न ? इति च किमसौ व्यामोहोऽपगतः किं वा न ? ।।७३।। (29)

हृदयस्पर्शिनी

नैवमिति—गुरु कहते हैं कि जैसा तुम समझ रहे हो, वैसा नहीं है। तुम्हारा चैतन्य, अग्नि के उष्णत्व और प्रकाश के समान है, यह बताना हम चाह रहे हैं। अतएव इस विषय में दीपक और प्रकाश का दृष्टान्त भी हमने प्रदर्शित किया था। ऐसा होने के कारण ही अग्नि के उष्णत्व, प्रकाश के तुल्य तुम अपने कूटस्थ नित्य चैतन्यस्वरूप से ही अपनी बुद्धि पर आरूढ़ हुए सभी पदार्थों का अनुभव करते हो। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से व्याप्त हुए पदार्थों (वस्तुओं) को अपने स्वभाव (स्वरूप) से ही प्रकाशित कर देता है। उन्हें प्रकाशित करने के लिए उसे कोई किसी प्रकार का व्यापार नहीं करना पड़ता है। अतः स्वामिचैतन्य का उपकारक सेवक का शरीररूप अचेतन अंश (भाग) ही है, उसका 'आत्मा' नहीं। उसी प्रकार सेवक के चैतन्यभाग का उपकारक भी स्वामी का शरीररूप अचेतन भाग ही है, स्वामी का चैतन्य नहीं। उन दोनों के चेतन भाग, एक-दूसरे के अचेतन भागों द्वारा किए हुए उपकारों के केवल प्रकाशकमात्र हैं। इस प्रकार यदि तुम आत्मा के नित्य निर्विशेषत्व को जान गये हो तो 'मैं सुषुप्ति में विश्राम ले-ले कर जाग्रत् और स्वप्नावस्था में बार-बार दुःख का अनुभव करता हूँ, क्या यह मेरा स्वभाव ही है, अथवा किसी निमित्त से (नैमित्तिक) है ?—ऐसा तुमने क्यों कहा था ? अब तुम्हारा यह व्यामोह दूर हुआ या नहीं ? अब तुम अपने को मैं नित्यमुक्त हूँ, मैं संघाताध्यासकर्ता नहीं हूँ, मुझे संघातधर्मसंसर्ग भी नहीं है, ऐसा समझो और स्वस्थ हो जाओ ॥ ७३ ॥

---

* नैमित्तिकः—पाठान्तरम्।

इत्युक्तः शिष्य उवाच—भगवन्, अपगतस्त्वत्प्रसादाद्व्यामोहः, किंतु मम कूटस्थतायां संशयः। कथम्? शब्दादीनां स्वतः सिद्धिर्नास्ति, अचेतनत्वात्, शब्दाद्याकारप्रत्ययोत्पत्तेस्तु तेषाम् प्रत्ययानामितरेतरव्यावृत्तविशेषणानां नीलपीताद्याकार*त्वस्य स्वतःसिद्ध्यसंभवात्। तस्माद्बाह्याकार-निमित्तत्वं गम्यत इति बाह्याकारवच्छब्दादि†सिद्धिः। तथा प्रत्ययानामहंप्रत्ययालम्बनवस्तुभेदानां संहतत्वादचैतन्योपपत्तेः। स्वार्थत्वासंभवात् स्वरूपव्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यत्वेन सिद्धिः, शब्दादिवदेव। असंहतत्वे सति चैतन्यात्मकत्वात्स्वार्थोऽप्यहंप्रत्ययानां नीलपीताद्याकाराणामुपलब्धेति विक्रियावानेव, कथं कूटस्थः?—इति संशयः॥७४॥ (30)

हृदयस्पर्शिनी

इत्युक्त इति—इस प्रकार गुरु के समझाने पर शिष्य बोला—भगवन्! आपके अनुग्रह से मेरा मोह दूर हो गया। तथापि मुझे अपनी कूटस्थता के विषय में सन्देह है। 'कूट' का अर्थ 'निहाई' है। स्वर्णकार या लुहार जिस पर रखकर कोई चीज गढ़ा करते हैं, उस पर कितनी ही चोट करने पर भी उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता, वह निर्विकार ही रहता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी निर्विकार है। अतएव उसे 'कूटस्थ' कहा जाता है। उसकी कूटस्थता में तुम्हें सन्देह क्यों हो रहा है? 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषय तो अचेतन हैं, उस कारण उनकी स्वतः सिद्धि (स्वतः स्फुरण) नहीं हो सकती। शब्दादि की सिद्धि (स्फूर्ति) तो शब्दाद्याकाररूप ज्ञान की उत्पत्ति से ही होती है। शब्दादिकों के आकार, प्रत्ययरूप (ज्ञानरूप) होने से उनकी स्वातिरिक्त ग्राह्यता नहीं है। इस प्रकार विज्ञान-वादी के मत से उसने यह आशंका की है। उसका निराकरण गुरु कर रहे हैं कि जिनके विशेषण एक-दूसरे से पृथक् हैं, ऐसे जो नील-पीतादि आकार के ज्ञान हैं, उनकी भी स्वतः सिद्धि होना संभव नहीं है। इसलिए उनका भी बाह्या-कारनिमित्तक होना सिद्ध होता है। क्योंकि ज्ञान (प्रत्यय) प्रकाशस्वरूप होने के कारण परोपराग के बिना उनकी नील-पीताद्याकारवत्ता अपने आप भी असंभव है। अतः शब्दादिकों का प्रत्ययमात्र (ज्ञानमात्र) स्वरूप नहीं है। इस कथन से बाह्य आकारों के समान शब्दादि के आकारवत्व की भी सिद्धि हो जाती है। चैतन्य से पृथक् आकारवाले पराग्व्यवहारयोग्य जो शब्द-स्पर्शादि विषय हैं, उनके द्वारा प्रत्ययों का आकार होने से उन प्रत्ययों की सिद्धि होती है, स्वतः नहीं। इस प्रकार शब्दादि विषयों को यदि तुम स्व-व्यतिरिक्त प्रत्ययग्राह्य समझते हो तो प्रत्ययस्वरूप में विशेषाभाव की सिद्धि होने से उसमें कूटस्थता की सिद्धि होती है, ऐसी आशंका यदि हो तो उसका समाधान यह है कि विषयसंसृष्ट होकर भासमान विषयाकार प्रत्यय आगमापायी होने से स्वप्रकाश चैतन्यरूप नहीं होते हैं, किन्तु अन्य-साक्षिक ही होते हैं। उनका स्वरूपविशेष इस प्रकार का होता है—अहं प्रत्यय की आलम्बनभूत वस्तु (अन्तःकरण) के भेदरूप शब्दादि ज्ञान भी संहत होने के कारण अचेतन हैं। ऐसी स्थिति में उनका स्वार्थत्व संभव न होने के कारण शब्दादि के समान उनकी सिद्धि भी अपने स्वरूप से भिन्न ग्राहक के द्वारा ग्राह्य रूप से ही हो सकती है। इसलिए असंहत होने के कारण स्वार्थ रहने पर भी आत्मा चेतनस्वरूप होने से अन्तःकरण की नील-पीतादिरूप वृत्तियों को प्राप्त करता है। अतः वह विकारी ही है, वह कूटस्थ कैसे हो सकता है? यही मुझे सन्देह है। निष्कर्ष यह है कि शब्द-स्पर्शादि विषय तो अचेतन हैं। इसलिए उनका स्फुरण तदाकार ज्ञान के ही अधीन है। जैसे प्रकाशशून्य घटादि पदार्थ, प्रकाश से व्याप्त होने पर ही अवगत हुआ करते हैं, वैसे ही शब्दादि विषयों का ज्ञान भी अन्तःकरणवृत्ति के तदाकार होने पर ही होता है। इस कथन से विज्ञानवादी बौद्ध के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि 'बाह्य पदार्थ कोई नहीं है। यह जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब विज्ञान का ही परिणाम है'। बाह्य पदार्थों की असत्ता को यदि स्वीकार करते हैं तो वृत्तियों के नील-पीतादि भेद का क्या कारण बताओगे? दूसरी बात यह भी है कि यदि समस्त पदार्थों को अन्तर ही (ज्ञानाकार ही) मानोगे तो 'अयं नीलः' की जगह 'अहं नीलः' यह कहना होगा। अतः बौद्धों का विज्ञानवाद उचित नहीं है। ये नील-पीतादि ज्ञान भी संहत होने के कारण अचेतन ही हैं। अतः इनको प्रकाशित करनेवाला कोई अन्य ही होना चाहिए। वह अन्य, आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता। वह आत्मा, उन विषयों को तदाकार होकर ही प्रकाशित करेगा, तब उसका (आत्मा का) विकारी होना सिद्ध हो जायगा। यह आशंका शिष्य ने की है॥ ७४॥

---

* कारवतां, कारवत्तायाः—पाठौ। † ब्दाद्याकारत्व—पाठान्तरम्।

तं गुरुरुवाच—न युक्तस्तव संशयः, यतस्तेषां प्रत्ययानां नियमेनाशेषत उपलब्धेरेवापरिणामित्वात्कूटस्थत्वसिद्धौ निश्चयहेतुमेवाशेषचित्तप्रचारोपलब्धिं संशयहेतुमात्थ। यदि हि तव परिणामित्वं स्यात्, अशेष-स्वविषयचित्तप्रचारोपलब्धिर्न स्यात्, चित्तस्य* स्वविषये, यथा चेन्द्रियाणां स्वविषयेषु; न च तथाऽऽत्मनस्तव स्वविषयैकदेशोपलब्धिः। अतः कूटस्थतैव तवेति ॥७५॥ (३१)

हृदयस्पर्शिनी

तं गुरुरिति—यदि तुम दृश्य और दर्शन का विवेचन करोगे तो तुम्हें संशय नहीं होगा, यह मन में रखकर गुरू उससे बोले—तुम्हारा यह संशय उचित नहीं है। क्योंकि उन प्रत्ययों की नियमेन पूर्णतया जो अपरिणामिनी उपलब्धि होती है, उसीसे आत्मा के कूटस्थत्व की सिद्धि का निश्चय हो जाता है, अर्थात् कूटस्थत्व के निश्चय करने में यह अपरिणामिनी उपलब्धि ही हेतु है। उन समस्त चित्तवृत्तियों की उपलब्धि को ही तुम अपने संशय का कारण समझ रहे हो। यदि तुम परिणामी होते तो, तुम्हें अपने विषय के प्रति चित्त की सम्पूर्ण गतियों का ज्ञान न हो पाता। जैसे चित्त को अपने विषय का तथा इन्द्रियों को अपने विषयों का केवल एकदेशीय ज्ञान हो पाता है, उन्हीं के समान तुझ आत्मा को अपने विषय के केवल एक देश की ही उपलब्धि (ज्ञान) नहीं होती, अपितु सार्वदेशिक उपलब्धि होती है। अतः तेरी (तुझ आत्मा की) कूटस्थता ही सिद्ध होती है। यह जो तुम समझ रहे हो कि अन्तःकरण की वृत्तियाँ परस्पर व्यावृत्त-स्वरूप की होने से जड़ हैं, अतः उन सभी का कोई अन्य प्रकाशक होना चाहिये, और वह 'आत्मा' ही हो सकता है, इसलिये 'आत्मा' विकारी है। किन्तु यही कथन उस आत्मा की कूटस्थता को सिद्ध कर देता है, क्योंकि 'आत्मा' उन वृत्तियों के केवल किसी अंशविशेष का ही प्रकाशक नहीं है, अपितु अन्तःकरण की जितनी भी ज्ञात-अज्ञात वृत्तियाँ हैं; उन सभी का एकरूप से प्रकाशक है। जो विकारी प्रकाशक होते हैं, वे विषय के केवल अंशमात्र को प्रकाशित करते हैं। जैसे नेत्र, घर का जितना भाग सामने रहता है, उतने भाग को ही देख सकता है, पीछे के भाग को नहीं देख सकता। किन्तु आत्मा ऐसा नहीं है। वह ज्ञात-अज्ञात रूप से रहने वाली सभी वृत्तियों का अखण्ड प्रकाशक है। इस कारण वह आत्मा नित्य निर्विकार है ॥ ७५ ॥

तत्राह—उपलब्धिर्नाम धात्वर्थो विक्रियैव, उपलब्धुः कूटस्थात्मता चेति विरुद्धम् ॥७६॥ (३२)

हृदयस्पर्शिनी

तत्रेति—इस पर शिष्य कहता है—प्रकृति-प्रत्ययार्थ के पर्यालोचन से उपलब्धा को कूटस्थ कहना विरुद्ध प्रतीत हो रहा है। क्योंकि 'उप' उपसर्गवाले 'लभ' धातु से 'कर्तरि' 'तृच्' का विधान किया है। और 'उपलब्धि' रूप धात्वर्थ ही क्रिया है। और क्रिया तो उत्पत्ति-विनाशवती हुआ करती है, अतः वह विकाररूपा है। ऐसी स्थिति में उपलब्धारूप कर्ता को निर्विकार, कूटस्थ कैसे बता रहे हैं ? ॥ ७६ ॥

न, धात्वर्थविक्रियायामुपलब्ध्युपचारात्। यो हि बौद्धः प्रत्ययः, स धात्वर्थो विक्रियात्मकः आत्मनः उपलब्ध्याभासफलावसान इत्युपलब्धिशब्देनोपचर्यते, यथा छिदिक्रिया द्वैधीभावफलावसानेति धात्वर्थत्वेनोपचर्यते तद्वत् ॥७७॥ (३३)

हृदयस्पर्शिनी

नेति—इस पर गुरु कहते हैं—प्रकृतिभूत धात्वर्थ क्रिया ही हो और प्रत्ययार्थ कर्ता ही सर्वत्र मुख्य हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि "गडि वदनैकदेशे", "सविता प्रकाशते", "सविता प्रकाशयति" यहाँ व्यभिचार दिखाई देता है। अतः प्रकृत में धात्वर्थ तत्कर्तृवाचक उपलब्धृ शब्द को गौणार्थक मानना ही उचित होगा। अर्थात् धातु के अर्थरूप विकार में 'उपलब्धि' का गौण प्रयोग (उपचार) है। बुद्धिपरिणाम (बौद्ध) अर्थात् बुद्धिजनित ज्ञान ही विकाररूप धात्वर्थ हुआ करता है। अर्थात् धात्वर्थ ही विक्रियारूप (विशिष्ट क्रियारूप) है। अतः बुद्धि (अन्तःकरण) द्रव्य होने से उसका परिणाम मृत्परिणाम घटादि की तरह द्रव्य ही है, वह क्रियारूप नहीं है, ऐसा समझना ठीक नहीं है। मृदादि के समान अपने आकार को तिरोहित करके अन्तःकरण का परिणाम नहीं हुआ करता, किन्तु जलूका या आलोक की

* स्येव

तरह संकोच-विकास के साथ उसका परिणाम हुआ करता है। वह परिणाम परिणामीचेष्टारूप है। अतः उसे क्रिया कहना ही उचित है। उस क्रिया में 'उपलब्धि' शब्द का गौण प्रयोग करने में निमित्त यह है कि "सत्यं ज्ञानम्[1]", "विज्ञानघन एव[2]" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो आत्मा की स्वरूपभूता उपलब्धि है, वह तो अपने आभासरूप फल तक ही है। अतः उसका 'उपलब्धि' शब्द से वैसे ही उपचार किया जाता है, जैसे किसी वस्तु के दो खण्ड होने में समाप्त हो जानेवाली छेदनक्रिया का धात्वर्थ के रूप में उपचार किया जाता है। अर्थात् जैसे किसी वस्तु के दो टुकड़े हो जाने में छेदन क्रिया का उपचार (गौण प्रयोग) किया जाता है, वैसे ही तप्त हुए लोहपिण्ड में अग्नि के व्याप्त होने के समान चिदाभासरूप से बुद्धिवृत्ति में व्याप्त होने के कारण चेतन आत्मा में 'उपलब्धि क्रिया' का उपचार (गौण प्रयोग) हुआ करता है। जिस प्रकार लोहपिण्ड में व्याप्त हुआ अग्नि सर्वथा निष्क्रिय और निर्विकार होता हुआ भी जलता है, प्रकाश करता है, इत्यादि रूप से क्रियावान्-सा बताया जाता है, उसी प्रकार यद्यपि चिदाभासविशिष्ट अन्तःकरण ही सभी पदार्थों का उपलब्धा है, तथापि अपने स्वाभाविक चैतन्य से अन्तःकरण में वस्तु की उपलब्धि की शक्ति प्रदान करने के कारण उस आत्मा को ही 'उपलब्धा' कह देते हैं। 'उपलब्धि' शब्द का अर्थ तो 'अर्थप्रकाश' है। वह अर्थ (वस्तु, पदार्थ) का धर्म तो हो नहीं सकता, क्योंकि अर्थ (वस्तु, पदार्थ) जड़ है। वह अन्तःकरण का भी धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह करण होने से उसमें चैतन्यप्रकाशाश्रयत्व हो नहीं सकता। तथापि स्वयं प्रकाशमान नित्य चैतन्य आत्मा में बिना व्यवधान के 'अहं' रूप से अभ्यास होने के कारण, अपनी सत्ता में प्रकाश का अव्यतिरेक रहने से, आत्म चैतन्य व्याप्त हुई तत्तदर्थाकार वृत्तियों को उत्पन्न करता हुआ अन्तःकरण ही उपलब्धा, कर्ता, प्रमाता, भोक्ता होने के कारण वही प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अनुभवितृत्व आदि व्यवहार के योग्य होता है। यह व्यवहार 'अयःपिण्डो दहति, प्रकाशयति' के समान ही समझना चाहिये। और आत्मा आकाश के समान अविक्रिय होने से कूटस्थ रहता हुआ भी उस प्रकार के अन्तःकरण में स्थित अपने आभास-का विवेक न हो पाने से उस अन्तःकरण के धर्म और अवस्थाओं से युक्त हुआ-सा मिथ्या ही समझा जाता है, जैसे अयःपिण्डगत आभास के अविवेक से अग्नि को ही चतुष्कोण, वर्तुल, कृश, स्थूल, उत्पन्न, नष्ट समझा जाता है। तस्मात् विकारी अन्तःकरण में कर्तृत्व रहने पर भी उपलब्धि में क्रियमाणता के न होने से उपलब्धिस्वरूप आत्मा की कूटस्थता सिद्ध हो जाती है ॥ ७७ ॥

इत्युक्तः शिष्य आह—ननु भगवन् मम कूटस्थत्वप्रतिपादनं प्रत्यसमर्थो दृष्टान्तः ? कथम् ? छिदिः छेद्यविक्रियावसाना उपचर्यते यथा धात्वर्थत्वेन, तथोपलब्धिशब्दोपचरितोऽपि धात्वर्थो बौद्धः प्रत्ययः आत्मन उपलब्धिविक्रियावसानश्चेत्, नात्मनः कूटस्थतां प्रतिपादयितुं समर्थः ॥७८॥ (३४)

हृदयस्पर्शिनी

इत्युक्त इति—उक्त अर्थ को ही और अधिक विशद करने के लिये शिष्य की शंका को उपस्थित करते हैं। शिष्य कहता है कि आपका बताया हुआ दृष्टान्त, दार्ष्टान्त के अनुरूप नहीं है। अर्थात् आपका दिया हुआ दृष्टान्त, मेरी (आत्मा) कूटस्थता को बताने में असमर्थ है। गुरु पूछते हैं—किस प्रकार असमर्थ है ? तब शिष्य कहता है कि जिस प्रकार छेद्य वस्तु के विकार में छिदिक्रिया का गौण प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार 'उपलब्धि' शब्द के गौण प्रयोगात्मक धात्वर्थरूप बौद्ध प्रत्यय का फल भी यदि आत्मा के उपलब्धिरूप विकार में ही है तो वह आत्मा की कूटस्थता का प्रतिपादन करने में असमर्थ है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार छेदन क्रिया के द्वारा निष्पन्न होनेवाला किसी वस्तु का द्वैधीभाव एक विकार है, उसी प्रकार 'उपलब्धि' भी एक विकार है। अतः बौद्ध-प्रत्ययरूप उपलब्धि का आत्मा में भले ही उपचार होता हो, तथापि साध्य होने के कारण उपलब्धि भी विकार ही है। क्योंकि साध्यमात्र अनित्य होता है। अतः उसका कर्ता आत्मा कूटस्थ नहीं हो सकता है ॥ ७८ ॥

---

१. (तै. उ. २।१)
२. (बृ. उ. २।४।१२)

गुरुवाच—सत्यमेवं स्यात्, यद्युपलब्ध्युपलब्ध्रोर्विशेषः। नित्योपलब्धिमात्र एव ह्युपलब्धा। न तु तार्किकसमय इवान्या उपलब्धिः, अन्य उपलब्धा च ॥७९॥

हृदयस्पर्शिनी

गुरुरिति—गुरु बोले—यदि उपलब्धि और उपलब्धा में भेद होता तो तुम्हारी शंका उचित हो सकती थी, किन्तु उपलब्धा तो नित्य उपलब्धिमात्र ही है। 'नित्य' शब्द से क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध का और 'मात्र' शब्द से भेदाभेदवादी का व्यावर्तन किया गया है। नैयायिक के अनुसार वेदान्त सिद्धान्त में 'उपलब्धि' अन्य हो और 'उपलब्धा' अन्य हो, ऐसा नहीं है। हमारे मत में तो "प्रज्ञानघन एव",[1] "प्रज्ञानं ब्रह्म"[2] इत्यादि श्रुतिसिद्ध उपलब्धि(ज्ञान)स्वरूप ही आत्मा है ॥ ७९ ॥

ननूपलब्धिफलावसानो धात्वर्थः कथमिति ? ॥८०॥

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—इस पर शिष्य ने पूछा कि 'उपलब्धि' शब्द का धात्वर्थ उपलब्धिरूप फलपर्यन्त आपने बताया, वह कैसे उपपन्न होगा ? ॥ ८० ॥

उच्यते—शृणु। उपलब्ध्याभासफलावसान इत्युक्तम्। किं न श्रुतं त्वया ? न त्वात्मविक्रियोत्पादनावसान इति मयोक्तम् ॥८१॥

हृदयस्पर्शिनी

उच्यत इति—गुरु ने कहा—सुनो, क्या तुमने यह नहीं सुना कि उपलब्धि के आभासात्मक फल तक ही इसका धात्वर्थ है, यह मैंने कहा था। आत्मा, विकारोत्पत्तिरूप फल तक है, ऐसे मैंने नहीं कहा था। उपलब्धि तो आत्मा का स्वरूप ही है। यदि वह उसका फल या गुण होती तो वह अनित्य होती, उस अवस्था में आत्मा की कूटस्थता सिद्ध नहीं हो सकती थी। परन्तु वास्तविकता इस प्रकार नहीं है। 'उपलब्धि' तो आत्मा का स्वरूप ही है। बुद्धि में उस स्वरूप-चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने से बुद्धि चैतन्यवत् प्रतीत होती है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए उस चैतन्य को 'चिदाभास' के नाम से कहते हैं। वही बुद्धिवृत्तियों के परिणाम का प्रकाशक है। उसी के कारण एक ही अधिकारी चेतन उपाधिवश कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता आदि नामों से कहा जाता है, किन्तु वास्तव में वह असंग, कूटस्थ ही है। आविर्भाव-तिरोभाव धर्मवाली अन्तःकरण की वृत्तियाँ होती हैं। उन धर्मों से विशिष्ट होकर ही वृत्तियों का स्फुरण होता है। विषयस्थ चैतन्य के साथ अभेदेन प्रकाशमानवृत्तिगतस्थ आभासाश्रय के रूप में भासित होनेवाले आत्मा को 'प्रमाता' कहते हैं। कर्मेन्द्रियों को अधिष्ठान बनाकर क्रियावत्प्राणप्रधान अन्तःकरणलिङ्गगत आभास का विवेक न होने से वही 'कर्ता' कहा जाता है। शुभाशुभकर्मोपस्थापित-अन्तःकरण-परिणामविशेष को अविवेक के कारण अपना ही समझनेवाला आत्मा 'भोक्ता' कहा जाता है। इन सभी चित्तविलासावस्थाओं को स्वरूपचैतन्य का अनुगम करने मात्र से साक्षात् अवभासित कराता हुआ-सा, भासित होनेवाला, अलुप्तप्रकाश, असन्दिग्ध, अविपर्यस्त, अविषय साक्षी को 'उपलब्धा', 'साक्षी', 'ज्ञाता' कहा जाता है। वृत्ति का विनाश होने से तद्गत चिदाभास का भी विलय होता है, किन्तु उसका संस्कार रहने पर, कालान्तर में पूर्वविगत विषयाकार स्मृतिवृत्ति का जब उदय होता है, तब तद्गत आभास द्वारा उसी को 'स्मर्ता' कहते हैं। समस्त कार्य-कारणप्रपञ्चोपलक्षित उसी चिदात्मा को तदनुवृत्त सत्ता के अभेद रूप में 'सर्वाधिष्ठान' कहते हैं। कारणोपाधि के अविवेक से और अलुप्त ज्ञानशक्ति के रहने से वही 'अन्तर्यामी' आदि शब्दों का वाच्य होता है। सबका तात्पर्य यह है कि किसी न किसी उपाधि के कारण कहीं-कहीं वैसा-वैसा व्यवहार होने से अविद्यावशात् वैसा भासमान होता हुआ भी आत्मा स्वरूपतः निर्विकार, निर्धर्मक, असंग और कूटस्थ ही है ॥ ८१ ॥

---

१. (बृ. उ. ४।५।१३)
२. (ऐ. उ. ५।३)

शिष्य उवाच--कथं तर्हि कूटस्थे मय्यशेषस्वविषयचित्तप्रचारोपलब्धृत्वमित्यात्थ ? ॥८२॥

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य इति—तब शिष्य बोला कि आपने यह क्यों कहा था कि मुझ कूटस्थ में अपने चित्त की समस्त वृत्तियों का उपलब्धृत्व अर्थात् उपलंभकर्तृत्व है ॥ ८२ ॥

तं गुरुराह--सत्यमेवावोचम् तेनैव कूटस्थतामबोचं* तव ॥८३॥

हृदयस्पर्शिनी

तमिति—उसपर गुरु ने कहा कि मैंने सत्य कहा था। उसी के द्वारा मैंने तुम्हारी कूटस्थता को भी तुम्हें बताया था ॥ ८३ ॥

यद्येवं भगवन्, कूटस्थनित्योपलब्धिस्वरूपे मयि शब्दाद्याकारबौद्धप्रत्ययेषु च मत्स्वरूपोपलब्ध्याभासफलावसानवत्सूत्पद्यमानेषु कस्त्वपराधो मम ? ॥८४॥

हृदयस्पर्शिनी

यद्येवमिति—आत्मा को अशेष स्वगत विशेषताओं के नित्य निवृत्त रहने से उसकी कूटस्थता का ज्ञान होनेपर अपने स्वरूप को वह जान गया, तथापि अपने आपको यह जो भ्रान्ति हुई, उसका बीज (कारण) समझ में न आने से वह पुनः पूछने लगा। यदि मैं नित्य उपलब्धिस्वरूप हूँ, और सम्पूर्ण बौद्ध प्रत्यय मेरे ही आभास से प्रकाशित होते हैं, तो इन शब्दादि विषयों के ज्ञानों का ग्रहीता होने में मेरा क्या अपराध है? इस अभिप्राय से शिष्य कहता है कि भगवन्! यदि ऐसी बात है तो कूटस्थ नित्योपलब्धिस्वरूप मुझ में मेरी स्वरूपभूता उपलब्धि के आभासरूप फल में पर्यवसित होनेवाले शब्दादिरूप बौद्धज्ञानों के उत्पन्न होने में मेरा क्या अपराध है? अर्थात् उनका ग्रहीता होने के कारण मैं तो विकारी ही सिद्ध हो रहा हूँ ॥ ८४ ॥

सत्यम् नास्त्यपराधः, किन्त्वविद्यामात्रस्त्वपराध इति प्रागेवावोचम् ॥८५॥

हृदयस्पर्शिनी

सत्यमिति—गुरु ने कहा कि सत्य है, तुमने अपने अनुभव को नहीं छिपाया, इसलिये तुम्हारा अपराध नहीं है। किन्तु अविद्यामात्र तो अपराध है ही, ऐसा मैं पहले ही कह चुका हूँ ॥ ८५ ॥

यदि, भगवन्, सुषुप्त इव मम विक्रिया नास्ति, कथं स्वप्नजागरिते ॥८६॥

हृदयस्पर्शिनी

यदीति—शिष्य कहता है, भगवन्! सुषुप्तावस्था के समान यदि मुझ में विकार है ही नहीं, तो मुझे स्वप्न और जागरित अवस्था कैसे प्राप्त होती हैं? ॥ ८६ ॥

तं गुरुराह--किंत्वनुभूयेते त्वया †सन्ततम् ॥८७॥

हृदयस्पर्शिनी

तं गुरुरिति—तब गुरु ने उससे कहा—किन्तु इन अवस्थाओं का तुम्हारे द्वारा सतत अनुभव तो किया जा रहा है। अर्थात् क्या तुम उन अवस्थाओं का सतत अनुभव नहीं करते हो? वे अवस्थाएँ तो तुम्हारे चैतन्य से प्रकाश्य हैं, वे तुम्हारी स्वभावरूप नहीं हैं ॥ ८७ ॥

शिष्य उवाच--बाढमनुभवामि, किंतु विच्छिद्य-विच्छिद्य, न तु सन्ततम् ॥८८॥

---

* मध्रुवम्—पाठान्तरम्।

† सततम्—पाठान्तरम।

हृदयस्पर्शिनी

शिष्य इति—इस पर शिष्य कहता है—हाँ, अनुभव तो करता हूँ, किन्तु रुक-रुक कर (व्यवधान से) अनुभव करता हूँ, सतत नहीं ॥ ८८ ॥

गुरुराह—तर्हि आगन्तुके त्वेते, न तवात्मभूते। यदि तवात्मभूते, चैतन्यस्वरूपवत्स्वतः सिद्धे सन्तते एव स्याताम्। किञ्च, स्वप्नजागरिते न तवात्मभूते, व्यभिचारित्वात्, वस्त्रादिवत्। न हि यस्य यत्स्वरूपं, तत्तद्व्यभिचारि दृष्टम्। स्वप्नजागरिते तु चैतन्यमात्रत्वात् व्यभिचरतः। सुषुप्ते चेत्स्वरूपं व्यभिचरेत् तन्नष्टं, नास्तीति बाध्यं वा स्यात्—आगन्तुकानामतद्धर्माणामुभयात्मकत्वदर्शनात्—यथा धनवस्त्रादीनां नाशो दृष्टः, स्वप्नभ्रान्तिलब्धानां त्वभावो दृष्टः ॥८९॥ (45)

हृदयस्पर्शिनी

गुरुरिति—गुरु ने उससे कहा—तब तो अवस्थाएँ आगन्तुक ही हैं। सुषुप्ति में आत्मस्वरूप के भासमान होने पर भी स्वप्न-जागरित का अवभास नहीं होता। अतः वे दोनों अवस्थाएँ आत्मा की स्वरूपभूत नहीं हैं। इसी कारण उनका अनुभव तुम्हें विच्छिद्य-विच्छिद्य (रुक-रुककर) होता है। यदि वे तुम्हारी स्वरूपभूत होतीं अर्थात् स्वतः सिद्ध होतीं तो वे निरन्तर अनुभूत होती रहतीं। अतः अनुमान प्रमाण से अवगत होता है कि 'विमते अवस्थे अनात्मभूते व्यभिचारित्वात् वस्त्रादिवत्' अर्थात् वस्त्रादि के समान आगमापायिनी (व्यभिचारिणी) होने के कारण स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाएँ आत्मा की स्वरूपभूता नहीं हैं क्योंकि जो जिसका स्वरूप होता है, वह उससे व्यभिचारी (पृथक् रहनेवाला) नहीं देखा गया है। किन्तु स्वप्न और जाग्रत् का तो चैतन्यस्वरूप आत्मा से व्यभिचार (विच्छेद) होता है। यदि सुषुप्ति अवस्था में स्वरूप का व्यभिचार माना जाय तो वह या तो नष्ट हो जाता है या है ही नहीं, इसलिये उसका बाध ही हो जाता है, क्योंकि वस्तु में न रहने वाले आगन्तुक धर्म दो ही प्रकार के देखे जाते हैं। जैसे धन, वस्त्र आदि का तो नाश देखा जाता है, और स्वप्न एवं भ्रान्ति से प्राप्त हुए पदार्थों का सर्वथा अभाव देखा गया है ॥ ८९ ॥

नन्वेवं, भगवन्, चैतन्यस्वरूपमप्यागन्तुकं प्राप्तम्, स्वप्नजागरितयोरिव सुषुप्तेऽनुपलब्धेः, अचैतन्यस्वरूपो वा स्यामहम् ॥९०॥ (46)

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—शिष्य कहता है—हे भगवन्! इस प्रकार से तो आत्मा का चैतन्यस्वरूप भी आगन्तुक सिद्ध होता है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् के तुल्य सुषुप्ति में उसकी उपलब्धि नहीं होती। अथवा मुझमें अचैतन्यस्वरूपता की भी प्राप्ति हो सकती है—क्योंकि अन्य कोई गति नहीं है ॥ ९० ॥

न, पश्य। तदनुपपत्तेः। चैतन्यस्वरूपं चेदागन्तुकं पश्यसि, पश्य, नैतद्वर्षशतेनाप्युपपत्त्या कलयितुं* शक्नुमो वयम्, अन्यो वाऽचैतन्योऽपि; तस्य संहतत्वात्पारार्थ्यमनेकत्वं नाशित्वं च न केनचिदुपपत्त्या वारयितुं शक्यम्—अस्वार्थस्य स्वतःसिद्ध्यभावादित्यवोचाम। चैतन्यस्वरूपस्य त्वात्मनः स्वतः सिद्धेरन्यानपेक्षत्वं न केनचिद्वारयितुं शक्यम्, अव्यभिचारात् ॥९१॥ (47)

हृदयस्पर्शिनी

नेति—गुरु ने कहा कि नहीं; देखो, ऐसा कहना उचित नहीं है। अर्थात् वस्तुस्वभाव का आलोचन करने पर चैतन्य की आगन्तुकता अनुपपन्न ठहरती है इसलिये तुम्हारा कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। इस पर शिष्य कहता है कि सुषुप्ति में दृष्टि(ज्ञान)रूप चैतन्य का अनुभव नहीं होता परन्तु जाग्रत् आदि अवस्थाओं में उसका अनुभव होता है। अतः चैतन्य भी आगन्तुक ही है, ऐसा मैं सोच रहा हूँ। उस पर गुरु ने उससे पूछा कि यह बताओ कि क्या तुम निरुपाधिक चित्स्वरूप (चैतन्यस्वरूप) को ही आगन्तुक कह रहे हो अथवा नेत्रादिद्वारक बुद्धिवृत्ति से उपहित हुए

* कल्पयितुं—पाठान्तरम्।

चित्स्वरूप को आगन्तुक कह रहे हो? यदि प्रथम पक्ष के अनुसार चैतन्यस्वरूप को ही आगन्तुक समझते हो तो तुम अलौकिक बुद्धिमान् हो। अच्छा; देखो, हम तो न्यायप्रमाणकुशल होते हुए भी किसी युक्ति से सौ वर्ष में भी ऐसी कल्पना नहीं कर सकते और न ही कोई अन्य मूढ़ (मूर्ख) पुरुष भी ऐसा कह सकता है, जैसा तुम कह रहे हो। अभिप्राय यह है—पहले यह विचार करो कि चैतन्य का आगन्तुकत्व, चैतन्य के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है? या अचैतन्य के द्वारा? इसमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि स्वग्राह्यत्व मानने पर स्ववृत्तिविरोध होगा। किसी अंगुली के अग्र भाग से उसी अंगुलि को स्पर्श कर पाना कभी संभव नहीं होता। अथवा असिधारा से उसी असिधारा को नहीं काटा जाता। और न ही किसी अन्य चैतन्य से अन्य चैतन्य की आगन्तुकता को ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि अद्यापि अन्यत्व सिद्ध नहीं हो पाया है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं जड़ का प्रकाश, चित् (चैतन्य) के ही अधीन रहता है, अतः वह जड़, चित् का प्रकाशक कैसे होगा? क्योंकि वह स्वयं ही अप्रकाश है, पराधीन होकर ही वह प्रकाशित हो पाता है। अतः चैतन्य आगन्तुक नहीं है। श्रुति भी इस बात को पुष्ट कर रही है—"यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्[1]।" इस प्रकार अनुपपत्ति दिखलाकर प्रथम विकल्प का निराकरण किया। अब अचैतन्य के आपादन बताकर द्वितीय विकल्प का निराकरण कर रहे हैं। संहत होने के कारण (नेत्रादि इन्द्रियद्वारक बुद्धि-वृत्तिरूप उपाधिग्रस्त जो पदार्थ होता है, वह संहत होता है) उसकी परार्थता, अनेकता, और नाशशीलता को भी कोई पुरुष युक्ति के द्वारा निवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्वार्थ नहीं है, उसकी स्वतःसिद्धि नहीं हो सकती, यह हम पहले ही कह चुके हैं। बात को श्रुति भी पुष्ट कर रही है। "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः[2]।" चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वतः सिद्ध है, अतः वह, अन्य की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वह अव्यभिचारी है, इस तथ्य का निवारण कोई नहीं कर सकता। उपर्युक्त श्रुति में षष्ठ्यन्त शब्दवाच्य दृष्टि आदि, अन्य द्रष्टा से व्याप्य होने के कारण वे अचैतन्यस्वरूप (जड़) बताये गये हैं। और उनसे भिन्न दृष्टि आदि पदार्थों के स्वरूप का प्रकाशक होने से द्रष्टृ आदि शब्दों से निर्दिष्ट साक्षी नित्यचैतन्यस्वभाव है, यह सिद्ध होता है॥ ९१॥

ननु व्यभिचारो दर्शितो मया—सुषुप्ते न पश्यामीति ॥९२॥ (48)

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—इस पर शिष्य ने कहा कि मैंने पहले ही व्यभिचार दिखा दिया है कि "मैं सुषुप्ति में नहीं देखता हूँ"॥ ९२॥

न, व्याहतत्वात्। कथं व्याघातः? पश्यतस्तव न पश्यामीति व्याहतं वचनम्। न हि कदाचिद्भगवन्, सुषुप्ते मया चैतन्यमन्यद्वा किंचिद्दृष्टम्। पश्यंस्तर्हि सुषुप्ते त्वम्; यस्माद्दृष्टमेव प्रतिषेधसि, न दृष्टिम्। या तव दृष्टिः, तच्चैतन्यम्, इति मयोक्तम्। यया त्वं विद्यमानया न किंचिद्-दृष्टमिति प्रतिषेधसि, सा दृष्टिस्तच्चैतन्यम्। तर्हि सर्वत्राव्यभिचारात्कूटस्थनित्यत्वं सिद्धं स्वत एव, न प्रमाणापेक्षम्। स्वतःसिद्धस्य हि प्रमातुरन्यस्य प्रमेयस्य परिच्छित्तिं प्रति प्रमाणापेक्षा। या त्वन्या नित्या परिच्छित्तिरपेक्ष्यतेऽन्यस्यापरिच्छित्तिरूपस्य परिच्छेदाय, सा हि नित्यैव कूटस्था, स्वयंज्योतिःस्वभावा आत्मनि प्रमाणत्वे प्रमातृत्वे वा न तां प्रति प्रमाणापेक्षा, तत्स्वभावत्वात्, यथा प्रकाशनमुष्णत्वं वा लोहोदकादिषु परतोऽपेक्ष्यते अग्न्यादित्यादिभ्यः, अतत्स्वभावत्वात्, नाग्न्यादित्यादीनां तदपेक्षा, सदा तत्स्वभावत्वात् ॥९३॥ (49)

१. (बृ. उ. ४।३।२३)
२. (बृ. उ. ३।४।२)

हृदयस्पर्शिनी

नेति—गुरु कहते हैं—अरे, जैसा तुम समझ रहे हो, वैसा नहीं है। क्योंकि तुमने अभी जो कहा, उसमें विरोध (व्याघात) है। शिष्य ने पूछा—व्याघात किस प्रकार है? गुरु ने कहा—तुम जो कह रहे हो कि 'मैं नहीं देखता', यही व्याघात है, क्योंकि देखते हुए भी 'मैं नहीं देखता हूँ' कह रहे हो। तुमने अभी कहा था कि 'भगवन्! मैंने सुषुप्ति में चैतन्य अथवा कोई अन्य वस्तु कभी नहीं देखी' इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि सुषुप्ति में भी तुम देखते रहते हो, तुम दृश्य वस्तु का ही निषेध कर रहे हो, देखने का तो नहीं कर रहे हो। अतः वह जो देखना अर्थात् दृष्टि (ज्ञान) है, वही तो चैतन्य है, यह मैं पहले बता चुका हूँ। जिस दृष्टि के विद्यमान रहने से ही तुम 'मैंने कुछ नहीं देखा' इस प्रकार निषेध कर पा रहे हो, वह जो दृष्टि (ज्ञान) है, वह तुम्हारा 'चैतन्य' ही है। तब तो सर्वत्र अव्यभिचार होने के कारण तुम्हारा कूटस्थत्व, नित्यत्व स्वतः सिद्ध ही है। उसमें किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। वह तो प्रमाण के प्रवृत्त होने के पूर्व से ही प्रकाशमान है। इस प्रकार के प्रमाता का दृश्य जो अन्य प्रमेय है, उसकी स्फूर्ति (परिच्छित्ति) के लिये उसे प्रमाण की अपेक्षा रहती है। अपने प्रमातृस्वरूप की परिच्छित्ति (स्फूर्ति) के प्रति उसे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु जिस नित्य परिच्छित्ति (संवित्, ज्ञान) को, अन्य अचेतन वस्तुओं के प्रकाशनार्थ अपेक्षा रहती है, वह तो नित्या, कूटस्था, स्वयंप्रकाशस्वरूपा ही है। आत्मा के प्रमाणत्व अथवा प्रमातृत्व में उस परिच्छित्ति को किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं हुआ करती, क्योंकि वे तो उसके स्वभाव ही हैं। जिस प्रकार लोहे और जल आदि में प्रकाशन अथवा उष्णत्व के लिये अग्नि और आदित्य की अपेक्षा होती है, क्योंकि वे उनके स्वभाव नहीं हैं। परन्तु अग्नि या सूर्य को प्रकाशन या उष्णत्व के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि वे उनके स्वभाव ही हैं। अभिप्राय यह है कि अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही 'प्रमाण' शब्द से कहा जाता है, और वृत्तिमत् अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य 'प्रमातृ' शब्द से कहा जाता है। वे दोनों प्रमेय के अवभासकाल में विविध प्रकार से अवभासित होते हैं। तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि प्रमेय ही स्वतः स्फुरित हो रहा है, इस प्रकार प्रमेय के स्वतः स्फुरण की शंका होने लगती है। किन्तु वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। चैतन्य का जो अवभास होता है, उसके लिये किसी अन्य प्रमाता की या अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती, अन्यथा अनवस्था प्रसंग आवेगा, और वैसा मानने में कोई उपपत्ति (युक्ति) भी नहीं है। अतः प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय का अवभासक स्वप्रकाश आत्मा है, यह स्पष्ट हो जाता है। नित्यस्वप्रकाश कूटस्थ चिदात्मता उसी की है। अप्रकाश स्वभाववाली वस्तुओं को ही प्रकाशित होने के लिये प्रकाशान्तर की अपेक्षा होती है, किन्तु प्रकाशस्वभाव वाली वस्तु को नहीं ॥ ९३ ॥

अनित्यत्व एव प्रमा स्यात्, न नित्यत्व इति चेत् ॥९४॥ (50)

हृदयस्पर्शिनी

अनित्यत्व इति—इस पर पुनः शंका होती है कि संवित्(ज्ञान)रूप प्रमा तो प्रमाण का फल है, तब उसे नित्य कैसे कह सकते हैं? अर्थात् प्रमा तो अनित्य ज्ञान होने पर ही होती है, नित्य ज्ञान होने पर तो नहीं होती। अभिप्राय यह है कि अनधिगत, अबाधित अर्थविषयक ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। अर्थात् जिस ज्ञान का पहले कभी अनुभव नहीं हुआ है और जिसका कभी बाध भी नहीं होता उसे 'प्रमा' कहते हैं। 'स्मृति' ज्ञान, पूर्वानुभव से होने के कारण वह पूर्वानुभवपूर्वक है, उसका 'अनधिगत' कहने से व्यावर्तन हो गया। और रज्जु में सर्पज्ञानरूप 'भ्रम,' अथवा शुक्ति में रजतज्ञानरूप भ्रम का कालान्तर में बाध हो जाता है। अतः 'अबाधित' कहने से भ्रमज्ञान का निरास हो जाता है। इस प्रकार की 'प्रमा' को प्रमाण का फल हो कहा जाता है। जैसे यथार्थ घट में घटबुद्धि होना ही 'प्रमा' है। वह प्रमाणजन्य है, अतः वह अनित्य है। क्योंकि जो जन्य होता है, वह अनित्य होता है। 'प्रमा' भी जन्य है, अतः उसे अनित्य ही कहा जायगा। तब आत्मज्ञान यदि नित्यसिद्ध है तो उसे 'प्रमा' कैसे कह सकते हैं ॥ ९४ ॥

न, अवगतेर्नित्यत्वाऽनित्यत्वयोर्विशेषानुपपत्तेः—नहि अवगतेः प्रमात्वेऽनित्याचगतिः प्रमा, न नित्या इति विशेषोऽवगम्यते ॥९५॥ (51)

हृदयस्पर्शिनी

नेति—इस पर गुरु कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है।—'अर्थावगतिर्हि प्रमा'—अर्थावबोध को 'प्रमा' कहते हैं। उसको स्वरूपतः अनित्य मानने में कोई युक्ति नहीं है। चक्षुरादि इन्द्रियद्वारक बुद्धिवृत्ति से व्यक्त होने वाली अवगति(ज्ञान)रूप प्रमा के नित्य रहने पर उसमें 'प्रमात्व' नहीं रहता और उसके अनित्य रहने पर 'प्रमात्व' रहता है—ऐसा विशेष मानने में कोई विनिगमक नहीं है। अर्थात् 'ज्ञान' के नित्य या अनित्य होने से उसके प्रमात्व में कोई विशेषता नहीं होती ॥ ९५॥

नित्यायां प्रमातुरपेक्षाभावः, अनित्यायां तु यत्नान्तरितत्वादवगतिरपेक्षत इति विशेषः स्यादिति चेत् ॥९६॥

हृदयस्पर्शिनी

नित्यायामिति—इस पर शिष्य 'विनिगमनाभाव नहीं है', ऐसी शंका कर रहा है। क्योंकि अवगति (संविद्) को नित्य मानने पर कारकव्यापार व्यर्थ हो जायगा, यह विशेष ही विनिगमक है। अर्थात् नित्य ज्ञान में प्रमाता की अपेक्षा नहीं होगी, क्योंकि अनित्य ज्ञान में ही प्रमाता के यत्न की अपेक्षा होती है। अर्थात् प्रमाता के यत्न से अनित्य ज्ञान ही साध्य होता है, इसलिये उसमें अवगति (प्रतीति) की अपेक्षा हुआ करती है। यह विशेषता यदि कही जाय तो विनिगम का भाव नहीं है ॥ ९६ ॥

सिद्धा तर्ह्यात्मनः प्रमातुः स्वतःसिद्धिः प्रमाणनिरपेक्षतयैवेति ॥९७॥

हृदयस्पर्शिनी

सिद्धेति—गुरु कहते हैं कि नित्यज्ञान के पक्ष में प्रमाण की अपेक्षता नहीं है, ऐसा यदि तुम समझते हो तो प्रमाता आत्मा के स्वरूप की स्वतः सिद्धि अर्थात् स्वप्रकाशता उसी से अर्थात् प्रमाणनिरपेक्षता से ही सिद्ध हो जाती है। अनित्य और अस्वप्रकाश की जड़ता के कारण उसे आत्मा कहना अनुपपन्न है ॥ ९७ ॥

अभावेऽप्यपेक्षाऽभावः, नित्यत्वादेवेति चेत् ॥९८॥

हृदयस्पर्शिनी

अभाव इति—उसपर शिष्य कहता है कि आत्मप्रभा के नित्य होने से यदि प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, तो प्रमा का अभाव होने पर भी नित्य होने के कारण उसे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, ऐसा यदि कहें तो क्या हानि है ? ॥९८॥

न, अवगतेरेवात्मनि सद्भावादिति परिहृतमेतत्। प्रमातुश्चेत्प्रमाणापेक्षा सिद्धिः, कस्य प्रमित्सा स्यात् ? यस्य प्रमित्सा, स एव प्रमाताऽभ्युपगम्यते। तदीया च प्रमित्सा प्रमेयविषयैव, न प्रमातृविषया, प्रमातृविषयत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्प्रमातुस्तदिच्छायाश्च तस्याप्यन्यः प्रमाता तस्याप्यन्य इति। एवमेवेच्छायाः। प्रमातृविषयत्वे प्रमातुरात्मनोऽव्यवहितत्वाच्च प्रमेयत्वानुपपत्तिः। लोके हि प्रमेयं नाम प्रमातुरिच्छास्मृतिप्रयत्नप्रमाणजन्मव्यवहितं सिद्ध्यति, नान्यथा अवगतिः प्रमेयविषया दृष्टा। न च प्रमातुः प्रमाता स्वस्य स्वयमेव केनचिद्व्यवहितः कल्पयितुं शक्यः इच्छादीनामन्यतमेनापि। स्मृतिश्च स्मर्तव्यविषया, न स्मर्तृविषया। तथेच्छाया इष्टविषयत्वमेव, नेच्छावद्विषयत्वम्, स्मर्त्रिच्छावद्विषयत्वेऽपि ह्युभयोरनवस्था पूर्ववदपरिहार्या स्यात् ॥९९॥

हृदयस्पर्शिनी

नेति—गुरु कहते हैं कि ऐसी बात न कहो। क्योंकि आत्मा में अवगति (ज्ञान) के सद्भाव के कारण ही उसे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। अवगति (प्रमा) के अभाव की आशंका ही नहीं की जा सकती। अर्थात् स्वयं अवगति

ही आत्मा में रहती है, यह पहले ही हम बता चुके हैं, जिससे तुम्हारी शंका का निवारण हो जाता है। अभिप्राय यह है कि असंहत ही संघात का साक्षी है, वही चितिमान् है, यह उपपादन कर चुके हैं। अथवा 'आत्मसिद्धिः प्रमाणं नापेक्षते' आत्मसिद्धि में प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती, यह कहने से यही निष्कर्ष निकलता है कि आत्मसिद्धि में प्रमाणाभाव की अपेक्षा होती है। किन्तु आत्मसिद्धि के नित्य होने से उसकी अपेक्षा भी नहीं होनी चाहिए—यह अभिप्राय शंका करनेवाले शिष्य का है। उस शंका का परिहार गुरु करते हैं कि 'स्वतःसिद्धि' और 'प्रमाणनैरपेक्ष्य' इन दो शब्दों से सर्वानपेक्ष प्रकाशमान आत्मस्वरूप की ही विवक्षा रहने से तुम्हारी शंका के लिये कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। यदि प्रमाता की सिद्धि, प्रमाण के अधीन हो तो बताओ, प्रमाण की अपेक्षा किसे होगी ? जिसे प्रमाण की अपेक्षा रहती है, उसे ही प्रमाता मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि जितनी भी यच्चयावत् वस्तुएँ हैं, वे सभी ज्ञात या अज्ञात रूप से प्रमातृ चैतन्य की ही विषय हुआ करती हैं। यह वस्तुस्थिति है। तब यदि कभी अज्ञात समझकर उस निर्विकल्प साक्षी चैतन्य को जानने की इच्छा होती है तो उसके ज्ञातत्व की सिद्धि के लिये जिसे वह इच्छा होगी, वही प्रमाण का आश्रयभूत प्रमाता कहलायेगा। उस समय प्रमाता की स्वरूपसिद्धि के लिये प्रमाण की अपेक्षा होगी। किन्तु वह होगी किसे ? उसी प्रमाता को या किसी अन्य को ? और वह किसे जानने के लिये होगी ? अपने को ही जानने के लिये होगी या किसी दूसरे के जानने के लिये होगी ? एवंच किसी भी प्रकार से प्रमाता को जानने की इच्छा उपपन्न नहीं हो रही है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जो इच्छा का आश्रय है, वह उसका विषय नहीं हो सकता। तथापि एक यह शंका हो सकती है कि आत्मा स्वयं ही अपना प्रमाता क्यों नहीं है ? इस शंका का समाधान यह है कि प्रमाणेच्छा हमेशा प्रमेयविषयिणी ही हुआ करती है, प्रमातृविषयिणी नहीं। यदि उसे प्रमातृविषयिणी मानेंगे तो प्रमाता और उसकी इच्छा का कोई अन्य प्रमाता स्वीकार करना होगा, और उसका अन्य कोई दूसरा, इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग उपस्थित होगा। इसी प्रकार इच्छा को यदि प्रमातृ-विषयिणी मानेंगे तो प्रमाता आत्मा अव्यवहित होने के कारण उसे प्रमेय नहीं कह सकते। लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि 'प्रमेय' सर्वदा प्रमाता से इच्छा, स्मृति एवं प्रमाण के जन्म द्वारा व्यवहित ही रहता है। उसके रहने का और कोई प्रकार नहीं है। अर्थात् इच्छा का विषयभूत प्रमेय इच्छा के जन्म (उत्पत्ति) से व्यवहित रहता है, स्मृति का विषयभूत प्रमेय स्मृति की उत्पत्ति से व्यवहित रहता है, प्रयत्न का विषयभूत प्रमेय प्रयत्न की उत्पत्ति से व्यवहित रहता है, उसी तरह प्रमाण का विषयभूत प्रमेय प्रमाण की उत्पत्ति से व्यवहित रहता है। अन्य कोई प्रकार उसके रहने का नहीं है। अवगति भी प्रमेयविषयिणी ही देखी गयी है। स्वयं प्रमाता अपने स्वयं की ही इच्छा आदि में से किसी के द्वारा व्यवहित हो ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। स्मृति भी स्मर्यमाण पदार्थ को ही विषय करती है। स्वयं स्मरण करनेवाले स्मर्ता को नहीं। उसी प्रकार इच्छा भी इष्ट वस्तु की ही हुआ करती है, अर्थात् इष्टवस्तु-विषयिणी ही होती है। वह इच्छा करनेवाले को अपना विषय नहीं बनाती। यदि स्मृति, स्मरणकर्ता को और इच्छा, इच्छा करने वाले को विषय करे तो पहले की तरह उन दोनों की अनवस्था होने लगेगी, जिसका परिहार नहीं हो सकेगा।। ९९ ॥

ननु प्रमातृविषयावगत्यनुत्पत्तौ, अनवगत एव प्रमाता स्यादिति चेत् ॥१००॥ (56)

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—यहाँ तक यह बताया गया कि आत्मसिद्धि में प्रमाण-व्यापार की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि प्रमाता में स्वविषयप्रमाणक्रियाश्रयत्व नहीं है, और अन्य प्रमाता की कल्पना करें तो अनवस्था होगी। अतः आत्मा अप्रमेय ही है, यह सिद्ध हुआ। बाह्य विषय (पदार्थ) के अवच्छेदार्थ उसे प्रमाणव्यापार की अपेक्षा रहती है, अतः प्रमाणव्यापार को व्यर्थ भी नहीं कह सकते, इस कथन से अवगति में स्वतः नित्यत्व सिद्ध किया गया। अब प्रकारान्तर से उसी के साधनार्थ पुनः पूर्व पक्ष कर रहे हैं। जिस विषय की अवगति होती है, उसी को अवगत और सिद्ध आदि शब्दों से कहा जाता है। किन्तु आपके कथनानुसार प्रमाता को विषय करनेवाला ज्ञान उत्पन्न न होने से प्रमाता तो अज्ञात ही रहेगा अर्थात् प्रमाता सर्वदा सुषुप्त ही रहेगा ॥ १०० ॥

न, अवगन्तुरवगतेरवगन्तव्यविषयत्वात्, अवगन्तृविषयत्वे चानवस्था पूर्ववत्स्यात्। अवगति-श्चात्मनि कूटस्थनित्यात्मज्योतिरन्यतोऽनपेक्षैव सिद्धा, अग्न्यादित्याद्युष्णप्रकाशवत् इति पूर्वमेव प्रसाधितम्।

अवगतेश्चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मन्यनित्यत्वे, आत्मनः स्वार्थतानुपपत्तिः कार्यकरणसंघातवत्संहतत्वात्पारार्थ्यं दोषवत्त्वं चावोचाम। कथं? चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मन्यनित्यत्वे स्मृत्यादिव्यवधानात्सान्तरत्वम्। ततश्च तस्य चैतन्यज्योतिषः प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वमात्मन्येवाभावात्, चक्षुरादीनामिव संहतत्वात्, पारार्थ्यं स्यात्। यदा च तदुत्पन्नमात्मनि विद्यते, *न तदाऽऽत्मनः स्वार्थत्वम्, तद्भावाभावापेक्षा ह्यात्मानात्मनोः स्वार्थत्वपरार्थत्वसिद्धिः। तस्मादात्मनोऽन्यनिरपेक्षमेव नित्यचैतन्यज्योतिष्ट्वं सिद्धम्॥१०१॥

हृदयस्पर्शिनी

नेति—शिष्य से उसका अभिप्राय स्पष्ट कराने के लिये गुरु उस से पूछते हैं कि क्या तुम, सुषुप्त की समानता का परिहार करने के लिये आत्मा को अवगति (ज्ञान) का विषय कहना चाहते हो, या केवल सुषुप्तसमानता का परिहार मात्र कहना चाह रहे हो? इन दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प तो उचित नहीं है। क्योंकि ज्ञाता (अवगन्ता) का जो ज्ञान है, वह ज्ञेय को ही विषय करता है। यदि वह ज्ञाता को विषय करे तो पूर्ववत् अनवस्था प्राप्त होगी। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि अग्नि और सूर्य की उष्णता एवं प्रकाश के तुल्य, आत्मा में अन्य किसी की अपेक्षा से रहित कूटस्थ नित्य स्वयंप्रकाश ज्ञान स्वतः सिद्ध है। आत्मा में यदि चैतन्यात्मप्रकाशरूप ज्ञान अनित्य हो तो आत्मा की स्वार्थता अनुपपन्न होती है। ऐसी अवस्था में देहेन्द्रिय के समान संहत होने से हमने उसका पारार्थ्य तथा दोषयुक्त होना भी बताया था। शिष्य ने पूछा 'किस प्रकार' तो उसी उक्त अनुपपत्ति को पुनः याद करा रहे हैं। यदि आत्मा का चैतन्यरूप ज्ञान अनित्य हो तो स्मृति, इच्छा आदि का व्यवधान (विच्छेद) रहने से वह चैतन्य ज्योतिरूप ज्ञान व्यवहीत (सान्तर) होगा। अर्थात् वह इच्छादिवृत्त्यन्तरपूर्वक होगा। उससे क्या होगा? तब तो उस चैतन्यरूप ज्ञान का अपनी उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के पश्चात आत्मा में ही अभाव हो जाने से चक्षुरादि के तुल्य संहत होने से उसका (आत्मा का) पारार्थ्य सिद्ध होगा। चैतन्यरूप ज्ञान पैदा होकर आत्मा में रहता है, अतः आत्मा की स्वार्थता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि उसमें संहतत्व का अभाव होने से स्वार्थत्व और स्वार्थत्व के होने से ही अनात्मा के परार्थत्व की सिद्धि हो जाती है। अतः आत्मा का अन्यनिरपेक्ष रहना ही उसकी नित्य चैतन्य प्रकाशरूपता है, यह सिद्ध हो जाता है॥ १०१॥

नन्वेवं सति, असति प्रमाश्रयत्वे, कथं प्रमातुः प्रमातृत्वम्?॥१०२॥

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—शिष्य कहता है कि आत्मा यदि प्रमा का आश्रय नहीं है तो प्रमातारूप चेतन का प्रमातृत्व कैसे संभव हो पायगा?॥ १०२॥

उच्यते—प्रमाया नित्यत्वेऽनित्यत्वे च रूपविशेषाभावात्। अवगतिर्हि प्रमा, तस्याः स्मृतीच्छादिपूर्विकाया अनित्यायाः कूटस्थनित्याया वा, न स्वरूपविशेषो विद्यते, यथा धात्वर्थस्य तिष्ठत्यादेः फलस्य गत्यादिपूर्वकस्यानित्यस्यागतिपूर्वस्य नित्यस्य वा रूपविशेषो नास्तीति तुल्यो व्यपदेशो दृष्टः—"तिष्ठन्ति मनुष्याः" "तिष्ठन्ति पर्वताः" इत्यादिः। तथा नित्यावगतिस्वरूपेऽपि, प्रमातरि प्रमातृत्वव्यपदेशो न विरुध्यते, फलसामान्यादिति॥१०३॥

हृदयस्पर्शिनी

उच्यत इति—गुरु कहते हैं कि जन्य प्रमा का आश्रय न होने पर भी उसमें प्रमातृत्व का व्यवहार उपपन्न हो सकता है। प्रमा चाहे नित्य हो या अनित्य हो, उसमें स्वरूप का कोई भेद नहीं है क्योंकि अवगति (ज्ञान) को ही 'प्रमा' शब्द से कहते हैं। वह प्रमा स्मृतिपूर्वक या इच्छा आदि पूर्वक अनित्य हो अथवा कूटस्थ नित्य हो, उसके स्वरूप में कोई

* नैवं सम्भवति—पाठान्तरम्।

अन्तर नहीं है। जैसे 'स्था' आदि धातु के अर्थ (गति, निवृत्ति आदि) में गत्यादिपूर्वकता के कारण अनित्यता होने पर अथवा पूर्वगति आदि की शून्यता रहने से नित्यता होने पर कोई विशेषता नहीं होती। उसी से (धात्वर्थ से) 'मनुष्य स्थित है' 'पर्वत स्थित है' इस प्रकार समान व्यपदेश होता देखा गया है। 'मनुष्य स्थित है' इस उदाहरण में गत्यादिपूर्वकता के कारण अनित्य स्थिति का प्रदर्शन है, तथा 'पर्वत स्थित है' इसमें जिसके पहले भी गति आदि नहीं थी, ऐसी नित्य स्थिति प्रदर्शित की गयी है। किन्तु इस प्रकार अर्थ में भेद होने पर भी व्यपदेश (व्यवहार) में कोई भेद नहीं है। उसी प्रकार प्रमाता चेतन के नित्यज्ञानस्वरूप होने पर भी उसे प्रमाता कहने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि नित्य-अनित्य द्विविध ज्ञान के फल तो समान ही हैं। अभिप्राय यह है कि प्रमाण के फल को ही प्रमा कहते हैं। वह चित्प्रकाशरूप है, अतः उसे प्रमातृगत ही कहना होगा। अन्यथा उसे विषयगत मानने पर 'मया इदं विदितम्'—मैंने यह जाना इस प्रकार स्वात्मा में ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध का अनुभव अनुपपन्न होगा। और अन्तःकरणादि जड़ पदार्थ में व्यापाराश्रयता के रहने पर भी चिदाश्रयत्व नहीं रहता है, उस कारण उसमें प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता है। किन्तु चिदात्मा तो कूटस्थ है, उस कारण उसमें व्यापारवत्ता के न रहने से प्रमा के प्रति उसका कर्तृत्व अनुपपन्न है। मुख्य वृत्ति से जड़-अजड़ दोनों में भी प्रमातृत्व व्यपदेश की योग्यता नहीं है। परस्पराध्यास के कारण व्यवहार चलता रहता है, अतः बाह्य विषय में भी आत्मा का प्रमातृत्व मिथ्या ही है। ऐसी स्थिति में स्वयंप्रकाश स्वभाववाले आत्मा में प्रमातृत्व की शंका करने का अवकाश ही कहाँ है? और उसके अनवभास का प्रसंग ही कहाँ है? तथा प्रमाण की अपेक्षा भी कहाँ और कैसे है? ॥१०३॥

D **अत्राह शिष्य—नित्यावगतिस्वरूपस्यात्मनोऽविक्रियत्वात्कार्यकरणे संहत्य* तक्षादीनामिव वास्यादिभिः कर्तृत्वं नोपपद्यते। असंहतस्वभावस्य च कार्यकरणोपादानेऽनवस्था प्रसज्येत। तक्षादीनां तु कार्यकरणैर्नित्यमेव संहतत्वमिति वास्याद्युपादाने नानवस्था स्यादिति ॥१०४॥** (60)

हृदयस्पर्शिनी

अत्रेति—इस प्रकार से कूटस्थ नित्य चैतन्य स्वप्रकाश आत्मा में अन्तःकरणरूप उपाधि के सम्बन्ध से प्राप्त औपाधिक प्रमातृत्व का उपपादन करके, अब कर्तृत्व भी उसी प्रकार है, यह बताने के लिये प्रश्न उपस्थित कराते हैं। गुरु का उपर्युक्त कथन सुनकर शिष्य कहता है—जिस प्रकार बसूल आदि साधनों (औजारों) से युक्त हुए बिना काष्ठ-वर्धक (तक्षा, बढ़ई) का कर्तृत्वसम्बन्ध नहीं हो पाता, उसी प्रकार नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा का भी देह और इन्द्रियों से सम्बन्ध हुए बिना कर्तृत्व उपपन्न नहीं है। क्योंकि वह निर्विकार है। असंहत स्वभाववाला आत्मा यदि शरीर और इन्द्रिय का ग्रहण करता है ऐसा कहें तो अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होता है। तक्षा (बढ़ई) का तो देह, इन्द्रियों से सर्वदा ही संहतत्व है, इस कारण वह बसूला आदि साधनों का जो ग्रहण करता है, उसमें अनवस्था नहीं आने पाती। 'तक्षादीनामिव' यह व्यतिरेक दृष्टान्त है ॥ १०४ ॥

6 **इह तु असंहतस्वभावस्य करणानुपादाने कर्तृत्वं नोपपद्यत इति करणमुपादेयम्, तदुपादानमपि विक्रियैवेति तत्कर्तृत्वे करणान्तरमुपादेयम्, तदुपादानेऽप्यन्यदिति प्रमातुः स्वातन्त्र्येऽनवस्थाऽपरिहार्या स्यादिति। न च क्रियैवात्मानं कारयति, अनिर्वर्तितायाः स्वरूपाभावात्। अथान्यदात्मानमुपेत्य क्रियां कारयतीति चेत्—न, अन्यस्य स्वतःसिद्धत्वाविषयत्वाद्यनुपपत्तेः न ह्यात्मनोऽन्यदचेतनं वस्तु स्वप्रमाणकं दृष्टम्। शब्दादि सर्वमेवावगतिफलावसानप्रत्ययप्रमितं सिद्धं स्यात्। अवगतिश्चेदात्मनोऽन्यस्य स्यात्, सोऽप्यात्मैवासंहतः स्वार्थः स्यात्, न परार्थः। न च देहेन्द्रियविषयाणां स्वार्थतामवगन्तुं शक्नुमोऽवगत्यवसानप्रत्ययापेक्षसिद्धिदर्शनात् ॥१०५॥** (61)

हृदयस्पर्शिनी

इहेति—गुरु कहते हैं कि आत्मा में कर्तृत्व वास्तविक नहीं है। कर्तृत्व दो प्रकार का होता है। एक तो करण के द्वारा साध्य होने वाला, और दूसरा सान्निध्यमात्र से निष्पन्न होनेवाला। बढ़ई के समान आत्मा में करणोपादान-

* संहतस्य—पाठान्तरम्।

साध्य कर्तृत्व नहीं हो सकता, इस कारण परमार्थतः उसमें कर्तृत्व का अभाव है। तथापि लौकिक मायावी अथवा चुम्बक के समान अविवेकवश माया से उत्पन्न अन्तःकरणरूप विकार के सन्निधिमात्र से उसमें कर्तृत्व की प्रतीति होना संभव है। यदि यह कहा जाय कि क्रिया ही उससे कर्म करा लेती है, तो क्रिया की निष्पत्ति तो कर्ता के ही द्वारा होती है। अतः जिस प्रकार उत्पन्न होने से पूर्व घट के द्वारा जलानयन का कार्य नहीं होता, उसी प्रकार अपनी निष्पत्ति के पूर्व कोई भी क्रिया, किसी दूसरे के प्रति किसी प्रकार भी उपकारक नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यहाँ करण को लिये बिना असंहत स्वभाववाले आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता, इसलिये उसे करण का ग्रहण करना ही चाहिये। किन्तु करण का ग्रहण करना भी एक विकार ही है। अतः उसके कर्तृत्व के लिये भी उसे दूसरे करण को ग्रहण करने की आवश्यकता होगी, तथा उसे ग्रहण करने के लिये एक अन्य करण को ग्रहण करना होगा, इस प्रकार से प्रमाता की स्वतन्त्रता (कर्तृत्व) के सिद्ध होने में अनवस्था दोष का निवारण नहीं हो सकेगा। यह भी नहीं कह सकते कि क्रिया ही आत्मा से कर्म करा लेती है। क्योंकि किसी भी क्रिया की निष्पत्ति (उत्पत्ति) हुए बिना उसका कोई स्वरूप नहीं हुआ करता। यह भी नहीं कह सकते कि कोई वस्तु, आत्मा के समीप (सन्निध) पहुँचकर उससे कर्म (क्रिया) करा लेती है। किन्तु यह कथन भी उचित न होगा। क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का स्वतःसिद्धत्व और अविषयत्व सम्भव नहीं है। आत्मा से भिन्न कोई अन्य जड़ वस्तु स्वतःसिद्ध नहीं देखी है। शब्दादि यच्चयावत् सभी विषय अवगतिफलावसान प्रत्यय से ही प्रमित हुआ करते हैं। यदि अवगति (ज्ञान) आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की हो तो वह भी असंहत और स्वार्थ आत्मा ही होगा, वह परार्थ नहीं होगा। देह और इन्द्रियों की स्वार्थता को हम समझ नहीं सकते, क्योंकि वे भी अवगतिफलावसान प्रत्यय से ही सिद्ध होते देखे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः ईश्वर, आत्मभिन्न नहीं है, क्योंकि प्रत्यगात्मा की तरह वह अवगति (ज्ञान) का आश्रय है—'ईश्वरः वस्तुतः आत्मभिन्नो न भवति, अवगत्याश्रयत्वात् प्रत्यगात्मवत्' इस प्रकार अनुमान से अनुगृहीत हुई "अयमात्मा ब्रह्म"[1] इत्यादि श्रुति से आत्मा से अन्य कोई चेतन नहीं है। वह आत्मभूत ईश्वर, देहादिकों से असंहत, स्वार्थ, स्वतन्त्र है; परतन्त्र नहीं है, इसलिए वह क्रिया का शेष नहीं है। एवं च आत्मा में जो कर्तृत्व की प्रतीति होती है, वह केवल भ्रममात्र ही है। ईश्वरस्वरूप आत्मा में जगत्कर्तृत्व भी माया के द्वारा ही है। तात्पर्य यह है कि कहीं भी कर्तृत्व, पारमार्थिक नहीं है। लोकायतमत (चार्वाक मत) से शंका करते हैं कि आत्मा अवगत्याश्रय होने से उसमें असंहत्व कैसे है ? क्योंकि संहत देहादि में भी अवगत्याश्रयत्व देखा जाता है। इसके उत्तर में यह अनुमान होगा कि 'देहादिः न अवगत्याश्रयः अवगम्यमानत्वात् घटादिवत्।' देहादि, अवगति के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि वे तो घटादि की तरह अवगम्यमान हैं। अवगति का आश्रय तो आत्मा ही है॥ १०५॥

ननु देहस्यावगतौ न कश्चित्प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्तरमपेक्षते ॥१०६ ॥

हृदयस्पर्शिनी

नन्विति—देहादि में अवगत्यवसानप्रत्ययापेक्षसिद्धिकत्व कैसे है ? क्योंकि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं जानता हूँ' इस प्रकार का ज्ञान तो सभी को स्वतएव होता है। अर्थात् वह ज्ञान स्वसंवेद्य है। देहादि का ज्ञान होने के लिए किसी प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती॥ १०६॥

बाढम्, *जाग्रत्येवं स्यात् । मृतिसुषुप्त्योस्तु देहस्यापि प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव† सिद्धिः, तथैवेन्द्रियाणाम्——बाह्या एव हि शब्दादयो देहेन्द्रियाकारपरिणताः——इति ‡प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव हि सिद्धिः। सिद्धिरिति च प्रमाणफलमवगतिमवोचाम। सा चावगतिः कूटस्था स्वयंसिद्धा आत्मज्योतिः स्वरूपेति च ॥१०७॥

हृदयस्पर्शिनी

बाढमिति—गुरु ने कहा—ठीक है। किन्तु यह अनुभव स्वनिबन्धन नहीं है, अपितु देह और आत्मा के अविवेक से है। क्योंकि जाग्रत्-अवस्था में वैसा अनुभव होता है। मृत्यु और सुषुप्ति के समय में देह की सिद्धि भी प्रत्यक्षादि प्रमाण की अपेक्षा रखती है। यदि देह स्वयं प्रकाशस्वभाव होता तो अपनी सत्ता में प्रमाणनिरपेक्ष स्वभाव

१. (बृ. उ. २।५।१९) * जाग्रत्येवैवं—पाठान्तरम्। † णापेक्षयैव—पाठान्तरम्। ‡ पेक्षयैव—पाठान्तरम्।

के कारण सुषुप्ति-मरणावस्था भी प्रमाणनिरपेक्ष सिद्धिवाली होती। किन्तु ऐसी बात नहीं है, तस्मात् 'देह' अचेतन है। इसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धि भी प्रमाण के अधीन है। इस प्रकार देह में बताये गये न्याय का इन्द्रिय के सिद्धि में अतिदेश किया गया है। देह और इन्द्रियों के आकार में परिणत हुए शब्दादि विषय बाह्य ही हैं। अतः उनकी सिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण की अपेक्षा होती ही है। इस विषय में अनुमान इस प्रकार किया जायेगा—'देहादिः अनात्मा भौतिकत्वात् बाह्यवत्'। ग्राह्य, ग्राहक, करण उनके आयन के रूप में भूतों का ही परिणाम होता है। क्योंकि 'उपकार्योपकारक भाव से परस्पर संहत हुए पदार्थ समानयोनि हुआ करते हैं, ऐसा नियम है। 'सिद्धि' का अर्थ निष्पत्ति नहीं है। यदि 'निष्पत्ति' अर्थ होता, तो उसे प्रत्यक्षादि की अपेक्षा न होती। 'सिद्धि' का अर्थ है प्रमाण की फलभूता अवगति, यह हम पूर्व कह चुके हैं। वह अवगति कूटस्थ, स्वयंसिद्ध, एवं स्वयंप्रकाशरूप है। यह कहकर अर्थात् अवगति का स्वरूप बताकर लोकायतिकों की शंका का निरसन कर दिया गया है। लोकायतिक का कहना था कि देहादि के आकार में भूतों के परिणत होने पर उनमें मदशक्ति की तरह अवगति उत्पन्न होती है, अतः उसे भी देह की तरह भौतिक ही समझ लेना चाहिये। इस शंका का निरसन हो जाने से अवगति की कूटस्थता ही स्थिर रहती है ॥ १०७ ॥

अत्राह चोदकः——अवगतिः प्रमाणानां फलं कूटस्थनित्यात्मज्योतिःस्वरूपेति च विप्रतिषिद्धम्। इत्युक्तवन्तमाह——न विप्रतिषिद्धम्। कथं तर्हि* ? कूटस्था नित्यापि सति प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्ते लक्ष्यते तादर्थ्यात्। प्रत्यक्षादिप्रत्ययस्य अनित्यत्वे, अनित्येव †भवति। प्रमाणानां फलमित्युपचर्यते ॥१०८॥

हृदयस्पर्शिनी

अत्रेति—इस पर प्रश्नकर्ता कहता है—'अवगति' को प्रमाणों का फल बताना और उसे कूटस्थ, नित्य एवं स्वयंप्रकाश कहना तो परस्परविरुद्ध है। इस प्रकार कहनेवाले शिष्य से गुरु कहते हैं—हमारा कथन परस्परविरुद्ध नहीं है। तब शिष्य ने पूछा कि आपने अवगति को प्रमाणों का फल कैसे कहा था ? गुरु कहते हैं—यद्यपि 'अवगति'-अकार्यरूप है, तथापि कूपाकाशकार्यत्ववत् उसमें कार्यत्व का उपचार किया जाता है। अतः उसके फलत्वप्रसिद्धि में कोई विरोध नहीं है। उपचार करने में निमित्त क्या है ? तो उत्तर दे रहे हैं कि वह अवगति, कूटस्थ और नित्य रहने पर भी वह अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रत्यक्षादि ज्ञान के फलरूप से लक्षित होती है और प्रत्यक्षादि ज्ञान अनित्य होने के कारण वह भी अनित्य-सी होती है। यही कारण है कि वह अवगति उपचार के लक्षण के (लक्षणा के) द्वारा प्रमाणों के फलस्वरूप कही जाती है। तस्मात् कूटस्थावगतिरूप आत्मा में प्रमातृत्व, कर्तृत्व, फलत्व यह सब कल्पना मात्र है। देहादि संहत पदार्थों में परार्थता, जाड्य, पराधीनसिद्धिता रहती है ॥ १०८ ॥

यद्येवं भगवन्, कूटस्थनित्यावगतिरात्मज्योतिःस्वरूपैव स्वयंसिद्धा, आत्मनि प्रमाणनिरपेक्षत्वात् ततोऽन्यदचेतनं संहत्यकारित्वात्परार्थम्। येन च सुखदुःखमोहहेतुप्रत्ययावगतिरूपेण पारार्थ्यं, तेनैव स्वरूपेणानात्मनोऽस्तित्वं, नान्येन रूपान्तरेण। अतो नास्तित्वमेव परमार्थतः। यथाहि लोके रज्जुसर्पमरीच्युदकादीनां तदवगतिव्यतिरेकेणाभावो दृष्टः, एवं जाग्रत्स्वप्नद्वैतभावस्यापि तदवगतिव्यतिरेकेणाभावो युक्तः। एवमेव परमार्थतः भगवन्, अवगतेरात्मज्योतिषो नैरन्तर्यभावात्कूटस्थनित्यताऽद्वैतभावश्च, सर्वप्रत्ययभेदेष्वव्यभिचारात्। प्रत्ययभेदाश्चावगतिं व्यभिचरन्ति। यथा स्वप्ने नीलपीताद्याकारभेदरूपाः प्रत्ययास्तदवगतिं व्यभिचरन्तः परमार्थतो न सन्तीत्युच्यन्ते, एवं जाग्रत्यपि नीलपीतादिप्रत्ययभेदास्तामेवावगतिं व्यभिचरन्तोऽसत्यरूपा भवितुमर्हन्ति। तस्याश्चावगतेरन्योऽवगन्ता नास्तीति न स्वेन स्वरूपेण स्वयमुपादातुं हातुं वा शक्यते, अन्यस्य चाभावात् ॥१०९॥

* तर्हि अवगतेः फलत्वं ? तत्त्वोपचारात्—अधिकः पाठः।

† तेन प्रमा०—पाठान्तरम्।

हृदयस्पर्शिनी

यद्येवमिति—इस प्रकार अब आत्मा और अनात्मा के यथार्थ स्वरूप को समझकर वह शिष्य, अवगत किये अर्थ को गुरु के प्रति निवेदन करता हुआ आत्मा के अद्वैतत्व को संभावित करने के लिए द्वैत के मृषात्व को प्रकट कर रहा है। शिष्य निवेदन करता है कि हे भगवन्! यदि ऐसी बात है तो कूटस्थ, नित्य अवगति (ज्ञान) स्वयंप्रकाश-स्वरूप और स्वयं सिद्ध ही है, क्योंकि आत्मा में अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। और उससे जो भिन्न है, वह अचेतन और मिलकर कार्यकारी होने से परार्थ है अर्थात् चेतनार्थ (चेतन के लिये) है। चैतन्य के प्रतिभासमात्र से उसकी सिद्धि होने से स्वप्नदृष्ट की तरह वह अनृत (मिथ्या) है। इसपर सांख्यवादी शंका करता है कि जितना भी दृश्य है, वह सब सुख-दुःख-मोहान्वयी रहता है, अतः वह सत्त्व-रजस्तमोरूप प्रकृति का कार्य है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में उसे अनृत (मिथ्या) कैसे समझा जाय ? गुरु समाधान करते हैं कि जिस सुख, दुःख और मोह अर्थात् सत्त्व-रजस्तमोहेतुक प्रत्ययावगतिरूप से जड़ वस्तु, परार्थ (भोक्तृशेषवत्) प्रतीत होती है, उसी रूप से उस जड़ वस्तु (दृश्य वस्तु) की सत्ता (अस्तित्व) भी है, किसी अन्य रूप से (सत्त्वादि रूप से) नहीं है। क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः परमार्थतः उसकी (जड़ वस्तु की) सत्ता ही नहीं है। किञ्च—जिस प्रकार लोकव्यवहार में रज्जु-सर्प एवं मृगमरीचिका आदि की प्रतीति के अतिरिक्त उनका अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। इसी को हम अनुमान के आकार में इस प्रकार कह सकते हैं—'विमतं जाग्रत्स्वप्नावस्थं दृश्यं नावगतिव्यतिरेकेण क्वचिदपि परमार्थसत्, दृश्यत्वाज्जडत्वाद्वा, रज्जुसर्पादिवत्'। इस प्रकार दृश्य पदार्थ सापेक्ष होने से उसके मायामय होने की संभावना है, अतः द्रष्टृत्व ही अद्वैत है, वही मेरे अनुभव में अब आरूढ़ हो गया है। इसी का अब निरन्तर अनुभव हो रहा है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था के द्वैतरूप दृश्य का उसकी प्रतीति के अतिरिक्त परमार्थतः अभाव ही युक्तियुक्त प्रतीत हो रहा है। उसी प्रकार हे भगवन्! अवगतिरूप प्रत्यक् प्रकाश की कूटस्थ नित्यता और अद्वैत भाव का मेरे द्वारा अनुभव किया जा रहा है। वह स्वयंप्रकाश अवगति निरन्तर वर्तमान रहती है, उस कारण वह कूटस्था, नित्या और द्वैतरहिता है। क्योंकि समस्त प्रत्ययभेदों में उसका अव्यभिचार है। किन्तु प्रत्यय भेदों का अपनी अवगति में व्यभिचार रहता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में नील-पीताद्याकार भेदरूप प्रत्ययों का परस्पर अपनी अवगति में व्यभिचार होने के कारण 'वे परमार्थतः नहीं है' ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार जाग्रदवस्था में भी नील-पीतादि प्रत्ययभेदों का उस अवगति में व्यभिचार होने से वे असत्यरूप ही होने चाहिए। इसी को हम अनुमान के आकार में इस प्रकार कह सकते हैं—'विमता जाग्रत्प्रत्ययाः परमार्थतो न विद्यन्ते, चैतन्यप्रकाशव्यभिचारित्वात्, ये एवं, ते एवं, यथा स्वप्नप्रत्ययाः तथा चेमे, तस्मात्तथा'। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्वप्नावस्था में देखते हैं कि नीलाकार ज्ञान में पीताकार ज्ञान नहीं रहता, तथा पीताकार ज्ञान में नीलाकार ज्ञान नहीं रहता किन्तु ज्ञान उन सभी में रहता है, केवल उसकी उपाधि का व्यभिचार होता है। उसी प्रकार जाग्रत् ज्ञान में भी है। इसलिए आपस में व्यभिचारी होने के कारण जिस प्रकार वे स्वप्न में मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत् में भी हैं। इतना ही नहीं, संपूर्ण स्वप्नावस्था का जाग्रत् अवस्था में और जाग्रत् अवस्था का स्वप्नावस्था में भी व्यभिचार है। इससे भी उनका मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। किन्तु उनके साक्षी का किसी भी अवस्था में व्यभिचार नहीं दिखाई देता। इस कारण परमार्थतः वही कूटस्थ, नित्य, सद्वस्तु है। क्योंकि जो परमार्थतः सत्य हो अर्थात् जिसका किसी काल में भी अभाव न हो, उसी को 'वस्तु' शब्द से कहना उचित है। श्रीमद्भगवत्गीता में भी कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥" (२।१५)

सद्वस्तु से विलक्षण असद्रूप इस जगत् की सत्ता (अस्तित्व) नहीं हो सकती और सत्स्वरूप ब्रह्म की असत्ता (अभाव) नहीं हो सकती, इस प्रकार तत्त्वदर्शियों ने सत् और असत् के विषय में निश्चय किया है।

स्वप्न, जाग्रत् आदि अवस्थाओं में होने वाली अवगति का कोई अन्य ज्ञाता नहीं है। उस कारण अन्य वस्तु का अभाव होने के कारण अपने स्वरूप से उसका न तो ग्रहण ही किया जा सकता है और न त्याग ही किया जा सकता है। अवगन्ता (ज्ञाता) के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के न होने ने कारण 'मैं पूर्ण हूँ' यह अनुभव आपके प्रसाद से अब हो रहा है ॥ १०९ ॥

तथैवेति। एषाऽविद्या, यन्निमित्तः संसारो जाग्रत्स्वप्नलक्षणः। तस्या अविद्याया विद्या निर्वर्तिका। इत्येवं त्वमभयं प्राप्तोऽसि*। नातः परं जाग्रत्स्वप्नदुःखमनुभविष्यसि। संसारदुःखात् मुक्तोऽसीति ॥११०॥

हृदयस्पर्शिनी

तथैवेति—इस प्रकार से जब शिष्य ने कहा तब गुरु उसकी बात का समर्थन कर रहे हैं। प्रकरण के प्रारम्भ में शिष्य ने विद्या और अविद्या का स्वरूप, उसका विभाग पूछा था, उसे विस्तार के साथ बता चुके हैं। अब प्रकरण का उपसंहार करने जा रहे हैं। गुरु ने शिष्य से कहा कि अब जो तुम्हें अपनी पूर्णता का अनुभव हो रहा है, वह ठीक ही हो रहा है। जिसके कारण जाग्रत्-स्वप्नरूप संसार की प्रतीति होती है, वह तो 'अविद्या' है अर्थात् 'अज्ञान' है। और वेदान्तमहावाक्यजन्य प्रत्यय से अभिव्यक्त होनेवाला कूटस्थ जो आत्मप्रकाश है, वह 'विद्या' है। पूर्वोक्त उस अज्ञान (अविद्या) की निवृत्ति करनेवाला ज्ञान (विद्या) ही है। अब तुम्हें विद्या (ज्ञान) प्राप्त हो गया है। इसलिए अब तुमने अभय प्राप्त कर लिया है। अब से भविष्य में तुम जाग्रत्-स्वप्नजन्य दुःख का अनुभव नहीं करोगे। तुम अब संसाररूप दुःख से मुक्त हो गये हो। अतः तुम कृतकृत्य हो गये हो ॥ ११० ॥

ओमिति ॥१११॥

हृदयस्पर्शिनी

ओमिति—गुरु ने जो कहा उसे शिष्य ने भी 'ॐ' शब्द से स्वीकृति दे दी। अर्थात् आपने जो कहा, वह सत्य है ॥ १११ ॥

॥ इति द्वितीयम् कूटस्थाद्वयात्मबोधप्रकरणम् समाप्तम् ॥

---

* प्राप्नोषि—पाठभेदः।

॥ अथ परिसङ्ख्यानप्रकरणम् ॥ ३ ॥

मुमुक्षूणामुपात्तपुण्यापुण्यक्षपणपराणामपूर्वानुपचयार्थिनां* परिसंख्यानमिदमुच्यते––अविद्याहेतवो दोषा वाङ्मनःकायप्रवृत्तिहेतवः; प्रवृत्तेश्चेष्टानिष्टमिश्रफलानि कर्माण्युपचीयन्ते इति-तन्मोक्षार्थम् ॥११२॥

हृदयस्पर्शिनी

मुमुक्षूणामिति—पूर्व प्रकरण में तत्त्वज्ञान का निरूपण किया गया है। जीव के परम कल्याण का हेतु वही है। जिसे उस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, वही कृतकृत्य है। तब उसके लिये विधि रूप से कुछ भी कर्तव्य नहीं है। किन्तु भेद (द्वैत) दर्शन की दृढ़ वासना के कारण जिनकी उसमें स्थिरता नहीं होती अर्थात् निर्वातस्थ प्रदीप के समान जिनका ज्ञान निश्चल नहीं है, उनके ज्ञान की दृढ़ता के लिये यह 'परिसंख्यान' (अनात्म वस्तुओं का निषेध) प्रकरण प्रारंभ किया जा रहा है। यह परिसंख्यान उन मुमुक्षुओं (नितान्त उपशम चाहने वालों) के लिये कहा जा रहा है, जो अपने सञ्चित पुण्य-पाप का क्षय करने में तत्पर हैं, क्योंकि कर्म तो अविद्यामूलक होते हैं, अतः उसकी निवृत्ति हुए बिना आत्यन्तिक निवृत्ति का होना संभव नहीं है। तथा पूर्वोपार्जित कर्मों का उच्छेद और अपूर्वोत्पादक कर्म का अननुष्ठान ये दोनों अविद्या की निवृत्ति से ही उपपन्न होंगे। इसलिये अविद्या की निवृत्ति के द्वारा उन दोनों की इच्छा रखने वाले अर्थात् जिन्हें क्रियमाण कर्मजनित धर्माधर्मरूप अपूर्व की वासना नहीं है, उन मुमुक्षुओं के लिये यह परिसंख्यान कहा जा रहा है। इस प्रकार अधिकारी को बताया गया है। अब परिसंख्यान का प्रयोजन बताते हैं—अविद्याजनित राग-द्वेषादि दोष, वाणी, मन और शरीर की प्रवृत्ति होने में कारण होते हैं। वाणी, मन और शरीर के व्यापार (प्रवृत्ति कर्म) द्विविध होते हैं—एक शास्त्रीय और दूसरा स्वाभाविक। ये ही देव-तिर्यक् मनुष्यत्वप्रापक हुआ करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति से इष्ट-अनिष्ट एवं मिश्र फल वाले कर्मों का संचय होता है। उनकी निवृत्ति के लिये अर्थात् अविद्यारागादिनिबन्धन कर्म और उसके फलसम्बन्ध के निवृत्यर्थ यह 'परिसंख्यान' कहा जा रहा है॥ ११२॥

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां विषयाणां श्रोत्रादिग्राह्यत्वात्, स्वात्मनि परेषु वा विज्ञानाभावः, तेषामेव परिणतानां यथा लोष्टादीनाम्। श्रोत्रादिद्वारैश्च ज्ञायन्ते। येन च ज्ञायन्ते, स विज्ञातृत्वादतज्जातीयः। ते हि शब्दादयोऽन्योन्यसंसर्गित्वाज्जन्मवृद्धिविपरिणामापक्षयनाशसंयोगावियोगाविर्भावतिरोभावविकारविकारिक्षेत्रबीजाद्यनेकधर्माणः, सामान्येन च सुखदुःखाद्यनेककर्माणः। तद्विज्ञातृत्वादेव स विज्ञाता सर्वशब्दादिधर्मविलक्षणः ॥११३॥

हृदयस्पर्शिनी

तत्रेति—अब उसके उपस्कर के सहित परिसंख्यान प्रकार को बता रहे हैं। प्रथमतः अनात्म वस्तुओं से आत्मा को विविक्त समझकर उसका अनुसन्धान करें, इस प्रकार उपदेश देते हुए उसके विवेक करने का प्रकार बताते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय हैं, क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं। अतः अपने द्वारा अथवा घटादि किसी अन्य पदार्थ के द्वारा उनका ज्ञान होना संभव नहीं है। जिस प्रकार लोष्ट (मिट्टी के ढेले) आदि को कोई ज्ञान नहीं हो पाता, उसी प्रकार शरीरादि रूप में परिणत हुए उन सूक्ष्मभूत रूप-शब्दादि विषयों को भी कोई ज्ञान नहीं होता। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा—'विमता देहादयो न चेतनावन्तः विज्ञानकर्मत्वात् लोष्टादिवत्।' इस अनुमान में कोई हेत्वसिद्धि की शंका न कर सके, एतदर्थ उस हेत्वसिद्धि का परिहार करने के लिये कहा कि देहादि आकार में परिणत हुए शब्दादि विषय, श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ही जाने जाते हैं। इस प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण, अहंकार पर्यन्त जितना भी साक्ष्य पदार्थ है, वह सब अनात्म पदार्थ है, इसलिये वह हेय (त्याज्य) है, ऐसा उपदेश

---

* र्थानां, र्थिनः—पाठौ।

करने के पश्चात् अब अवशिष्ट जो आत्मतत्त्व है, वही अदेय है, वही सब का साक्षी है। अर्थात् जिसके द्वारा ये विषय जाने जाते हैं, वह ज्ञाता होने के कारण उन विषयों से विजातीय है। अर्थात् भूतसंघात से विलक्षण स्वभाव को बता रहे हैं कि वे शब्दादि परस्पर एक दूसरे से मिल जाने के कारण अर्थात् उनमें अन्योन्यसंसर्गिता होने के कारण जन्म, वृद्धि, विपरिणाम, क्षय, नाश, संयोग, वियोग, आविर्भाव, तिरोभाव, विकार, विकारी, क्षेत्र और बीज आदि अनल्प (अनेक) धर्मोंवाले तथा सामान्यरूप से सुख-दुःखादि अनेक कर्मोंवाले हैं। अभिप्राय यह है कि किसी जड़ वस्तु की उत्पत्ति (जन्म) होनेपर ही उसका 'अस्तित्व' गृहीत होता है। सभी जड़ पदार्थों के जन्मादि छह विकार होते हैं, जो स्वरूपनिबन्धन हैं, जैसे संयोग-वियोग पुत्राद्यनुबन्ध निबन्धन हैं। आविर्भाव-तिरोभाव शब्द आगन्तुक प्रकाश के विषय होने से जड़ता के द्योतक हैं। विकार-विकारी शब्द व्रण-गण्ड-विस्फोटकादि अवस्थाओं को बताते हैं। क्षेत्र-बीज शब्द से स्त्री-पुं-प्रकृत्यात्मक परिणामभेद को बताया गया है। 'आदि' पद से अनुक्त अवान्तर भेदों को समझना चाहिये। शब्दादि विषयों का अनुभव होनेपर सुख-दुःख-मोह-रोगादि की उत्पत्ति तो प्रसिद्ध ही है। इन विषयों के विज्ञातृत्व के कारण ही उनका ज्ञाता (आत्मा) शब्दादि सभी विषयों के धर्मों से विलक्षण है ॥ ११३ ॥

तत्र शब्दादिभिरुपलभ्यमानैः पीड्यमानो विद्वानेवं परिसंचक्षीत ॥११४॥

हृदयस्पर्शिनी

तत्रशब्दादिभिरिति—इस रीति से साक्षी और साक्ष्य इनके अन्वय-व्यतिरेक से आत्मा-अनात्मा का विवेक कर 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा शुद्ध आत्मा का ही अनवरत अनुसन्धान करे, जब अन्यप्रयुक्त शब्दाद्युपलंभ से विक्षेप उपस्थित हो जाय, तब अवकृपा, नैष्ठुर्यादि विकारों की उत्पत्ति के भय का परिहार करने के लिये अपने को उपलब्ध होनेवाले शब्दादि विषयों से पीडित होता हुआ विद्वान् इस प्रकार ज्ञानाभ्यास करे ॥ ११४ ॥

शब्दस्तु ध्वनिसामान्यमात्रेण, विशेषधमर्वा षड्जादिभिः, प्रियैः स्तुत्यादिभिरिष्टैरनिष्टैश्चासत्यबीभत्सपरिभवाक्रोशादिभिर्वचनैर्वा मां दृक्स्वभावमसंसर्गिणमविक्रियमचलमनिधनमभयमत्यन्तसूक्ष्ममविषयं गोचरीकृत्य, स्प्रष्टुं नैवार्हति, असंसर्गित्वादेव मम* । †अत एव न शब्दनिमित्ता हानिर्वृद्धिर्वा । अतो मां किं करिष्यति स्तुतिनिन्दादिप्रियाप्रियत्वादिलक्षणः शब्दः? अविवेकिनं हि शब्दमात्मत्वेन गतं प्रियः शब्दो वर्धयेत्, अप्रियश्च क्षपयेत्, अविवेकित्वात्। नतु मम विवेकिनो बालाग्रमात्रमपि कर्तुमुत्सहते इति। एवमेव स्पर्शसामान्येन तद्विशेषैश्च शीतोष्णमृदुकर्कशादिज्वरोदरशूलादिलक्षणैश्चाप्रियैः प्रियैश्च कैश्चिच्छरीरसमवायिभिर्बाह्यागन्तुकनिमित्तैश्च न मम काचिद्विक्रिया वृद्धिहानिलक्षणा अस्पर्शत्वात्क्रियते, व्योम्न इव मुष्टिघातादिभिः। तथा रूपसामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः स्त्रीव्यञ्जनादिलक्षणैररूपत्वान्न मम काचिद्धानिर्वृद्धिर्वा क्रियते। तथा रससामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायैर्मूढबुद्धिभिः परिगृहीतैः अरसात्मकस्य मम न काचिद्धानिर्वृद्धिर्वा क्रियते। तथा गन्धसामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः पुष्पाद्यनुलेपनादिलक्षणैरगन्धात्मकस्य न मम काचिद्धानिर्वृद्धिर्वा क्रियते, "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्" इति श्रुतेः ॥११५॥

हृदयस्पर्शिनी

शब्द इति—ध्वनिरूप (अव्यक्त वर्णविशेष, नाद मात्र) सामान्य धर्म के द्वारा षड्जादि, प्रियस्तुति आदि और इष्ट, अनिष्ट तथा असत्य, बीभत्स, अपमानसूचक और निन्दात्मक वचनरूप विशेष धर्मों के द्वारा मुझ दृक्-स्वरूप, संसर्गशून्य, अविकारी, अविचल, अविनाशी, अभय, अत्यन्त सूक्ष्म और अविषय को अपना विषय बनाकर

* मां—पाठभेदः ।

† यत—पाठभेदः ।

शब्द तो मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकता, क्योंकि मैं तो संसर्गशून्य ही हूँ। इसीलिये शब्द के कारण मेरी कोई हानि या लाभ नहीं होता। अतः स्तुतिनिन्दादि-प्रियाप्रियत्वादि गुणवाला शब्द, मेरा क्या करेगा? जो अविवेकी है, उसे ही 'शब्द' आत्मरूप से प्राप्त होता है। अतः अज्ञानी होने के कारण प्रिय शब्द उसे वृद्धिगत कर देता है और अप्रिय शब्द गिरा देता है। यह 'शब्द' तो मुझ विवेकी का बालाग्र के बराबर भी हानि-लाभ नहीं कर सकता। जैसे मुष्टिप्रहार से आकाश की कोई हानि नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सामान्य स्पर्श से अथवा शीत, उष्ण, मृदु (कोमल) एवं कठोर आदि स्पर्शविशेष तथा ज्वर, उदरशूलादिरूप अप्रिय और बाह्य आगन्तुक निमित्तों से होने वाले शरीरसंबंधी किन्हीं प्रियाप्रिय स्पर्शों से भी मेरा किसी प्रकार का हानि-लाभरूप विकार नहीं हो सकता। उसी तरह सामान्यरूप से तथा उसके प्रिय एवं अप्रिय स्त्री-व्यञ्जनादि विशेष भेदों द्वारा भी मेरी कोई हानि या लाभ नहीं किया जा सकता। क्योंकि मैं रूपरहित हूँ। तथा सामान्य 'रस' से अथवा मूढ़बुद्धि पुरुषों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले उसके मीठे, खट्टे, खारे, कड़वे, चटपटे और कसैले आदि प्रिय और अप्रियरूप विशेष भेदों से भी मुझ अरसात्मक का कोई हानि या लाभ नहीं होता। ऐसे ही 'सामान्य गन्ध' से तथा पुष्प एवं अनुलेपनादिरूप उसके प्रिय या अप्रिय विशेष रूपों से मुझ गन्धहीन का कोई हानि-लाभ नहीं होता, क्योंकि भगवती श्रुति कह रही है कि "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्"[1]—जो आत्मा शब्दरहित, स्पर्शरहित, अविनाशी, रसहीन, नित्य, और गन्धरहित है ॥ ११५ ॥

किंच—य एव बाह्याः शब्दादयः, ते शरीराकारेण संस्थिताः[2] तद्ग्राहकैश्च श्रोत्राद्याकारैः, अन्तःकरणद्वयतद्विषयाकारेण[3] च, [4]अन्योन्यसंसर्गित्वात्संहतत्वाच्च सर्वक्रियासु। तत्रैवं सति विदुषो न मम कश्चिच्छत्रुर्मित्रमुदासीनो वाऽस्ति। तत्र यदि कश्चित् मिथ्याज्ञानाभिमानेन प्रियमप्रियं वा प्रयुयुङ्क्षेत्[5] क्रियाफललक्षणं तन्मृषैव प्रयुयुङ्क्षति[6] सः, तस्याविषयत्वान्मम, "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्" इति स्मृतेः। तथा सर्वेषां पञ्चानामपि भूतानामविकार्यः, अविषयत्वात्, "अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्" इति स्मृतेः। याऽपि शरीरेन्द्रियसंस्थानमात्रमुपलक्ष्य, मद्भक्तानां विपरीतानां च प्रियाप्रियादिप्रयुयुक्षा, तज्जा च धर्माधर्मादिप्राप्तिः, तेषामेव, न तु मय्यजरेऽमृतेऽभये। "नैनं कृताकृते तपतः", "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्", "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः", "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अनात्मवस्तुनश्चाऽसत्त्वं[7] परमो हेतुः। आत्मनश्चाद्वयत्वे[8], [9]द्वयस्यासत्त्वात्, यानि सर्वाण्युपनिषद्वाक्यानि विस्तरशः समीक्षितव्यानि समीक्षितव्यानीति ॥११६॥

हृदयस्पर्शिनी

किंचेति—इस प्रकार सामान्य-विशेष रूपवाले शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषयों से मेरी न कोई हानि है और न वृद्धि (लाभ) है, अतः से उनसे अनभिभूत हूँ; ऐसा निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए, यह बताकर अब शब्दादि विषयों से अपने अनभिभव का अनुचिन्तन करने के लिए बता रहे हैं। किञ्च—जो बाह्य शब्दादि शरीराकार में तथा उन शब्दादिकों को ग्रहण करनेवाले श्रोत्रादि के रूप में स्थित हैं, वे ही एक-दूसरे से संश्लिष्ट होने के कारण दो अन्तःकरण (मन और बुद्धि) और उनके विषयरूप से भी परिणत हो गये हैं, क्योंकि वे सभी क्रियाओं में परस्पर मिले रहते हैं। तब ऐसी स्थिति में मुझ विद्वान का कोई भी शत्रु, मित्र या उदासीन नहीं है। अतः यदि मिथ्या ज्ञानाभिमान के कारण कोई पुरुष किसी प्रकार के क्रियाफलरूप प्रिय या अप्रिय का प्रयोग करना चाहता है, तो उसकी यह प्रयोग की इच्छा मिथ्या ही है। क्योंकि "यह अव्यक्त और अचिन्त्य है"[10] इस स्मृति के अनुसार मैं तो उसका विषय नहीं हूँ।

---

१. (कठ उ. ३।१५)
२. तत्परिणामरूपैः—अधिको पाठः।
३. बुद्धिमनसी—अधिको पाठः।
४. तेषाम्—अधिको पाठः।
५. प्रयुयुक्षते—पाठभेदः।
६. प्रयुयुक्षते—पाठभेदः।
७. असत्त्वादिति—पाठभेदः।
८. अद्वयत्वविषयाणि—पाठभेदः।
९. द्वैतस्य—पाठभेदः।
१०. (भ. गी. २।२५)

उसी प्रकार "यह अच्छेद्य और अदाह्य है"[१] इस स्मृति के अनुसार समस्त भूतों का अविषय होने से मैं अविकारी हूँ। इसी प्रकार इस शरीर और इन्द्रियसंस्थानमात्र को लक्ष्य बनाकर जो मेरे भक्तों और अभक्तों को इसका प्रिय अथवा अप्रिय साधन करने की इच्छा होती है, तथा उसके कारण उन्हें जो पुण्य एवं पाप की प्राप्ति होती है, वह भी उन्हें ही है। "मुझ अजर-अमर एवं अभयरूप[२] आत्मा" में उसकी सत्ता नहीं है। जैसा कि "इसे पाप और पुण्य नहीं सताते[३]", "यह कर्म से न बढ़ता है न घटता है[४]", "वह बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है[५]", "वह संसारदुःख से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उससे बाहर है[६]"—इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से सिद्ध होता है, अनात्मवस्तु की सत्ता नहीं है—यही इसमें प्रधान हेतु है। द्वैत की सत्ता न होने के कारण आत्मा के अद्वयत्वविषयक जितने भी उपनिषद्वाक्य हैं, उन सभी की विस्तारपूर्वक आलोचना करनी चाहिये, आलोचना करनी चाहिए। यह द्विरुक्ति गद्य-प्रबन्ध की समाप्ति सूचित करने के लिए की गई है। भूत-भौतिक ही सक्रिय रहते हैं, मैं ज्ञानी तो समस्त विकार-विकारिसंघात का साक्षी निर्विकार हूँ। मेरा कोई शत्रु-मित्र आदि नहीं है। यदि कोई अपने मिथ्याज्ञान के कारण होनेवाले देहाभिमान से क्रियाफलस्वरूप प्रिय-अप्रिय का प्रयोग करना चाहे, तो वह मिथ्या ही है, क्योंकि मैं उसका विषय नहीं हूँ। अतः ब्रह्म-विद्याप्रतिपादक समस्त वेदान्तवाक्यों का बहुशाखोपसंहार न्याय से पुनः पुनः आलोचन करते रहना चाहिए ॥ ११६ ॥

इति श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्कर-भगवत्पूज्यपादकृतौ

सकलवेदोपनिषत्सारोपदेशसाहस्र्यां

गद्यभागः समाप्तः

॥ इति श्रीमत्परमहंस—परिव्राजकाचार्य—श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ सकलवेदोपनिषत्सारोपदेशसाहस्र्यां गद्यभागस्य मुसलगाँवकरोपनामकेन श्रीगजाननशास्त्रिणा कृता 'हृदयस्पर्शिनी' हिन्दीव्याख्या पूर्णतां गता ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

---

१. (भ. गी. २।२४)
२. (बृ. उ. ४।४।२५) तथा (प्र. उ. ५।७)
३. (बृ. उ. ४।४।२२)
४. (बृ. उ. ४।४।२३)
५. (मु. उ. २।१।२)
६. (कठ. उ. ५।११)

श्लोकानुक्रमणी